श्रीमद्रूपगोस्वामि-विरचित

श्रीश्री उज्ज्वलनीलमणि

—श्रीश्यामदास

।। श्रीश्रीकृष्णचैतन्य-नित्यानन्दौ जयतः ।।

श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु-प्रिय-पार्षद श्रीपादरूप गोस्वामि-

वि र चि त

श्रीश्रीउज्ज्वलनीलमणि

श्रीमन्नित्यानंदप्रभुवंशावतंस अखण्डगुणगणालंकृत परमाभिवन्दनीय

प्रभुपाद श्रीदेवकीनन्दन गोस्वामी

पादपद्माश्रित

श्रीश्यामदास (श्रीश्यामलाल हकीम)

द्वारा सम्पादित रूपकृपा-तरंगिणी-टीका सम्वलित

प्रकाशक : व्रजगौरव प्रकाशन

हरिनाम पथ • बाग बुन्देला • श्रीवृन्दाबन

॥ श्रीहरि ॥

प्राक्कथन

उज्ज्वलरस की मूल-आश्रय श्रीराधा जी एवं उज्ज्वलरस के एकमात्र विषय व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की असीम कृपा से उज्ज्वलरसरसिक महानुभावों के कर कमलों में यह श्रीउज्ज्वलनीलमणि — ग्रन्थरत्न सादर समर्पित है।

श्रीकृष्णचैतन्यदेव के नित्य-प्रियपार्षद, भक्तिरस के आद्य-प्रस्थानाचार्य श्रीपादरूपगोस्वामि कृत श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के हिन्दी भाषा में सटीक सम्पादन एवं दो संस्करणों के प्रकाशित हो जाने पर उसके परिशिष्टरूप मधुर-भक्तिरस-आकर ग्रन्थ श्रीउज्ज्वलनीलमणि के आस्वादन के लिये रसिक महानुभावों में अदम्य उत्कण्ठा का उद्‌भव होना स्वाभाविक है, विशेषत: श्रीचैतन्यसम्प्रदाय के दर्शन का पर्य्यवसान ही है जब उज्ज्वल रस-तत्त्व में। उन्हीं पूज्यपाद रसिक महानुभावों की ही सशक्त प्रेरणात्मक कृपा मुझ जैसे नितान्त रसानभिज्ञ-हीनजन द्वारा प्रयासरूप में प्रतिफलित हुई है।

परब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण रसस्वरूप हैं—'रसो वै स:'। श्रुति तैति २।७॥ उन्हें श्रुति आनन्द-स्वरूप या आनन्दघन कहकर भी निरूपण करती है। अत: अनुपम आस्वादन-चमत्कारितामय आनन्द ही 'रस' है, और वह हैं परब्रह्म रसस्वरूप रसघन भगवान् श्रीकृष्ण। भगवत् श्रीकृष्णचैतन्यदेव से पूर्ववर्ती आचार्यों ने परब्रह्म के तत्त्व की विशद आलोचनाएं कीं, परन्तु वे परब्रह्म के रसस्वरूपत्व तक अग्रसर न हो पायीं। इसी प्रकार सब आचार्यों ने परब्रह्म के आनन्दस्वरूपत्व की भी आलोचनाएं तो कीं, किन्तु उस आनन्दस्वरूपत्व का तात्पर्य क्या है, रसस्वरूपत्व का रहस्य क्या है, उसका कोई भी उद्‌घाटन न कर पाया। श्रीमन् महाप्रभु के अनुगत एकमात्र श्रीगौड़ीय गोस्वामिगण ही परब्रह्म के रसस्वरूपत्व तथा आनन्द-स्वरूपत्व की अनावृत झांकी कराने में समर्थ हुए हैं।

रस-शब्द के दो अर्थ हैं—'रस्यते आस्वाद्यते इति रस:' अर्थात् जो आस्वाद्य वस्तु है वह रस है। एवं 'रसयति आस्वादयति इति रस:'—अर्थात् जो आस्वादक है, वह रस है। रसस्वरूप होने से परब्रह्म श्रीकृष्ण आस्वाद्य भी हैं और आस्वादक (रसिक) भी। परब्रह्म सर्ववृहत्तम या असमोर्ध्व तत्त्व है, अत: उसकी सर्वातिशायिता हर विषय में है, रसस्वरूपत्व में भी। उसके समान कोई अन्यवस्तु आस्वाद्य नहीं और न ही उसके समान कोई आस्वादक है। आस्वाद्य एवं आस्वादक दोनों रूपों में ही वह अस-मोर्ध्व है। श्रीकृष्ण परम चरमतम मधुर तत्त्व हैं तथा रसिकचूड़ामणि भी हैं।

आस्वाद्यरूप में उनका माधुर्य ऐसा चमत्कारी है कि वे अपने माधुर्य को आस्वादन करने के लिये अपने आपको आलिंगन-चुम्बन करना चाहते हैं, उस आस्वादन-आनन्द में वे मुग्ध हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण का स्वरूपानन्द स्वयं उनके लिये भी आस्वाद्य है। आस्वादक या रसिकरूप में श्रीकृष्ण अपने शक्त्यानन्द का आस्वादन करते हैं। ह्लादिनी-प्रधाना उनकी स्वरूपशक्ति की वृत्तिविशेष जो प्रेम-भक्ति है, उसके रसनिर्यास का वे अशेष-विशेषरूप से आस्वादन करते हैं।

इस प्रकार प्रेमभक्तिरसास्वादन प्रणाली में श्रीकृष्ण प्रेम के विषय हैं—विषयालम्बन हैं। जिनमें प्रेमभक्ति आविर्भूत रहती है, वे परिकर या भक्त प्रेम के आश्रय या पात्र हैं—आश्रयालम्बन हैं। रसस्वरूप श्रीकृष्ण का निजी शक्त्यानन्दरूप प्रेमरस उनके परिकर-भक्तोंमें तरंगायित रहता है, जिसे वे पान कर रसिक चूड़ामणि कहलाते हैं।

रसस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण अनादिकाल से अपने नित्य चिन्मयधाम वृन्दावन में दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा शृङ्गार या उज्ज्वलरस के अपने स्वरूपभूत नित्य परिकरों के विशुद्ध अर्थात् ऐश्वर्यज्ञान-हीन प्रेमरसका आस्वादन करते रहते हैं। किन्तु रसिक-शेखर की रसास्वादन-पिपासा अप्रकट वृन्दावन धाम में सम्यक् प्रकार मिट नहीं पाती। क्योंकि वहां कई एक ऐसी परिस्थितियां हैं, जिनके कारण रसिक शेखर विभिन्न प्रेमरस वैचित्री का आस्वादन नहीं कर पाते, कुछ ऐसी लीलाओं की सम्भावना ही वहां नहीं, जिनके माध्यम से प्रेमरसवैचित्री की सर्वांगीण अनिर्वचनीय मनाकर्षक लहरियों में वे सम्यक् सराबोर हो सकें। अप्रकटधाम में वे नित्य किशोर हैं। वहां न जन्मलीला है न बाल्यलीला, फिर कैसे वहां माता यशोदा के स्तनपान के लिये मचलना, रोना और बिगड़ना बन पड़ता है? बछड़ों की पूँछ पकड़ कर व्रज की पंकिल धरणी में लथ-पथ होकर सुन्दर श्याम सलोने अङ्गों को विभूषित करने का अवकाश है क्या वहां? अधूरे-अधूरे तोतले मृदुवचन वहां माता-पिता कभी सुन पाते हैं? माखन चोर-चोर कर खाने, गोपियों के आगे नाच-नाच कर उन्हें रिझाने की अनूठी रसमयी लीलाएं कहां, जो रसिक शेखर अपनी आस्वादन-पिपासा को बुझा सकें। इस प्रकार हरभाव के परिकरों के भाव, परम्पराएं अभिमान सीमित हैं—वहां विभिन्न वैचित्री का स्वर झंकृत हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि भगवान् की अप्रकट लीलाओं का चिन्तन-ध्यान प्रशस्त नहीं है। समस्त शास्त्र-संत आचार्य प्रकट धाम की लीलाओं का गान करते हैं।

विशेषत: सर्वरस-सम्राट् शृङ्गाररस भी वहां अपनी एक विधा को पकड़े रहकर मान-मर्यादा के घेरे में असंतुष्ट एवं संकीर्ण जीवन यापन करता रहता है। स्वकीया भाव में बँधकर शृङ्गाररस अपनी सर्वरसोल्लासी चमत्कारितामय आनन्दवाहिनी द्वितीय विधा परकीया-भावमय मोहक तरंगिणी को वहां नहीं उड़ेल सकता, जिससे श्रेष्ठतम शृङ्गाररसास्वादन के लिये निखिलरसामृतमूर्ति परब्रह्म अपने रसिकशेखरत्व या रसस्वरूपत्व को अधूरा अनुभव करता रहता है।

सर्वसमर्थ हैं श्रीकृष्ण, परमस्वच्छन्द लीलापुरुषोत्तम हैं वे। ब्रह्मा के एकदिन में या प्रति कल्प में एकबार वैवस्वतमन्वन्तर की अट्ठाईसवीं चतुर्युगी के द्वापर युग में अपने चिन्मय वृन्दावन धाम को, अपने हर रसके नित्य परिकरों को साथ लेकर अर्थात् अपने पूरे परिवार घर-बार सहित प्राकृत ब्रह्माण्ड में चले आते हैं—अवतीर्ण होते हैं एकमात्र सर्वविध आनन्द चमत्कारितामय प्रेमरस-निर्यास का आस्वादन करने के लिये। भूमिभारहरण, असुरसंहार, धर्मस्थापनादिक को जो स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण के अवतार का कारण मानते हैं, वे बड़ी भूल में हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण केवल 'रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि' हैं। सर्वविध प्रेमरसनिर्यास का जी भर कर स्वाद लेना, मजा लेना ही रसस्वरूप के भौमवृन्दावन में अवतरण का कारण है।

शृङ्गाररस की अनुपम चरमतम आनन्दवाहिनी रसधारा की आस्वादन-अनुकूलता प्रकट-धाम में सम्पादन करती है परब्रह्म की अघटन-घटन-पटीयसी योगमाया शक्ति। कैसा अचिन्त्य कौतुक! कि नित्य स्वीया कान्ताशिरोमणि श्रीराधा जी में परकीया-भाव का आवेश जन्मा देती है एवं रसस्वरूप

श्रीकृष्ण में औपपत्य का भाव उन्मेषित कर देती है। श्रीराधा जी प्राणवल्लभ की सर्वविध कामना-पूर्ति रूप आराधना में एवं रसिकशेखर अपनी रसनिर्यास-पिपासा पूर्ति में पूर्वलीलावेश को भूल आत्मविस्मृत हो जाते हैं। स्वरूपशक्ति प्रियतम की ऐसी अपूर्व कामना-पूर्ति के निमित्त विभिन्न-विभिन्न रूप, गुण, स्वभावशीला केलिकला कलाप-कोविदा विदग्धा असंख्य व्रजसुन्दरियों के रूप में आत्मप्रकट करती हैं और असंख्यविध रसवैचित्रियों से उद्वेलित ऐसे उज्ज्वलोन्नत महा रससिन्धु को उछालती हैं कि रसो वै सः परब्रह्म का भीतर-वाहर सर्वांग रसप्लाविल हो उठता है। फिर तो रसराज उन मधुरातिमधुर मादनाख्य महाभाव की उत्तंग लहरियों में खो जाता है, खूब डूबता-उतराता है।

महाभाव कैसे कैसे रिझाता है रसराज को ? कैसी-कैसी भावमयी लीला-परिपाटी राशि से रस-राज को अनुराग-रंजित कर नाच नचाता है ?—उन सब अनिर्वचनीय रसोपासना-पद्धतियों का दिग्दर्शन करेंगे आप इस प्रस्तुत मूर्धन्य रसशास्त्र श्रीउज्ज्वलनीलमणि में। श्रीगौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदाय की रसोपासना प्रतिष्ठत है प्रस्थानत्रयी की सुदृढ़ भित्ति पर। सर्वनिगमकल्पतरु के रसमय सुफल अपौरुषेय भक्तिरस-आकर साक्षात् भगवत्स्वरूप श्रीमद्भागवत के निगूढ़ रससिद्धान्तों पर ही यह रसो-पासना मुकुटमणि रूप से विराजित है। शशे के सींगों पर कल्पित किसी प्रदेश में होने वाली यह रसोपासना नहीं है और न ही आकाश-कुसुमों की झूलती निकुंजों में सम्पन्न होने वाली है। यह रसो-पासना अप्रकट धामवर्ती स्वकीयाभावमयी हृदवत् उपासना से अत्यन्त उत्कर्षमयी है एवं शास्त्रसम्मत है। गौड़ीय वैष्णवों की रसोपासना परिदृश्यमान इसी पावनतम श्रीभौमवृन्दावन का मधुरतम वैभव है। इसी व्रजमण्डलान्तर्गत वृन्दावन-अलंकारिणी कालिन्दी-कलित ललित-पुलिनों की पुष्पान्वित सघन अलिगण-झंकृत निकुंजों में अहर्निश सम्पन्न हो रही है यह। इस रसोपासना में सेवित होने वाले प्रिया-प्रियतम गुमनाम माता-पिता की सन्तति नहीं और न ही गो-गोप-गोपीजन प्रियगोष्ठ व्रज-वृन्दावन सम्बन्ध हीन किसी स्थान पर विहार करने वाले हैं। स्वामिनी श्रीराधा जी वृषभानु-कीर्ति की स्नेहपली लली हैं और स्वामी-प्रियतम व्रजराज नन्द-यशोमति के प्राणप्रिय पुत्र हैं– दोनों इसी त्रिभुवनवन्द्य श्रीवृन्दावन के अधीश्वर हैं, एकछत्र सम्राट् हैं।

अतः जिनकी उपासना-स्थली इस व्रजमण्डल-वृन्दावन से सम्बन्धहीन है, जिन्हें रसके आश्रय-विषय की भी उलटी धारणा है, उज्ज्वलरसाकर ग्रन्थों के नाम में से 'रस'-शब्द तक हटा देने में ही जो अपना उत्कर्ष स्थापन करते हैं, अथवा जो केवल गांधर्व-विद्या या संगीत कला के छन्द-काव्य शून्य स्वरालाप से इष्टदेव को रिझाकर उनसे शाबाशी या पुरस्कार के रूप में वसन-भूषणों की प्राप्ति में ही अपनी रसोपासना की पराकाष्ठा मानते हैं, वस्तुतः वे रसतत्त्व को जानने में असमर्थ हैं। उन सबका इस गौड़ीय वैष्णव-रसोपासना में किञ्चित् भी प्रवेश नहीं हो सकता। विशेषतः जो परब्रह्म श्रीकृष्ण के रसस्वरूपत्व से, उनकी स्वरूपशक्ति श्रीराधा जी के स्वरूप-तत्त्व से एवं श्रीराधाजी की स्वरूपभूता या कायव्यूहरूपा व्रजसुन्दरियों के स्वरूप तत्त्वों से अनभिज्ञ है, वे इस शास्त्रीय भागवत साम्प्रदायी रसोपासना के अनधिकारी या अयोग्य ही हैं। यहां तक कि जो साधक रागानुगामार्गीय दास्य, सख्य, वात्सल्य भाव-निष्ठ हैं, वे भी इस शृङ्गाररसोपासना के अयोग्य हैं।

जिन सौभाग्यशाली साधकों को श्रीगुरु-शास्त्र कृपा से इस भौमवृन्दावन का चिन्मयत्व दर्शन हुआ है वरं अप्रकट वृन्दावन से भी इस भौमवृन्दावन की सर्वोत्कर्ष माधुरी जिनके विशुद्ध हृदय पटल पर उभर कर देदीप्यमान हो उठी है तथा **'रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता'**—

श्रीमन्महाप्रभु के इस चरम परमतम उपासना-परक सिद्धान्त के पदांक जिस साधक के चित्त पर विभूषित हो उठे हैं वह साधक ही इस रसोपासना की याचना-आकांक्षा करने योग्य हैं।

श्रीमद्भागवत (१०।३३।४०) में व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण के साथ व्रजगोपसुन्दरियों की मधुररस-पराकाष्ठाप्राप्त श्रीरासलीला की फलश्रुति में कहा गया है कि भगवान् श्रीश्यामसुन्दर एवं व्रजगोपियोंकी इस मधुररस चूड़ामणि विशेष लीला कथाका जो श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है अथवा वर्णन करता है, उस धीर पुरुष को पहले श्रीभगवान् की पराभक्ति प्राप्त होती है फिर उसके कामादि हृद्रोग तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। अतः यदि इस श्रीभागवतीयवचन पर विश्वास-जम जाये तो इस मधुररस-लीला के श्रवण-कीर्तन से ही पराभक्ति की प्राप्ति होकर साधक श्रीकृष्णकामना के अतिरिक्त अन्यान्य समस्त कामनाओं का परित्याग कर श्रीश्रीप्रिया-प्रियतम की लीला में प्रवेश का भाग्य प्राप्त कर सकता है।—इस प्रयास की सार्थकता का बल मिलता है इन वचनों को देखकर।

इस अत्यन्त दुरूह एवं महासाध्य प्रयास-पथ में मुझ जैसे नितान्त अरसज्ञ जीव को जहां परम पूज्य श्रीपुरीगोस्वामी द्वारा सम्पादित मूल ग्रन्थ (बंगला) में सम्भाला, वहां भक्तिसिद्धान्त भास्कर पराविद्याचार्य परम भागवत परमाभिवन्दनीय डा० श्रीराधागोविन्द नाथ द्वारा संकलित अति विषद ग्रन्थरत्न श्रीगौड़ीय वैष्णवदर्शन (बंगला) ने सम्यक् सम्बल प्रदान किया है। श्रीमज्जीवगोस्वामि-विरचित 'लोचनरोचनी' टीका तथा श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्ति-विरचित 'आनन्दचन्द्रिका' टीका—इन दोनों संस्कृत टीकाओं का भावार्थ अनुवाद में कम सहायक नहीं रहा। अब तक के उपलब्ध समस्त मूलग्रन्थों में उदाहरणरूपों में उद्धृत विदग्धमाधव, ललितमाधव नाटक, पद्यावली, गीतगोविन्द, उद्धव सन्देश, हंसदूत आदि श्लोकों की संख्याएं या स्थान-परिचय नहीं दिया गया है। इस संकलन में भी पृष्ठ १०० पर्यन्त यह न्यूनता अनुकरण वश रह गयी। परन्तु उसके बाद समस्त ग्रन्थों के श्लोकों की संख्या, प्रकरण का अनुसन्धान कर इसमें प्रकाशित की गयी हैं, इस यत्किंचित् परिश्रम ने ग्रन्थ को एक अपूर्व वैशिष्ट्य प्रदान किया है। हर प्रकरणान्तर्गत कारिका, श्लोकों की अन्त में क्रमशः संख्या दी गयी है। प्राचीन संस्करणों की संख्या भी आदि में यथावत् उल्लिखित है।

विषय-सूची अनुवाद में कोष्ठकान्तर्गत दिये गये शीर्षकों के अनुसार प्रकाशित की गयी है। अन्त में मैं उन समस्त विद्वद्वरेण्य महापुरुषों का अतिशय आभार स्वीकार करता हूँ, जिनके संकलनों-ग्रन्थों से अथवा हितकारी सुझावों से यह कार्य सम्पन्न हो पाया है। व्रजरस रसिक महानुभाव मेरी इस अनधिकृत चेष्टा के लिये मुझे क्षमा करेंगे ऐसा मेरा विश्वास है।

अनेकविध त्रुटि-विच्युति के लिये करबद्ध क्षमा प्रार्थना के साथ,

श्रीधामवृन्दावन
दि० २१ जनवरी ९१
श्रीबसन्त पंचमी

वैष्णवपदरजाकांक्षी
श्रीश्यामदास
(श्यामलाल हकीम)

श्रीउज्ज्वलनीलमणि विषयसूची

॥ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः ॥

श्रीमद्रूपगोस्वामिविरचित

श्रीउज्ज्वलनीलमणि

॥ श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

अथ नायकभेद-प्रकरणम्

१—नामाकृष्टरसज्ञः शीलेनोद्दीपयन्सदानन्दम् । निजरूपोत्सवदायी सनातनात्मा प्रभुर्जयति ॥ १॥

अनुवाद—नित्य-विग्रह सर्वेश्वर श्रीकृष्ण की जय हो, जो निजनामसमूह के परम रसिक भक्तों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाले हैं, जो अपने अति मधुरस्वभाव से सदा श्रीनन्द महाराज को अपने असाधारण रूप-सौन्दर्यादि से आनन्दोत्सव प्रदान करने वाले हैं ॥१॥

श्रीश्यामदासकृत रूपकृपा-तरंगिणी टीका—

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगण रघुनाथान्वितं सजीवम् ।
साद्वैतं सावधूतं परिजन - सहितं कृष्णचैतन्यदेवं
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगणललिता-श्रीविशाखान्वितांश्च ॥
श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले ।
सोऽयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम् ॥
वाञ्छाकल्पतरूभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥

पूज्यपाद श्रीरूप गोस्वामीजी हर प्रकार के विघ्नों की शाँति के लिये उक्त प्रथम श्लोक में निज इष्टदेव ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण का जय गान करते हैं। इस श्लोक में शब्द-श्लेष से उन्होंने अपने श्रीगुरुदेव श्रीसनातनगोस्वामीजो का भी सर्वोत्कर्ष जयगान किया है। श्रीकृष्ण कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्, करने, न करने अन्यथा करने में सर्व समर्थ होने से 'प्रभु' सर्वेश्वर हैं। वे नित्य—सनातन विग्रहधारी हैं। श्रीसनातन नामक देहधारी श्रीगुरुदेवभी श्रीकृष्णचरणकी विशुद्ध प्रेमभक्ति वितरण करनेमें समर्थ होनेसे प्रभु हैं। श्रीकृष्ण अपने श्रीनामों द्वारा परमरसिकजनोंको अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और श्रीगुरुदेव श्रीसनातनने कृष्ण नाम गानमें अपनी जिह्वा को निरन्तर आकृष्ट—नियुक्त कर रखा है। श्रीकृष्ण अपने असाधारण अतिशय रूपसौन्दर्यादि से द्रष्टा, श्रोता तथा श्रवणकारी जनों का आनन्दोत्सव विधान करते हैं तथा श्रीगुरुदेव अपने रूप नामक (रूप गोस्वामी) भाई का आनन्द विधान करने वाले हैं। श्रीकृष्ण अति मधुर लीलाओं से सदा श्रीनन्द महाराज को प्रफुल्लित करते रहते हैं और श्रीगुरुदेव

२—मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात् । पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यतेमधुरः ॥ २॥
३—वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रति । नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः ॥ ३॥

श्रीसनातन गोस्वामी अपने अति मधुर शीलस्वभाव से सज्जनों का आनन्द वर्द्धन करते रहते हैं। इस प्रकार उक्त मंगलाचरणरूप श्लोक में ग्रन्थकार श्रीमद्रूप गोस्वामी जी ने शब्द-श्लेष से अपने श्रीइष्टदेव श्रीकृष्ण तथा श्रीगुरुदेव श्रीसनातन गोस्वामी की वन्दना की है ॥१॥

अनुवाद—पहले अर्थात् श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (ग्रन्थ) में मुख्य पांच रसों का वर्णन किया गया है, किन्तु रहस्यमय होने से भक्ति रसों के सम्राट् मधुर-रस का वहां संक्षेप से ही वर्णन किया गया था। अब यहां (श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में) उसी का पृथक् रूप में विस्तार पूर्वक निरूपण किया जा रहा है ॥२॥

रूपकृपा-तरंगिणी टीका—रस शास्त्र में बारह रस माने गये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर, हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स। इन सब की विवेचना श्रीरूपगोस्वामी ने स्वरचित श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु में की है, फिर इन में प्रथम पांच रसों को मुख्य और बाकी के सात रसों को गौण माना गया है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में मुख्य पांच रसों का विस्तार से निरूपण किया गया है। परन्तु इन बारहों रसों का जो सम्राट् मधुर या श्रृङ्गाररस है, उसका अति संक्षेप से वहां वर्णन किया गया है। उसका कारण यह है कि मधुर रस अति रहस्यमय है, अतः उस का वहां विस्तार पूर्वक वर्णन नहीं किया गया। रहस्यमय होने के तीन कारण हैं—(१) मधुररस के आश्रय भक्तों को छोड़कर यह मधुररस शान्त-दास्यादि अन्यान्य भक्तों के लिये अनुपयोगी है, उनके लिये इस का आस्वादन अनुपयुक्त है—वे इसके अधिकारी नहीं हैं। (२) मधुररस के आश्रित अनेक भक्त होते हुए भी जो इस रसके संस्कार से रहित हैं, इसलिये इसके आस्वादन करने में वे अनिपुण हैं, उनके पक्ष में यह मधुररस दुरूह है—उनका इस में प्रवेश पाना कठिन है और (३) रागमार्ग की प्रधानता ही इस का वरणीय विषय रहने से दूसरे-दूसरे अन्य स्वभावों का भी उल्लेख रहता है। अनेक वासनाओं में जकड़े चित्तवाले व्यक्ति रागमार्ग से अपरिचित होते हैं, इसलिये वैधी मार्ग में ही उनका निगूढ़ आवेश रहता है। ऐसे व्यक्तियों के सामने तो यह मधुर रस प्रकाशित करने योग्य ही नहीं है। इसलिये यह अतिगुह्य है। अब पृथक् भाव से इस मधुररस का यहां विस्तार पूर्वक वर्णन किया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ का तो विविध प्रकार के भक्त अनुशीलन कर सकते हैं। उसमें भी अति संक्षेप से मधुररस की विवेचना की गयी है। किन्तु जिनके चित्त केवल रागमार्गीय भक्तिरस में डूबे हुए हैं और मधुररसास्वादन ही जिनका जीवन है, इस ग्रन्थ रत्न में उन मधुररस-रसिकजनों के लिये पृथक् भाव से मधुररस का विस्तृत वर्णन किया जा रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिपाद्य वस्तु का इस श्लोक में उल्लेख किया गया है ॥२॥

अनुवाद—वक्ष्यमाण (आत्मोचित-जो मधुरा-रति के लिये··उचित हैं उन) अनुभाव, सात्विक एवं व्यभिचारी आदि भावों द्वारा मधुरा रति जब आस्वादनीयता प्राप्त करती है, तो मनीषी उसे 'मधुरभक्तिरस' कहते हैं ॥ (भ० र० ३।५।१) ॥३॥

तत्र विभावेष्वालम्बनाः—४-अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च बल्लभाः ।। ४।।

तत्र कृष्णो यथा—१—पदद्युतिविनिर्धुतस्मरपरार्धरूपोद्धतिर्दृगञ्चलकलानटीपटिमभिर्मनोमोहिनी ।
स्फुरन्नवघनाकृतिः परमदिव्यलीलानिधिः क्रियात्तव जगत्त्रयीयुवतिभाग्यसिद्धिर्मुदम् ।। ५।।

५—अयं सुरम्यो मधुरः सर्वसल्लक्षणान्वितः । बलीयान्नवतारुण्यो वावदूकः प्रियंवदः ।। ६।।
६—सुधीः सप्रतिभो धीरो विदग्धश्चतुरः सुखी । कृतज्ञो दक्षिणः प्रेमवश्यो गम्भीरताम्बुधिः ।। ७।।
७—वरीयान्कीर्तिमान्नारीमोहनो नित्यनूतनः । अतुल्यकेलिसौन्दर्यप्रेष्ठवंशीस्वनाङ्कितः ।। ८।।

अनुवाद—इस मधुररस में श्रीकृष्ण विषय-आलम्बन-विभाव हैं और उनको प्रेयसी (व्रजगोपीवृन्द) आश्रय-आलम्बन-विभाव हैं। (भ० र० २।१।१४-१६) ।।४।।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—रति-विषयक आस्वादन के हेतु को विभाव कहते हैं। वह दो प्रकार का है—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन फिर दो प्रकार का है—विषय और आश्रय। अर्थात् जिसके प्रति प्रेम होता है—(प्रेमास्पद) उसे विषय कहते हैं और जिसमें प्रेम रहता है—(प्रेमी) वह आश्रय है। श्रीकृष्ण असंख्य कल्याणगुणों के सागर हैं। उनमें इस मधुररस के अति उपयोगी पच्चीस गुण कहे गये हैं। उनमें भी महाचमत्कारकारी कुछ मुख्यतम गुणों का उदाहरण निम्नलिखित श्लोक में देते हैं—

अनुवाद—[पूर्वरागवती श्रीराधा पौर्णमासी को प्रणाम करती है तब वह आशीर्वाद देते हुए कहती है]—हे राधे ! जिनकी चरणों की कान्ति-सुषमा-राशि परार्द्ध-संख्यक अर्थात् अगणित कामदेवों की रूप गरिमा को पूर्णरूप से नाश कर देती है, (रुचिरत्व तथा अतुल्य रूप-माधुर्यगुण) जो कटाक्ष-वैदग्धीरूप नर्तकी-विलास के द्वारा युवतियों का मन मोहित करते हैं, (नारीगण-मोहनत्व तथा विदग्धत्व गुण) जिनका नवजलधर के समान परम स्निग्ध सुन्दर श्यामलवर्ण है (निरुपाधि-करुणत्वगुण) तथा सर्वश्रेष्ठ तथा मनोहर लीलाओं के आश्रय हैं, (अतुल्य केलिशालित्व एवं वंशीवादनत्व गुण) वे त्रिभुवन की समस्त युवतियों के भाग्य-फलस्वरूप श्रीकृष्ण तुम्हारा आनन्द विधान करें ।।५।।

अनुवाद—विषयालम्बन-श्रीकृष्ण सुरम्याङ्ग हैं (भ० र० २।१।४५) रुचिर हैं(५२)समस्त सुलक्षणों से युक्त हैं (४७) महान् पौरुषसे परिपूर्ण हैं (६०)नवीन तरुण वयसयुक्त हैं (६३) मधुर-प्रिय वचन बोलने वाले हैं (७२) वे अपराधी से भी शांतिपूर्वक बात करने वाले हैं, (७०) बुद्धिमान हैं (७९) प्रतिभाशाली हैं (८२) वे धृतिमान हैं (११७) विदग्ध अर्थात् गीत-वाद्यकलाओं में चतुर हैं (८४) वे चतुर हैं (८६) सुखी हैं (१४५) कृतज्ञ हैं (९१) सुशील एवं कोमल चरित्र हैं (१३७) प्रेमवश्य हैं (१५१) गम्भीरता के सागर हैं (११४) उनके मिलने के लिये सब उत्सुक रहते हैं (१७४) वे कीर्तिमान हैं (१५८) नारीमोहन हैं (१६६), नित्यनूतन हैं (१८४) वे अतुल्य केलियुक्त (लीलामाधुर्ययुक्त (२०९). वे अतुल्य सौन्दर्य एवं रूपमाधुर्ययुक्त हैं (२१५), अतुल्य प्रियाधिक्य (२११) अतुल्य बंशी स्वरांकित—वेणुमाधुरी युक्त हैं (२१३) ।।६-८।।

अनुवाद—इस प्रकार उपर्युक्त सुरम्याङ्गादि पच्चीस शृंगाररस सम्बन्धी गुण श्रीकृष्ण में कहे गये हैं। इनके उदाहरण भी पहले भक्तिरसामृतसिन्धु के दक्षिण विभाग की प्रथम लहरी में प्रकाशित किये जा चुके हैं। (यहाँ भी प्रत्येक के साथ भक्तिरसामृतसिन्धुके श्लोकोंकी संख्याका संकेत कोष्ठक में दे दिया गया है ।।९।।

८ इत्याद्यथोऽस्य शृङ्गारे गुणाः कृष्णस्य कीर्तिताः। उदाहृतिरमीषां तु पूर्वमेव प्रदर्शिता ॥ ९॥

९—पूर्वोक्तधीरोदात्तादिचतुर्भेदस्य तस्य तु। पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ ॥ १०॥

तत्र पतिः १०—उक्तः पतिः स कन्याया यः पाणिग्राहको भवेत् ॥ ११॥

यथा—(२) 'रुक्मिणं युधि विजित्य रुक्मिणीं द्वारकामुपगमय्य विक्रमी।
उत्सवोच्छलितपौरमण्डलः पुण्डरीकनयनः करेऽग्रहीत् ॥ १२।

यथा वा—(३) 'कलितयुगलभावः क्वापि वैदर्भ्यपुत्र्या मखभुवि कृतदीक्षो दक्षिणार्थान्ददानः।
विहरति हरिरुच्चैः सत्यया दीयमानः क्वचिदलमलसाङ्गः पुण्यके नारदाय ॥ १३॥

अनुवाद—भक्तिरसामृतसिन्धु (२।१।२२४) में धीरोदात्त, धीरललित धीरशान्त' तथा धीरोद्धत—ये चार प्रकार के नायक-भेद श्रीकृष्ण में सोदाहरण वर्णन किये जा चुके हैं। उनके अतिरिक्त मधुर रस प्रकरण में पति तथा उपपति—ये दो भेद भी श्रीकृष्ण में प्रसिद्ध हैं ॥१०॥

अनुवाद—(विप्र-अग्नि को साक्षी करके वेदोक्त-विधि अनुसार) जो कन्या का पाणिग्रहण करता है, वह कन्या का पति कहलाता है ॥११॥ इसका उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—(सुभद्रा जी की सखी ने द्रौपदी से आकर कहा)—पराक्रमशाली श्रीकृष्ण युद्ध में रुक्मि को पराजित करके रुक्मिणी को द्वारका में ले आये और वहां उसके साथ विवाह किया। विवाह में आये हुए सब पुरवासी तथा राजा लोग महानन्द से प्रफुल्लित हो उठे ॥१२॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—इस श्लोक में धीरोद्धत तथा धीरोदात्त नायक का उदाहरण दिया गया है। 'युद्ध में पराजित करके' इस पद से धीरोद्धत नायक के सब गुण कह दिये गये हैं। मात्सर्य, अहंकार तथा रोष न रहने से विजय नहीं होती। शत्रु न जीते हमारी ही जय हो—इस स्पृहा में मात्सर्य एवं अहंकार प्रकाशित हो रहा है। अहंकार के बिना तो युद्ध में प्रवृत्ति ही नहीं होती। 'पराक्रमी'—विशेषण से श्रीकृष्ण का रोष, चाञ्चल्य तथा आत्मश्लाघा प्रकट हो रही है। द्वारकामें रुक्मिणीको लाकर उससे विवाह करना—इस वाक्य से धीरोदात्त-नायक के गुण सूचित हो रहे हैं। इससे पितादि के प्रति विनय सूचित हो रही है। रुक्मि का बध न करने में क्षमा और रुक्मिणी के प्रति करुणा प्रकाशित हो रही है। इसी प्रकार सुदृढ़ निश्चय, गम्भीरता, आत्म-श्लाघा तथा शूरवीरतादि गुण जो धीरोदात्त नायक में रहते हैं—वे सब रुक्मिणी-हरण प्रसंग के उक्त श्लोक में स्पष्ट दीखते हैं। यहां केवल श्रीकृष्ण का पतित्व ही व्यक्त हो रहा है, मधुररस नहीं ॥१२॥

अनुवाद—द्वारका में एक बार किसी स्थान पर श्रीकृष्ण रुक्मिणी जी के साथ यज्ञभूमिमें दीक्षित हुए और दक्षिणा के रूप में धन दान कर रहे थे। दूसरे स्थान पर पुण्यक व्रत के अन्त में सत्यभामा जीने श्रीकृष्ण को श्रीनारद जी को भेंट में दे दिया। उससे श्रीकृष्ण अलसाङ्ग होकर सत्यभामा के साथ रहो-विलास करने लगे ॥१३॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—उपर्युक्त प्रसंग (श्लो० १२) में श्रीकृष्ण के धीरोद्धत तथा धीरोदात्त नायकरूप का उदाहरण दिया गया था। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में यज्ञादि के कर्ता होने से उनका 'धीरशान्त'-नायकत्व दिखाया गया है। उत्तरार्द्ध में प्रेयसी सत्यभामा की वशीभूतता प्रकाशित कर उनका धीरललित नायक-स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। वशीभूतता भी ऐसी कि सत्यभामा जी ने

यथा वा—(भा० १०।२२।४)—(४)'कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि ॥
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ॥ १४॥
११—इति संकल्पमाचेरुर्या गोकुलकुमारिकाः । तास्वेव कियतीनां तु पतिभावो हरावभूत् ॥ १५ ॥
१२—मूलमाधवमाहात्म्ये श्रूयते तत एव हि । रुक्मिण्युद्वाहतः पूर्वं तासां परिणयोत्सवः ॥ १६ ॥
अथोपपतिः—१३—रागेणोल्लङ्घयन्धर्मं परकीयाबलार्थिना । तदीयप्रेमवसतिर्बुधैरुपपतिः स्मृतः ॥ १७ ॥

श्रीनारद जी के लिये श्रीकृष्ण को दे दिया । यह आख्यान श्रीहरिवंश पुराण के विष्णु पर्व के ७६ वें अध्याय में वर्णित है, संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रेयसी सत्यभामा जी को दिये वचनानुसार श्रीकृष्ण स्वर्ग से पारिजात (कल्पतरु) वृक्ष उखाड़ लाये और सत्यभामा जी के आंगन में लगा दिया । अद्भुत पारिजात वृक्ष, जो समस्त कामनाओं को पूर्ण करता था । कभी श्रीकृष्ण की इच्छा से अति छोटा हो जाता और कभी इतना बड़ा कि सारी द्वारका पुरी को आच्छादित कर देता था । श्रीरुक्मिणी जी को तो एक पुष्प ही इस वृक्ष का मिला था । ऐसे वृक्ष को पाकर सत्यभामा जी आनन्द से फूली न समायीं । अतः उन्होंने पुण्यक-व्रत का समारोह मनाना निश्चित किया । श्रीकृष्ण ने समस्त सामग्री जुटा दी । उस यज्ञ के दान को लेने के लिये श्रीनारद जी को स्मरण किया गया—बुलवाया गया । श्रीनारद जी के विधिवत् पूजन स्नानादि के बाद उन्हें भोजन कराया गया । आनन्द-उद्रेक में श्रीसत्यभामा जी ने एक लम्बी पारिजातपुष्प माला श्रीकृष्ण के गले में धारण करायी और उसी से प्राणप्रीतम को पारिजात वृक्ष से बांध भी दिया कि अब आप को मैं दूसरे-दूसरे भवनों में नहीं जाने दूंगी । श्रीनारद जी देखते रहे सत्यभामा जी की सब नटखटता । अन्त में सत्यभामा जी ने श्रीनारद जी से दक्षिणा का पूछा—हे मुनिवर ! आप को जो वस्तु अतिप्रिय हो, वही मुझ से मांग लीजिये, मै दूंगी । श्रीनारद जी बोले—आपको जो वस्तु सब से अधिक प्रिय हो उसे ही मुझे दे दो । सत्यभामा जी सहम कर बोलीं—मुझे तो सर्वाधिक प्रिय श्रीद्वारकापति हैं । 'ठीक है इन्हें मुझे दे दीजिये'—श्रीनारद ने कहा सत्यभामा जी वचन दे चुकी थीं—श्रीकृष्ण का बन्धन खोला और हाथ में जल लेकर श्रीकृष्ण को ही श्रीनारद जी को दान कर दिया । ले चले श्रीनारद जी सर्वप्रिय श्रीकृष्ण को । परन्तु आगे जाकर श्रीनारद जी ने उनसे कृपा का वर लेकर उन्हें राज भवन में पहुँचा दिया । जब श्रीकृष्ण मुनि के साथ जाने लगे तो उनके अंगों का अलसाना स्वाभाविक था, जाते-जाते बोले—सत्यभामा ! मैं तो अब जा रहा हूँ—एक बार मुझसे मिल तो ले । इस प्रकार इस प्रसंग से श्रीकृष्ण का धीर-ललित नायकत्व दरसाया गया है । जिसमें प्रेयसी की वशीभूतता रहती है ॥१३॥

अनुवाद—श्रीमद्भागवत (१०।२२।४) में वर्णित है कि गोकुल की कुमारीवृन्द हेमन्त में नित्य यमुना स्नान-पूजन करके श्रीकात्यायनी-देवी की इस मन्त्र से वन्दना करती थीं—हे कात्यायिनि ! हे महामाये ! हे महायोगिनि ! हे अधीश्वरि ! हे देवि ! गोपराज श्रीनन्द के पुत्र श्रीकृष्ण को हमारा पति करो, हम आपको नमस्कार करती हैं ॥१४॥ ऐसा संकल्प करने वाली गोकुल की उन कुमारियों में कुछ का पहले से ही श्रीकृष्ण में पति भाव था ॥१५॥ मूलमाधव नामक ग्रन्थ में रुक्मिणी-विवाह से पहले ही श्रीकृष्ण के साथ व्रजकुमारियों के विवाहोत्सवकी बात सुनी जाती है, किन्तु उसका प्रमाण-वचन कहींभी नहीं मिलता ॥१६॥

अनुवाद—जो परकीया नायिका की प्रयोजनीयता के लिये आसक्तिवश धर्म का उल्लंघन करता है और परकीया रमणियों के प्रेम का आश्रय होता है, उसे पण्डितजन उपपति कहते हैं ॥१७॥

(५) 'संकेतीकृतको कलादिनिनदं कंसद्विषः कुर्वतो द्वारोन्मोचनलोलशङ्खवलयक्वाणं मुहुः शृण्वतः ।
केयं केयमिति प्रगल्भजरतीवाक्येन दूनात्मनो राधाप्राङ्गणकोणकोलिविटपिकोडे गता शर्वरी ॥ १८ ॥

१४—अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः ॥ १९ ॥

तथा च मुनिः—(६) बहु वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं च ।
या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः ॥ २० ॥

१५—लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके । न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि ॥ २१ ॥

अनुवाद—उपपति-भाव का उदाहरण श्रीपद्यावली (२०५) में श्रीहरिकवि ने इस प्रकार वर्णन किया है—श्रीवृन्दाने श्रीपौर्णमासी को विगत रात्रि में श्रीश्रीराधाकृष्ण की पराधीनता की बात बताते हुए कहा—हे देवि ! गत रात्रिको श्रीकृष्ण श्रीराधा को मिलने के लिये गये और उसके प्राङ्गण में जो बेर का वृक्ष है, उसकी आड़ में खड़े होकर बार-बार कोयलादि पक्षी जैसी ध्वनि करने लगे। संकेतानुसार श्रीराधा जब किवाड़ खोलने के लिये उठने लगी तो चूड़िया-कंकण आदि बजने लगे। उसकी ध्वनि को श्रीकृष्ण ने सुना। किन्तु घर से चतुरा वृद्धा जटिला ने बार-बार आवाज दी—कौन है ? कौन है ? उसकी आवाज सुनकर श्रीकृष्ण चित्त में बड़े दुखी हुए। इस प्रकार कुछ देर-देर बाद फिर-फिर श्रीकृष्ण ने संकेत किया, परन्तु श्रीराधा के उठने पर उसकी चूड़ियों की आवाज सुनकर जटिला हर बार बोल पड़ती-कौन ? कौन ? अतः सारी रात श्रीकृष्ण ने उस बेर के वृक्ष के नीचे बितायी ॥१८॥

अनुवाद—इस उपपति भाव में ही शृंगाररस का परमोत्कर्ष प्रतिष्ठित होता है ॥१९॥

अनुवाद—जैसाकि श्रीभरत मुनिने कहा है—जिस रति या प्रेम में लोकदृष्टि से तथा धर्मदृष्टि से बहुत रुकावट हो, जिस रति में नायक-नायिका—दोनों की प्रच्छन्न-कामुकता रहे तथा एक-दूसरे के दर्श-स्पर्श तथा बोलने तक में भी कठिनाई रहे, उसे ही काम की परम शोभामयी रति (क्रीड़ा) जानना चाहिये ॥२०॥

अनुवाद—इस औपपत्य में जो लघुता या दोष (अन्य रस शास्त्रों में) कहे गये हैं वे प्राकृत नायक के सम्बन्ध में कहे गये हैं, श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में नही, क्योंकि वे रसनिर्यास के आस्वादनकर्त्ता सर्वावतारी हैं, अर्थात् धर्म-अधर्म के नियन्ता अन्यान्य समस्त अवतारों या भगवत्-स्वरूपों के अवतारी या चूड़ामणि हैं श्रीकृष्ण ॥२१॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका— किसी भी भगवत्स्वरूप पर धर्म-अधर्म का नियमम लागू नहीं होता। जब अन्यावतारों पर ही धर्म-अधर्म का गुण-दोष नहीं आता, तब सर्वावतारी श्रीकृष्ण के पक्ष में इसकी सम्भावना भी नहीं है। विशेष कारण यह है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण समस्त रसों के निर्यास (अशेष-विशेष सारातिसार) के आस्वादन के लिये व्रज में अवतीर्ण होते हैं। श्रीकृष्ण अजन्मा तथा नित्यकिशोर होते हुए भी जैसे वात्सल्यरस-निर्यास आस्वादन के लिये जन्म, बाल्यावस्था तथा बाल्य-भाव ग्रहण करते हैं, वैसे ही मधुररस का परकीया भावमय रसास्वादन करने के लिये औपपत्य स्वीकार करते हैं। अप्रकट-धाम में वे मधुररस के परिकरीं—श्रीराधादिक के साथ नित्यस्वीय-भाव से विहार करते हैं, किन्तु वहां परकीया भावमय मधुररस की वैचित्री का आस्वादन करना वैसे ही असम्भव है जैसे अप्रकट धाम में जन्मलीला तथा बाल्यावस्था तथा बाल-लीला। अतः मधुर रस की परकीया-भावमय वैचित्री के आस्वादन के लिये रसिक शेखर (रसो वै सः) लीलापुरुषोत्तम प्रकट व्रजलीलामें नित्य स्वीय ह्लादिनी

तथा च प्राञ्चः—(७)

शृङ्गाररससर्वस्वं शिखिपिच्छविभूषणम् । अङ्गीकृतनराकारमाश्रये भुवनाश्रयम् ॥ २२ ॥

१६—अनुकूलदक्षिणशठा धृष्टश्चेचति द्वयोरथोच्यन्ते । प्रत्येकं चत्वारो भेदा युक्तिभिरमी वृत्त्या ॥ २३ ॥

१७—शाठचधाष्टर्चे परं नाटचप्रोक्ते उपपतेरुभे । कृष्णे तु सर्वं नायुक्तं तत्तद्भावस्य संभवात् ॥ २४ ॥

तत्रानुकूलः—

१८—अतिरक्ततया नार्यां त्यक्तान्यललनास्पृहः । सीतायां रामवत्सोऽयमनुकूलः प्रकीर्तितः ॥ २५ ॥

१९—राधायामेव कृष्णस्य सुप्रसिद्धानुकूलता । तदालोके कदाप्यस्य नान्यासङ्गः स्मृतिं व्रजेत् ॥२६ ॥

यथा (८)वैदग्धीनिकुरम्बचुम्बितधियः सौन्दर्यशारोज्ज्वलाः,
कामिन्यः कति नाद्य वल्लवपतेर्दीव्यन्ति गोष्ठान्तरे ।
राधे पुण्यवतीशिखामणिरसि क्षामोदरि त्वां विना,प्रेङ्खन्ती न परासु यन्मधुरिपोर्दृष्टात्र दृष्टिर्मया ॥२७॥

शक्ति स्वरूपा श्रोराधादिक को परकीया भाव ग्रहण कराकर मधुररस का रस निर्यास आस्वादन करते हैं। अत: श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में औपपत्य किसी भी प्रकार से दोषावह नहीं है।

किन्तु प्राकृत व्यक्तियों में औपपत्य महापाप है, विधर्म है, नरकों में चिरकाल तक यातना कराने वाला है, यहां तक कि प्राकृत औपपत्य विषयक काव्यगत नाटक भी श्रोता तथा देखने वालों में आस्वादन के समय अधर्म-जनक हुआ करता है, जन साधारण के लिये ही नहीं, सभ्य-सामाजिक के पक्ष में भी अधर्मकारी है। किन्तु श्रीलीलापुरुषोत्तम भगवान् तथा उनकी स्वरूपशक्तिप्रधानं ब्रजगोपियों की लीलाएं काव्य में हों चाहे नाटक में, उनके श्रवण करने और देखने से सामाजिक के कामादि हृदरोग नष्ट हो जाते हैं एवं पराभक्तिरस में सराबोर कर देती हैं। अतः प्राकृत औपपत्य निन्दनीय है, किन्तु श्रीकृष्ण एवं ब्रजगोपियों का औपपत्य चिन्मय एवं अनिंद्य है।

अनुवाद—इस विषय में प्राचीन कवि लीलाशुक श्रीविल्व-मंगल की सम्मति दिखाते हैं शृंगाररस—ही जिनकी सर्वसम्पत्ति है, मोरपुच्छ ही जिनका विशेष भूषण है, आत्मीयरूप से नराकृतिही जिन्होंने स्वीकार की है, उन त्रिभुवनाश्रय श्रीकृष्ण की मैं शरण ग्रहण करता हूं ॥२२॥

अनुवाद—पति और उपपति भेद से दोनों प्रकार के नायकों की चेष्टा हर एक में अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं धृष्ठ इन चार प्रकारों में कही गयी है। नाटचशास्त्र में केवल उपपतिके ही शाठच और धार्ष्ठच—ये दो भेद कहे गये हैं। किन्तु श्रीकृष्ण में कोई भी भाव अयुक्त नहीं है, क्योंकि उनमें समस्त भावों की सम्भावना है ॥२३-२४॥

अनुवाद—अव अनुकूल के लक्षण कहते हैं—श्रीरामचन्द्र जी जैसे केवल श्रीसीता जी में ही आसक्त थे, उसी प्रकार जो नायक एक मात्र निज स्त्रीमें ही अति आसक्त होकर अन्य स्त्रीविषयक स्पृहा को त्याग किये रहता है,उसे 'अनुकूल' कहते हैं ॥२५॥ (श्रीजीवगोस्वामी ने टीका में लिखा है, वास्तव में श्रीरामचन्द्र जी में अनुकूल नायकत्व के लक्षण घटित नहीं होते, वे तो एकनारी व्रत हैं) ॥२५॥

अनुवाद—श्रीराधाजी में ही श्रीकृष्ण की अनुकूलता सुप्रसिद्ध है, क्योंकि श्रीराधा जी के दर्शन कर (उनका नाम सुनकर या स्मरणकर) कभी भी उनको अन्यरमणी का प्रसङ्ग स्मरण नहीं आता ॥२६॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण में आसक्ति सम्पादन के लिये श्रीराधा को वृन्दाजी कहती हैं—हे राधे ! जिनकी वृद्धि रसिकताराशि से परिपूर्ण है, जिनका अति उज्ज्वल महा सौन्दर्य है—ऐसी जाने कितनी

धीरोदात्तानुकूलो यथा—

(९) कुवलयदृशः संकेतस्था दृगञ्चलकौशलैर्मनसिजकलानान्दीप्रस्तावनामभितन्वताम् ।
न किल घटते राधारङ्गप्रसङ्गविधायितावतविलसिते शैथिल्यस्य च्छटाप्यघविद्विषः ।। २८ ।।

धीरललितानुकूलो यथा—

(१०) गहनादनुरागतः पितृभ्यामपनीतव्यवहारकृत्यभारः ।
विहरन्सह राधया मुरारिर्यमुनाकूलवनान्यलं चकार ।। २९ ।।

सैकड़ों कामनियां श्रीनन्दमहाराज के गोष्ठ में क्रीड़ा करती रहती हैं । किन्तु हे कृशोदरि ! तुम अतिशय पुण्यशालिनी हो । क्यों ? सुन मैं ने तो साक्षात् ही देखा है कि तुम्हारे विरह में श्रीकृष्ण कुटिल दृष्टि रखने वाली अन्य किसी भी नायिका में आकृष्ट नहीं होते हैं ।।२७।।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रीराधा जी असमोर्ध्व सौन्दर्य वैदग्धी आदि गुणों की नित्य आश्रय हैं, फिर भी श्रीवृन्दा ने उन्हें यहां केवल महापुण्यवती शिखामणि ही कहा है । यह बात केवल श्रीराधाजी की वाम्यता दूर करने के लिये श्रीवृन्दा ने कही है । वाम्यता के रहते हुए फिर श्रीवृन्दा श्रीराधाजी को श्रीकृष्ण के प्रति आसक्त नहीं कर पायेगी ।।

अनुवाद—धीरोदात्त—अनुकूल नायकके लक्षणोंको कहते हैं—श्रीवृन्दाने श्रीविशाखाजीसे कहा—देखो विशाखे ! गोकुलवासिनी ये नीलोत्पल-नयनी रमणियाँ अपने-अपने संकेत-स्थलोंपर अवस्थित होकर अपने कटाक्ष-कौशल को प्रशस्त करती हुई कन्दर्पकलारूप नाटिका की प्रस्तावना का भलें ही विस्तार करें, किन्तु अघरिपु श्रीकृष्ण ऐसे सुदृढ़ एवं गम्भीर-आशय हैं कि श्रीराधा में विद्यमान जो उसका कन्दर्पकला नाट्य सम्वन्धी रङ्गालय है, उसका प्रकृष्ट संग प्राप्त कराने वाले अर्थात् नृत्य-नर्त्तनादि विविध आसक्ति विधान करने वाले व्रत के अनुष्ठान में श्रीकृष्ण की बिन्दुमात्र भी शिथिलता नहीं है ।।२८।।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—संकेत-स्थान पर श्रीराधाजी विराजमान हैं और श्रीकृष्ण उनको मिलने के लिये जा रहे हैं । मार्ग में गोकुलवासिनी कमलनयनी रमणियां भी अपने-अपने संकेत-स्थानों पर श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा में खड़ी हैं और नेत्र कटाक्षों से उन्हें अपनी ओर स्वाभिलाषपूर्ति के लिये बुलाना चाहती हैं । यह देखकर श्रीविशाखाजी के मन में शंका उठ रही है कि कहीं श्रीकृष्ण उन रमणियों के अनुरोध करने पर उनके पास न रुक जायें और श्रीराधाजी की कुञ्ज में न जा पायें । इस प्रकार श्रीविशाखा को विमनस्का देखकर वृन्दा जी ने उपर्युक्त वचन कहे हैं । इसमें श्रीकृष्ण का अनुकूल नायकत्व प्रकाशित हो रहा है ।

धीरोदात्त-अनुकूल नायक के लक्षण भक्तिरसामृतसिन्धु (२।१।२२६) में कहे गये हैं । श्रीपाद-जीवगोस्वामी ने तथा श्रीपादचक्रवर्ती ने इस श्लोक में उन समस्त लक्षणों का समावेश माना है किन्तु, श्रीविष्णुदास जी ने इस में प्रधानतः श्रीकृष्ण के सुदृढ़व्रतत्व तथा गाम्भीर्य गुणों को माना है जैसे भक्ति-रसामृतसिन्धु के (२।१।२२७) श्लोक में वर्णन हुआ है ।

अनुवाद—अव धीरललित-अनुकूल (भ० र० सि० २।१।२७०) नायक के लक्षण कहते हैं—श्रीश्री-राधाकृष्ण की स्वच्छन्द-लीला माधुरी का अनुभव कर श्रीपौर्णमासी ने आनन्दित चित्त होकर नान्दी-मुखी से कहा—हे नान्दीमुखि ! अनिर्वचनीय अनुराग के कारण माता-पिता—यशोदा-नन्दजी ने श्रीकृष्ण

धीरशान्तानुकूलो यथा—

(११) ब्रध्नोपास्तिविधौ तव प्रणयितापूरेण वेषंगतेक्ष्मादेवस्य कथं गुणोऽप्यघरिपौ द्रागद्य संचक्रमे।
बुद्धिः पश्य विवेककौशलवती दृष्टिः क्षमोद्गारिणी वागेतस्य मृगाक्षि रूढविनया मूर्तिश्च धीरोज्ज्वला ३०॥

धीरोद्धतानुकूलो यथा—

(१२) सत्यं मे परिहृत्य तावकसखीं प्रेमावदातं मनो नान्यस्मिन्प्रमदाजने क्षणमपि स्वप्नेऽपि संकल्पते।
सारग्राहिणि गौरि सद्गुणगुरौ मुक्तव्यलीकोद्यमे मुद्रां किं नु मयि व्यनक्षि ललिते गूढाभ्यसूयामयीम् ३१॥

के लिये कोई भी व्यवहारिक कार्य भार नहीं सपौं रखा है। इस प्रकार निश्चिन्त होकर निरन्तर श्रीराधा के साथ विहार करते हुए यमुनातटवर्ती कुंजों को अलंकृत करते रहते हैं। (यहां श्रीकृष्ण की निश्चिन्तता सूचित की गयी है) ॥२९॥

अनुवाद—अब धीरशान्त अनुकूल नायक (भ० र० २।१।२३३) के लक्षण कहते हैं—जटिला के पास रहते हुए भी श्रीविशाखा जी ने श्रीराधा के कान में कहा—हे मृगनयनि राधे ! तुम्हारे प्रति अतिशय प्रोति के कारण श्रीकृष्ण ने तुम्हें सूर्यपूजा कराने के लिये ब्राह्मण का वेश धारण किया है। कैसा आश्चर्य ! उनके शरीरमें आज स्पष्ट ब्राह्मणों के गुण भी संचारित हो रहे हैं। दृष्टि में क्षमा, वाणी में विनम्रता तथा उनकी मूर्ति धीर और उज्ज्वल हो रही है ॥३०॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रीराधा जी भौमवृन्दावनीय लीला में नित्य सूर्य पूजा करने जाती हैं पौर्णमासी के आदेशानुसार। एक दिन जटिला ने श्रीराधा को किसी कार्यवश रोक रखा था। श्रीराधाजी श्रीकृष्ण के मिलन के लिये अति उत्कण्ठित हो रही थीं। इधर श्रीराधाजी जिस मन्दिर में सूर्यपूजा करती थीं, वहां श्रीकृष्ण एक ब्राह्मण का वेश धारण करके आ विराजे। एक दूती ने आकर यह बात श्रीविशाखा जी को बतायी। तब श्रीविशाखा जी ने श्रीराधाजी के कान में धीरे-धीरे यह वचन कहे जो उपर्युक्त श्लोक में वर्णित हैं।

धीरशान्त-अनुकूल नायक के सब गुणों को इस श्लोक में प्रकाशित किया गया है। ब्राह्मण का वेशधारण करना श्रीकृष्ण की बुद्धि या विवेक कौशल को सूचित करता है। दृष्टि से वे सहनशील होकर विरहदुःख का उपाय देख रहे हैं। वाणी में विनम्रता तथा शान्त एवं सुशील स्वभाव मूर्ति धारण करना—ये सब गुण श्रीराधाजी की अनुकूलता के लिये धीरशान्त अनुकूल नायक श्रीकृष्ण में प्रकाशित हो रहे थे ॥३०॥

अनुवाद—अब धीरोद्धत-अनुकूल नायक (भ०र० २।१।२३६) के लक्षण कहते हैं—श्रीकृष्ण ने श्रीललिता जी से कहा—हे ललिते ! मैं सत्य शपथ खाकर कहता हूँ—कि मेरा प्रेम द्वारा निर्मल हुआ मन तुम्हारी सखी को परित्याग कर स्वप्न में भी एकक्षण के लिये दूसरी-दूसरी रमणियों की और नहीं जाता है। हे गौरी ! मैं तो सार ग्राही तथा सद्गुणों का गुरु हूँ। मुझ में बिन्दुमात्र भी अपराध नहीं है, फिर तुम मेरे प्रति गहरा दोष आरोपण करने वाली मुद्रा या आकृति क्यों धारण कर रही हो ? ॥३१॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—एकदिन श्रीकृष्ण अन्यरमणी (श्रीचन्द्रावली) के अनुरोधवश रात को उसके पास रहे आये। श्रीराधाजी प्रतीक्षा करती रहीं और माननी हो उठीं। प्रातःकाल में श्रीकृष्ण धीरोद्धत अनुकूल नायक भाव का अवलम्बन कर श्रीराधा जी को मनाने के लिये कुंज में पधारे। किन्तु

अथ दक्षिणः—

२०—यो गौरवं भयं प्रेम दाक्षिण्यं पूर्वयोषिति । न मुञ्चत्यन्यचित्तोऽपि ज्ञेयोऽसौ खलु दक्षिणः ॥ ३२॥

यथा—(१३) तथ्यं चन्द्रावलि कथयसि प्रेक्ष्यते न व्यलीकं स्वप्नेऽप्यस्य त्वयि मधुभिदः प्रेम शुद्धान्तरस्य । श्रुत्वा जल्पं पिशुनमनसां तद्विरुद्धं सखीनां युक्तः कर्तुं सखि सविनये नात्र विस्रम्भभङ्गः ॥ ३३॥

यद्वा—२१—नायिकास्वप्यनेकासु तुल्यो दक्षिण उच्यते ॥ ३४॥

यथा दशरूपके—

(१४)स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसुर्द्यूतेरात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च । इत्यन्तः पुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥३५॥

सीधे तो श्रीराधाजी के पास जाने का उन्हें साहस न हुआ । इसलिये पहले राधा सखी-प्रधान श्रीललिता जी के पास आकर उक्त वचन बोले ।

इस श्लोक में मात्सर्य को छोड़कर धीरोद्धत अनुकूल नायक के सब गुण प्रदर्शित हुए हैं ।—मैं सारग्राही हूं, निर्मल मन हूँ, सद्गुणों का गुरु हूँ—इन वचनों में अहंकारित्व सूचित हो रहा है, मैं सत्य कहता हूँ, निरपराध हूँ-इत्यादि वचनों में असत्य, तथा अन्यरमणी के साथ रसपुष्टि के हेतु मिलित होकर भी कपटता-चातुरीमय जो वाक्य-विन्यास है—इनसे नायक में छल-माया सूचित हो रही है। फिर हे गौरि ! मेरे प्रति दोषारोपण सूचक मुद्रा क्यों धारण कर रही हो ?—इस सारोप वचन से रोष और चञ्चलता भी प्रकाशित हो रही है ॥३१॥

अनुवाद—जो नायक अन्य नारी में आसक्त होकर भी पहली नायिका के प्रति गौरव, भय तथा सरलता त्याग नहीं करता, उसे 'दक्षिण' नायक कहते हैं ॥३२॥ इसका उदारण इस प्रकार है—श्रीगार्गी ने श्रीचन्द्रावली जी से कहा—हे चन्द्रावलि ! तुम ठीक कह रही हो । किन्तु तुम्हारे प्रति श्रीकृष्ण को स्वप्न में भी कोई अप्रिय कार्य (अपराध) करते नहीं देख पायी हूँ क्योंकि तुम्हारे प्रेम से उनका मन निर्मल हो चुका है । इसलिये दुष्ट-बुद्धि सखियों के मुख से विरुद्ध बात सुनकर सुविनीत श्रीकृष्ण के साथ प्रीतिभंग मत करना ॥३३॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—एक बार किसी सखी ने आकर श्रीचन्द्रावली जी से श्रीकृष्ण द्वारा अप्रिय कार्य करने की शिकायत की । वह मानकरके बैठ गयीं । उसे प्रसन्न करने मनाने के लिये श्रीकृष्ण ने गार्गी को उनके पास भेजा । गार्गी ने आकर पहले तो श्रीचन्द्रावली से श्रीकृष्ण के द्वारा किये अप्रिय कार्य को सुना और हां में हां मिलाती गयी । फिर अपनी सहानुभूति दिखाकर उपर्युक्त वचन कहे किन्तु श्रीकृष्ण को निर्दोष ही ठहरा दिया ।

इन वचनों में 'तुम्हारे प्रेम से मन का निर्मल होना'—प्रेम और दाक्षिण्य को सूचित कर रहा है । सुविनीत शब्द से श्रीकृष्ण का गौरव, निरपराधता, विनय में भय की सूचना मिल रही है—ये गुण दक्षिण नायक में विद्यमान रहते हैं ॥३३॥

अनुवाद—दक्षिणनायक के लक्षण अन्यमत से कहते हैं—अनेक नायिकाओं में समान-भाव रखने वाले नायक को भी 'दक्षिण-नायक' कहा जाता है ॥३४॥ इस विषय में दशरूपक (अलंकार-ग्रन्थ) का उदाहरण उद्धृत करते हैं—द्वारका के अन्तःपुर में रहने वाली एक सखी ने अपनी एक सखी से कहा—मैंने द्वारकानाथ श्रीकृष्ण से जाकर इस प्रकार कहा है—'हे द्वारकानाथ ! श्रीकुन्तलराज की पुत्री ऋतु-स्नान करके आज रात्रि को आप के आगमन की प्रतीक्षा में है (धर्मशास्त्रानुसार आपका मिलन उससे

यथा वा—(१५) पद्मा दृग्भङ्गिरङ्गं कलयति कमला जृम्भते साङ्गभङ्गं
तारा दोर्मूलमल्पं प्रथयति कुरुते कर्णकण्डूं सुकेशी।
शैब्या नीव्यां विधत्ते करमिति युगपन्माधवः प्रेयसीभि-
र्भावेनाहूयमानो बहुशिखरमनाः पश्य कुण्ठोऽयमास्ते ॥ ॥३६॥

अथ शठः—

२२—प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रियं कुरुते भृशम्। निगूढमपराधं च शठोऽयं कथितो बुधैः ॥ ३७॥

यथा—(१६) स्वप्ने व्यलीकं वनमालिनोक्तं पालीत्युपाकर्ण्य विवर्णवक्त्रा।
श्यामा विनिःश्वस्य मधुत्रियामां सहस्रयामामिव सा व्यनैषीत् ॥ ३८॥

आवश्यक है), अङ्गराज की बहन की भी आज आप से मिलने की बारी है, द्यूतक्रीड़ा में कमला ने भी आज की रात आपके साथ विहार करने के लिये जीत रखी है। उधर श्रीरुक्मिणी देवी को भी आपको आज प्रसन्न करना होगा। हे सखि ! इस प्रकार अन्तःपुर की सुन्दरियों की वार्ता जनाने पर श्रीकृष्ण उसे सुनकर तीन चार घड़ी तक मुग्ध मन होकर रहे आये। (तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण समस्त महिषियों के प्रति समान भाव रखते हैं, अतः उनका समाधान करने के लिये सोच में पड़ गये। वे किसी के प्रति तारतम्य भाव पोषण नहीं करते ॥३५॥

अनुवाद—(ग्रन्थकार ने 'दक्षिण-नायक' सम्बन्धी द्वारका का उदाहरण उद्धृत तो किया है, परन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये उसी आशय के व्रजसम्बन्धी उदाहरण का उलेख करते हैं)—श्रीवृन्दा ने कुन्दलता से कहा—देख, सखि ! श्रीश्यामसुन्दर वन से गोष्ठ की ओर आ रहे हैं। पद्मा नेत्र कटाक्षों का रंग प्रसारण कर रही है, कमला अङ्ग मोटन करते हुए जम्भाई ले रही है, तारा भुजाओं के मूलदेश (वक्षस्थल) को दिखा रही है, सुकेशी कानों के मूल को खुजा रही है, शैब्या नीवी में हाथ दे रही है—इस प्रकार सब प्रेयसीवृन्द एक ही समय अपनी अभिलाषाओं को प्रकाशित करते हुए श्रीकृष्ण को अपनी ओर बुला रही हैं। देख सखि ! श्रीकृष्ण भी इन सबकी चिन्ता में इधर-उधर देखते हुए कुण्ठित-चित्त हो रहे हैं ॥३६॥

अनुवाद—जो नायक नायिका के सामने तो मीठा बोलता है और पीठ-पीछे अत्यन्त अप्रिय व्यवहार करता है और गहरा अपराध भी करता है, पण्डितजन उसे 'शठ'-नायक कहते हैं ॥३७॥ इसका उदाहरण—श्यामा की एक सखीने नान्दीमुखी से जाकर कहा—हे नान्दीमुखि ! स्वप्नावस्था में श्रीकृष्ण के मुख से 'पाली' नाम सुनते ही श्यामा का मुख विवर्ण हो उठा एवं मधुरात्रि उसके लिये सहस्रयाम की होकर बीती ॥३८॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—वसन्त काल की एक रात्रि में श्रीकृष्ण श्यामा की गोद में सिर रखकर शयन कर रहे थे, स्वप्न देख रहे थे पाली का। उस स्वप्न में उनके मुख से 'पाली' नाम उच्चारण हो उठा। पाली का नाम सुनते ही श्यामा का मुंह पीला पड़गया-यह जानकर कि सो तो रहे हैं मेरे साथ और इनका ध्यान पाली की ओर है—प्रेम उसमें है। इतना सोचते ही वह एक रात मानो हजार रातों के समान उसे व्यतीत हुई—इसी बात को उसकी सखी ने नान्दीमुखी को सुनाया। सो रहे हैं एक प्रेयसी के पास और स्वप्न देख रहे हैं दूसरी प्रेयसी का—इससे इनकी अप्रियकारिता सूचित हो रही है ॥३८॥

यथा वा—(१७) तल्पितेन तपनीयकान्तिना कृष्ण कुञ्जकुहरेऽद्य वाससा।
अभ्यधायि तव निर्व्यलीकता मुञ्च सामपटलीपटिष्ठताम् ॥ ३९॥

अथ धृष्टः—
२३—अभिव्यक्तान्यतरुणीभोगलक्ष्मापि निर्भयः। मिथ्यावचनदक्षञ्च धृष्टोऽयं खलु कथ्यते ॥ ४०॥

यथा—(१८) नखाङ्का न श्यामे घनघुसृणरेखाततिरियं न लाक्षान्तः क्रूरे परिचिनु गिरेर्गैरिकामिदम्।
धियं धत्से चित्रं बत मृगमदेऽप्यञ्जनतया तरुण्यास्ते दृष्टिः किमिव विपरीतस्थितिरभूत् ॥ ४१॥

अनुवाद—(पूर्वोल्लिखित उदाहरण स्वप्नावस्था में ही अप्रियकारिता को सूचित करता है—अब प्रत्यक्ष रूप में उसका दूसरा उदाहरण देते हैं)—श्रीचन्द्रावली की सखी पद्मा ने कहा—हे कृष्ण ! आज कुंज के भीतर शय्या रूप में बिछा हुआ पीताम्बर ही तो आपके निरपराध की कथा बता रहा है। कहते कुछ हो, करते कुछ हो—यह जो विपरीत लक्षणों युक्त आपका अपराध है उसका प्रमाण दे रहा है। आप जो इस समय मधुरप्रिय वचन बोल रहे हो, इस महाचातुरी का आप त्याग करो ॥३९॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—राक रात्रि में श्रीकृष्ण ने कुंज में श्रीराधाजी से विहार किया। अपना पीताम्बर ही शय्या पर बिछा दिया। श्रीचन्द्रावली अपनी कुंज में उनकी प्रतीक्षा करती रही। वैसे हर समय श्रीकृष्ण पद्मा-चन्द्रावली को बड़े मधुर वचनों में कहते कि मुझे आप जितनी प्रिय हो और कोई नहीं। मैं आपको त्यागकर कहीं नहीं जाता। सवेरे पद्माको लेकर चन्द्रावली श्रीराधाजी की कुंज में अचानक जा पहुँची, अभी पीताम्बर शय्या पर बिछा हुआ ही था। श्रीचन्द्रावली को अचानक वहां आया देखकर श्रीश्याम सुन्दर मीठे-मीठे वचनों में बात को घुमाने लगे और बोले, मैं निरपराध हूँ—मुझे वरवश यहां विशाखा खींचे लायी थी,इत्यादि। इस वचनचातुरी को देखकर पद्माने उपर्युक्त श्लोक कहा है। इसमें उपर्युक्त शठनायक के लक्षण प्रकाशित हो रहे हैं ॥३९॥

अनुवाद— (धृष्ट-नायक के लक्षण)—अन्य युवती के साथ विहार करने के चिह्न शरीर पर स्पष्ट प्रकाशित होते हुए भी जो नायक निर्भय रहकर मिथ्या-वाक्य विन्यास करने में निपुण होता है, उसे 'धृष्ट' नायक कहा जाता है ॥४०॥ उसका उदाहरण श्रीकृष्ण के वचनों में देते हैं जो उन्होंने श्यामा के प्रति कहे—हे श्यामे ! मेरे शरीर पर जो तुम्हें नखाङ्क लगे दीख रहे हैं, वे नखों के चिह्न नहीं हैं, वरं गहरे कुंकुम (केसर) की रेखाएं हैं। हे कठोर-अन्तःकरणवाली ! ये भी यावक के चिह्न नहीं हैं, गैरिक पर्वत का रंग है, मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि कस्तूरी में भी तुम्हें काजल की धारणा हो रही है ? अभी तुम तरुणी हो फिर भी तुम्हारी दृष्टि में ऐसा विपरीत भाव कैसे पैदा हो गया है ? ४१॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—एकदिन रात्रि के समय श्रीगोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण किसी रमणी के साथ विहार करके प्रातः काल श्यामा के पास आये। आपके शरीर पर जगह-जगह नख-चिह्न लग रहे थे, वस्त्रों में यावक तथा गोलकपोलों पर रमणी के नेत्रों का काजल चमक रहा था अर्थात् सब सम्भोग-चिह्न प्रत्यक्ष दीख रहे थे। जब श्यामा ने जतलाया कि लम्पट ! ये सब चिह्न कहां से धारण करके आ रहे हो ? तो उसकी तर्कोंका समाधान श्रीकृष्ण ने धृष्टता पूर्वक और निर्भय होकर उक्त वचनों में किया है। उल्टा श्यामा का ही दृष्टि-दोष बता कर चतुराई दिखाने लगे—ये हैं धृष्ट-नायक के लक्षण ॥४१॥

२४—उदात्ताद्यैश्चतुर्भेदैस्त्रिभिः पूर्णतमादिभिः । द्वादशात्मा चतुर्विंशत्यात्मा पत्यादियुग्मतः ॥ ४२ ॥
२५—नायकः सोऽनुकूलाद्यैः स्यात्षण्णवतिधोचितः । नोक्तो धूर्तादिभेदस्तु मुनेः संमत्यभावतः ॥ ४३ ॥

इति नायकभेद प्रकरणम् ॥१॥

नायकसहायभेद-प्रकरणम्

१—अथैतस्य सहायाः स्युः पञ्चधा चेटको विटः । विदूषकः पीठमर्दः प्रियनर्मसखस्तथा ॥ १ ॥
२—नर्मप्रयोगे नैपुण्यं सदा गाढानुरागिता ।
देशकालज्ञता दाक्ष्यं रुष्टगोपीप्रसादनम् । निगूढमन्त्रतेत्याद्याः सहायानां गुणाः स्मृता ॥ २ ॥
तत्र चेटः—
संधानचतुरश्चेटो गूढकर्मा प्रगल्भधीः । स तु भङ्गुरभृङ्गारादिकः प्रोक्तोऽत्र गोकुले ॥ ३ ॥
यथा—(१) न पुनरिदमपूर्वं देवि कुत्रापि दृष्टं शरदि यदियमारान्माधवी पुष्पिताभूत् ।
इति किल वृषभानोर्लम्भितासौ कुमारी व्रजनवयुवराजव्याजतः कुञ्जवीथीम् ॥ ४ ॥

अनुवाद—(इस प्रकरण में आलोचित नायक-भेदों का पूरा विवरण उपर्युक्त दो श्लोकों में उल्लेख करते हैं)—पहले चार प्रकार के नायक—धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त तथा धीरोद्धत कहे गये। फिर पूर्णतम, पूर्णतर तथा पूर्ण भेद से प्रत्येक के तीन प्रकार होने से बारह भेद हो जाते हैं। पति तथा उपपति इन दो भेदों से चौबीस भेद होते हैं। ये चौबीसों फिर अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं धृष्ट—इन चार प्रकार के भेदों से गुणित होकर कुल छयानवे (९६) प्रकार के नायक होते हैं। (इन समस्त नायकों के लक्षण भगवान् श्रीकृष्ण नायक-शिरोमणि में विद्यमान हैं, जिनसे वे अपनी स्वरूप-शक्तिस्वरूपा श्रीराधाजी तथा उनकी कायव्यूह रूपा ब्रजगोपियों से मिलकर मधुररस का अशेष-विशेष रस निर्यास आस्वादन करते हैं।

इस प्रकार श्रीउज्ज्वलनीलमणि में नायक भेद प्रकरण समाप्त हुआ ॥१॥

अनुवाद—मधुर-रस में पांच प्रकार के नायक-सहाय कहे गये हैं—१ चेटक, २—विट्, ३—विदूषक, ४—पीठमर्द तथा ५—प्रियनर्मसखा ॥१॥

अनुवाद—पांच प्रकार के सहायकों के गुण इस प्रकार कहे गये हैं—नर्मवाक्य कहने में निपुणता, सदा गाढ़ अनुरागिता, देश-काल की अभिज्ञता, दक्षता, रुष्ट गोपियों को प्रसन्न करना, निगूढ़ मन्त्रणा (गुप्त-सलाह) देना ॥२॥

अनुवाद—(चेटक या चेट के लक्षण) सन्धान में (खोज-पड़ताल में) जो चतुर हो, गुप्त काम करने वाला हो एवं बुद्धिमान हो—ऐसे सेवक को 'चेट' कहते हैं। व्रज में भंगुर और भृङ्गार आदि श्रीकृष्ण के चेट—सहाय हैं ॥३॥

इसका उदाहरण यथा—भंगुर श्रीकृष्ण की आज्ञा से छलपूर्वक श्रीराधाजी को जब उनके पास ले आया तो, श्रीकृष्ण ने पूछा, तुम इन्हें क्या कहकर यहां ले आये? तो भंगुर बोला—मैंने श्रीराधा से जाकर कहा—देखो तो देवि! ऐसी अपूर्व वस्तु और कहीं भी देखने को नहीं मिलती, पास ही में माधवीलता है, जो शरद् ऋतु में ही पुष्पित हो रही है। व्रजनवयुवराज! इस छलपूर्ण बात को सुनते ही श्रीवृषभानुकुमारी कुञ्ज-मार्ग पर चल दीं ॥४॥

अथ विटः—(४)—वेषोपचारकुशलो धूर्तो गोष्ठीविशारदः ।
कामतन्त्रकलावेदी विट इत्यभिधीयते । कडारो भारतीबन्धुरित्यादिर्विट ईरितः ॥ ५ ॥

यथा—(२)—व्रजे सारङ्गाक्षीविततिभिरनुल्लङ्घ्यवचनः सखाहं त्वद्बन्धोश्चटुभिरभियाचेमुहुरिदम् ।
कलक्रीडद्वंशीस्थगितजगतीयौवतधृतिस्त्वया युक्तः श्यामे ! न खलु परिहर्तुं सखि ! हरिः ॥ ६ ॥

अथ विदूषकः—(५)—वसन्ताद्यभिधो लोलो भोजने कलहप्रियः ।
विकृताङ्गवचोवेषैर्हास्यकारी विदूषकः । विदग्धमाधवे ख्यातो यथासौ मधुमङ्गलः ॥ ७ ॥

यथा—(३)
तुष्टेन स्मितपुष्पवृष्टिरधुना सद्यस्त्वया रुच्यतामारूढः कुतुकी विमानमतुलं मां गोकुलाखण्डलः ।
इत्थं देवि मनोरथेन रभसादभ्यर्थ्यमानोऽप्यसौ यन्न मानिनि ! नाधरः प्रयतते तत्राद्भुतं रागिषु ॥ ८ ॥

अनुवाद—(विट-सहाय के लक्षण और नामादि) जो वेश-रचना में तथा उपचार प्रयोग (चापलूसी करने) में कुशल हो, धूर्त्त हो, गोष्ठि-विशारद (समयोचित बात कहने-बनाने में चतुर) हो, कामतन्त्रशास्त्र को जो जानने वाला हो—उसे 'विट' कहते हैं। व्रज में कड़ार तथा भारतीबन्धु आदि श्री कृष्ण के विट-सहाय हैं ॥५॥

उदाहरण यथा—कड़ार ने मानिनी श्यामा को एकबार जाकर कहा—हे श्यामे ! मैं तुम्हारे प्राणवन्धु श्रीकृष्ण का सखा हूँ और व्रजमें कोई ऐसी व्रजरमणी नहीं है, जो मेरी बात न मानती हो। मैं तुम्हें बार-बार विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ जिनकी मुरली की मधुरध्वनि से त्रिभुवन की युवतियों का धैर्य टूट जाता है, उन श्रीश्यामसुन्दर का परित्याग करना तुम्हारे लिये किसी भी प्रकार युक्ति संगत नहीं है ॥६॥

अनुवाद—(विदूषक के लक्षण और नाम) भोजन में लोलुप (लालची) एवं कलहप्रिय (झगड़ालु) और शरीरभङ्गी वाणी-तथा वेश को ऐसा उल्टा-सीधा धारण करने वाला कि जिसे देखते ही सब को हंसी आजाये, उसे 'विदूषक' कहा जाता है। व्रज में वसन्त और कोकिल आदि विदूषक हैं। श्रीविदग्ध-माधव नाटक में मधुमंगल भी प्रसिद्ध विदूषक है ॥७॥

विकृत-वाणी में विदूषक की हास्यकारिता का उदाहरण देखिये—मानिनी श्रीराधाजी को मनाने के लिये श्रीकृष्ण ने वसन्त को उनके पास भेजा। उसने आकर कहा—मैं कुतुकी गोकुलयुवराज का विमान अर्थात् रथ हूँ। मुझ जैसे अतुलनीय विमान पर आरोहित होकर व्रजयुवराज तुम्हारे पास आये हैं। अब आप देर न करके परितुष्ट होकर उन पर मन्दमुसक्यानरूपी पुष्पवृष्टि करो। अर्थात् मुसक्यान द्वारा अपने मानके त्यागका प्रकाश करो-यही हमारी प्रार्थना है। हे देवि ! मनोरथ द्वारा इस प्रकार बार-बार प्रार्थना करने पर भी आपका अधर मेरा अभीष्ट पूरा नहीं कर रहा है। ठीक है, हे मानिनि ! रागी व्यक्ति के पक्ष में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। (अर्थात् आपका अधर लालवर्ण होने से रागी हो रहा है—मात्सर्य युक्त रुष्ट व्यक्ति के पक्ष में किसी की बात को न मानना कोई आश्चर्य की बात नहीं है) ॥८॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—वसन्त ने वक्रभाषा में श्रीराधा मानिनी को प्रसन्न एवं हंसाने का प्रयत्न करते हुए कहा—हे मानिनि ! तुम्हारा अधर तुम्हारे मनोरथ पर चढ़ा हुआ है—तुम्हारे मन के अधीन हो रहा है। तुम चाहो तो उसे मुक्त कर सकती हो। इधर श्रीव्रजनवयुवराज श्रीकृष्ण

यथा वा—(४)—ममोपहरति स्वयं भवदभीष्टदेवो नमन्नवं कमलमुज्ज्वलं कमलबन्धुरुत्कण्ठया ।
मया तु तदवज्ञया भुवि निरस्यते रुष्यता न मानयसि मद्वचस्तदपि मानिनि ! त्वं कुतः ॥ ९ ॥

अथ पीठमर्दः—

६— गुणैर्नायककल्पो यः प्रेम्णा तत्रानुवृत्तिमान् । पीठमर्दः स कथितः श्रीदामा स्याद्यथा हरेः ॥ १० ॥

यथा—(५)
कालिन्दीपुलिने मुकुन्दचरितं विश्वस्य विस्मापनं द्रष्टुं गच्छति गोष्ठमेव निखिलं नैकात्र चन्द्रावली
ब्रूमस्तस्य सुहृत्तमाः स्वयममी पथ्यं च ते मा गोवर्धन मल्ल घट्टय मुधा गोवर्धनोद्धारिणम् ॥ ११ ॥

मुझ-विमान पर आरूढ़ होकर आये हैं, अर्थात् विमान—मान-रहित होकर मेरे साथ आपके पास आये हैं। राजा की सवारी आने पर जैसे सब प्रसन्न होकर उस पर पुष्पवृष्टि करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे अधर को भी उन पर हास्यरूप पुष्पवर्षा करनी चाहिये। जैसे राजा कौतुकवश सवारी करते हैं, वैसे व्रजयुवराज भी कौतुकवश—रासविलास-विषय में कौतुकी हो रहे हैं। परन्तु हे मानिनि ! तुम्हारे अधर ने बार-बार प्रार्थना करने पर भी कुछ यत्न नहीं किया—उस पर जरा भी मुसकान नहीं आयी, क्योंकि तुमने उसे मनोरथ से मुक्त नहीं किया। किन्तु इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मैं जानता हूँ कि जो रागी व्यक्ति होते हैं अर्थात् जो क्रोध से लालवर्ण धारण करते हैं, वे किसी की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देते, तुम्हारा अधर भी तो (लालवर्ण युक्त) रागी है, वह क्यों मेरी प्रार्थना पर ध्यान देने लगा ? अपने को विमान बताने पर तथा वैसी आकृति बनाने पर श्रीराधाजी हंस पड़ीं—मान दूर हो गया ॥८॥

अनुवाद—(एक और उदाहरण उक्त विषय का देते हैं) मानिनी श्रीराधाजी के पास श्रीकृष्णने मधुमंगल को भेजा, उसने आकर बहुत चेष्टा की श्रीप्रियाजी को मनाने की, किन्तु उनका मान प्रशमन नहीं हुआ, तब) मधुमंगलने कहा—हे देवि ! तुम्हारा जो इष्टदेव सूर्य है, वह नवीन और उज्ज्वल कमल लाकर उत्कण्ठा पूर्वक प्रणाम करते हुए मुझे नित्य भेंट रूप में चढ़ाता है, किन्तु मैं क्रोधित होकर उस कमल को अवज्ञापूर्वक पृथ्वी पर फेंक दिया करता हूँ। और हे मानिनि तुम्हारा यह व्यवहार कि (अपने इष्टदेव द्वारा पूजित होने वाले) मुझ मधुमंगल की बात का अनादर कर रही हो ? (इस श्लोक में भी विकृत-वाक्य में हंसने का दृष्टान्त दिया गया है ॥९॥

अनुवाद—(पीठमर्द-सहाय के लक्षण-नामादि) जो नायक के समान गुणवान होकर भी प्रेमपूर्वक उसी नायक का आनुगत्य ही करता है, उसे 'पीठमर्द' कहते हैं। श्रीदाम पीठमर्द-सहाय है श्रीकृष्ण का ॥१०॥

उदाहरण रूप में गोवर्धन मल्ल के प्रति श्रीदाम के निर्भयवचनों को प्रकाशित करते हैं—श्रीदाम ने कहा—अरे गोवर्धनमल्ल ! सुन, मेरे सखा श्रीकृष्ण के चरित्र विश्वभर को विस्मित कर देने वाले हैं। कालिन्दी पुलिन में सारा गोष्ठ ही उनके दर्शन को जाता है. अकेली तुम्हारी चन्द्रावली नहीं जाती। यह बात मैं तुम्हें सत्य कह रहा हूँ और यह तेरे लिये मंगलकारिणी है—इसलिये तुम्हें कह रहा हूँ। श्रीकृष्ण मेरा सुहृत्तम है, तू गोवर्धन मल्ल ! उस गोवर्धनधारी के प्रति वृथा दोष मत लगाया कर ॥११॥

यथा वा - (६)

तवेयं श्रीदामन्प्रणतिरिह विस्रम्भयति मां प्रसादो रुद्राण्याः किमिव चपलासु प्रसरति।
वने यान्तीं दुर्गार्चनघुसृणमाल्याङ्कितकरां वधूं दृष्ट्वा शङ्के प्रथयति कलङ्कं खलजनः॥ १२॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रीचन्द्रावली का पति-मानो है गोवर्धन मल्ल। श्रीचन्द्रावली तो श्रीश्यामसुन्दर की मुख्य नायिकाओं में एक हैं। उनकी श्रीकृष्ण से अखण्ड प्रीति है किन्तु गुप्तरूप से, एकदिन वह गोवर्धनमल्ल अचानक श्रीदाम से रास्ते में अटक गया और बोला—तुम्हारे सखा कृष्ण ने गोकुल में बहुत अनर्थ फैला रखा है। सुना है वह हम गोपों की नारियों को बंशी ध्वनि से आकर्षित कर यमुना पुलिन में ले जाता है, उसे दण्डित करना होगा। इसके उत्तर में श्रीदाम ने कहा—अरे मल्ल मेरे सखा के समस्त चरित्र त्रिभुवन को आश्चर्य-चकित कर देने वाले हैं। सारे गोष्ठ के नर-नारी उस के दर्शन करने कालिन्दी-पुलिन में जाते हैं, तुम्हारी वधू चन्द्रावली अकेली वहां नहीं जाती, यह मैं तुम्हें सत्य कह रहा हूँ। ध्यान से सुन, तू अभी श्रीकृष्ण की महिमा को नहीं जानता। इसलिये कभी भी उन पर झूंठा दोष आरोपण मत करना इसमें तुम्हारी भलाई है। गोवर्धन मल्ल बोला—जानता हूँ मैं अपनी भलाई-बुराई। मुझे तू क्या कम समझता है? मेरा नाम गोवर्धन मल्ल है। श्रीदाम ने मुसकराते हुए कहा—हाँ, जानता हूँ तू गोवर्धन मल्ल है, परन्तु यह बात तो सारा व्रजमण्डल जानता है कि मेरा सखा गोवर्धनधारी है। सातकोश के गोवर्धन पर्वत को मेरे सखा ने एक हाथ पर सात दिन पर्यन्त उठाये रखा था। तभी तुम और हम, सारा व्रज बच पाया था। तुम जैसा अति क्षुद्रातिक्षुद्र गोवर्धन उसका क्या बिगाड़ सकता है?—इस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति श्रीदामके प्रेम तथा तुल्य गुणोंको इस प्रसंगमें दिखाया गया है॥११॥

अनुवाद—भारुण्डा (गोवर्धन मल्ल की माता या चन्द्रावली की सास) ने कहा—हे श्रीदान! तुम्हारे वचनों में मुझे विश्वास हो गया है, रुद्राणी देवी की कृपा कभी चंचल (परपुरुष में आसक्त) नारी पर हो सकती है? (नहीं हो सकती)। रुद्राणी (दुर्गा) की पूजा के लिये केसर-मालादि लेकर मेरी वधू—चन्द्रावली को वन में जाता देखकर दुष्ट लोग ही उस पर कलङ्क लगाते हैं तभी मुझे भी शंका पैदा हो उठती है॥१२॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—पूर्वोक्त श्लोक (११) में गर्वपूर्वक दण्डके उपायरूप में श्रीदाम की सहायता का उदाहरण दिखाया गया था। अब इस श्लोक (१२) में सान्त्वना वचनों में भेदरूप उपाय से श्रीकृष्ण की सहाय का उदाहरण दिखाते हैं। श्रीचन्द्रावली का सास के कान में भी यह बात आ पहुँची कि श्रीकृष्ण उसकी बहू चन्द्रावली पर आसक्त है और यह भी उससे प्रीति करती है। एकदिन अचानक उसे रास्ते में श्रीदाम मिल गया। तो उसने पूछा—श्रीदाम! सच बता मेरी बहु चन्द्रावली से तुम्हारा सखा कृष्ण प्रेम करता है और वह उसके पास आती है? तब श्रीदाम ने कहा—भारुण्डे! सच बात तो यह है कि मेरे सखा ने आज तक कभी तुम्हारी बहु चन्द्रावली को देखा तक भी नहीं है। तुम उसे वन में दुर्गा-पूजा के लिये भेजो अथवा न भेजो—घर में बन्द करके रखो—किसी को भी कोई आपत्ति नहीं है। तुम वृद्धा माननीय प्राचीन गोपी हो, इसलिये एक बात तुम्हें बताता हूँ, वह यह कि मैंने ऋषि श्रीभागुरी के मुखसे एकदिन सुना था जो नारी दुर्गादेवी की पूजा-अर्चना करेगी, तो उसके घर में धन-धान्य सम्पत्ति सदा बनी रहेगी, दिन प्रतिदिन बढ़ती रहेगी। उसका पति भी सदा निरोग

अथ प्रियनर्मसखः—७—आत्यन्तिकरहस्यज्ञः सखीभावं समाश्रितः।
सर्वेभ्यः प्रणयिभ्योऽसौ प्रियनर्मसखो वरः। स गोकुले तु सुबलस्तथा स्यादर्जुनादयः॥ १३॥

यथा—(७)

प्रत्यावर्तयति प्रसाद्य ललनां क्रीडाकलिप्रस्थितां शय्यां कुञ्जगृहे करोत्यघभिदः कन्दर्पलीलोचिताम्।
स्विन्नं वीजयति प्रियाहृदि परिस्रस्ताङ्गमुच्चैरमुं क्व श्रीमानधिकारितां न सुबलः सेवाविधौ विन्दति १४

यथा वा—(८)

याभिः साचिदृगञ्चलेन चटुलं कंसारिरालिह्यते दोर्द्वन्द्वेन कुचोपपीडमुरसि स्वैरं परिष्वज्यते।
एतस्याधरसीधुरुद्धुरतया सामोदमास्वाद्यते किं जानासि सखे व्यधायि कतरद्गोपीभिराभिस्तपः॥ १५॥

एवं चिरायु होगा। किन्तु यदि उसने उस पूजा को त्याग कर दिया किसी कारण वश, तो उसकी सारी सम्पत्ति को और उसके पति को भी वह दुर्गा खा जावेगी! श्रीदाम ऐसा कहकर चला गया। श्रीचन्द्रावलीजी नित्य पूजा को वन में जाती रहीं। उसके घर में धन-धान्य-सम्पत्ति विद्यमान थी—जिसे भारुण्डा दुर्गा देवी की ही कृपा जानने लगी थी फिर कुछ दिन बाद जब श्रीदाम से मिलाप हुआ तो भारुण्डा ने श्रीदाम के प्रति उपर्युक्त वचन कहे हैं। तात्पर्य यह है कि वचनों से ही विपक्ष को आश्वस्त करके श्रीदाम श्रीकृष्ण के मधुररसास्वादन में सहायक होते हैं॥१२॥

अनुवाद—(प्रियनर्मसखा के लक्षण-नामादि)—जो अत्यन्त गोपनीय विषय को जानता है, जो सखीभाव-समाश्रित है अर्थात् श्रीकृष्ण तथा उनकी प्रेयसियों की जो परस्पर मिलन-इच्छा रूप सखी-भाव है, उसका जो सम्यक् आश्रय है, (अर्थात् जिसका पुरुष-भाव आवृत है) एवं उन दोनों को मिलाने में जो तत्पर रहता है, तथा जो समस्त प्रेमियों में श्रेष्ठ है, उसे 'प्रियनर्म-सखा' कहते हैं। गोकुल में सुबल और अर्जुनादि श्रीकृष्ण के सखा हैं। (यह अर्जुन द्वारकावासी पाण्डव नहीं है) ॥१३॥

उदाहरण यथा—श्रीरूपमंजरी ने किसी अन्य सखी से कहा—हे सखि! श्रीमान सुबलने श्रीकृष्ण की किस सेवा का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर रखा है? कोई श्रीकृष्ण प्रेयसी जब क्रीड़ा करते करते किसी कारण वश कलह करके श्रीकृष्ण को छोड़कर कुन्ज से बाहर चली जाती है तो सुबल अनेक प्रकार से अनुनय-विनय करके उसे मनाकर कुंज में श्रीकृष्ण के पास ले जाता है। सुबल कुंजगृह में श्रीकृष्ण की कन्दर्पक्रीड़ा के उपयुक्त शय्या रचना करता है। कन्दर्प समर में क्लान्त होकर श्रीकृष्ण जब प्रेयसी के वक्षस्थल पर प्रचुररूप से स्वेदयुक्त शरीर को न्यस्त करके शयन करते हैं, तो (कुन्ज के बाहर रहकर पंखा की डोरी को खींचते हुए) सुबल उनको पंखा झलता रहता है॥१४॥

अनुवाद—एक प्रिय सखा को दूसरा एक प्रियनर्म सखा श्रीव्रजगोपियों के अतिशय भाग्यों की सराहना करते हुए कहता है—हे सखे! मैं नहीं जानता इन व्रजगोपियों ने कौन सी महान् तपस्या की है? देख तो, ये कन्दर्प-कुटिल कटाक्ष भंगी द्वारा श्रीश्याम सुन्दर को चुम्बन करती हैं, उरोजाक्रमण पूर्वक दोनों भुजाओं में भरकर यथेष्ट आलिगन करती हैं, उनकी अधरसुधा का अतिशय आनन्द पूर्वक आस्वादन कर मुग्ध हो जाती हैं—[प्रियनर्मसखा का सखीभाव समाश्रयत्व इस श्लोक में दिखाया गया है]॥१५॥

८—चतुर्विधाः सखायोऽत्र चेटः किङ्कर इष्यते । पीठमर्दस्य वीरादावपि साहाय्यकारिता ॥ १६ ॥
९—हरिप्रियाप्रकरणे वक्ष्यन्ते यास्तु दूतिकाः । अत्रापि ता यथायोग्यं विज्ञेया रसवेदिभिः ॥ १७ ॥
तत्र स्वयं यथा—(९) सखि माधवदृग्दूत्याः कर्मठता कार्मणे विचित्रास्ति ।
उपधाशुद्धापि यया रुद्धा त्वं चित्रितेवासि ॥ १८ ॥

वंशी, यथा ललितमाधवे—
(१०)ह्रियमवगृह्य गृहेभ्यः कर्षति राधां वनाय या निपुणा । सा जयति निसृष्टार्था वरवंशजकाकली दूती १९
आप्तदूती—
(१०)— वीरावृन्दादिरप्याप्तदूती कृष्णस्य कीर्तिता । वीरा प्रगल्भवचना वृन्दा चाटूक्तिपेशला ॥ २० ॥

अनुवाद—इस मधुररस में सहायकों में चेट को छोड़कर चार प्रकार के सखा ही गिनाये गये हैं। चेट किंकर (सेवक) ही माना गया है। पीठमर्दों की सहायकारिता वीरादि-रसों में भी है ॥८॥

हरिप्रिया प्रकरण में जिन सब को दूती कहा जायेगा, इस नायक-प्रकरण में भी उन सबकी यथायोग्य उपयोगिता है—रसज्ञजन यह जान लेंगे ॥१६-१७॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—दूती प्रधानतः दो प्रकार की हैं—(१) स्वयं-दूती तथा (२) आप्त-दूती। स्वयं-दूतियों का उद्योग या लगन कायिक, वाचिक तथा चाक्षुष—इन तीनों प्रकार से साधित होती है। आप्त-दूती तीन प्रकार की हैं—(१) अमितार्था, (२) निसृष्ठार्था तथा (३) पत्रहारिणी—इन सबकी सेवादि का पृथक्-पृथक् वर्णन दूती-प्रकरण में कहा जायेगा ॥१६-१७॥

अनुवाद—[कटाक्ष तथा बंशी भेद से स्वयं-दूती के दो प्रकारों में से पहले कटाक्ष या चाक्षुष-अभियोग (उद्योग) का उदाहरण देते हैं)—एकदिन निर्जनवन में श्रीकृष्णदर्शन के लिये व्याकुल हुई श्रीराधाजी के प्रति एक सखीने कहा]—हे सखि ! श्रीमाधव की दृष्टिरूपा दूती का नारीवशीकरण—कौशल अति विचित्र है। धर्म परीक्षा में तुम परम साध्वी होने पर भी श्रीकृष्ण की दृष्टि-दूती द्वारा अवरुद्ध होकर तुम चित्रलिखित मूर्तिवत् स्तम्भित हो रही हो। यहां (श्रीराधाजी में स्तम्भनामक सात्त्विक भाव को दिखाया गया है) ॥१८॥

अनुवाद—श्रीललित माधव नाटक में, वन से लौटते समय श्रीकृष्ण की बंशीध्वनि सुनकर गार्गी ने कहा—लज्जा परित्याग कराकर जो श्रीराधा को घर से वन में आकर्षण करके ले आती है, ऐसा कार्यभार प्राप्त श्रेष्ठ बंशी की काकली (ध्वनि) रूपा उस निपुणा (निसृष्ठा) दूती की जय हो। (बंशी-ध्वनि निसृष्ठा-दूती है जिसके जिम्मे यह कार्यभार सौंपा गया है कि वह श्रीराधाजी को घर से आकर्षण कर वन में ले आये ॥१९॥

अनुवाद—अब आप्त-दूतियों का परिचय देते हैं—वीरा, वृन्दा, वृन्दारिका, मेला एवं मुरलादि श्रीकृष्ण की 'आप्तदूती' कही गयी हैं। इनमें वीरा तो प्रगल्भ-वचना हैं अर्थात् साहसपूर्ण निशंक वाक्य विन्यास करने में चतुर हैं और श्रीवृन्दा चाटु-वाक्य में (चापलूसी में) बड़ी निपुणा हैं ॥२०॥

अनुवाद—(वीरा की प्रगल्भता का उदाहरण) मानिनी श्रीराधाजी के प्रति वीरा ने कहा—अरी गर्विणि ! वचनों पर विश्वास करके श्रीमाधव से विमुख मत हो। तुम्हें ध्यान है कि नहीं, कुछ दिन पहले उन्होंने गोवर्धनगिरि को धारण कर हम सब ब्रजवासियों की रक्षा की थी। अब वे किशोर

यथा—(११) विमुखी मा भव गर्विणि ! मद्‌गिरि गिरिणा धृतेन कृतरक्षम् ।
मूढे ! समूढवयसं माधव माधाव रागेण ॥ २१ ॥

(१२) वृन्दा सुन्दरि ! वन्दनं विदधती यत्पृच्छती त्वामसौ
चञ्चन्मञ्जुलखञ्जरीटनयने तत्रोत्तरं व्यञ्जय ।
केयं भ्रूभुजगी तवातिविषमा बंभ्रम्यते यद्भिया
क्लान्तः कालियमर्दनोऽपि कुरुते नाद्य प्रवेशं व्रजे ? ॥ २२ ॥

११—अस्यासाधारणा दूत्यो वीराद्याः कथिता हरेः । लिङ्गिन्यन्तास्तु वक्ष्यन्ते यास्ताः साधारणा द्वयोः २३

इति नायकसहायभेद-प्रकरणम् ॥२॥

अथ श्रीहरिप्रिया-प्रकरणम्

अथ हरिवल्लभाः—

१—हरेः साधारणगुणैरुपेतास्तस्य वल्लभाः । पृथुप्रेम्णां सुमाधुर्यसंपदां चाग्रिमाश्रयाः ॥ १ ॥

यथा—(१) प्रणमामि ताः परममाधुरीभृतः कृतपुण्यपुञ्जरमणीशिरोमणीः ।
उपसन्नयौवनगुरोरधीत्य याः स्मरकेलिकौशलमुदाहरन्हरौ ॥ २ ॥

२—स्वकीयाः परकीयाश्च द्विधा ताः परिकीर्तिता ॥ ३ ॥

अवस्था को प्राप्त हुए हैं । अतः हे मूर्खे ! परमप्रेम पूर्वक उनके निकट अभिसार कर, (वरना तुम्हारे विलम्ब करने पर वे किसी अन्य रमणी में आसक्त हो सकते हैं) ॥२१॥

अनुवाद—मानिनी श्रीराधाजी के प्रति वृन्दा ने कहा—हे सुन्दरि ! हे चञ्चल-मनोज्ञ-नयने ! मैं वृन्दा आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ । मैं जो कुछ पूछती हूँ उसका व्यञ्जना वृत्ति द्वारा (स्पष्ट) ही उत्तर दो—आप की जो यह अति भयानक भ्रूभंगी है—यह क्या है ?—इससे कालियमर्दन श्रीकृष्ण भी क्लान्त होकर अभी तक व्रज में नहीं आये हैं ।—इसका तथ्य एकवार मुझे आप बताओ । (इस श्लोक में वृन्दा की चाटूक्ति दिखायी गयी है) ॥२२॥

अनुवाद—वीरा, वृन्दा, वृन्दारिका, मेला तथा मुरला आदि श्रीकृष्ण की ही केवल दूतियां हैं, किन्तु ब्रजगोपियों की नहीं । शिल्पकारिणी, देवज्ञा तथा लिङ्गिनी आदि श्रीकृष्ण तथा श्रीव्रजगोपियों की—दोनों की साधारण दूतियां कही गयी हैं ॥२३॥

॥ इति नायक सहाय-भेद प्रकरणम् ॥२॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण के (सुरम्याङ्ग-सर्वसुललक्षणादि) साधारण गुण (यथासम्भव भाव से) जिनमें विराजते हैं और पौढ़ प्रेम की तथा सुमाधुर्य सम्पद की मुख्य आश्रय हैं । वे श्रीकृष्णवल्लभा हैं ॥१॥

अनुवाद—श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं—नव-कैशोर वयस गुरुसे स्मरकेलिकौशल की शिक्षा प्राप्तकर श्रीकृष्ण के पास उसकी परीक्षा देती हैं, जो परम माधुरी-विशिष्ट तथा अतिशय पुण्यपुञ्जकारिणी रमणियों की शिरोमणि हैं, उन समस्त श्रीकृष्ण-प्रेयसीवृन्द को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण प्रेयसीवृन्द दो प्रकार की हैं—स्वकीया तथा परकीया ॥३॥

३—करग्रहविधिं प्राप्ताः पत्युरादेशतत्परा। पातिव्रत्यादविचलाः स्वकीयाः कथिता इह ॥ ४॥
यथा—(२) सुनिर्माणे धर्माध्वनि पतिपरामः परिचिते मुदा बद्धश्रद्धां गिरि च गुरुवर्गस्य परितः।
गृहे याः सेवन्ते प्रियमपरतन्त्राः प्रतिदिनं महिष्यस्ताः शौरेस्तव मुदमुदग्रां विदधतु ॥ ५॥
(३) यथा वा श्रीदशमे—(१०।६०।५५)—
न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि मानिनि! यया स्वविवाहकाले।
प्राप्तान्नृपानविगणय्य रहोवहो मे प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य ॥ ६॥
४—तास्तु श्रीयदुवीरस्य सहस्राण्यस्य षोडश। अष्टोत्तरशताग्राणि द्वारवत्यां सुविश्रुताः॥ ७॥
५—आसां सख्यश्च दास्यश्च प्रत्येकं स्युः सहस्रशः। तुल्यरूपगुणाः सख्यः किंचिन्न्यूनास्तु दासिका ॥ ८॥
६—तत्रापि रुक्मिणी सत्या जाम्बवत्यर्कनन्दिनी। शैब्या भद्रा च कौशल्या माद्रीत्यष्टौ गणाग्रिमाः ॥९॥
७—अत्रापि रुक्मिणीसत्ये वरीयस्यौ प्रकीर्तिते। ऐश्वर्याद्रुक्मिणी तत्र सत्या सौभाग्यतो वरा ॥१०॥
(४) तथा हि श्रीहरिवंशे—
कुटुम्बस्येश्वरी सासीद्रुक्मिणी भीष्मकात्मजा। सत्यभामोत्तम स्त्रीणां सौभाग्ये चाधिकाभवत् ॥११॥

स्वकीया के लक्षण—जो पाणि-ग्रहणविधि अनुसार प्राप्त होती हैं, जो पतिके आदेश-पालन में तत्पर रहती हैं, एवं जो शास्त्रोक्त पातिव्रत्य धर्म से कभी भी विचलित नहीं होती हैं—उन्हें 'स्वकीया' कहा जाता है। (यदि शास्त्रोक्त धर्म के किसी अंश के पालन में पति सहमत न हों तो उस अंश का वह परित्याग भी कर देती है जो पति-आदेश पालन के अन्तर्गत आता है) ॥४॥

अनुवाद—(उदाहरण में कहते हैं)—द्रौपदी ने अपनी किसी सखी को कहा—पतिव्रतागणों या शिष्टजनों द्वारा अनुमोदित तथा सर्वगुणयुक्त और दोषरहित धर्मपथ पर तथा घर में निवास करने वाले (सास-श्वसुरादि) गुरुजनों के वचनों को जो आनन्द तथा श्रद्धा सहित पालन करती हैं, और जो अपने घर में रहकर प्रतिदिन स्वतन्त्रभाव से अपने पतिदेव की सेवा किया करती हैं, वे श्रीकृष्ण महिषीवृन्द तुम्हें श्रेष्ठ आनन्द प्रदान करें ॥५॥

अनुवाद—श्रीभागवत (१०।६०।५५) में श्रीकृष्ण ने कहा—हे मानिनि! (रुक्मिणि) मुझे अपने घर भर में तुम्हारे समान प्रेम करने वाली और कोई प्रेयसी दिखायी नहीं देती क्योंकि जिस समय तुमने मुझे देखा भी न था, केवल मेरी प्रशंसा सुनी थी, उस समय भी अपने विवाह में आये हुए राजाओं की उपेक्षा करके ब्राह्मण के द्वारा तुमने मेरे पास गुप्त सन्देश भेजा था ॥६॥

अनुवाद—श्रीयदुवीर—श्रीकृष्ण चन्द्रकी सोलह हजार एक सौ आठ महिषियां द्वारका में सुप्रसिद्ध हैं। उनमें प्रत्येक महिषी की हजार-हजार सखियां और दासियां थीं। सखियां तो महिषीवृन्द के तुल्य रूप-गुणशलिनी थी, किन्तु दासियाँ उनकी अपेक्षा कुछ कम रूप-गुणवती थीं। उन महिषियों में भी फिर रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी, शैव्या (मित्रविन्दा), भद्रा, कौशल्या (नाग्नजिति) तथा माद्री (लक्ष्मणा)—ये आठ प्रधाना थीं। इन आठों में भी फिर रुक्मिणी तथा सत्यभामा ही सर्वश्रेष्ठा कही गयी हैं। रुक्मिणी तो ऐश्वर्य में और सत्यभामा सौभाग्य में श्रेष्ठ मानी गयी हैं ॥७-१०॥

अनुवाद—श्रीहरिवंश में कहा गया है—भीष्मक-कन्या श्रीरुक्मिणी सब कुटुम्बों की अधीश्वरी थी महिषियों में श्रीसत्यभामा श्रेष्ठा और सौभाग्य में अधिका थी ॥११॥

(५) पाद्मे च कार्तिकमाहात्म्ये तां प्रति श्रीकृष्णवाक्यम्—

न मे त्वत्तः प्रियतमा काचिद्द्वे वि नितम्बिनी। षोडशस्त्रीसहस्राणां प्रिये प्राणसमा ह्यसि॥ १२॥

८—अनयोः सकलोत्कृष्टाः सख्यो दास्यश्च लक्षशः। स्वीयाजातीयभावेन निखिला एव भाविताः॥ १३॥

९—याश्च गोकुलकन्यासु पतिभावरता हरौ। तासां तद्वृत्तिनिष्ठत्वान्न स्वीयात्वसांप्रतम्॥ १४॥

यथा—(६)

आर्या चेदतिवत्सला मयि मुहुर्गोष्ठेश्वरी किं ततः प्राणेभ्यः प्रणयास्पदं प्रियसखीवृन्दं किमेतेन मे।
वैकुण्ठाटविमण्डलीविजयि चेद्वृन्दावनं तेन किं दीव्यत्यत्र न चेदुमाव्रतफलं पिच्छावतंसी पतिः॥ १५॥

१०—गान्धर्वरीत्या स्वीकारात्स्वीयात्वमिह वस्तुतः। अव्यक्तत्वाद्विवाहस्य सुष्ठु प्रच्छन्नकामता॥ १६॥

अनुवाद—पद्मपुराण के कार्तिक-माहात्म्य में श्रीकृष्ण ने कहा है—हे सत्यभामे देवि ! तुमसे बढ़कर कोई भी रमणी मेरी प्रियतमा नहीं है। मेरी सोलह हजार रानियों में केवल तुम ही मुझे प्राणों के समान हो ॥१२॥

अनुवाद—श्रीरुक्मिणी तथा श्रीसत्यभामा की सखियाँ और दासियां सर्वापेक्षा उत्कृष्टा थीं और संख्या में लाखों थीं ॥१३॥

अनुवाद—गोकुल वासिनी कन्याओं में जिनका श्रीकृष्ण के प्रति पतिभाव था, उनका स्वीयात्व भी पतिभावनिष्ठा के कारण अयोग्य नहीं है ॥१४॥

उन कन्याओं की पतिभावनिष्ठा का प्रमाण इस प्रकार है—(कात्यायनी व्रत करनेवाली कन्याओं में से एक ने कहा था)—कात्यायनीदेवी-व्रतके फलस्वरूप मोरपुच्छधारी (श्रीकृष्ण) मेरे पति यदि इस गोकुल में विहार न करें, परन्तु पूजनीया यशोदा मेरे प्रति अत्यन्त वात्सल्य भाव पोषण करें, तो उससे मेरा क्या प्रयोजन ? मेरी प्रिय सखियां मुझे प्राणों से भी अधिक प्रेम करें तो भी मुझे क्या ? यह वृन्दावन यदि वैकुण्ठ के वनों को भी पराभूत करले, तो करले, उससे ही मुझे क्या लाभ ? ॥१५॥

अनुवाद—(शास्त्रोक्त विधि अनुसार गोकुल कन्याओं का पाणिग्रहण तो श्रीकृष्णने किया नहीं, फिर उन्हें स्वीया कैसे मान लिया जाये ?—इसके उत्तर में कहते हैं कि)—उन गोकुल-कन्याओं को श्रीकृष्ण ने गान्धर्व-रीति से पत्नीरूप में स्वीकार किया था, इसलिये वस्तुतः उनका स्वीयात्व सिद्ध होता है। श्रीकृष्ण के साथ उनका विवाह अप्रकाशित रहने से या किसी के न जानने के कारण उनकी प्रच्छन्न-कामता (पिता-मातादि आत्मीय जनों से छिपकर श्रीकृष्ण से मिलना) स्पष्टरूप से सिद्ध था ॥१६॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रीरुक्मिणी-सत्यभामादि श्रीकृष्ण की नित्यसिद्धा स्वकीया कान्ता हैं। अप्रकट द्वारका में अनादि काल से उन्हें ऐसी दृढ़ प्रतीति है कि वे श्रीकृष्ण की स्वकीया कान्ता हैं और श्रीकृष्ण को भी ऐसी दृढ़ प्रतीति है कि वे उनके पति हैं। कब, कैसे उनका विवाह हुआ—लीलाशक्ति के प्रभाव से किसी को भी इस विषय का अनुसन्धान नहीं। प्राकृत ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते समय श्रीकृष्ण रुक्मिणी आदि को अवतरित कराते हैं और यहां लौकिक रीति अनुसार विवाह रचकर उनका स्वकीयात्व जगत् के सामने प्रकाशित करते हैं। नित्य-सिद्ध परिकर न होने से रुक्मिणी-आदिक कभी श्रीकृष्ण की स्वकीया-कान्ता नहीं हो सकतीं ॥१६॥

अथ परकीया—

११—रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणा । धर्मेणास्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ताः ॥ १७॥

यथा—(७)

रागोल्लासविलङ्घितार्यपदवीविश्रान्तयोऽप्युद्धुरश्रद्धारज्यदरुन्धतीमुखसतीवृन्देन वन्द्येहिताः ।
आरण्या अपि माधुरीपरिमलव्याक्षिप्तलक्ष्मीश्रियस्तास्त्रैलोक्यविलक्षणा ददतु वः कृष्णस्य सख्यः सुखम् १८

१२—कन्यकाश्च परोढाश्च परकीया द्विधा मतः ।
व्रजेशव्रजवासिन्य एताः प्रायेण विश्रुताः ॥
प्रच्छन्नकामता ह्यत्र गोकुलेन्द्रस्य सौख्यदा ॥ १९॥

तथा हि रुद्रः—(८)

वामता दुर्लभत्वं च स्त्रीणां या च निवारणा । तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम् ॥ २०॥

विष्णुगुप्तसंहितायां च—(९)

यत्र निषेधविशेषः सुदुर्लभत्वं च यन्मृगाक्षीणाम् । तत्रैव नागराणां निर्भरमासज्यते हृदयम् ॥ २१॥

अनुवाद—परकीया-कान्ता के लक्षण कहते हैं—जो इस लोक तथा परलोक की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखता, ऐसे राग या आसक्ति के कारण जो अपने-आप को (श्रीकृष्णरूप) नायक को आत्म समर्पण करती हैं, (श्रीकृष्णरूप) नायक भी वहिरंग विवाह प्रक्रियात्मक धर्म द्वारा जिन्हें अङ्गीकार नहीं करते, वही (श्रीकृष्ण की) परकीया कान्ता हैं।—(ऐसा श्रीजोवगोस्वामी-टीका में कहा गया है) ॥१७॥

उदाहरण यथा—(श्रीश्रीराधाकृष्ण के मिलन कराने के लिये दूती-कार्य में प्रवृत्ता नान्दीमुखी-गार्गीके प्रति पौर्णमासी कहतो है)—श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग के परम-उल्लास के कारण व्रज-रमणियों ने आर्यपथ की चरम सीमा तक का उल्लङ्घन कर दिया है। तथापि अरुन्धती प्रमुख सती स्त्रियां अतिशय श्रद्धासहित इन व्रजरमणियों की चेष्टाओं (अभिसारादि) की वार-बार वन्दना करती हैं। ये व्रजगोपीवृन्द वनविहारिणी हैं, फिर भी इनके माधुर्य-परिमल के द्वारा श्रीलक्ष्मी की सम्पदा भी तुच्छ होकर प्रतीत होती है। त्रिभुवन-विलक्षणा श्रीकृष्ण की ये सखियां आपका आनन्द विधान करें ॥१८॥

अनुवाद—(परकीया के प्रकार भेद कहते हैं) श्रीकृष्ण की परकीया-कान्ता दो प्रकार की हैं—कन्यका तथा परौढा। ये दोनों कान्ताएं प्रायशः श्रीनन्दमहाराज के व्रज में ही वास करती हैं। उनकी प्रच्छन्न-कामना गोकुलेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र के लिये सुखदायिनी हैं ॥१९॥

अनुवाद—प्रच्छन्न-कामता मधुररस का उत्कर्ष-विधान करती है। इस परकीया-प्रसङ्ग में पूर्वा-चार्य श्रीरुद्र की तथा श्रीविष्णुगुप्त की संहिता के प्रमाण उद्धृत करते हैं)—श्रीरुद्र ने कहा है—रमणियों की जो वामता, दुर्ल्लभता तथा निवारण है-ये पंचवाण (कन्दर्प) के परम आयुध गिनाये गये हैं ॥२०॥

विष्णुगुप्तसंहिता में कहा गया है—मृगनयनी रमणियों का जहां विशेष निषेध तथा सुदुर्ल्लभता होती है, वहां ही नायकों का चित्त विशेषरूप से आसक्त होता है ॥२१॥

१३—आः किं वान्यद्यतस्तस्यामिदमेव महामुनिः। जगौ पारमहंस्यां च संहितायां स्वयं शुकः॥ २२॥

यथा श्रीदशमे—(१०।३३।२०)—

(१०) कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः। रराम भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया। इति २३॥

१४— वर्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्न तु कृष्णवत्। इत्येवं भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः॥ २४॥

१५—रामादिवद्वर्तितव्यं न क्वचिद्रावणादिवत्। इत्येष मुक्तिधर्मादिपराणां नय इष्यते॥ २५॥

अनुवाद—(स्वकीया-पक्ष के पुष्टि करने वालों के प्रति कोप प्रकाशित करते हुए श्रीग्रन्थकार कहते हैं) अरे! परकीयाभाव के विषय में और क्या कहा जाये? पारमहंसी संहिता श्रीभागवत में स्वयं महामुनि श्रीशुकदेव जी ने व्रजगोपियों के परकीया भाव की महिमा उच्चकण्ठ से गान की है।।२२।।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—इस श्लोक में श्रीमद्‌भागवत को पारमहंसी संहिता कहा गया है, इसलिये कि श्रीकृष्णचन्द्र के चरणकमल का निर्मल प्रेमरसास्वादन ही जिनका एकमात्र जीवन है, वे परमरसिक महाभागवत व्यक्ति श्रीभागवत के तत्त्व को जानते हैं एवं वे ही इसका अध्ययन करते हैं। द्वितीयतः परमात्मा श्रीनारायण ही परमहंस हैं, उन्होंने ही सर्वप्रथम चतुःश्लोकी रूप में श्रीब्रह्मा को इसे सुनाया था। तृतीयतः—परमहंस श्रीव्यास देव मुनिद्वारा आविर्भूत होने से इसे पारमहंस-संहिता कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि श्रीमद्‌भागवत के वक्ता, श्रोता अनुष्ठाता सब ही निर्मत्सर-महामुनि हैं। श्रीशुकदेव मुनिने भी इसे जहां मधुरकण्ठ में उच्चस्वर से गान किया, उस सभामें श्रीनारद, वशिष्ठ, पराशर, व्यास आदि उपस्थित थे। अतः जो परकीया-भाव के विरोधी हैं, वास्तव में वे भागवती-सम्प्रदायमें गणित नहीं हो सकते-अभागवतीय सम्प्रदायी हैं, उनके चित्त अत्यन्त मलिन एवं माया-अज्ञानसे आवृत हैं। उनका श्रीभागवत-संहितामें वास्तवमें अधिकार ही नहीं है, न ही उसे ग्रहण करने की सुनिर्मलबुद्धि।।२२।।

अनुवाद—श्रीमद्‌भागवत (१०।३३।१६) में श्रीशुकदेव जी ने कहा है—हे परीक्षित्! यद्यपि श्री कृष्ण आत्माराम हैं, फिरभी उन्होंने जितनी व्रजगोपियां थीं, उतने ही रूप धारण कर खेल-खेल में उनके साथ इस प्रकार विहार किया।।२३।।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—आत्माराम निर्ग्रन्थ मुनिगण होकर भी जैसे श्रीहरिके सर्वाकर्षक गुणोंमें आकृष्ट होकर उनकी अहैतुकी भक्ति करते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण आत्माराम होकर भी व्रजगोपियों के प्रेम-माधुर्य, वैदग्धी-आदि अलौकिक गुणोंमें आकृष्ट होकर उनसे विहार करते हैं।। (श्लोकस्थ 'अपि' शब्द की यही व्यञ्जना है)।।२३।।

अनुवाद—(श्रेष्ठगण का आचरण देखकर औरों को भी उनका अनुगमन करना चाहिये।।गीता।। जब श्रीभगवान् ही प्रच्छन्न-कामता का आचरण करें तो और जीवभी परकीया-नायिका के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं—इस शंका का श्रीग्रन्थकार समाधान करते हैं निम्नलिखित दो श्लोकोंमें)—जो जीव अपना मंगल चाहते हैं, उन्हें भक्तों के आचरण का अनुगमन करना चाहिये, कभी भी उन्हें श्रीकृष्ण के व्यवहार या आचरण का अनुगमन नहीं करना चाहिये (श्रीकृष्ण की भांति महासर्प पर नाचने का कृष्णानुगमन कभी नहीं करना चाहिये)—यह भक्तिशास्त्रों का सुनिश्चित तात्पर्य है।।२४।। श्रीरामतुल्य व्यवहार करना विधेय है न कि रावणादि वत्। यह नीति जो प्रचलित है, वही मुक्तिकामी तथा धर्म कामी जीवों को अपनानी चाहिये।।२५।।

तथा च तत्रैव—(भा० १०।३३।३१ वा ३७)—

(११) नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥ २६ ॥

(१२) अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः। भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥ २७ ॥

१६—श्रीमुखेन तु माहात्म्यमासां प्राह स्वयं हरिः ॥ २८ ॥

यथा तत्रैव—(भा० १०।३२।२२)—

(१३) न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि व.।
या माभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥ २९ ॥

१७—उद्धवोऽपि जगौ सुष्ठु सर्वभागवतोत्तमः ॥ ३० ॥

अनुवाद—श्रीभागवत (१०।३३।३१) में श्रीशुकदेवजी ने कहा है—जिन लोगों में ऐसी सामर्थ्य नहीं है, उन्हें मन से भी वैसी बात कभी नहीं सोचनी चाहिये, शरीर से तो करना दूर रहा। यदि मूर्खतावश कोई ऐसा काम करता है, तो उसका नाश हो जाता है। श्रीशिवजी ने हलाहल विष पीलिया था, दूसरा कोई पिये तो वह जलकर भस्म हो जायेगा ॥२७॥

श्रीभागवत (१०।३३।३७) में आगे कहा है कि श्रीभगवान् जीवों पर अनुग्रह करने के लिये ही नराकृति रूप में अवस्थित होकर ऐसी लीलाएं करते हैं, जिन्हें सुनकर जीव भगवत्-परायण हो जायें ॥२६॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—तात्पर्य यह है कि अनीश्वर जीवको ईश्वर भगवान्‌के आचरण का अनुगमन नहीं करना है प्रत्युत भक्तों के आचरण का अथवा श्रीभगवान् जीवों के प्रति जो उपदेश करते हैं, उनके वचनों में विश्वास कर उनका पालन करना ही मंगलकारी है।

श्रीभगवान् निरुपाधि करुणामय हैं, वे परम रसिक शेखर रसस्वरूप हैं। जो भक्त मधुररस के प्रति आस्वादन की अनादि वासना से लुब्ध हैं, व्रजगोपियों के भाव-माधुर्य को श्रवण कर रागमार्ग में जिनकी रुचि उत्पन्न हुई है, उनके प्रति ही अनुग्रह करने के लिये श्रीभगवान् इस प्रकारका लीला-विनोद करते हैं। उसे सुनकर जीव मधुर-रसास्वादन पूर्वक भगवन्निष्ठ हो जाते हैं। मधुररसाश्रयी भक्तों को छोड़कर अन्यजातीय अर्थात् शान्तादि चारों प्रकार के साधकों का इसमें प्रवेश या अधिकार नहीं है। यही कारण है जो रागानुगा भक्ति मार्गके पथिक नहीं है, वे विचलितहो उठते हैं और इस परकीयाभावमय मधुरलीला रसास्वादन से सदा के लिये वंचित रह जाते हैं ॥२७॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने श्रीमुखसे व्रजगोपियों की महिमा गान की है। श्रीभागवत (१०।३२।२२) में श्रीकृष्ण ने कहा है—हे गोपीवृन्द! कठिनता से तोड़ी जाने वाली घर-गृहस्थकी बेड़ियों को सम्यक् प्रकार से तोड़कर आपने मेरा भजन किया है, मेरे साथ आपका मिलन अनिन्दनीय है (उसमें स्वसुखवासना नहीं है) आपने मेरे प्रति जो सुशीलता एवं साधुता प्रदर्शित की है, देवताओं के समान दीर्घ आयु प्राप्त करके भी मैं उसका प्रत्युपकार करने में असमर्थ हूँ। अतएव आपका साधुत्व ही आपके साधुत्व का प्रत्युपकार हो। मेरे द्वारा वैसा प्रत्युपकार असम्भव है। इसलिये मैं आपका नित्य ऋणि हूँ ॥२८-२६॥

अनुवाद—सर्वभागवतोत्तम श्रीउद्धवजी ने भी व्रजगोपियों की महिमा का अति सुन्दर गान किया है। श्रीभागवत (१०।४७।६१) में उन्होंने प्रार्थना की है—अहो! जिन व्रजगोपियों ने दुस्त्यज पति-

यथा—(भा. १०।४७।६२)—

(१४) आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ ३१ ॥

१८—मायाकलिततादृक्स्त्रीशीलनेनानसूयुभिः । न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः ॥ ३२ ॥

तथाहि श्रीदशमे—(१०।३३।३७)—

(१५) नासूयन्खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्दारान्व्रजौकसः ॥ ३३ ॥

पुत्रादि आत्मीय जनों को तथा वेद-लोक-देहधर्मादि सदाचारपथ का परित्याग करके, जिनका श्रुतियां भी अनुसन्धान करती रहती हैं, उन श्रीकृष्ण में प्रेमभक्ति के मार्गका भजन किया है, उनकी चरणरेणु को सेवन करने वाले श्रीवृन्दावन के गुल्म-लता एवं औषधियों में से किसी एकका देह मुझे प्राप्त हो जाये—यही मेरी प्रार्थना है ।।३०-३१।।

अनुवाद—व्रजगोपियों के पति-मन्य जो गोप थे, अर्थात् जो अपने को उन व्रजगोपियों का पति माने हुए थे, उनके साथ उन कृष्ण प्रेयसी व्रजगोपियों का कभी भी देह-सम्बन्ध नहीं घटित होता था, योगमाया के प्रभाव से उनकी माया कल्पित या छायामूर्तियों से उनका भोजन एवं गृह का व्यापार चलता था । इसलिये उन्हें श्रीकृष्ण के विषयमें दोष देखने का कभी अवकाश ही नहीं मिला ।।३२।।

अनुवाद—श्रीभागवत (१०।३३।३७) में जैसे श्रीशुकदेव जी ने कहा है—(श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि से आकर्षित होकर रासमहोत्सव में सर्व परित्यागकर चले जाने पर भी) समस्त व्रजवासियों ने अपनी-अपनी स्त्रियों को अपने घर अपने पास ही यथापूर्व विद्यमान देखा । योगमाया से वे ऐसे मोहित हो गये कि उन योगमाया कल्पित स्त्रियों को उन्होंने यथार्थ ही माना । इसलिये उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति पर-दारा-संग का कोई दोष नहीं दिया ।।३३।।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—परकीया-भाव के विषय में श्रीपरीक्षित् जी के माध्यम से अनेक शंकायें उठाकर श्रीशुकमुनि ने शास्त्र एवं युक्तियों से समस्त का समाधान किया है । वास्तव में भौमवृन्दावनकी मधुरभावकी लीला नित्यस्वीया होते हुए भी परकीया-भाव पर प्रतिष्ठित है । उसका कारण है रसिकचूड़ा-मणि रसस्वरूप स्वयं भगवान् का मधुररस निर्यास का अशेष-विशेष आस्वादन । इस विषय पर श्रीमद्-भागवत के प्रमुख टीकाकारों ने अति विस्तार-पूर्वक प्रकाश डाला है । श्रीचैतन्यचरितामृत (१।४।२५-२८) पयारों की चैतन्यचरण चुम्बिनी टीका में भी इस विषय को अनेक शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया गया है । अतः ग्रन्थविस्तार भय से इस विषय की आलोचना यहां नहीं की जा रही है । जो लोग इस रस के अनधिकारी हैं, श्रीकृष्ण-स्वरूप तत्त्व से अपरिचित हैं, कुतार्किक बुद्धि के कारण भागवत-सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं, विशेषतः प्राकृत रसों की मलिन कीचड़ में जिनकी मनोवृत्तियां लथ-पथ हो रही हैं. उन के पक्ष में मधुररस की परकीया-भाव पद्धति समझना अति कठिन है । उनके प्रति इसे समझाने का प्रयास या आग्रह भी वृथा ही है । उनके लिये अन्यरस ही ठीक हैं ।।३३।।

अनुवाद—परकीया-श्रीकृष्ण कान्ताओं में कन्यकाओं के लक्षणादि—जिनका विवाह नहीं हुआ उन्हें 'कन्यका' कहा जाता है । वे लज्जाशीला होती हैं, पितागृह में पालित या सुरक्षित होती हैं । सखी

तत्र कन्यकाः—१९—अनूढाः कन्यकाः प्रोक्ताः सलज्जाः पितृपालिताः ।
सखीकेलिषु विस्रब्धाः प्रायो मुग्धागुणान्विताः ॥ ३४ ॥
२०—तत्र दुर्गाव्रतपराः कन्या धन्यादयो मताः । हरिणा पूरिताभीष्टास्तेन तास्तस्य वल्लभाः ॥ ३५ ॥
यथा—(१६)—
विस्रब्धा सखि ! धूलिकेलिषु पटासंवीतवक्षःस्थला बालासीति न बल्लवस्तव पिता जामातरं मृग्यति ।
त्वं तु भ्रान्तविलोचनान्तमचिरादाकर्ण्य वृन्दावने कूजन्तीं शिखिपिच्छमौलिमुरलीं सोत्कम्पमाघूर्णसि ३६ ॥
अथ परोढाः—
२१—गोपैर्व्यूढा अपि हरेः सदा संभोगलालसाः । परोढा वल्लभास्तस्य व्रजनार्योऽप्रसूतिकाः ॥ ३७ ॥
यथा—(१७)—कात्यायनी कुसुमकामनया किमर्थं कान्तारकुक्षिकुहरं कुतुकाद्गतासि ।
सद्यस्तनं स्तनयुगे तव कण्टकाङ्कं पत्युः स्वसा सखि सशङ्कमुदीक्षतेऽसौ ॥ ३८ ॥

केलि में उनका विश्वास रहता है अर्थात् अपने से वयस में कुछ अधिक सखियों के द्वारा वे नर्म परिहास पूर्वक प्रवर्तित होती है । वे प्रायशः मुग्धा गुण विशिष्ट होती हैं ॥१६॥ कात्यायनी-व्रत परायणा धन्या आदि गोपकन्याएं इन कन्यकाओं में गिनी जाती हैं । श्रीकृष्ण ने उनके अभीष्ट को (गान्धर्वरीति से पत्निरूप में अंगीकार कर) पूर्ण किया था । इसलिये वे श्रीकृष्ण-वल्लभा हैं ॥३४-३५॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—कहा जा सकता है कि जब कात्यायनी-व्रतपरा कन्यकाओं को गान्धर्व रीति अनुसार पत्निरूप में श्रीकृष्ण ने अंगीकार किया था, तो वे स्वकीया मानी जानी चाहियें ? उत्तर—उनके विवाह के विषय में कोई भी और यहां तक कि उनके माता-पितादि भी नहीं जान पाये थे । लोगों में वे अविवाहिता रूप में जानी-मानी जातीं थी । उन्हें भी श्रीकृष्ण के साथ मिलन में परकीया-नायिकाओं की भांति अनेकविध बाधाविघ्नों का सामना करना पड़ता था । अतः परकीयाओं के अन्तर्भुक्त माना गया है, स्वकीया नहीं कहा जा सकता ।

और भी अनेक कन्यकाएं गोकुल में थी, जिन्होंने कात्यायनी व्रत धारण नहीं किया था । वे पति और उपपति के विचार से भी रहित थीं, किन्तु वे श्रीकृष्ण में ऐसा अतिशय अनुराग पोषण करती थीं कि उसके वशीभूत होकर वे श्रीकृष्ण से निभृत स्थान पर मिलित होतो थीं । वे भी सब परकीया मानी गयी हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्ण की स्वकीया कान्ता नहीं थीं ॥३४-३५॥

अनुवाद—किसी एक कन्या को उसके बड़े भाईकी लड़की (भतीजी) ने कहा—सखि ! धूलि-केलि में ही तुमको मैं निर्भीक (निडर होकर रत) देखती हूँ । तुम्हारा वक्षस्थल अब भी कपड़े से ढका हुआ नहीं हैं, तुम्हें अभी बिल्कुल बालिका समझ कर तुम्हारे-पिता जामाता (तुम्हारे वर) की खोज भी नहीं कर रहे हैं । किन्तु तुम वृन्दावन में मोरपुच्छमौली श्रीकृष्ण की मुरली ध्वनि को सुनते ही तत्क्षण (कन्दर्पजनित) कम्प को प्राप्त हो घूर्णित होने लगती हो ॥३६॥

अनुवाद—(परोढ़ा का लक्षण)—गोपगण के साथ विवाहिता होकर भी जो सर्वदा श्रीकृष्ण के साथ सम्भोग के लिये लालसावती रहती हैं, वे समस्त अजात-सन्ताना व्रजगोपीवृन्द श्रीकृष्ण की परोढ़ा वल्लभा हैं । (उनमें किसी की सन्तान नहीं और वे रजस्वला होती हैं) ॥३७॥

अनुवाद—पद्माने चन्द्रावली से कहा—सखि ! तुम कात्यायनी की पूजा के लिये कुसुम चयन करने के लिये कौतुकवश दुर्गम वनके बहुत भीतर क्यों चली गयी ? तुम्हारे वक्षस्थल पर कांटों के ताजे-ताजे चिह्न देखकर तुम्हारी ननद शंकापूर्वक बार-बार तुम्हारी तरफ देख रही है ॥३८॥

२२—एताः सर्वातिशायिन्यः शोभासाद्गुण्यवैभवैः । रमादिभ्योऽप्युरुप्रेममाधुर्यभरभूषिताः ॥ ३९ ॥

तथा च श्रीदशमे—(१०।४७।६०)—

(१८) नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम् ॥ ४० ॥

२३—तास्त्रिधा साधनपरा देव्यो नित्यप्रियास्तथा ॥ ४१ ॥

तत्र साधनपराः—२४—स्युर्यौथिक्यस्त्वयौथिक्य इति तत्रादिमा द्विधा ॥ ४२ ॥

तत्र यौथिक्यः—

२५—यौथिक्यस्तत्र संभूय गणशः साधने रताः । द्विविधास्ताश्च मुनयस्तथोपनिषदो मताः ॥ ४३ ॥

तत्र मुनयः—

२६—गोपालोपासकाः पूर्वमप्राप्ताभीष्टसिद्धयः । चिरादुद्बुद्धरतयो रामसौन्दर्यवीक्षया ॥ ४४ ॥

२७—मुनयस्तन्निजाभीष्टसिद्धिसंपादने रताः । लब्धभावा व्रजे गोप्यो जाताः पाद्म इतीरितम् ॥ ४५ ॥

अनुवाद—ये समस्त परोढ़ा श्रीकृष्णकान्तावृन्द शोभा, सद्गुणों के वैभव से सर्वापेक्षा श्रेष्ठा हैं । श्रीलक्ष्मी आदि की अपेक्षा भी ये प्रचुर प्रेम-सौन्दर्यादि से विभूषिता हैं—इनके समान प्रेम और सौन्दर्य श्रीलक्ष्मी आदिक में भी नहीं है ॥३९॥

श्रीमद्भागवत (१०।४७।६०) में भी श्रीउद्धव जी ने कहा है—कैसा आश्चर्य है ! रासोत्सव के समय श्रीकृष्ण की भुजाओं द्वारा कण्ठ से आलिंगित होकर जिन समस्त व्रजसुन्दरियों ने श्रेय प्राप्त किया है, श्रीकृष्ण से उन्होंने जो कृपा या प्रसाद प्राप्त किया है, श्रीनारायण में अत्यन्त प्रेमवती एवं उनके वक्षस्थल पर विलास करने वाली लक्ष्मी देवी भी उस प्रसाद को प्राप्त नहीं कर सकीं । स्वर्ग में रहने वाली पद्मगन्धवती तथा अपूर्व कान्तियुक्ता रमणीवृन्द भी उसे प्राप्त नहीं कर सकीं, तब अन्यान्य रमणियोंकी बात क्या कही जाये ॥४०॥

अनुवाद—परोढ़ा कृष्णवल्लभा तीन प्रकार की हैं—साधनपरा, देवी, तथा नित्यप्रिया ॥४१॥

अनुवाद—साधनपरा फिर दो प्रकार की हैं—यौथिकी और अयौथिकी ॥४२॥

अनुवाद—यौथिकी-साधनपरा वे हैं, जो एक साथ मिलित होकर भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभक्त होकर साधनमें लगती हैं (तथा साधनकी सिद्धि होने पर श्रीकृष्णके परिकरमें अन्तर्भुक्त हो जाती हैं)—उन्हें 'यौथिकी' कहते हैं । ये यौथिकी भी फिर दो प्रकार की हैं—दण्डकारण्यवासी मुनिगण तथा उपनिषद्गण अर्थात् श्रुति-अभिमानिनी देवीवृन्द) ॥४३॥

अनुवाद—मुनिगण या ऋषिचरी गोपी के विषय में पद्मपुराण के उत्तर खण्डमें कहा गया है कि दण्डकारण्यवासी कुछ मुनि पहले से ही गोपाल श्रीकृष्ण की कान्ता-भाव से उपासना करते थे, किन्तु तब इन्हें अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त न हुई थी । जब वनवास के समय श्रीरामजी दण्डकारण्य पधारे तो (श्रीकृष्ण के साथ किसी-किसी अंशमें श्रीराम जी के सादृश के कारण) श्रीरामचन्द्र जी के सौन्दर्य को देखकर उनकी जो चिरकालीन श्रीकृष्ण विषयक रति थी, वह उद्बुद्ध हो उठी, तब वे अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये साधन-रत हो उठे । बाद में जातरति अवस्था को प्राप्त कर वे सब व्रजमें आकर गोपीरूप से उत्पन्न हुए ।

वृहद् वामनपुराण में यह भी और कहा गया है कि उन मुनिरूपा गोपियों में से कुछ ने रास-लीला के आरम्भ में सिद्धि प्राप्त की—प्रकट अर्थानुसार कोई-कोई ऐसा कहते हैं ॥४४-४६॥

२८—कथाप्यन्या किल बृहद्वामने चेति विश्रुतिः। सिद्धिं कतिचिदेवासां रासारम्भे प्रपेदिरे ॥
इति केचित्प्रभाषन्ते प्रकटार्थानुसारिणः ॥ ४६ ॥

अथोपनिषदः—
२९—समन्तात्सूक्ष्मदर्शिन्यो महोपनिषदोऽखिलाः। गोपीनां वीक्ष्य सौभाग्यमसमोर्ध्वं सुविस्मिताः ॥४७ ॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—इस प्रसंग पर अपनी-टीकाओं में श्रीजीवगोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी तथा श्रीविश्वनाथ चक्रवती ने अनेक पूर्वपक्ष उठाकर उनका समाधान किया है। उसका संक्षिप्त सार यह है कि श्रीरामचन्द्र के दर्शन करने पर श्रीगोपाल की कान्ता-भावमयी उपासना करने वाले मुनियों ने उनसे अभीष्ट प्राप्ति की प्रार्थना की। वे अन्तर्यामी हैं, कल्पवृक्ष की भांति उन सब की उन्होंने मनोकामना पूर्ण करदी। जिस समय उन मुनियों का शरीर पात हुआ, उस समय तक उन्हें प्रेमकी प्राप्ति अभी न हुई थी। प्रेम का पूर्ववर्ती स्तर रति-अंकुर मात्र उनमें उदित हो पाया था। अतः शरीर पात होने पर योगमाया ने उन्हें व्रज में गोपकन्याओं के रूप में उत्पन्न किया। गोपीगर्भ से जन्म लेते समय वे अपरिपक्व कषाय थीं अर्थात् उनके शरीर गुणमय थे। बाद में जिनको नित्यसिद्ध गोपियों का सङ्ग प्राप्त हुआ, उस सङ्ग सौभाग्य वश नित्यसिद्ध गोपियों से श्रीकृष्ण कथादि श्रवण करने के प्रभाव से वयसन्धि के समय उनका श्रीकृष्ण में पूर्वानुराग पैदा हुआ। स्फूर्ति में उन्हें कृष्णाङ्ग सङ्ग-प्राप्त हुआ। उसके फल स्वरूप उनकी प्राकृत गुणमयता सम्यक्‌रूप से दूर हो गयी। उन का रति-अंकुर प्रेम-स्तर पर पहुंच गया। उनका गोपों से विवाह हो जाने पर भी पतिमन्य गोपों से अङ्गसंग योगमाया ने नहीं होने दिया। उनके देह चिन्मयत्व को प्राप्त हुए और रासरजनी में उन्होंने जाकर श्रीकृष्ण की प्राप्ति की।

जिनको नित्यसिद्ध गोपियों का संग प्राप्त न हो पाया था उनकी गुणमयता दूर न हो पायी। उनका विवाह जिन गोपों से हुआ, उनके द्वारा उन्हें सन्तान भी प्राप्त हुई। चाहे फिर उन्हें नित्य सिद्ध गोपियों का संग प्राप्त हुआ और उनमें कृष्ण मिलन को बलवती वासना एवं उत्कण्ठा भी जाग उठी, परन्तु उनके शरीर श्रीकृष्णाङ्ग-सङ्ग के अयोग्य थे। वंशीध्वनि सुनने पर घर से भागने की चेष्टा करने पर भी उन्हें पतियों ने घर में बन्द कर दिया था, जैसेकि श्रीभागवत (१०।२९।९ से ११) में कहा गया है। श्रीकृष्ण मिलन की तीव्र उत्कण्ठा में वे ध्यान से श्रीकृष्ण को रासस्थली पर जा मिलीं, किन्तु चिन्मय देह से। योगमाया ने उनके प्राकृत देह घर में ही रहने दिये, यह कोई भी न जान सका कि उन्होंने प्राण त्याग दिये हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि रागानुगा-मार्ग से व्रजभाव का भजन करने वाले साधक यथावस्थित देह में प्रेम पर्यन्त पहुंच पाते हैं। शरीर के पात होने पर योगमाया उनको श्रीकृष्णकी तत्कालीन प्रकट-लीला स्थली में लेजाकर गोपी के गर्भ से चिन्मय देहपूर्वक जन्म कराती है। प्रेम प्राप्त न होने पर किसी भी साधक पर योगमाया इस प्रकार की कृपा नहीं करती। कैसे भी हुआ उन दण्डकारण्य मुनियों में जिस समय प्रेम उदित हो उठा एवं उनके शरीर चिन्मयता को प्राप्त हुए, तभी उन्हें श्रीकृष्णाङ्ग-सङ्ग प्राप्त हुआ और वे कृतार्थ हो गये ॥४४-४६॥

अनुवाद—अब साधन-परा यौथिकी परोढा कान्ताओं में दूसरे प्रकार की उपनिषद्‌गण या श्रुतिचरी गोपियों का वर्णन करते हैं—सब महोपनिषद् अर्थात् श्रुति-अभिमानिनी देवीवृन्द सर्वतोभाव से सूक्ष्मदर्शिनी हैं। उन्होंने व्रजगोपियों के असमोर्ध्व सौभाग्य को देखकर अतिशय आश्चर्य माना। उनके

३०—तपांसि श्रद्धया कृत्वा प्रेमाढ्या जज्ञिरे व्रजे । बल्लव्य इति पौराणी तथोपनिषदी प्रथा ॥ ४८ ॥
अथायौथिक्यः—
३१—तद्भावबद्धरागा ये जनास्ते साधने रताः । तद्योग्यमनुरागौघं प्राप्योत्कण्ठानुसारतः ॥ ४९ ॥
३२—ता एकशोऽथ वा द्वित्राः काले काले व्रजेऽभवन् । प्राचीनाश्च नवाश्च स्युरयौथिक्यस्ततो द्विधा ५० ।
३३—नित्यप्रियाभिः सालोक्यं प्राचीनाश्चिरमागता । व्रजे जाता नावास्त्वेता मर्त्यामर्त्यादियोनितः ॥५१॥

सौभाग्य को प्राप्त करने की आकांक्षा से शास्त्रोक्तविधि अनुसार उन्होंने श्रद्धामे तपस्या की । उसके फल-स्वरूप प्रेमको प्राप्त कर उन्होंने व्रजमें गोपीरूप से जन्म ग्रहण किया । पुराणों एवं उपनिषदों में उन्हें वल्लवी (कृष्णकान्ता) कहने की रीति दीखती है ॥४७-४८॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रीवृहद्वामन पुराण के वचन हैं—वेदाभिमानिनी देवियों ने श्रीकृष्ण को कहा—कन्दर्पकोटि लावण्यमय आपका दर्शन करके हमारा मन कामिनी-भाव को प्राप्त होकर कन्दर्प द्वारा क्षुब्ध हो रहा है । और व्रजधामवासिनी गोपीवृन्द आपको अपना कान्त जानकर प्रेमतत्त्व से जिस प्रकार भजन करती हैं, उसी कान्ताभाव से आपके भजन करने की इच्छा हममें उदित हुई है । तब श्रीकृष्ण ने कहा—आपका मनोरथ-दुर्ल्लभ और दुर्घट है फिर भी मेरे द्वारा अनुमोदित है, यह पूर्ण होगा ।

पद्मपुराण सृष्टि खण्ड में वर्णन आता है कि गायत्री देवी ने गोपीरूप से जन्म लेकर श्रीकृष्ण की प्राप्तिकी । गोपकन्या रूपमें उत्पन्न हुई गायत्रीका विवाह ब्रह्माजीके साथ हो जाने पर उसके पिता-माता को श्रीभगवान् ने वर दिया कि—मैं भी देवकार्य की सिद्धि के लिये गोपकुल में अवतीर्ण हूँगा, तब तुम्हारी कन्या गायत्री मेरी कान्ता होगी । स्त्रियउरगेन्द्र भोग भुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रि सरोज सुधाः—(श्रीभा० ११।८७।२३) इसमें श्रुतियों ने श्रीकृष्ण की कान्ताभावमयी सेवा की प्रार्थना की है । इस प्रकार अनेक शास्त्रवचन उपलब्ध हैं जिनसे स्वयं भगवान् के प्रति अनेकों का परकीयाभाव सिद्ध होता है । श्रीकृष्ण स्वरूप को न जानने वाले लोग परकीयत्व का विरोध कर महा-पराध मूल्य लेते हैं ॥४७-४८॥

अनुवाद—अब अयौथिकी साधनपरा के विषय में कहते हैं—गोपीभाव में अत्यन्त लुब्ध होकर जो रागानुगा-भजन साधन में प्रवृत्त होते हैं, और गोपीभाव योग्य भजन में उत्कट प्रवृत्ति प्राप्त करके गोपीभाव से श्रीकृष्ण सेवा के लिये बलवती उत्कण्ठा जिनमें उत्पन्न हो उठती है, वे समय समय पर एक अथवा दो अथवा तीन होकर अर्थात् कभी एक साधक अकेला,कभी दो एक साथ और कभी तीन जने एक साथ गोपीरूपसे व्रजमें जन्म लेते हैं । —उन्हें अयौथिकी साधनपरा कहा जाता है । ये अयौथिकी फिर दो प्रकार की हैं—प्राचीना और नवीना । (जो पूर्व पूर्व कल्प में होने वाले कृष्णावतार के समय सिद्ध हुई थीं—वे प्राचीना हैं । और जो वर्तमान कल्पगत कृष्णावतार में सिद्ध हुई हैं, वे नवीना हैं ।) जो प्राचीना हैं, वे चिरकाल से ही श्रीकृष्ण की नित्य प्रेयसीवृन्द के साथ सांलोक्य प्राप्त करती हैं अर्थात् अप्रकट लीला-धाम में भी वे नित्यप्रेयसो वृन्द के साथ रहती हैं । और प्रकट लीला में भी उनके साथ ब्रह्माण्ड में प्रकट होती हैं । वे मनुष्य, देव, गन्धर्वादि योनियों में जन्म लेने के बाद रागानुगा-भजन के द्वारा प्रेम को प्राप्त कर प्रकट-लीलाकाल में व्रज में जन्म ग्रहण करती हैं ॥४९-५१॥

अथ देव्यः—

३४—देवेष्वंशेन जातस्य कृष्णस्य दिवि तुष्टये। नित्यप्रियाणामंशास्तु या जाता देवयोनयः॥ ५२॥

३५—अत्र देवावतरणे जनित्वा गोपकन्यकाः। ता अंशिनीनामेवासां प्रियसख्योऽभवन्व्रजे॥ ५३॥

अथ नित्यप्रियाः—

३६—राधाचन्द्रावलीमुख्याः प्रोक्ता नित्यप्रिया व्रजे। कृष्णवन्नित्यसौन्दर्यवैदग्ध्यादिगुणाश्रयाः॥ ५४॥

तथा च ब्रह्मसंहितायाम्—(५।३७)—

(१६) आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥ ५५॥

३७—तत्र शास्त्रप्रसिद्धास्तु राधा चन्द्रावली तथा। विशाखा ललिता श्यामा पद्मा शैब्या च भद्रिका।
तारा विचित्रा गोपाली धनिष्ठा पालिकादयः॥ ५६॥

३८—चन्द्रावल्येव सोमाभा गान्धर्वा राधिकैव सा। अनुराधा तु ललिता नैतास्तेनोदिकाः पृथक्॥ ५७॥

३९—लोकप्रसिद्धनाम्न्यस्तु खञ्जनाक्षी मनोरमा। मङ्गलाविमलालीलाकृष्णाशारीविशारदाः।
तारावलीचकोराक्षीशंकरीकुङ्कुमादयः॥ ५८॥

अनुवाद—अब साधन-परा देवीवृन्द के विषय में कहते हैं—अंशरूप से श्रीकृष्ण स्वर्ग में जब देवताओं में जन्म ग्रहण करते हैं (अवतीर्ण होते हैं) तब उनकी प्रसन्नता के लिये श्रीकृष्ण की नित्य-प्रेयसी वृन्द के अंशभी देवयोनि में जन्म ग्रहण करते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं रूप से जब ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं तब वे देवयोनि में उत्पन्न हुए नित्यप्रेयसियों के अंश गोपकन्याओं के रूप में व्रजमें जन्म ग्रहण करते हैं। वे तब व्रजमें अपनी अंशिनी नित्यप्रेयसियों की प्राण-तुल्य प्रिय सखी होती हैं। (श्रीभागवत १०।१।२३) में जो सुरस्त्रियों के जन्म की बात कही गयी है, वही नित्यप्रेयसियों की अंश स्वरूपा हैं॥५२-५३॥

अनुवाद—श्रीराधा, श्रीचन्द्रावली व्रज में श्रीकृष्ण की प्रमुख नित्य प्रिया हैं। वे श्रीकृष्ण की भांति नित्य सौन्दर्य, वैदग्धी आदि गुणों की आश्रय हैं॥५४॥

श्रीब्रह्म संहिता (५।३७) में उनकी श्रीकृष्ण-तुल्यता का प्रमाण इस प्रकार वर्णित है—जो समस्त गोलोकवासियों के तथा अन्यान्य प्रिय जनों के परम प्रिय हैं, अखिलात्मभूत हैं, तथा परमप्रेममय मधुर-रस द्वारा प्रतिभाविता एवं स्वकान्तारूप में प्रसिद्धा अपनी स्वरूपशक्ति ह्लादिनी रूपा ब्रजदेवियों के साथ जो गोलोक में निवास करते हैं, उन आदि-पुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ। ब्रह्मसंहिता की जीवकृपानुगा-टीका द्रष्टव्य है)॥५५॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण-नित्य प्रेयसियों में श्रीराधा, श्रीचन्द्रावली विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैब्या, भद्रा, तारा, विचित्रा, गोपाली, धनिष्ठा तथा पालिकादि भी शास्त्रप्रसिद्धा कृष्णनित्य-प्रिया हैं। (यहां शास्त्र शब्द से भविष्योत्तर पुराण, स्कन्दपुराणान्तर्गत प्रह्लादसंहितादिक अभिप्रेत हैं।)॥५६॥

अनुवाद—चन्द्रावली का दूसरा नाम 'सोमाभा' है। गोपालतापनी श्रुतिमें जिसे गान्धर्वा कहा गया है, वही राधिका हैं। ऋक् परिशिष्ट में श्रीराधा नाम भी उल्लिखित है—'राधयामाधवो देवो माधवेनैव राधिका—इत्यादि)। ललिता का दूसरा नाम अनुराधा है। इसलिये पृथक्रूप से इनके नामों

४०—इत्यादीनां तु शतशो यूथानि व्रजसुभ्रुवाम् । लक्षसंख्यास्तु कथिता यूथे यूथे वराङ्गनाः ॥ ५९ ।
४१—सर्वा यूथाधिपा एता राधाद्याः कुङ्कुमान्तिमाः । विशाखां ललितां पद्मां शैब्यां च प्रोज्झ्य कीर्तिताः
४२—किंतु सौभाग्यधौरेया अष्टौ राधादयो मताः । यूथाधिपात्वेऽप्यौचित्यं दधाना ललितादयः ॥
स्वेष्टराधादिभावस्य लोभात्सख्यरुचिं दधुः ॥ ६१ ॥

इति श्रीहरिप्रियाप्रकरणम् ॥

श्रीराधा-प्रकरणम्

१—तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावलीत्युभे । यूथयोस्तु ययोः सन्ति कोटिसंख्या मृगीदृशः ॥ १ ॥
२—अभूदाकुलितो रासः प्रमदाशतकोटिभिः । पुलिने यामुने तस्मिन्नित्येषागमिकी प्रथा ॥ २ ॥
३—तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका । महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी ॥ ३ ॥
४—गोपालोत्तरतापिन्यां यद्गान्धर्वेति विश्रुता । राधेत्यृक्परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता ॥
अतस्तदीयमाहात्म्यं पाद्मे देवर्षिणोदितम् ॥ ४ ॥

का उल्लेख नहीं किया गया है ॥५७॥ लोक-प्रसिद्धा नित्यप्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं—खञ्जनाक्षी, मनोरमा, मङ्गला, विमला, लीला, कृष्णा, शारी, विशारदा, तारावली, चकोराक्षी, शंकरी एवं कुंकुमा आदि ॥५८॥ इन समस्त नित्य-प्रेयसियों के शत-शत यूथ हैं। और एक यूथ में लाख-लाख वरांगनाएं हैं ॥५९॥ विशाखा, ललिता, पद्मा, शैब्या—इन चारों को छोड़कर श्रीराधा से लेकर कुङ्कमा पर्यन्त सबही यूथेश्वरी हैं ॥६०॥ किन्तु सौभाग्य की अधिकतासे श्रीराधादि आठ ही प्रधाना मानी गयी हैं। ललितादि चार प्रेयसियां यूथेश्वरी होने के योग्य होते हुए भी अपने अभीष्ट श्रीराधादिकी प्रीति प्राप्ति के लोभसे उनका सखीत्व अङ्गीकार करती हैं। (ललिता एवं विशाखा श्रीराधाकी सखी हैं और पद्मा एवं शैब्या चन्द्रावली के सखीत्व में रुचि रखती हैं) ॥६१॥

अथ श्रीराधा-प्रकरणम्

अनुवाद—पूर्वोक्त अष्ट यूथेश्वरियों में श्रीराधा एवं श्रीचन्द्रावली हर प्रकार से श्रेष्ठा हैं। इन दोनों में प्रत्येक के यूथ में कोटि-कोटि व्रजसुन्दरियां हैं ॥१॥ क्रमदीपिकादि आगम में कहा गया है कि यमुना-पुलिन में जो रास होता है, उसमें शत-शत कोटि रमणियां सम्मिलित होती हैं ॥२॥

अनुवाद—श्रीराधा जी तथा श्रीचन्द्रावली दोनों में फिर श्रीराधा ही सर्वप्रकार से श्रेष्ठा हैं। वे महाभावस्वरूपिणी हैं तथा गुणोंमें अत्यन्त महान् हैं ॥३॥ गोपालोत्तरतापनी श्रुति में जिसे गांधर्वा कहा गया है, वही श्रीराधा हैं। ऋक्वेद के परिशिष्ट में भी श्रीमाधव के साथ श्रीराधा का उल्लेख किया गया है। इसलिये पद्मपुराण में देवर्षि नारद ने श्रीराधाजी की महिमा वर्णन की है ॥४॥—श्रीराधाजी जैसे सर्वविभुतत्व श्रीकृष्ण की प्रिया हैं, श्रीराधाका कुण्ड भी श्रीकृष्ण को उतना ही प्रिय है। समस्त गोपियों में वे ही विष्णुतत्त्व श्रीकृष्ण की अत्यन्त वल्लभा हैं ॥५॥

तथा हि—(1)

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा। सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ॥ ५ ॥

५—ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी। तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता ॥ ६ ॥

६—सुष्ठु कान्तस्वरूपेयं सर्वदा वार्षभावनी। धृतषोडशशृङ्गारा द्वादशाभरणाश्रिता ॥ ७ ॥

तत्र सुष्ठुकान्तस्वरूपा यथा—

(२) कचास्तव सुकुञ्चिता मुखमधीरदीर्घेक्षणं कठोरकुचभागुरः क्रशिमशालि मध्यस्थलम्।
नते शिरसि दोर्लते करजरत्नरम्यौ करौ विधूनयति राधिके त्रिजगदेष रूपोत्सवः ॥ ८ ॥

अथ धृतषोड़शशृङ्गारा—

(३) स्नाता नासाग्रजाग्रन्मणिरसितपटा सूत्रिणी बद्धवेणिः
सोत्तंसा चर्चिताङ्गी कुसुमितचिकुरा स्रग्विणी पद्महस्ता।
ताम्बूलास्योरुबिन्दुस्तबकितचिबुका कज्जलाक्षी सुचित्रा
राधालक्तोज्ज्वलाङ्घ्रिः स्फुरति तिलकिनी षोडशाकल्पिनीयम् ॥ ९ ॥

अथ द्वादशाभरणाश्रिता—

(४) दिव्यश्चूडामणीन्द्रः पुरटविरचिताः कुण्डलद्वन्द्वकाञ्ची-
निष्काश्चक्रीशलाकायुगवलयघटाः कण्ठभूषोर्मिकाश्च।
हारास्तारानुकारा भुजकटकतुलाकोटयो रत्नक्लृप्ता-
स्तुङ्गा पादाङ्गुलीयच्छविरिति रविभिर्भूषणैर्भाति राधा ॥ १० ॥

अनुवाद—(श्रीराधाजी का स्वरूपतत्त्व)—श्रीकृष्णकी समस्त शक्तियों में श्रेष्ठतम जो महाशक्ति ह्लादिनी है, उसकी सार भाव (घनीभूततमा रूपा) हैं श्रीराधा, यही बृहद्गौतमीयादि-तन्त्र में प्रतिष्ठित हुआ है ॥६॥ श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधा सुष्ठुकान्तस्वरूपा हैं अर्थात् अतिशय कमनीय-विग्रह विशिष्टा हैं। वह सोलह प्रकार की वेशरचना तथा द्वादश प्रकार के आभरण धारण करती हैं ॥६-७॥

अनुवाद—श्रीराधाजी का सुष्ठुकान्तास्वरूपत्व—श्रीकृष्णने कहा है—हे राधिके ! तुम्हारे केश अति घुंघराले हैं, मुखमण्डल अति चञ्चल तथा विशाल नेत्रों से शोभित है, वक्षस्थल कठिनकुच-युगल से मण्डित है। कटि-देश श्लाघनीय कृशतायुक्त है, भुज-युगल के ऊपर दोनों स्कन्ध विशाल हैं एवं दोनों हाथ नखरत्नों से सुशोभित हैं। राधे ! तुम्हारा यह रूपोत्सव त्रिभुवन को कंपित कर रहा है—त्रिभुवन की सौन्दर्यगर्वशालिनी रमणियों का गर्व चूर-चूर कर रहा है ॥८॥

अनुवाद—श्रीराधा के सोलह शृंगारों को दिखाते हैं—श्रीराधाजी ने स्नान कर लिया है, उनकी नासिका के अग्रभाग में मणि (लोलक) चमकरही है, उन्होंने नीलीसाड़ी धारण कर रखी है, कटि में नीवी बन्धन (काञ्ची) मस्तक में वेणी, कानोंमें कर्णफूल, अङ्गोंमें कपूर-कस्तूरी-चन्दनादि का लेप, चोटी में कुसुम, गलेमें फूलमाला, हाथ में लीलाकमल, मुख में ताम्बूल, चिबुक पर कस्तूरी बिन्दु, नयनों में काजल, कपोलों पर कस्तूरी रचित मकरी-पत्र, चरणोंमें अलक्तक तथा माथे पर तिलक—इन सोलह शृंगारों से सुसज्जित श्रीराधाजी शोभित हो रही हैं ॥९॥

अनुवाद—(श्रीराधाजीके द्वादश-आभरण) चोटी में दिव्य मणि, कानों में सोने के कुण्डल, कटिमें स्वर्णकाञ्ची) कण्ठमें स्वर्ण-पदक (पैण्डल), कानों के ऊपरी भाग के छिद्रमें दो शलाकाओं से जुड़ी दो सोने की चक्री (वालियां), हाथों में कड़े-चूड़ियां, कण्ठ में कण्ठहार, वक्षस्थल पर तारावली हार, भुजाओं

७—अथ वृन्दावनेश्वर्याः कीर्त्यन्ते प्रवरा गुणाः। मधुरेयं नववयाश्चलापाङ्गोज्ज्वलस्मिता ॥ ११ ॥
८—चारुसौभाग्यरेखाढ्या गन्धोन्मादितमाधवा। संगीतप्रसराभिज्ञा रम्यवाङ्नर्मपण्डिता ॥ १२ ॥
९—विनीता करुणापूर्णा विदग्धा पाटवान्विता। लज्जाशीला सुमर्यादा धैर्यगाम्भीर्यशालिनी ॥ १३ ॥
१०—सुविलासा महाभावपरमोत्कर्षतर्षिणी। गोकुलप्रेमवसतिर्जगच्छ्रेणीलसद्यशाः ॥ १४ ॥
११—गुर्वर्पितगुरुस्नेहा सखीप्रणयितावशा। कृष्णप्रियावलीमुख्या सन्तताश्रवकेशवा ॥
बहुना किं गुणास्तस्याः संख्यातीता हरेरिव ॥ १५ ॥
१२—इत्यङ्गोक्तिमनः स्थास्ते परसंबन्धगास्तथा। गुणा वृन्दावनेश्वर्या इह प्रोक्ताश्चतुर्विधाः ॥ १६ ॥

में वाजूबन्द, अंगुलियों में अंगूठियां, चरणों में रत्नमय नूपुर एवं पद-अंगुलियों में उज्ज्वल बिछुए—सूर्य के समान कान्तियुक्त—इन बारह आभरणों से श्रीराधाजी शोभित हो रही हैं ॥१०॥

अनुवाद—श्रीराधाजी की गुणावली का वर्णन करते हैं—(श्रीकृष्ण की भांति श्रीराधाजी में भी असंख्य अप्राकृत श्रेष्ठ गुण विद्यमान हैं, उनमें से पच्चीसगुणों को यहां वर्णन करते हैं)—श्रीराधिकाजी (१) मधुरा हैं अर्थात् वह सर्वावस्थामें चेष्टाओं एवं अंग-सौष्ठवादि में सुन्दर हैं। (२) नववया—नित्य मध्य-किशोर-अवस्थायुक्त हैं, (३) चलापाङ्गा—उनके नेत्रकटाक्ष अति चञ्चल हैं। (४) उज्ज्वल-स्मिता—मधुर मन्दहास्ययुक्ता हैं। (५) चारुसौभाग्य-रेखाढ्या—श्रीराधाजी के चरणतल में सौभाग्य-सूचक अति मनोहर रेखाएं विद्यमान हैं ❀ (६) गन्धोन्मादित-माधवा—उनकी गात्र-गन्धके श्रीमाधुर्य से श्रीमाधव उन्मत्त हो उठते हैं (७) संगीतप्रसराभिज्ञा—कोकिल तुल्य उनका पंचमस्वर है एवं संगीत विद्यामें वह अत्यन्त निपुण हैं। (८) रम्यवाक्—उनके वाक्य अति रमणीय हैं। (९) नर्म-पण्डिता—परिहास भरे मधुर नर्मवाक्योंके प्रयोग करने में वह सुनिपुणा हैं। (१०) वह विनीता, (११) करुणापूर्णा, (१२) विदग्धा (सर्वविषय-चतुरा), (१३) पाटवान्विता (चातुर्यशालिनी) (१४) लज्जाशीला, (१५) सुमर्यादा हैं अर्थात् उनमें स्वाभाविकी, शिष्टाचार परम्परा तथा स्वकल्पिता—तीनों प्रकार की मर्यादाएं हैं। (१६) श्रीराधा धैर्य्यशालिनी हैं, (१७) गाम्भीर्य शालिनी, (१८) सुविलासा—अर्थात् हर्षादि व्यंजक, मन्दहास्य-पुलक-विकृत-स्वर तालादिमय हाव-भावादियुक्ता हैं (१९) महाभाव-परमोत्कर्ष-तर्षिणी हैं, अर्थात् महाभावके चरमविकाशवश श्रीकृष्ण-विषय में अतिशय तृष्णावती हैं। (२०) गोकुल-प्रेमवसति—गोकुलवासी समस्त ही श्रीराधाजी से प्रीति करते हैं। (२१) जगत् श्रेणीलसद् यशा—अर्थात् उनका यश समस्त जगत्में व्याप्त हो रहा है। (२२) गुर्वर्पित-गुरुस्नेहा—गुरुजनों की अतिशय स्नेहपात्री हैं। (२३) सखीप्रणयिता-वशा—सखियों के प्रेमके वशीभूत हैं। (२४) कृष्णप्रियावली में मुख्या हैं एवं (२५) सन्तताश्रवकेशवा हैं—अर्थात् केशव श्रीकृष्ण सर्वदा श्रीराधाजी के वचनों के अधीन हैं, और अधिक क्या कहें श्रीहरि की भांति श्रीराधाजी में असंख्य गुण हैं ॥११-१५॥

अनुवाद—इस प्रकार उपर्युक्त पच्चीसगुण आङ्गिक, वाचिक, मानसिक तथा परसम्बन्धग भेदसे चार प्रकार के होते हैं। (माधुर्यादि छय गुण शारीरिक हैं। संगीत प्रसराभिज्ञा आदि तीन वाचिक हैं, विनीतादि दस मानसिक हैं तथा गोकुल-प्रेमवसति आदि छय गुण परसम्बन्धगत हैं) इनमें माधुर्य शब्द

❀ श्रीश्रीराधाकृष्ण के करपद के चिह्नों का सचित्र अवलोकन 'श्रीभगवत् कर-पद युगल-चिह्न' नामक पुस्तिका में करें।

१३—माधुर्यं चारुता नव्यं वयः कैशोरमध्यमम् । सौभाग्यरेखाः पादादिस्थिताश्चन्द्रकलादयः ॥ १७ ॥
१४—साधुमार्गादचलनं मर्यादेत्युदितं बुधैः । लज्जाभिजात्यशीलाद्यैर्धैर्यंदुःखसहिष्णुता ॥ १८ ॥
१५—व्यक्तत्वाल्लक्षितत्वाच्च नान्येषां लक्षणं कृतम् ॥ १९ ॥

तत्र मधुरा यथा विदग्धमाधवे—

(५) बलादक्ष्णोर्लक्ष्मीः कवलयति नव्यं कुवलयं मुखोल्लासः फुल्लं कमलवनमुल्लङ्घयति च ।
दशां कष्टामष्टापदमपि नयत्याङ्गिकरुचि-र्विचित्रं राधायाः किमपि किल रूपं विलसति ॥ २० ॥

अथ नववयाः—

(६) श्रोणिः स्यन्दनतां कृशोदरि कुचद्वन्द्वं क्रमाच्चक्रतां भ्रूश्चापश्रियमीक्षणद्वयमिदं यात्याशुगत्वं तव ।
सैनापत्यमतः प्रदाय भुवि ते कामः पशूनां पतिं धुन्वाञ्जत्वरमानिनं त्वयि निजं साम्राज्यभारं न्यधात् २१

अथ चलापाङ्गी—

(७) तडितचलतां ते किं दृगन्तादपाठी-द्विधुमुखि तडितो वा किं तवायं दृगन्तः ।
ध्रुवमिह गुरुताभूत्त्वद्दृगन्तस्य राधे वरमतिजविनां मे येन जिग्ये मनोऽपि ॥ २२

यथा उज्ज्वलस्मिता—

(८) तव वदनविधौ विधौतमध्यां स्मितसुधयाधरलेखिकामुदीक्ष्य ।
सखि लघुरघभिच्चकोरवर्यः प्रमदमदोद्धुरबुद्धिरुज्जिहीते ॥ २३ ॥

से चारुता, नव्य-वय से मध्यकैशोर, सौभाग्यरेखा से चरणों में स्थित चन्द्रकला आदि मर्यादा-शब्द से साधुमार्ग से विचलित न होना, लज्जासे कुल एवं सुशीलता के कारण लज्जा, धैर्य्यसे दुख सहिष्णुता समझनी चाहिये । अन्यान्य गुणोंके अर्थ स्पष्ट हैं—इसलिये उनके लक्षण यहां नहीं कहे गये हैं ॥१६-१९

अनुवाद—अब श्रीराधाजी के प्रत्येक गुण का उदाहरण सहित उल्लेख करते हैं—(मधुरा)—निर्जन स्थान पर सखियों के साथ खेलती हुई श्रीराधाजी को देखकर पौर्णमासी कहती है—अहो ! इस श्रीराधा का कैसा विचित्र रूप प्रकाशित हो रहा है ? इसकी नेत्र-शोभा नव नीलपद्म को बलपूर्वक ग्रस रही है । मुखका उल्लास प्रफुल्लित कमल-वनको पराभूत कर रहा है एवं इसकी अङ्गकान्ति स्वर्ण को विषमदशा प्राप्त करा रही है ॥२०॥

अनुवाद—(नववया)—वृन्दा ने कहा—हे कृशोदरि राधे ! तुम्हारे नितम्ब रथ हैं, कुचद्वय चक्र हैं, भ्रुकुटि धनुष हैं, नेत्रयुगल वाण हैं । इसलिये जयाभिलाषी पशुपति (श्रीगोपाल) को विजय करनेके लिये तुम्हें सेनापति पद पर नियुक्त कर कन्दर्प ने तुममें ही अपना साम्राज्यभार अर्पण कर दिया है ॥२१॥

अनुवाद—(चलापाङ्गी)—श्रीकृष्ण परिहास करते हुए कहते हैं—हे राधे ! तुम्हारी कटाक्षभंगी ने क्या विद्युतको चपलता की शिक्षा दी है ? अथवा विद्युत्से ही तुम्हारे नेत्र प्रान्तोंने चञ्चलता शिक्षा प्राप्त की है ? मुझे लगता है तुम्हारे नेत्रप्रान्त ही अध्यापक हैं, क्योंकि वायुसे भी अधिक महा वेगशाली मेरे श्रेष्ठ मनको भी यह जय कर रहे हैं ॥२२॥

अनुवाद—(उज्ज्वल-स्मिता)—कुञ्जमें श्रीराधाके पास श्रीकृष्णके आने पर वृन्दाने कहा—हे सखि राधे ! तुम्हारे मुखचन्द्रमें मन्द हास्यामृतसे तुम्हारे अधर रेखाके मध्यभागको विशेष भावसे सिंचित देखकर शीघ्रतायुक्त यह श्रीकृष्णरूप श्रेष्ठ चकोर गर्व एवं हर्ष मदसे साहसी (धृष्टबुद्धि) होकर उपस्थित हुआ है ॥२३॥

(९) अघहर भज तुष्टिं पश्य यच्चन्द्रलेखावलयकुसुमवल्लीकुण्डलाकारभाग्भिः।
अभिदधति निलीनामत्र सौभाग्यरेखा-विततिभिरनुविद्धाः सुष्ठु राधापदाङ्काः ।। २४ ।।

अथ गन्धोन्मादितमाधवा—

(१०) वल्लीमण्डलपल्लवालिभिरितः संगोपनायात्मनो मा वृन्दावनचक्रवर्तिनि कृथा यत्नं मुधा माधवि ।
घ्राम्यद्भिः स्वविरोधिभिः परिमलैरुन्मादनैः सूचितां कृष्णस्त्वां भ्रमराधिपः सखि धुवन्धूर्तो ध्रुवं धास्यति ।।

अथ संगीतप्रसराभिज्ञा—

(११) कृष्णसारहरपञ्चमस्वरे मुञ्च गीतकुतुकानि राधिके।
प्रेक्षतेऽत्र हरिणानुधावितां त्वां न यावदतिरोषणः पतिः ।। २६ ।।

अथ रम्यवाक्—

(१२) सुवदने वदने तव राधिके स्फुरति केयमिहाक्षरमाधुरी।
विकलतां लभते किल कोकिलः सखि ययाद्य सुधापि मुधार्थताम् ।। २७ ।।

अथ नर्मपण्डिता—

(१३) वंशयास्त्वमुपाध्यायः किमुपाध्यायी तवात्र वंशी वा । कुलयुवतिधर्महरणादस्ति ययोर्नापरं कर्म २८

अनुवाद—(चारुसौभाग्यरेखाढचा)—लुका-छिपी खेल में श्रीराधा जी के छिप जाने पर श्रीकृष्ण उन्हें ढुण्ढ न पा रहे थे, अतः अनमने होकर बैठ गये। तब श्रीराधा जी के चरणचिह्न देखकर आश्वस्त करते हुए सुबल बोला—हे कृष्ण ! तुम्हारे विषाद का अब कोई कारण नहीं है, यह देखो, श्रीराधा के समस्त चरणचिह्न-चन्द्ररेखा, वलय, पुष्पवल्ली, कुण्डल एवं सौभाग्य-रेखाएं आदि स्पष्ट बता रही हैं कि श्रीराधा इस कुञ्ज में छिप रही हैं ।।२४।।

अनुवाद—(गन्धोन्मादितमाधवा)—श्रीराधाजी कुसुम चयन कर रही थीं कि उन्होंने दूर से श्रीकृष्ण को अपनी ओर जाते देखा। श्रीराधा जी पल्लवित लताओं के पीछे जाकर छिपने की जब चेष्टा करने लगीं तो एक सखी ने कहा—'हे वृन्दावन चक्रवर्तिनि ! लताजाल या पल्लवों द्वारा अपने अङ्गों को छिपाये रखने की वृथा चेष्टा मतकरो। स्वविरोधी तथा उन्मादकारो जो तुम्हारे अंगों की परिमल है, वह चारों ओर प्रसारित हो रही है। धूर्त्त एवं कामुकशिरोमणि श्रीकृष्ण निश्चित ही तुम्हें कम्पायमान करते हुए पान करेगा ।।२५।।

अनुवाद—(संगीत प्रसराभिज्ञा) अपने भवन की पुष्पवाटिका में तुङ्गविद्या के सहित श्रीराधाजी एकान्त में श्रीकृष्ण गुण गान के लिये आलाप कर रही थीं। इतने में श्रीललिता ने आकर कहा—हे गीत-कौतुकिनि राधे ! तुम्हारे इस पंचमस्वर-आलाप में श्रीकृष्ण का धैर्य हरण होता है। तुम्हारा क्रोधी पति अभिमन्यु तुम्हारे पीछे आते हुए श्रीकृष्ण को नहीं देख पाये, इसलिये तू इस गीत-कौतुक को बन्द कर ।।२६।।

अनुवाद—(रम्यवाक्)—श्रीकृष्ण ने कहा—हे राधे ! हे सुन्दरमुखि ! तुम्हारे मुख से कैसा विचित्र अक्षर-माधुर्यक्षुरित हो रहा है ? इसकी सुन्दरस्वर से कोकिल विकल (मौन) हो गयी है एवं अक्षर-माधुर्य ने सुधा को भी व्यर्थ कर दिया है ।।२७।।

अनुवाद—(नर्मपण्डिता) श्रीराधाजी ने पूछा—हे नाथ ! वंशीके आप अध्यापक हैं कि वंशी आपकी अध्यापक है ? कुलयुवतियों के धर्महरण को छोड़कर आप दोनों का और कोई काम नहीं है ।।२८।।

यथा वा— (१४) देव प्रसीद वृषवर्धन पुण्यकीर्ते साध्वीगणस्तनशिवार्चननित्यपूत।
निर्मञ्छनं तव भजे रविपूजनाय स्नातास्मि हन्त मम न स्पृश न स्पृशाङ्गम् ॥ २९ ॥

अथ विनीता—
(१५) अपि गोकुले प्रसिद्धा भ्रूभ्रमिभिः परिजनैर्निषिद्धापि। पीठं मुमोच राधा भद्रामपि दूरतः प्रेक्ष्य ३०

यथा वा विदग्धमाधवे—
(१६) भूयो भूयः कलिविलसितैः सापराधापि राधा श्लाघ्येनाहं यदघरिपुणा बाढमङ्गीकृतास्मि।
तत्र क्षामोदरि ! किमपरं कारणं वः सखीनां दत्तामोदां प्रगुणकरुणामञ्जरीमन्तरेण ! ॥ ३१ ।

अथ करुणापूर्णा—
(१७) तार्णसूचिशिखयापि तर्णकं विद्धवक्त्रमवलोक्य सास्रया।
लिप्यते क्षतमवाप्तबाधया कुङ्कुमेन सहसास्य राधया ॥ ३२ ॥

अनुवाद—(एक और उदाहरण देखिये)—वृन्दावन में आरहीं श्रीराधाजी को मार्ग में रोकने पर श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा जी बोली—(स्तुतिपक्ष में) हे देव ! हे धर्मपालक ! हे पुण्यकीर्ति ! साध्वीवृन्द के उरोजरूप शिवार्चन करने से पवित्र रहने वाले ! आपकी बलिहारी जाऊँ। आपको नमस्कार करती हूँ, आप प्रसन्न होओ। सूर्यपूजा के लिये मैं स्नान करके आ रही हूँ, इस समय मेरे अङ्गों का स्पर्श मत करो, न करना। नर्मपण्डिता होने से निन्दापक्ष में हे वृषासुरहन्ता ! (गो-हन्ता) हे पापमय ! हे अकीर्तिकर ! हे देव ! (उपहासद्योतक) तुम मेरा अङ्ग स्पर्श मत करना, न करना, अर्थात्—करना। (दो नकारात्मक वाक्य स्वीकृति का अर्थ देता है) ॥२९॥

अनुवाद—(विनीता)—एकदिन अपने घर में श्रीराधाजी बैठी थीं और साथ वृन्दा आदि और सखियां भी उपस्थित थीं। वहां भद्रा आयी, तो श्रीराधाजी उसे आदर देने के लिये उठ कर खड़ी हो गयीं। इस असाधारण विनम्रता को देखकर वृन्दा ने पौर्णमासी से कहा—'देखो तो, श्रीराधाजी सारे गोकुल में प्रसिद्धा—माननीया हैं। फिर सखियों ने आंखों से बार-बार निषेध भी किया कि भद्रा तो तुम्हारी कृपापात्री है, बैठी रहो आसन से उठ क्यों रही हो फिर भी भद्रा को दूरसे आता देखकर श्रीराधा आसन त्यागकर खड़ी हो गयीं ॥३०॥

अनुवाद—(एक और उदाहरण देखिये)—अपनी सखियों के प्रति श्रीराधाजी अपनी विनम्रता प्रकाशित करते हुए कहती हैं—हे कृशोदरि सखियो ! सुनो, मैं क्रीड़ा-कलह में बार-बार अपराधिनी होने पर भी श्रीकृष्ण के द्वारा जो उत्तंगरूप से अङ्गीकृत होती हूँ, उसका एकमात्र कारण आप जैसी सखियों को आमोदित करने वाली सरल, करुणामयी मन्जरीगण ही हैं, और दूसरा कोई कारण नहीं है। (इसमें श्रीराधाजी श्रीकृष्ण द्वारा अपने अङ्गीकृत होने का श्रेय सखियों एवं मन्जरियों को दे रही हैं अपनी विनम्रता का प्रदर्शन करते हुए ॥३१॥

अनुवाद—(करुणापूर्णा) पौर्णमासी को वृन्दाने कहा—हे देवि ! श्रीकृष्ण को दूध पिलाने वाली गायके सद्य-जात बछड़े के मुख में तृणों के चवाने से घावों को देखकर श्रीराधा के नेत्रों में आँसू भर आये और वह बछड़े के घावों पर कुंकम (केसर) भरने लगीं—कैसी करुणामयी हैं वह ? ॥३२॥

अथ विदग्धा—

(१८) आचार्या धातुचित्रे पचनविरचनाचातुरीचारुचित्ता
वाग्युद्धे मुग्धयन्ती गुरुमपि च गिरां पण्डितामात्मगुम्फे।
पाठे शारीशुकानां पटुरजितमपि द्यूतकेलीषु जिष्णु-
र्विद्याविद्योतिबुद्धिः स्फुरति रतिकलाशालिनी राधिकेयम्॥ ३३॥

अथ पाटवान्विता यथा विदग्धमाधवे—

(१९) छिन्नः प्रियो मणिसरः सखि मौक्तिकानि वृत्तान्यहं विचिनुयामिति कैतवेन।
मुग्धं विवृत्य मयि हन्त दृगन्तभङ्गीं राधा गुरोरपि पुरः प्रणयाद्व्यतानीत्॥ ३४॥

अथ लज्जाशीला—

(२०) व्रजनरपतिसूनुर्दुर्लभालोकनोऽयं स्फुरति रहसि ताम्यत्येष तर्षाज्जनोऽपि।
उपरम सखि लज्जे किंचिदुद्घाटच वक्त्रं निमिषमिह मनागप्यक्षिकोणं क्षिपामि॥ ३५॥

अथ सुमर्यादा—

(२१) प्राणानकृताहारा सखि राधाचातकी वरं त्यजति। न तु कृष्णमुदिरमुक्तादमृताद्वृत्तिं भजेदपराम् ३६

अनुवाद—(विदग्धा) गोपियों के पूछने पर कुन्दलता ने कहा—श्रीराधा धातुचित्रकला में आचार्या हैं, रसोई बनाने में अति चतुर एवं निपुण बुद्धि शालिनी हैं, वाग्‌युद्ध में तो वह वृहस्पति को भी मुग्ध करनेवाली हैं। वह माला गूंथने में सुपण्डिता तथा शारी-शुकादि को पढ़ाने में अति चतुरा हैं। द्यूतकेलि में तो सर्व विजयी श्रीकृष्ण को भी पराजित कर देती हैं। चतुर्दश विद्याओं में उसकी अपूर्व बुद्धि है एवं रति वैदग्धी में भी वह अति प्रशंसनीया है ॥३३॥

अनुवाद—(पाटवान्विता)—श्रीराधा जी की पाटवता (चतुराई) बताते हुए श्रीकृष्ण ने मधु-मंगल से कहा—हे सखे! श्रीराधा जटिला के पास बैठी थी। हमें देखकर वह अपनी सखी से कहने लगी—हे सखि! अति प्रिय मोतियों का हार टूट गया है और मोती कहीं धूलि में गिर गये हैं। मैं उनको चुन लाती हूँ इस प्रकार छलपूर्वक जटिला (सास) के सामने भी अनुरागवश उसने मुखको घुमाकर मेरे प्रति नेत्र कटाक्ष किये ॥३४॥

अनुवाद—(लज्जाशीला) श्रीराधाजी लज्जा को ही कहती हैं—हे सखि लज्जे! व्रजराजनन्द श्रीकृष्ण निर्जन वन में आये हुए हैं, उनका दर्शन अति दुर्लभ है। उसके दर्शनों को अति उत्कट आकांक्षा में अत्यन्त दुख पा रही हूँ, अतः हे सखि! तू क्षणकाल के लिये मुझ से दूर हट जा जिससे मैं मुख से घूंघट हटाकर अपने दृष्टिकोणों से उनके दर्शन करलूं ॥३५॥

अनुवाद—(सुमर्यादा) एक दिन श्यामा सखी श्रीराधाजी को अपने घर भोजन के लिये निमन्त्रित कर ले गयी। श्रीराधाजी कृष्ण-विरह में अति दुर्बल हो रही थीं। श्यामा ने कहा—राधे मैंने अनेक यत्न किये हैं परन्तु श्रीकृष्ण से तुम्हारा मिलन नहीं करा सकी हूँ। अतः अपने जीवन की रक्षा के लिये कोई दूसरा उपाय आप ही निकालो किसी दूसरे सुन्दर-उत्तम पुरुष में अनुराग लगाओ। प्रेमपरीक्षा-कारिणी श्यामा के वचन सुनकर श्रीराधाजी ने जो उत्तर दिया उसे नान्दीमुखी के प्रति श्यामा ने कहा—हे देवि! यह राधा-चातकी निराहार रहकर अपने प्राणों को त्याग कर देगी, परन्तु अमृतवर्षी श्रीकृष्ण मेघ के अतिरिक्त अपने जीवन की रक्षा के लिये भी अन्य किसी उपाय की कल्पना वह नहीं कर सकती है ॥३६॥

यथा वा—(२२) आहूयमाना व्रजनाथ ! यास्मि युक्तोऽभिसारः सखि ! नाधुना मे ।
न तादृशीनां हि गुरूत्तमानामाज्ञास्ववज्ञा वलते शिवाय ।। ३७ ।।

यथा वा—(२३)
पूर्णाशीः पूर्णिमासावनवहिततयाया त्वयास्यै वितीर्णा वष्टि त्वामेव तन्वन्नखिलमधुरिमोत्सेकमस्यां मुकुन्दः ।
दिष्टचा पर्वोदगात्ते स्वयमभिसरणे चित्तमाधत्स्व वत्से
युक्त्याप्युक्ता मयेति द्युमणिसखसुता प्राहिणोदेव चित्राम् ।। ३८ ।।

अथ धैर्यशालिनी—
(२४) तीव्रस्तर्जति भिन्नधीर्गृहपतिश्छद्मज्ञया पद्मया हारं हारयते हरिप्रणिहितं कीशेन भर्तुः स्वसा ।
मल्लीं लुम्पति कृष्णकाम्यकुसुमां शैब्या प्रिया वर्करी राधा पश्य तथाप्यतीव सहना तूष्णीमसौ तिष्ठति ।।

अथ गाम्भीर्यशालिनी—
(२५) कलहान्तरितापदे स्थितिं सखि धीराद्य गतापि राधिका ।
बहिरुद्भटमानलक्षणा सुदुरूहा ललिताधियाभवत् ।। ४० ।।

अनुवाद—(एक और उदाहरण देते हैं)—वृन्दा जब श्रीराधा जी से अभिसार के लिये अनुरोध करने लगी तो श्रीराधा जी ने कहा—वृन्दे ! मुझे आज व्रजेश्वरी (श्रीयशोदा जी) ने अपने घर बुलाया है। अतः अब मेरा अभिसार के लिये जाना उचित नहीं है। श्रीयशोदादिक जैसे गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन करना कल्याणप्रद नहीं है। (आज्ञापालन रूप मर्यादा का उदाहरण है यह) ।।३७।।

सौभाग्य पूर्णिमा (श्रावणी) के दिन पौर्णमासी ने श्रीराधा जी को कृष्ण सहित मिलन के लिये आग्रह पूर्वक कहला भेजा। किन्तु श्रीराधाजी ने उस दिन के लिये चित्रा को अभिसार के लिये भेजना निर्धारण कर लिया था। श्रीपौर्णमासी ने कहा—वृन्दे ! मैंने श्रीराधा को कहा कि आज श्रावणी पूर्णिमा है, इस दिन समस्त कामनाएं सिद्ध होती हैं। श्रीकृष्ण भी इस तिथिपर निखिल माधुर्य प्रकाशित कर तुम्हें आज मिलना चाहते हैं। इसलिये हे राधे ! महाभाग्य से यह पर्व आया है। तुमने जो चित्रा को विना-सोचे समझे आज अभिसार के लिये नियुक्त किया है, वह ठीक नहीं है। हे वृन्दे ! मेरे इतना कहने पर भी श्रीराधा स्वयं नहीं गयीं और चित्रा को ही भेजा (यहां अपने वचनों की सत्यता की मर्यादा का पालन दिखाया गया है) ।।३८।।

अनुवाद—(धैर्यशालिनी)—पौर्णमासी ने नान्दीमुखी से श्रीराधा की धैर्यशीलता को प्रकाशित करते हुए कहा—देखो, विपक्ष-पक्षवाली पद्मा के मिथ्या-वचनों से कुपित होकर श्रीराधा का पतिमन्य अभिमन्यु तर्जन-गर्जन कर रहा है, और कुटिला (ननद) नें बन्दर को सिखाकर श्रीकृष्ण द्वारा दिया हुआ उसका हार हरणकर दिया है। शैब्या ने अपनी बकरी छोड़कर श्रीकृष्ण के प्रिय कुसुमों की मल्ली-लता के नवीन पल्लव भक्षण करा दिये हैं। ये सब बातें श्रीराधा अपनी आंखों से देख कर भी मौन है। ऐसा धैर्य किसी में है क्या ? ।।३९।।

अनुवाद—(गाम्भीर्यशालिनी) श्रीरूप मंजरी ने अपनी एक सखी से कहा—हे सखि ! कलहान्त-रिता अवस्था में रहते हुए भी बाहर से मानिनी के लक्षण धारण करके आज श्रीराधा ऐसी गाम्भीर्य-शालिनी हो गयीं कि ललिता जी भी उनके मनके भावों को न जान सकीं ।।४०।।

अथ सुविलासा—(२६) तिर्यक्क्षिप्तचलद्दृगञ्चलरुचिर्लास्योल्लसद्भ्रूलता
कुन्दाभस्मितचन्द्रिकोज्ज्वलमुखी गण्डोच्छलत्कुण्डला ।
कन्दर्पागमसिद्धमन्त्रगहनामर्धं दुहाना गिरं
हारिण्यद्य हरेर्जहार हृदयं राधा विलासोर्मिभिः ॥ ४१ ॥

अथ महाभावपरमोत्कर्षतर्षिणी—(२७) अश्रूणामतिवृष्टिभिर्द्विगुणयन्त्यर्कात्मजानिर्झरं
ज्योत्स्नीस्यन्दि विधूपलप्रतिकृतिच्छायं वपुर्बिभ्रती ।
कण्ठान्तस्त्रुटदक्षराद्यपुलकैर्लब्धा कदम्बाकृतिं
राधा वेणुधरप्रवातकदलीतुल्या क्वचिद्वर्तते ॥ ४२ ॥

अथ गोकुलप्रेमवसतिः · (२८) प्रेमसन्ततिभिरेव निर्ममे वेधसा नु वृषभानुनन्दिनी नन्दिनी ।
याद्दृशां पदमिता मनांसि नः स्नेहयत्यखिलगोष्ठवासिनाम् ॥ ४३ ॥

अथ जगच्छ्रेणीलसद्यशाः—(२९) उत्फुल्लं किल कुर्वती कुवलयं देवेन्द्रपत्नी श्रुतौ
कुन्दं निःक्षिपती विरिञ्चिगृहिणी रोमौषधीहर्षिणी ।
कर्णोत्तंससुधांशुरत्नसकलं विद्राव्य भद्राङ्गि ! ते
लक्ष्मीमप्यधुना चकार चकितां राधे ! यशः कौमुदी ॥ ४४ ॥

अनुवाद—(सुविलासता) एक वार यमुनातीर पर श्रीकृष्णके दर्शन करने से श्रीराधाजी 'विलास-नामक' अलंकार से विभूषित हो उठीं । नान्दीमुखी एकान्त में पौर्णमासी को श्रीराधाजी की छबि बताती है—देखो, श्रीराधिका के नेत्र-प्रान्त चञ्चल होकर तिरछे पड़गये हैं, भ्रुकुटी तो नाच रही है, उसका मुखचन्द्र कुन्द कली के समान हास्यचन्द्रिका से भी अत्यन्त उज्ज्वल हो रहा है । कपोलों पर कुण्डल घूम रहे हैं । उसके मुख से कामशास्त्र-कथित सिद्धमन्त्रों की भांति दुर्बोध एवं अस्पष्ट वाक्यों का उच्चारण हो रहा है । उसके वक्षस्थल पर मुक्ताहार डोलायमान हो रहा है ॥४१॥

अनुवाद—(महाभाव परमोत्कर्षतर्षिणी)—कलहान्तरितादशा के परिणामस्वरूप महाव्याकुलता में श्रीराधाजी को देखकर एक सखीने जाकर कहा—हे वेणुधर ! इस समय आप को देखे विना श्रीराधा के नेत्रोंसे इतनी अश्रुधारा वह रही है कि यमुनाकी धारा दुगुनी प्रबलहो उठी है । उसका शरीर चन्द्रकान्त-मणिकी भांति हो रहा है (शरीरसे स्वेद वह रहा है.स्तम्भ है,तथा पीला वर्ण हो रहा है उसका) स्वरभंग तथा कदम्ब पुष्पों की भांति उन्हें पुलकावली हो रही है । कभी-कभी तो वह वायुवेग से कम्पित केला के वृक्ष की भांति पृथ्वी पर गिरी-पड़ी जा रही है ॥४२॥

अनुवाद—(गोकुलप्रेमवसति)—एक दिन श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण के लिये रसोई बनाने के लिये अपने भवन में आता दूरसे देखकर श्रीयशोदा जी श्रीउपनन्द की पत्नि तुंगी से बोलीं—अहो ! विधाता ने क्या वृषभानुनन्दिनी राधाको प्रेमराशि से ही बनाया है ? इसे देखते ही गोष्ठवासिनो हम सब का मन स्नेह से परिप्लुत हो उठता है ॥४३॥

अनुवाद—(जगच्छ्रेणीलसद्यशाः)—श्रीराधाजी की यशराशि का अनुभव करके पौर्णमासी ने कहा—हे परम-सुन्दरिराधे ! तुम्हारी यश-कौमुदी (यश-चाँदनी) कुवलय—(इन्दीवर अथवा पृथ्वी-मण्डल) को प्रफुल्लित कर रही है । स्वर्गस्थित इन्द्रपत्नी शची इसे कुन्दपुष्प मानकर कानों में कर्ण फूल (अवतंस) रूपमें धारण कर रही है (अर्थात् उसे सुनकर प्रफुल्लित हो रही है । ब्रह्मा-पत्नि सावित्री

अथ गुर्वर्पितगुरुस्नेहा—(३०) न सुतासि कीर्तिदायाः किंतु ममैवेति तथ्यमाख्यामि।
प्राणिमि वीक्ष्य मुखं ते कृष्णस्येवेति किं त्रपसे ?॥ ४५॥

अथ सखीप्रणयाधीना—

(३१) उपदिश सखि वृन्दे ! बल्लवेन्द्रस्य सूनुं किमयमिह सखीनां मामधीनां दुनोति।
अपसरतु सशङ्कं मन्दिरान्मानिनीनां कलयति ललितायाः किं न शौटीर्यधाटीम् ?॥ ४६॥

अथ कृष्णप्रियावलीमुख्या यथा ललितमाधवे—

(३२) सन्तु भ्राम्यदपाङ्गभङ्गखुरलीखेलाभुवः सुभ्रुवः
स्वस्ति स्यान्मदिरेक्षणे क्षणमपि त्वामन्तरा मे कुतः।
ताराणां निकुरम्बकेण वृतया श्लिष्टेऽपि सोमाभया
नाकाशे वृषभानुजां श्रियमृते निष्पद्यते स्वच्छता॥ ४७॥

की रोमावली रूप औषधिको विकसित कर रही है (अर्थात् आपके यश को सुनकर सावित्री पुलकित हो रही है)। और श्रीलक्ष्मी के कर्णभूषणों की चन्द्रकान्तमणियों को द्रवीभूत कर रही है, अर्थात् श्रीलक्ष्मी आपके यश को सुनकर द्रवित-चित्त अथवा चमत्कृत हो रही है ॥४४॥

अनुवाद—(गुर्वर्पितगुरुस्नेहा)—एक बार किसी महोत्सव के अवसर पर श्रीराधाजी नन्दभवन में पधारीं और माता यशोदा उनसे कुछ पूछने लगीं। किन्तु लज्जावश श्रीराधाजी माता यशोदा को उत्तर न देकर श्रीललिताके कान में कुछ धीरे-धीरे कहने लगीं। तब श्रीयशोदाजी ने कहा—हे राधे ! तुम कीर्तिदा की कन्या नहीं हो, किन्तु मेरी ही पुत्री हो—मैं यह सत्य कह रही हूँ। कृष्ण के मुखको देखकर जैसे मैं जीवन धारण कर रही हूँ, वैसे ही तुम्हें देखकर मैं अतिशय सुख प्राप्त करती हूँ—तुम मुझ से लज्जा क्यों करती हो ॥४५॥

अनुवाद—(सखीप्रणयाधीना)—कलहान्तरिता-अवस्था के बाद जब श्रीकृष्ण ने यह अनुमान लगाया कि अब श्रीराधाजी का मान दूर हो गया होगा तो वे वृन्दा को लेकर कुंज में श्रीराधा जी के पास आकर अनुनय-विनय करने लगे। किन्तु श्रीललिता जी श्रीराधा को मान न त्याग करने की शिक्षा दे गयी थीं। तब श्रीराधाजी बोलीं—हे वृन्दे ! ब्रजराजकुमार को उपदेश दो कि मैं सब सखियों के अधीन हूँ। मुझे क्यों वे दुख देते हैं ? हम मानिनियों के घर से शंका पूर्वक बाहर चले जायें, वे अतिशय प्रगल्भा ललिता के बारे में नहीं जानते हैं ? ॥४६॥

अनुवाद—(कृष्णप्रियावलीमुख्या) श्रीकृष्ण ने कहा—हे खञ्जननयनी राधे ! निरन्तर भ्राम्यमान् नेत्र-कटाक्षों की चतुर क्रीड़ा को विस्तार करने वाली बहुत रमणियां विद्यमान हैं, परन्तु तुम्हारे बिना मेरे लिये क्षणभर भी कहीं सुख नहीं मिलता। जैसे तारावली से परिवृत चन्द्रसे व्याप्त आकाश ज्येष्ठमास की सूर्य किरणों के प्रकाश विना स्वच्छता प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार तारा नाम्नी यूथेश्वरी से परिवृत चन्द्रावली द्वारा आलिंगित होने पर भी मेरा हृदय आकाश वार्षभानवी शोभा-सम्पत्ति विना स्वच्छ नहीं होता,सुख प्राप्त नहीं करता। (नक्षत्र मण्डलसे परिव्रत चन्द्रमाकी कान्ति से आकाश उतना स्वच्छ नहीं होता जैसे ज्येष्ठ मास में सूर्यकिरणों से आकाश स्वच्छ होकर शोभित होता है। 'वृषभानुजा'-शब्द में श्लेष है, एक पक्ष में वृषराशि स्थित सूर्य की कान्ति और दूसरे पक्ष में वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा। ताराणां-सोमाभा शब्दों में एक पक्ष तारावली-चान्दनी है, दूसरे पक्ष में तारा यूथेश्वरी और चन्द्रावली ॥४७॥

अथ संतताश्रवकेशवा—

(३३) षडङ्घ्रिभिरमर्दितान्कुसुमसंचयानाचिनोदखण्डमपि राधिके बहुशिखण्डकं त्वद्गिरा ।
अमूं च नवपल्लवव्रजमुदञ्चदर्कोज्ज्वलं करोतु वशगो जनः किमयमन्यदाज्ञापय ॥ ४८ ॥

१६—यस्याः सर्वोत्तमे यूथे सर्वसद्गुणमण्डिताः । समन्तान्म धवार्कषिविभ्रमाः सन्ति सुभ्रुवः ॥ ४९ ॥

१७—तास्तु वृन्दावनेश्वर्याः सख्यः पञ्चविधा मताः । सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन ।
प्रियसख्यश्च परमश्रेष्ठसख्यश्च विश्रुता ॥ ५० ॥

१८—सख्यः कुसुमिकाविन्ध्याधनिष्ठाद्याः प्रकीर्तिताः । नित्यसख्यस्तु कस्तूरीमणिमञ्जरिकादयः ॥५१ ॥

१९—प्राणसख्यः शशिमुखीवासन्तीलासिकादयः । गता वृन्दावनेश्वर्याः प्रायेणेमाः सरूपताम् ॥ ५२ ॥

२०—प्रियसख्यः कुरङ्गाक्षी सुमध्या मदनालसा । कमला मधुरी मञ्जुकेशी कन्दर्पसुन्दरी ।
माधवी मालती कामलता शशिकलादयः ॥ ५३ ॥

२१—परमप्रेष्ठसख्यस्तु ललिता सविशाखिका । सचित्रा चम्पकलता तुङ्गविद्येन्दुलेखिका ।
रङ्गदेवी सुदेवी चेत्यष्टौ सर्वगणाग्रिमाः ॥ ५४ ॥

अनुवाद—(सन्तताश्रवकेशवा)—एकदिन श्रीराधाजी ने श्रीश्यामसुन्दर को कहा, आप सुन्दर पुष्प, मोरपुच्छ ले आइये, मैं आपकी अपने हाथ मे वेष-भूषा रचना करूंगी । श्रीश्यामसुन्दर पुष्प एवं मोरपुच्छादि चयन करके ले आये और बोले—हे राधे ! आपकी आज्ञा से ऐसे पुष्पचयन कर लाया हूँ, जिन्हें भ्रमरों ने स्पर्श भी नहीं किया है, (मकरन्दपूर्ण हैं) । अखण्ड और नवीन मोरपुच्छ तथा नवोदित सूर्यकान्ति से भी अधिक लालिमा लिये नवीन पल्लव ले आया हूँ, और कहिये, यह आज्ञाधीन जन अब और क्या सेवा करे ? (इसमें चाहे श्रीकृष्ण की राधा-अधीनता प्रकाशित हो रही है, तथापि इससे श्रीराधाजी की भी सदा श्रीकृष्ण-अधीनता व्यंजित होती है) ॥४८॥

इस प्रकार श्रीराधाजी के २५ गुणों के उदाहरण देकर अब उनकी सखियों का विवरण देते हैं—

श्रीराधा-सखीगण—

अनुवाद—श्रीराधाजी के सर्वोत्तम यूथ में जो समस्त व्रजसुन्दरी हैं, वे सब ही सर्वसद्गुणों से मण्डित हैं एवं विभ्रम-विशेष अर्थात् यौवनकालीन मधुरभावोत्पन्न विकार-विशेष द्वारा सर्वदा श्रीकृष्ण को आकर्षण करनेवाली हैं ॥४९॥ श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीराधाकी सखियां पांच प्रकार की हैं—(१) सखी, (२) नित्य सखी, (३) प्राणसखी, (४) प्रिय सखी तथा (५) परमप्रेष्ठ सखी ॥५०॥

अनुवाद—कुसुमिका, विन्ध्या एवं धनिष्ठादि श्रीराधाजी की **'सखियां'** हैं । कस्तूरिका एवं मणि मंजरिका आदि उनकी **'नित्य-सखि'** हैं । नित्य-सखियां नायिकात्व की अपेक्षा न रखकर सदा श्रीराधाजी के सख्यमें—सखी-भाव के सुख में प्रीति प्राप्त करती हैं ॥५१॥ शशिमुखी, वासन्ती, लासिका आदि श्रीराधाजी की **'प्राणसखी'** हैं । ये प्रायशः श्रीराधाजी के तुल्या हैं ॥५२॥ कुरंगाक्षी, सुमध्या, मदनालसा, कमला मधुरी, मञ्जुकेशी, कन्दर्पसुन्दरी, माधवी, मालती, कामलता, एवं शशिकला आदि श्रीराधाजी की **'प्रिय-सखी'** हैं ॥५३॥

अनुवाद—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी तथा सुदेवी—ये आठों श्रीराधाजी की 'परमप्रेष्ठ' सखियां हैं । ये सब सखियों में प्रधाना हैं ॥५४॥ इन सबमें श्रीराधा

२२—आसां सुष्ठु द्वयोरेव प्रेम्णः परमकाष्ठया । क्वचिज्जातु तदाधिक्यमिवेक्ष्यते ॥ ५५ ॥

इति श्रीवृन्दावनेश्वरी-प्रकरणम् ।

अथ नायिकाभेद-प्रकरणम्

१—यूथेऽप्यवान्तरगणस्तेषु च कश्चिद्गणस्त्रिचतुराभिः । इह पञ्चषाभिरन्यः सप्ताष्टाभिस्तथेत्याद्याः १॥

किं च—२—

नासौ नाटचे रसे मुख्ये यत्परोढा निबध्यते । तत्तु स्यात्प्राकृतक्षुद्रनायिकाद्यनुसारतः ॥ २ ॥

तथा श्रीकृष्ण—इन दोनों के प्रति प्रेमकी पराकाष्ठा विराजित है । इसलिये इनमें किसी की कभी श्रीकृष्णके प्रति और किसी की कभी श्रीराधा जी के प्रति प्रीति की अधिकता प्रतीत होती है ॥५५॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रीराधाजी के लिये किसी दुखके आने पर यदि कोई सखी यह मानले कि इस दुख का कारण श्रीकृष्ण हैं, तो वह श्रीराधा जी के प्रति अधिक प्रेम प्रकाश करने लगती है । और श्रीराधाजी जब मानवती होती हैं और श्रीकृष्ण उनकी अति अनुनय-विनय करते हैं, फिर भी वह मानको त्याग नहीं करतीं तो फिर कोई सखी श्रीकृष्ण के प्रति अधिक प्रेम प्रकाश करने लगती है । दोनों के प्रति प्रेम-पराकाष्ठा रहने के कारण किसी का भी दुख उन्हें सहन नहीं होता । अतः श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण इन दोनों में किसी एकके दुखका कारण जब किसी दूसरे को दुखका कारण मान लेती हैं, परमश्रेष्ठ सखी उसी दुखीजन के प्रति अधिक प्रेम प्रकाश करने लगती हैं ॥५५॥

नायिका-भेद प्रकरण

अनुवाद—(पूर्व प्रकरण में श्रीकृष्णवल्लभाओं के अनेक यूथ बताये गये हैं) उनमें एक एक यूथमें भी दूसरी-दूसरी सखियां हैं, (जैसे सखीगण, प्राणसखीगण, प्रियसखीगण-इत्यादि) । उन सखियों में भी किसी की तीन व चार सखियां हैं, किसी के पाँच व छय हैं, किसी के सात व आठ हैं । इस प्रकार शत, सहस्र लाख करके एक-एक सखी-मण्डली गठित होती है ॥१॥

अनुवाद—(प्रश्न उठता है कि रसशास्त्र में परोढा-नायिका का निषेध्र किया है, परन्तु पूर्ववर्ती आलोचना में परोढा नायिकाओं को भी आलम्बन-विभावरूप में ग्रहण किया है, ऐसा क्यों ?—इसके उत्तर में कहा गया है कि) प्राकृत-क्षुद्र नायिकाओं के सम्बन्ध में परोढा का निषेध किया गया है, किन्तु इस मधुररस नाट्यशास्त्र में व्रजसुन्दरियों के सम्बन्ध में यह निषेध लागू नहीं होता ॥२॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—अप्राकृत नायिका-व्रजसुन्दरियों में परोढा का निषेध नहीं माना गया है क्योंकि रसवैचित्री-निषेध के आस्वादन के उद्देश्य से ही वे सब रसिकशेखर श्रीकृष्ण के द्वारा अवतारित करायी गयी हैं । वे भी सब उनकी ह्लादिनी शक्ति स्वरूपा श्रीराधाजी की कायव्यूह रूप हैं । प्राकृत नायक एवं नायिका अति तुच्छ हैं, उनके सम्बन्ध में परोढा का निषेध किया गया है । उसके भी तीन कारण हैं—(१) प्राकृत-नायक-नायिका का मिलन अधर्म पर आधारित होता है । (२) दूसरे लोगों द्वारा उनके परस्पर सम्बन्ध का रहस्य जानने पर लज्जा-ग्लानि उत्पन्न होती है । (३) परकीया

तथा चोक्तम्—(१)

नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढास्तद्गोकुलाम्बुजदृशा कुलमन्तरेण।
आशंसया रसविधेरवारितानां कंशारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥ ३॥

३—व्रजेन्द्रनन्दनत्वेन सुष्ठु निष्ठामुपेयुषः। यासां भावस्य सा मुद्रा सद्भक्तैरपि दुर्गमा॥ ४॥

यथा ललितमाधवे—

(२) गोपीनां पशुपेन्द्रनन्दनजुषो भावस्य कस्तां कृती विज्ञातुं क्षमते दुरूहपदवीसंचारिणः प्रक्रियाम्?
आविष्कुर्वति वैष्णवीमपि तनुं तस्मिन्भुजैर्जिष्णुभिर्यासां हन्त चतुर्भिरद्भुतरुचिं रागोदयः कुञ्चति॥५॥

४—भुजाचतुष्टयं क्वापि नर्मणा दर्शयन्नपि। वृन्दावनेश्वरीप्रेम्णा द्विभुजः क्रियते हरिः॥ ६॥

नायिका-नायक के सम्बन्धी लोग चित्तमलिनता के कारण उनसे द्वेष करते हैं। इसलिये प्राकृत नाट्य शास्त्र में परकीयात्व की सर्वतोभावसे निन्दा की गयी है। श्रीकृष्ण के मिलन के समय या रासादि महोत्सव में यह स्पष्ट कहा गया है कि व्रजगोपों ने अपनी-अपनी स्त्रीको अपने पार्श्व में देखा। अतः सर्वप्रथम तो व्रजगोपीगण का परदारात्व सिद्ध नहीं होता और नही अधर्म। दूसरे, इस रहस्य को कोई जान ही न सका, इसलिये श्रीकृष्ण एवं नायिकाओं में कोई लज्जा-ग्लानि का प्रकाश नहीं है। तीसरे, किसी सम्बन्धी ने दोनों के प्रति असूया या द्वेष पोषण नहीं किया। अतः श्रीकृष्ण तथा व्रजगोपीवृन्द के सम्बन्ध में परकीया-भाव मात्र है, वस्तुतः स्वकीया-विहार है, रसास्वादन-वैचित्री मात्र ही है, कोई दोषजनक नहीं॥२॥

अनुवाद—अङ्गीमधुररस में प्राचीन पण्डितगण ने जो परोढ़ा-नायिका को नहीं लिया है, वह केवल गोकुलवासिनी कमलनयनी (व्रजसुन्दरीवृन्द) को छोड़कर अन्य नायिका के सम्बन्ध में है, क्योंकि मधुररस के प्रकार-विशेष के आस्वादन के अभिप्राय से ही रसिकमण्डल-शिरोमणि श्रीकृष्ण द्वारा वे व्रजगोपीवृन्द अवतारित करायी गयी हैं॥३॥

अनुवाद—श्रीव्रजेन्द्रनन्दन-स्वरूप में आविर्भूत श्रीकृष्ण के प्रति व्रजगोपियों के पराकाष्ठा प्राप्त-भाव की जो प्रसिद्ध परिपाटी है, उसे सद्भक्तगण भी (अन्यजातीय परम एकान्त भक्तजन अथवा ऐश्वर्यज्ञान विशिष्ट सजातीय भक्तजन भी) नहीं प्राप्त कर पाते॥४॥

अनुवाद—श्रीललित माधव में श्रीविशाखाजी ने सूर्यपत्नि संज्ञा को कहा है—हे देवि! व्रज-गोपीजन ने श्रीनन्दनन्दन के सेवात्मक दुर्ज्ञेय भाव की जिस परिपाटी-विशेष या स्वभाव को प्राप्त किया है, उसे कोई भी चतुर पण्डित व्यक्ति अनुभव नहीं कर सकता। अहो! श्रीकृष्ण ने श्रीनारायण के समान चतुर्भुज मूर्ति जब प्रकट की तो व्रजगोपियों का जो स्वकान्तमय भावोल्लास श्रीकृष्ण में था, वह तिरोधान हो गया, कैसा आश्चर्य है यह? (श्रीनारायणके स्वरूपतः श्रीकृष्ण से अभिन्न होते हुए भी व्रजगोपियों का जो स्वकान्तमय अनुराग श्रीकृष्ण में था, उस चतुर्भुज रूप के दर्शन करते ही तिरोहित हो गया)॥५॥

अनुवाद—एकबार यमुनापुलिन में विहार करते-करते श्रीकृष्ण कुंज में जाकर छिप गये। श्री राधाजी उन्हें ढुण्ढते-ढुण्ढते हुए जब उस कुंज में प्रवेश करने लगीं तो चतुर्भुजरूप में विराजमान हो गये। परन्तु श्रीराधाजी के असमोर्द्ध्व प्रेम ने उन्हें द्विभुज ही कर दिया। (चाहने पर भी श्रीकृष्ण चतुर्भुज न रह सके)॥६॥

यथा—(३)
रासारम्भविधौ निलीय वसता कुञ्जे मृगाक्षीगणै-र्दृष्टं गोपयितुं समुद्धरधिया या सुष्ठु संदर्शिता।
राधायाः प्रणयस्य हन्त महिमा यस्य श्रिया रक्षितुं सा शक्या प्रभविष्णुनापि हरिणा नासीच्चतुर्बाहुता॥

अपि च—५—
सामान्याया रसाभासप्रसङ्गात्ताद्दगप्यसौ। भावयोगात्तु सैरंध्री परकीयैव सम्मता॥ ८॥
तथा च प्राञ्चः—(४)
सामान्यवनिता वेश्या सा द्रव्यं परमिच्छति। गुणहीने च न द्वेषो नानुरागो गुणिन्यपि।
श्रृङ्गाराभास एतासु न श्रृङ्गारः कदाचन॥ इति॥ ९॥

अनुवाद—वृन्दा ने यही बात अति विस्मित होकर पौर्णमासी के प्रति कही है—एक समय गोवर्धन निकट परासौली नामक रासस्थली में रासक्रीड़ा करते-करते श्रीकृष्ण पेंठ नामक स्थान में दूर वनमें जा छिपे (व्रजगोपियों की भावोत्कण्ठा बढ़ाना ही उनका उद्देश्य था) गोपीजन ढूण्ढती हुई वहां जा पहुंची। श्रीकृष्ण ने चतुर्भुज नारायणरूप धारण कर लिया। हे देवि, श्रीराधा के प्रेम की महिमा का क्या वर्णन करूं कि श्रीराधा के वहां पहुंचते ही श्रीकृष्ण अपनी चतुर्भुजता रूप ऐश्वर्य की सुरक्षा न कर सके। वे द्विभुज हो गये। (श्लोक ५ में तो श्रीनारायण स्वरूप को देखकर श्रीकृष्ण के प्रति जो स्वकान्त-भावोल्लास था वह लुप्त हो गया था। किन्तु यहां स्वकान्त भावोल्लास ध्वंस नहीं हुआ, बल्कि श्रीराधा-प्रेम के सामने श्रीकृष्ण का अन्यरूप या चतुर्भुज रूप ही न टिक पाया—श्रीराधाजी के प्रेमोत्कर्ष की पराकाष्ठा यहां दिखायी गयी है ॥७॥

अनुवाद—और भी कहा है कि सामान्या (साधारणी) नायिका में रसाभास प्रसङ्ग होता है, किन्तु कुब्जा-सैरन्ध्री सामान्या नायिका हैं, तो भी भावयोगवश—श्रीकृष्ण में अनुराग के कारण उसे परकीया माना गया है ॥८॥

अनुवाद—वेश्या ही सामान्या या साधारणी नायिका है—ऐसा प्राचीन गण कहते हैं। गुणहीन नायक के प्रति भी उसे द्वेष नहीं होता और गुणवान नायक के प्रति भी उसका अनुराग नहीं होता। वह केवल धन मात्र ही चाहती है। इस प्रकार सामान्य नायिका में श्रृंगार रस का आभास ही होता है, कभी भी उसमें श्रृंगार रस या मधुररस नहीं होता ॥९॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—रसशास्त्र में तीन प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख मिलता है—स्वकीया, परकीया तथा सामान्या या साधारणी। जैसाकि ऊपर कहा गया है—सामान्य नायिका को वेश्या माना गया है, जो रूप जीविनी या देहको विक्रयकर धन चाहती है, उसमें अनुराग नहीं रहता। वह बहुनायक निष्ठ तथा रतिहीन होती है। अतः आलम्बनत्व को विरूपता देनेसे उसमें रसाभास उजागर हो उठता है, ऐसी सामान्य नायिका में रससिद्धि नहीं होती।

यही कारण है कि श्रीरूपगोस्वामी ने मधुर-भक्तिरस में दो प्रकार की नायिकाएं स्वीकारी हैं—स्वकीया तथा परकीया। फिर भी श्रीकृष्णने कुब्जा-सैरन्ध्री को अंगीकार किया था, इसलिये उसे श्रीगोस्वामी जी ने परकीया में माना है। इसमें कोई एक कारण भी हैं—कुब्जा का कोई भी अभिभावक-पति या नायक नहीं था, इसलिये उसे सामान्या नायिका नहीं माना जा सकता। वह रूपजीविनी या

६—स्वकीयाश्च परोढाश्च या द्विधा परिकीर्तिताः । मुग्धा मध्या प्रगल्भेति प्रत्येकं तास्त्रिधा मताः ॥१०॥
७—भेदत्रयमिदं केश्चित्स्वीयाया एव वर्णितम् । तथापि सत्कविग्रन्थे दृष्टत्वात्तदनादृतम् ॥ ११ ॥

तथा प्राचीनैश्चोक्तम्—(५)
उदाहृतिभिदां केचित्सर्वासामेव मन्वत । तास्तु प्रायेण दृश्यन्ते सर्वत्र व्यवहारतः ॥ १२ ॥

तत्र मुग्धा—
८—मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा सखीवशा । रतचेष्टासु सव्रीडचारुगूढप्रयत्नभाक् ॥ १३ ॥
९—कृतापराधे दयिते बाष्परुद्धावलोकना । प्रिया प्रियोक्तौ चाशक्ता माने च विमुखी सदा ॥ १४ ॥

देहविक्रय करने वाली भी न थी । किसी पुरुष में उसका अनुराग भी न था और कुरूपा-त्रिवक्रा होने से उसमें किसी पुरुष की सङ्गकामना ही नहीं थी । श्रीकृष्ण ने जब उसकी कुरूपता दूर कर दी, तभी उसमें श्रीकृष्ण में रति एवं उनके सङ्गकी कामना का उदय हुआ । श्रीकृष्ण ने उसे अंगीकार किया, क्योंकि उसने श्रीकृष्ण को छोड़कर पहले किसी के प्रति संगकामना नहीं की । श्रीकृष्ण नें भी उसके प्रति रति का उद्‌भव हुआ । अतः दोनों ओर आलम्बनत्व की विरूपता पैदा नहीं हुई, जिससे यहां रसाभास का प्रसङ्ग नहीं है वरं रसत्व ही सिद्ध होता है । वस्तुतः सैरिन्ध्री न तो श्रीकृष्ण की स्वकीया है, न ही परकीया, क्योंकि उसका किसी दूसरे से विवाह ही नहीं हुआ था । श्रीकृष्ण के विषय में वह प्रेयसीभाव रखती थी और परकीया नायिका की भांति दूसरों के सामने अपने भावों को गोपन भी करती थी । अतः श्रीरूपगोस्वामी ने उसे 'परकीयावत्' स्वीकार किया है ॥९॥

अनुवाद—पहले दो प्रकार की नायिकाएं—स्वकीया तथा परोढ़ा कही जा चुकी हैं । (नायक के साथ सम्बन्ध भेद अनुसार दो भेद माने गये हैं), किन्तु नायिका की स्वभाव-वैचित्री के भेदानुसार स्वकीया तथा परोढ़ा, इन दोनों में हर एक के तीन तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या एवं प्रगल्भा ॥१०॥ कुछ लोगों के मत में ये तीन भेद केवल स्वकीया नायिका के माने गये हैं । (क्योंकि वे परोढ़ात्व को रसाभास-जनक मानते हैं) किन्तु श्रीग्रन्थकार कहते हैं कि सत्कविजनों के ग्रन्थों में मधुररस में परोढ़ा का उल्लेख मिलता है । अतः परोढ़ा के यह तीन भेद नहीं मानते, उनके मत का हम आदर नहीं करते ॥१०-११॥

अनुवाद—(प्राचीन आचार्यों के मत का उल्लेख करते हैं)—कईयों ने (स्वकीया तथा परकीया) समस्त नायिकाओं का उदाहरण भेद दिखलाया है । सब उदाहरण भेद व्यवहार में प्रायः सर्वत्र ही दीखता है ॥१२॥ (आगे उल्लिखित तीन प्रकार की नायिकाओं के भेदों का-पृथक् उल्लेख करते हैं)—

अनुवाद—जिस नायिका की नवीन वयस हो, (सम्भ्रम-लज्जादि वश) जिसका काम भी नवीन हो, रतिविषय में जो वामा हो, जो सखियों के वशीभूत रहती हो, जो रति चेष्टाओं में अतिशय लज्जा-शीला होने से गोपन-भाव में मनोहर यत्नवती हो, प्रिय नायक के किसी अपराध करने पर जो सजल नेत्रों से केवल देखती रहती है, अपने प्रीतम के प्रति अप्रिय वचन कहने में जो असमर्थ होती है और मान करने में जो सर्वदा रुचि नहीं रखती, उसे 'मुग्धा' नायिका कहते हैं ॥१३-१४॥

अनुवाद—(नवीन वयस का उदाहरण) विशाखाजी की अभी शैशव या पौगण्डरूप शिशिर ऋतु विराम ले रही है, यौवनरूप वसन्त ऋतु प्रवेश कर रही है, इसलिये उसके नेत्रकमल प्रस्फुटित हो रहे

तत्र नववयाः—

(६) विरमति शैशवशिशिरे प्रविशति यौवनमधौ विशाखायाः।
दीव्यति लोचनकमलं वदनसुधांशुश्च विस्फुरति॥ १५॥

यथा वा—(७)
बाल्य ध्वान्तसखे प्रयाहि तरसा राधावपुर्द्वीपतस्तारुण्यद्यु मणेर्यदेष विजयारम्भः पुरो वर्तते।
कृष्णव्योम्नि रुचिर्दरोत्तरलता ताराद्युतौ काप्युरः-पूर्वाद्रौ सुषमोन्नतिः स्मितकला पश्याद्य वक्राम्बुजे १६

नवकामा यथा—(८)
बाले कंसभिदः स्मरोत्सवरसे प्रस्तूयमाने छलात्प्रौढाभीरवधूभिरानतमुखी त्वं कर्णमध्यस्यसि।
सव्याजं वनमालिकाविरचनेऽप्युल्लासमालम्बसे रङ्गः कोऽयमवतरद्वद सखि स्वान्ते नवीनस्तव॥ १७॥

रतौ वामा यथा—(९)नवबालिकास्मि कुरु नर्म नेदृशं पदवीं विमुञ्च शिखिपिच्छशेखर।
विचरन्ति पश्य पटवस्तटीमिमामरविन्दबन्धुदुहितुर्नतभ्रु वः॥ १८॥

हैं और मुखचन्द्र विस्फुरित हो रहा है ॥१५॥ इसमें नव-वयस की आरम्भ दशा का वर्णन किया गया है। अब उससे कुछ अधिक स्पष्ट प्रथम कैशोर-अवस्था का वर्णन करते हैं)—श्रीराधाजी में प्रथम कैशोर की शोभा का अनुभव कर आनन्द पूर्वक ललिता जी बाल्यावस्था को लक्ष करके कहती हैं)—हे बाल्य रूप अन्धकार! हे सखे! तुम्हें एक हित की बात कहती हूँ। श्रीराधाके देहरूप द्वीपसे तुम अति शीघ्र ही चले जाओ। क्योंकि यहां तारुण्यरूप सूर्यका उदयारम्भ सामने प्रकाशित होने लगा है। (सूर्योदय आरम्भ के समय अन्धकार का नाश, आकाश में कान्ति वृद्धि, तारावली की दीप्ति का ह्रास, उदयाचल पर अनिर्वचनीय शुभ्रता की उन्नति तथा कमलों का विकाश होने लगता है। उसी प्रकार) श्रीराधामें अब श्रीकृष्ण के प्रति स्वाभिलाष का उद्गम, नेत्र-पुतलियों में चञ्चलता, वक्षस्थल पर अनिर्वचनीय शुभ्रता-समृद्धि एवं मुख-कमल पर मृदुमन्द हास्य शोभा पा रहा है। अतः हे बाल्य! तुम शीघ्र ही श्रीराधा देह-द्वीप से चले जाओ ॥१६॥

अनुवाद—(नवकाया का उदाहरण)—श्रीकृष्ण में नवानुरागिणी किसी ब्रजगोपी के प्रति उसकी एक सखी ने कहा—हे बाले! प्रौढ़ा गोपरमणियां छलपूर्वक श्रीकृष्ण के कन्दर्पोत्सव-रसका प्रस्ताव करती हैं, तो तुम मस्तक झुकाकर उसमें कान लगाती हो। देवाराधना आदि के छलसे बनमाला रचना में भी तुम आनन्द प्राप्त करती हो, कहो तो सखि! तुम्हारे हृदय में यह कौनसा नवीन कौतुक आविर्भूत हो उठा है? ॥१७॥

अनुवाद—(रति में वामा का उदाहरण)—यमुनातट पर जाती हुई एक ब्रजगोपी का पथ रोक कर जब श्रीकृष्ण उसके सामने नर्म-भङ्गी प्रकाश करने लगे, तो वह बोली—हे मोरपुच्छधारी! मैं नव बालिका हूँ, मेरे साथ ऐसा नर्म-परिहास मत करो, मेरा रास्ता छोड़ दो। वह देखो, यमुना तट पर दूसरों के (तुम्हारे) इशारों को जानने में चतुर बंकविलोकिनी सुन्दरियां विचरण कर रही हैं (आप उनके पास चले जाओ) ॥१८॥ एक बार यमुना पुलिन में श्रीराधा जी ने श्रीकृष्ण को सामने आता देखा तो वहां से दूर भागना चाहती थीं। साथ वाली सखीने मुसकराते हुए श्रीराधा का हाथ पकड़ा, तो वह आधे-आधे शब्दों में कहने लगीं—ओ सखि! छोड़ दे मेरा हाथ क्यों पकड़ रही है मुझे?—श्रीकृष्ण यह देखकर भावाविष्ट हो उठे। सुबल ने पूछा—सखे! क्या सोच रहे हो? तब वे बोले—सुबल! खंजननयनी इस राधा के उन चपल वचनों को मन में स्मरण कर रहा हूँ ॥१९॥

यथा वा— (१०) यमुनापुलिने विलोकनाम्मे चलितां स्मेरसखीगृहीतहस्ताम् ।
अयि मुञ्च करं ममेति खञ्जद्वचनां खञ्जनलोचनां स्मरामि ।। १९ ।।

सखीवशा यथा —(११) व्रजराजकुमार कर्कशे सुकुमारीं त्वयि नार्पयाम्यमुम् ।
कलभेन्द्रकरे नवोदयां नलिनीं कः कुरुते जनः कृती ।। २० ।।

यथा वा – (१२) न स्वीकृता सखि मया स्रगिताऽस्ति कौन्दी किं दीर्घरोषविकटां भ्रुकुटीं तनोषि ।
क्षिप्तेयमत्र मम मण्डनपेटिकायां चेद्वृन्दया चटुलया किमहं करिष्ये ।। २१ ।।

सव्रीडरतप्रयत्ना यथा—
(१३) द्वित्राण्येत्य पदानि कुञ्जवसतेर्द्वारे विलासोन्मुखी सद्यः कम्पतरङ्गदङ्गलतिका तिर्यग्विवृत्ता ह्रिया ।
भूयः स्निग्धसखीगिरां परिमलैस्तल्पान्तमासेदुषी स्वान्तं हन्त जहार हारिहरिणीनेत्रा मम श्यामला २२ ।।

अनुवाद—(सखीवशा का उदाहरण)—किसी अभिसारिका व्रजसुन्दरी को उसकी सखी बलपूर्वक श्रीकृष्ण के निकट ले आयी । किन्तु श्रीकृष्ण की उद्धता को देखकर वह सखी उसे वापस लौटाकर जाते समय श्रीकृष्ण से बोली—'हे व्रजराज-कुमार ! तुम बड़े कठोर हो, इस सुकुमारी को मैं तुम्हारे हाथ नहीं सौंप सकती । कोई बुद्धिमान व्यक्ति भला हाथी के हाथ नवीना नलिनी को कभी अर्पण कर सकता है ?—नहीं कर सकता) ।।२०।। (यहां मृदुस्वभावा नायिका का सखी-वश्यत्व दिखाया गया है । अब मध्या नायिका का सखी वश्यत्व प्रदर्शन करते हैं)—कलहान्तरिता मानिनी सुन्दरी को उसकी प्रधाना सखी यह समझा-बुझाकर अन्यत्र चली गयी कि तुम अब किसीभी प्रकार श्रीकृष्णको अपने पास मत आने देना । प्रधाना सखी के चले जाने के बाद श्रीकृष्ण वृन्दा को साथ लेकर उस मानिनी सुन्दरी के पास आये और अनेक प्रकार अनुनय-विनय कर उसे मना लिया । अपने हाथों से रची सुन्दरी माला उसे पहना कर झट वहां से चले गये । थोड़ी देर में वह प्रधाना सखी वहां आयी । श्रीकृष्ण हस्त-रचित माला को देखते ही वह जान गयी कि श्रीकृष्ण ने इसका मान भंग कर दिया है । उसकी आंखें क्रोध से लाल हो उठीं । यह देखकर मानिनी सुन्दरी भयभीत होकर बोली– हे सखि ! यह कृष्ण प्रदत्त कुन्दमाला मैंने स्वीकार नहीं की है, तुम मुझ पर क्यों इतनी क्रोधित होकर भ्रुकुटी तान रही हो ? (यदि तुमने स्वीकार नहीं की तो गले में क्यों इसे धारण कर रखा है, उतार कर दूर क्यों नहीं फेंक देती हो ?— प्रधान सखी ने जब यह कहा तो वह सुन्दरी बोली—वह चापलूस चञ्चला वृन्दा ही इसे मेरी मणिमय भूषण-पेटिका में डाल गयी होगी ? मेरा इसमें क्या दोष है, बोलो, मैं क्या करती ? ।।२१।।

अनुवाद—(सव्रीड़रत प्रयत्ना का उदाहरण)—प्रातः काल में श्रीकृष्ण ने सुबल से कहा—हे सखे ! गत रात्रिको श्यामला विलास करने के लिये आयी, कुञ्जगृह द्वार से दो-तीन पद अन्दर आते ही हर्ष एवं उत्सुकतावश तत्क्षण उसकी अंगलतिका तरंगों की भांति कांप उठी । वह लज्जावश विमुखी होकर वापस लौटी जा रही थी । किन्तु फिर स्नेहशीला सखियों के समझाने-बुझाने पर वह फिर मेरी शय्या के निकट आयी । अहो ! उस मनोहारिणी मृगनैनी ने तो मेरा मन हरण कर लिया है ।।२२।।

अनुवाद—(रोषकृत-वाष्पमौना) किसी मुग्धा व्रजतरुणी के पास दूती द्वारा श्रीकृष्ण ने उसकी कुञ्ज में आने का संकेत भिजवा दिया, किन्तु रात्रि में उसकी कुञ्ज में न जाकर किसी दूसरी व्रज-सुन्दरी की कुञ्ज में रात्रि यापन कर दी । प्रातः काल उस मुग्धा की कुञ्ज में पहुँच कर अपना अपराध

रोषकृतबाष्पमौना यथा—

(१४) सिद्धापराधमपि शुद्धमनाः सखी मे त्वां वक्ष्यते कथमदक्षिणमुद्धतेव ।
नेमां विडम्बय कदम्बवनीभुजङ्ग ! वक्त्रं पिधाय कुरुतामियमश्रुमोक्षम् ॥ २३ ॥

अथ माने विमुखी—१०—मृद्वी तथाक्षमा चेति सा माने विमुखी द्विधा ॥ २४ ॥

तत्र मृद्वी यथा रससुधाकरे—

(१५) व्यावृत्तिक्रमणोद्यमेऽपि पदयोः प्रत्युद्गतौ वर्तनं भ्रूभेदोऽपि तदीक्षणव्यसनिना व्यस्मारि मे चक्षुषा।
चाटूक्तानि करोति दग्धरसना रूक्षाक्षरेऽप्युद्यता सख्यः किं करवाणि मानसमये संघातभेदो मम ॥ २५ ॥

अक्षमा यथा—(१६) आभीरपङ्कजदृशां बत साहसिक्यं याः केशवेक्षणमपि प्रणयन्ति मानम् ।
मानेति वर्णयुगलेऽपि मम प्रयाते कर्णाङ्गणं वहति वेपथुमन्तरात्मा ॥ २६ ॥

क्षमा कराने की चेष्टा करने लगे। तब उस मुग्धा नायिका की एक सखी ने श्रीकृष्ण को कहा—हे कदम्ब वनी भुजङ्ग ! (कदम्बवन में अन्यरमणी के साथ रात्रि यापन करने वाले कामुक) तुम्हारा अपराध सप्रमाण सिद्ध है। किन्तु मेरी निर्मलचित्ता सखी उद्धत नारी की भांति तुमसे क्यों कुछ बोलने लगी ? इसकी (चापलूसी विनय-प्रणामादि द्वारा) और वंचना मत करो। इसे अपने-मुखको ढककर रोने दो। (यहां अपराधी प्रीतम के प्रति अप्रिय वचनों का प्रयोग न करने का उदाहरण दिया गया है) ॥२३॥

अनुवाद—मान में विमुखी नायिका दो प्रकार की हैं—मृद्वी तथा अक्षमा ॥२४॥ रससुधाकर में मृद्वी का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—किसी यूथेश्वरी को उसकी सखियों ने उपदेश दिया कि 'प्रियतम नायक किसी भी प्रकार का अप्रिय व्यवहार करें तो उनसे तुम मान कर लेना—रूठ जाना।' बादमें उन समस्त सखियों को पता लगा कि उनकी प्रिय यूथेश्वरी ने वैसा समय आने पर विपरीत आचरण किया है,—उनकी बात नहीं मानी और प्रियतम से मान नहीं किया। इस पर वे सखियां जब यूथेश्वरी का तिरस्कार करने लगीं तो उसने कहा—सखियो ! सुनो, प्रियतमके अप्रिय आचरण को जानने पर उससे दूर जाने की चेष्टा करने मात्र से मेरे दोनों पाँव विपरीत दिशा में चलने लग गये थे, अर्थात् प्रियतम की ओर ही चलने लग पड़े थे और भृकुटि द्वारा उनका तिरस्कार मैं कर ही न सकी, क्योंकि मेरे नेत्र ऐसा करना भूल गये। (प्रत्युत उनके दर्शन करने में ही आसक्त हो गये) मैं उनके प्रति रुक्षवचन बोलने को तैयार तो हुई, किन्तु मेरी हतभागा जिह्वा उनकी अनुनय-विनय ही करने लग पड़ी। मान करने के समय मेरी समस्त इन्द्रियां ही विपरीत आचरण करने लगीं, तो बताओ, मैं क्या करती ? ॥२५॥

अनुवाद—(अक्षमा का उदाहरण)—मानकी शिक्षा देनेवाली किसी सखी के प्रति मान करने वाली गोपियों के सम्बन्ध में आक्षेप करते हुए किसी कृष्णवल्लभा ने कहा—अहो ! कमलनयना गोप-रमणियों का यह कैसा साहस ? वे जब तब हर समय श्रीकेशव के प्रति मान ही विस्तार करती रहती हैं। किन्तु मेरे कानों में 'मान'-यह दो अक्षर प्रवेश करते ही मेरी अन्तरात्मा काँप उठती है ॥२६॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—मृद्वी तथा अक्षमा—इन दोनों के मान में अन्तर यह है कि अपराधी कान्त को देखते समय मृद्वी नायिका में मान प्रकाश करने की इच्छा जागती है और उसके लिये वह चेष्टा भी करती है, किन्तु उसकी चेष्टा फलवती नहीं होती। कान्त के दर्शन जनित आनन्द की

अथ मध्या—११—समानलज्जामदना प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी । किंचित्प्रगल्भवचना मोहान्तसुरतक्षमा ।
मध्या स्यात्कोमला क्वापि माने कुत्रापि कर्कशा ।। २७ ।।

तत्र समानलज्जामदना यथा—
(१७) विकिरति किल कृष्णे नेत्रपद्मं सतृष्णे नमयति मुखमन्तःस्मेरमावृत्य राधा ।
निदधति दृशमस्मिन्नन्यतः प्रेक्षतेऽमुं तदपि सरसिजाक्षी तस्य मोदं व्यतानीत् ।। २८ ।।
प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी यथा—
(१८) भ्रुवोर्विक्षेपस्ते कवलयति मीनध्वजधनुः-प्रभारम्भं रम्भाश्रियमुपहसत्यूरुयुगलम् ।
कुचद्वन्द्वं धत्ते रथचरणयूनोर्विलसितं वराङ्गीणां राधे तरुणिमणिचूड़ामणिरसि ।। २९ ।।

उन्मादना में उसका उद्यम भी शान्त हो जाता है और मान भी उपशान्त हो जाता है । किन्तु कान्तके दर्शन जनित आनन्द के स्पर्श से ही अक्षमा नायिका का रोष तिरोहित हो जाता है, इसलिये उसमें मान का आरम्भ ही नहीं होता । मृद्वी में मान का आरम्भ होता है, किन्तु फिर कान्त के दर्शन-आनन्द का स्पर्श पाते ही रोष मिट जाता है और आरम्भ हुआ मान भी प्रशमित हो जाता है ।।२६।।

अनुवाद—(अब मध्या नायिका के लक्षण) जिसमें लज्जा और मदन दोनों समान रहते हैं, प्रकाश मान या उभरते तारुण्य में जो प्रशंसनीय होती है, जिसके वाक्य किञ्चित् साहस या चतुरतापूर्ण होते हैं और सुरत विषय में आनन्द मूर्च्छा तक को प्राप्त हो जाती है, उसे 'मध्या' नायिका कहते हैं । मान विषय में कभी तो वह कोमल होती है और कभी कर्कश—(कठोर) हो जाती है ।।२७।।

अनुवाद—(समान लज्जामदना का उदाहरण)—श्रीकृष्ण जब लालायित होकर श्रीराधा के प्रति नेत्रकमल निक्षेप करते हैं, तो श्रीराधा भीतरी हर्षजनित मुसकान को छिपाने के लिये मुख झुका लेती हैं । और यदि श्रीकृष्ण किसी और की ओर दृष्टिपात करते हैं तो श्रीराधा परमोत्सुकतावश श्रीकृष्ण को देखती रहती हैं ।।२८।।

अनुवाद—(प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी का उदाहरण)—श्रीकृष्ण ने श्रीराधा को कहा—हे राधे ! तुम्हारी भ्रू भङ्गी कामदेव के धनुष की शोभा को तुच्छीकृत करती है, तुम्हारे उरुयुगल कदलीवृक्ष की शोभा को भी उपहास्यपद करते हैं, तुम्हारे उरोजद्वय चक्रवाक युगल की शोभा धारण करते हैं, जिन के उरुदेश अति मनोहर हैं, उन समस्त तरुणी-मणि रमणियों की भी तुम चूड़ामणि हो ।।२९।।

अनुवाद—(किंचित्प्रगल्भोक्ति का उदाहरण) श्रीराधाजी को मिलने की उत्कण्ठा से श्रीकृष्ण एक बार जटिला के भवन के समीपवर्ती उद्यान में पहुँचे और मुरली बजाने लगे । किन्तु श्रीराधा जी को वहां आता न देखकर उन्होंने अपनी एक दूती को श्रीराधाजी के पास भेजा । दूती ने देखाकि श्रीराधा तो जटिला के पास बैठी हैं । इसलिये वह दूती को भी कुछ स्पष्ट बात न कह सकीं, इतने में एक भ्रमर गुंजार करता हुआ श्रीराधाजीके मुख कमलकी ओर चक्कर काटने लगातो श्रीराधाजी एक दूरवर्ती संकेत स्थान की सूचना देते हुए उस भ्रमर को उपलक्ष्य करके बोलीं)—अरे कृष्ण भ्रमर ! मेरे मुखकमल की सौरभ के लोभ में उन्मत्त होकर मेरे पति की सेवा (रन्धनादि सेवा) में विघ्न क्यों पैदा कर रहा है ? हे मधुर ध्वनि करने वाले ! तुम यदि तृष्णावश व्याकुल हो रहे हो तो पुष्पों द्वारा पीतवर्ण से शोभित सामने जो घनी पुन्नाग-कुञ्ज है, उसमें चले जाओ । (इसमें श्रीराधाजी ने संकेत स्थान का इंगित

किंचित्प्रगल्भोक्तिर्यथोद्धवसंदेशे—
(१६) मद्वक्राम्भोरुहपरिमलोन्मत्त सेवानुबन्धे पत्युः कृष्णभ्रमर कुरुषे किंतरामन्तरायम् ?
तृष्णाभिस्त्वं यदि कलरुत ! व्यग्रचित्तस्तदाग्रे पुष्पैः पाण्डुच्छविमविरलैर्याहि पुंनागकुञ्जम् ॥ ३० ॥
मोहान्तसुरतक्षमा यथा—(२०) श्रमजलनिबिडां निमीलिताक्षीं श्लथचिकुरामनधीनबाहुवल्लीम् ।
मुदितमनसमस्मृतान्यभावां रतिशयने निशि गोपिकां स्मरामि ॥ ३१ ॥
माने कोमला यथा—
(२१) प्राणास्त्वमेव किमिव त्वयिगोपनीयं मानाय केशिमथने सखि ! नास्मि शक्ता ।
एहि प्रयाव रविजातटनिष्कुटाय कल्याणि ! फुल्लकुसुमावचयच्छलेन ॥ ३२ ॥
माने कर्कशा यथा विदग्धमाधवे—
(२२) मुधा मानोन्नाहाद्ग्लपयसि किमङ्गानि कठिने रूषं धत्से किं वा प्रियपरिजनाभ्यर्थनविधौ ।
प्रकामं ते कुञ्जालयगृहपतिस्ताम्यति पुरः कृपालक्ष्मीवन्तं चटुलय दृगन्तं क्षणमिह ॥ ३३ ॥
१२—त्रिधासौ मानवृत्तेः स्याद्धीराधीरोभयात्मिका ॥ ३४ ॥

देकर वहां अपने मिलने का अभिप्राय जता दिया है, जिसमें उनकी किञ्चित् प्रगल्भता प्रकाशित हो रही है। यदि स्पष्ट बात जनाती तो स्पष्ट प्रगल्भता प्रकाशित होती) ॥३०॥

अनुवाद—(मोहान्तसुरतक्षमा का उदाहरण)—श्रीकृष्ण मन में मानो क्या सोच रहे हैं, यह जान कर सुवलने श्रीकृष्ण से जब पूछा तो वे बोले—'सखे ! गत रात्रि से रतिशयन में श्रीराधा रतिक्रीड़ा में ऐसी क्लान्त हो उठी कि उसके सारे अङ्ग भारी श्रमजल से परिव्याप्त हो उठे। उसके दोनों नेत्र मुद गये, केशपाश खुल गये एवं उसकी भुजाएं शिथिल हो गयीं। किन्तु उसके मन में अत्यन्त आनन्द हो रहा था, विलास-माधुर्य की स्मृति छोड़कर और कुछ भी उसे स्फूर्ति न हो रही थी। इस समय में उस अवस्थापन्न श्री राधा का स्मरण कर रहा हूँ ॥३१॥

अनुवाद—(मान में कोमला का उदाहरण)—श्रीललिता ने श्रीराधा जी को शिक्षा दी कि श्री कृष्ण के साथ मत बोलो एवं मान धारण करलो तब श्रीराधाजी ने कहा)—हे सखि ! तुम मुझे प्राणों के समान प्रिय हो, तुम्हारे से मैं भला क्या गोपन करूं ? केशीमर्दन श्रीकृष्ण के प्रति मान प्रदर्शन करने में मैं असमर्थ हूँ। हे कल्याणि ! (श्रीकृष्ण के साथ मिलने के लिये) प्रस्फुटित पुष्प चुनने के बहाने हम दोनों यमुना तटवर्ती उद्यान में चलें ॥३२॥

अनुवाद—(मान में कर्कशा का उदाहरण)—श्रीविशाखा ने श्रीराधा जी से कहा—हे कठिने ! तुम वृथा मान उगल कर क्यों अपने शरीर में ग्लानि उत्पन्न कर रही हो ? किस लिये प्रिय परिजनों (हम सखियों) के अनुनय-विनय करने पर रोष प्रकाश कर रही हो ? देखो तो सही, तुम्हारे आगे कुञ्जगृह पति—श्रीकृष्ण अत्यन्त कष्ट पा रहे हैं। उनके प्रति क्षण काल के लिये तुम अपनी कृपा-सम्पत्ति से भरे कटाक्ष निक्षेप करो। (भाववैचित्री भेद से एक ही नायिका मानमें कभी कोमल हो जाती और कभी कर्कशा भी हो सकती है) ॥३३॥

अनुवाद—मानविषयमें मध्या नायिका तीन प्रकार की हैं—धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा ॥३४॥
अनुवाद—(धीर-मध्या का लक्षण तथा उदाहरण) जो मध्या-नायिका अपराधयुक्त प्रियतम के प्रति वक्रोक्ति पूर्वक उपहास वाक्य प्रयोग करे, उसे 'धीर-मध्या' कहते हैं ॥३५॥

तत्र धीरमध्या—१३—धीरा तु वक्ति वक्रोक्त्या सोत्प्रासं सागसं प्रियम् ॥ ३५ ॥

यथा—(२३)

स्वामिन् ! युक्तमिदं तवाञ्जननवालक्तद्रवैः सर्वतः संक्रान्तैर्धृ तनीललोहिततनोर्यच्चन्द्रलेखाधृतिः ।
एकं किन्त्ववलोचयाम्यनुचितं हंहो पशूनां पते देहार्धे दयितां वहन्बहुमतामत्रासि यन्नागतः ॥३६ ॥

अथ अधीरमध्या—१४—अधीरा परुषैर्वाक्यैर्निरस्येद्वल्लभं रुषा ॥ ३७ ॥

(रात्रिकाल में अन्यगोपी की कुञ्ज में रहकर उस गोपी के काजल, अलक्तकादि चिह्नों को सब अङ्गों में धारण किये हुए श्रीकृष्ण प्रातः काल श्रीराधाजी की कुञ्ज में उपस्थित हुए । उन्हें देखते ही श्रीराधा जी व्यंग भरे वचनों से उन्हें कहने लगीं—हे नाथ ! नीलवर्ण का भंजन (काजल) और लोहित वर्ण का नवोन अलता सब अङ्गों में धारण कर आपने जो नील-लोहित कलेवर (महादेव) रूप सजाया है और मस्तक पर जो चन्द्ररेखा (नखांकचिह्न) धारण किया है, ये सब ठीक ही हैं । (आपके महादेव रूप सजाने या धारण करने में कोई त्रुटि नहीं रही है) किन्तु अहो ! हे पशुपते ! एक त्रुटि रह गयी है, वह यह कि महादेव की भांति अति सम्मानिता प्रिया को आप अपने अर्धांग में धारण कर यहां नहीं ले आये (अर्थात् जिस गोपी के साथ आपने रात्रि वितायी और जिसके काजल अलता-नखचिह्न धारण कर आप नील-लोहित रूप को सजाकर यहां आये हैं, उस अपनी परम प्यारी को भी कंधे पर उठाकर यहां साथ ले आते, तो आप के महादेव रूप सजाने में कोई त्रुटि न रहती ॥३६॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रीप्रिया जी के इन वचनों में वक्रोक्तिमय उपहास भरा हुआ है । 'पशुपति'-शब्द से महादेव का अर्थ लेने पर तो उत्कर्ष दीख रहा है, परन्तु पशपति-का दूसरा अर्थ है पशुपालक अर्थात् ग्वाला । इस से यह ज्ञापित किया है कि तुम ग्वाले—विचार-बुद्धिहीन गंवार हो, कहां कैसा आचरण करना चाहिये, वह तुम नहीं जानते । भगवती सती सर्वत्र सम्मानित हैं और श्री-महादेव अपनी प्राणप्रिया सती को अर्द्धांग में धारण किये रहते हैं । किन्तु यहां प्राण प्यारी शब्द उस गोपी को सूचित कर रहा है, जो इस प्रकार ध्वनि कर रहा है कि हे कृष्ण आप जब उस प्राण प्रिया के पास रातभर रहे हैं,तो उसे छोड़कर यहां क्यों चले आये ? उसेभी साथ लाते ।'स्वामिन्'—नाथ-सम्बोधन का भी गूढ अर्थ है–स्वामी शब्दका अर्थ है प्रभु । अर्थात् महादेव रूप सजाकर मेरे ऊपर कृपा करने पधारे हैं, मुझे कृतार्थ करने आये हैं आप, मेरे स्वामी हैं न ? किन्तु गूढ़ अर्थ यह है कि जैसे महादेव रूप सजाने में आपकी त्रुटि (प्राण-प्रिया को छोड़कर आना) रह गयी है, उसी प्रकार आप के स्वामित्व में भी त्रुटि रह गयी है—आप मुझे कृतार्थ करने नहीं आये, आये हैं मेरे घावों पर नमक छिड़कने । अन्यरमणि के भोगचिह्नरूप नमक को, मेरी उपेक्षा कर जो आपने घाव किये हैं, उनपर छिड़कने पधारे हैं । इस प्रकार मध्या नायिका मान में धीरमध्या कहलाती है ॥३६॥

अनुवाद—(अधीर-मध्या का लक्षण एवं उदाहरण)—जो मध्या नायिका रोषपूर्वक कठोर वाक्यों से प्रियतम का तिरस्कार करती है, उसे 'अधीरा-मध्या' कहते हैं ॥३७॥

(अन्य किसी रमणी के साथ विहार करके श्रीकृष्ण एक दूसरी व्रजयुवती की कुञ्ज में आये । किन्तु उनके वक्षस्थल पर जो हार झूम रहा था, उस पर उस रमणी के वक्षस्थल का केसर लगा हुआ था । श्रीकृष्ण आये थे अपनी निर्दोषिता को जनाने के लिये परन्तु उन्हें देखते ही वह ब्रजयुवति बोली—अरे कंसरिपो ! उन्नतस्तनयुगल-संगी आपके गले का हार ही अन्यरमणी सहित आपके रात्रि-विलास

यथा—(२४)

उत्तुङ्गस्तनमण्डलीसहचरः कण्ठे स्फुरन्नद्य ते हारः कसरिपो क्षपाविलसितं निःसंशयं शंसति।
धूर्ताभीरवधूप्रतारितमते मिथ्याकथाघर्घरी-झङ्कारोन्मुखर प्रयाहि तरसा युक्तात्र नावस्थितिः ॥ ३८ ॥

अथ धीराधीरमध्या—१५—धीराधीरा तु वक्रोक्त्या सबाष्पं वदति प्रियम् ॥ ३९ ॥

यथा—(२५) गोपेन्द्रनन्दन न रोदय याहि याहि सा ते विधास्यति रुषं हृदयाधिदेवी।
त्वन्मौलिमाल्यहृतयावकपङ्कमस्याः पादद्वयं पुनरनेन विभूषयाद्य ॥ ४० ॥

यथा वा—(२६)

तामेव प्रतिपद्य कामवरदां सेवस्व देवीं सदा यस्याः प्राप्य महाप्रसादमधुना दामोदरामोदसे।
पादालक्तचितं शिरस्तव मुखं ताम्बूलशेषोज्ज्वलं कण्ठश्चायमुरोजकुङ्मलसुहृन्निर्माल्यमाल्याङ्कितः ४१ ॥

को निःसन्देह प्रतिपादन कर रहा है। (इस पर जब फिर भी श्रीकृष्ण अपनी सफाई पेश करने लगे तो वह युवती बोली—देख रही हूँ मैं, धूर्त्त गोपरमणियों ने तुम्हारी मति को प्रतारित कर रखा है, इसलिये तुम और भी झूंठी बातें बनाते हुए घंटियों की झंकार से अधिक मुखर हो उठे हो। चले जाओ अभी यहां से, यहां तुम्हारा रहना हित में नहीं है, न संगत है ॥३८॥

अनुवाद—(धीराधीरमध्या का लक्षण एवं उदाहरण)—जो मध्या नायिका नेत्रों से अश्रुप्रवाहित करते हुए प्रियतम के प्रति वक्रोक्ति का प्रयोग करती है, उसे 'धीराधीर' मध्या कहते हैं ॥३९॥

अन्य रमणी के साथ विलास करके श्रीकृष्ण श्रीराधाजी की कुञ्ज में पधारे। उनके मस्तक पर शोभित माला पर उस रमणी का अलता लग रहा था। उसे देखते ही श्रीराधा जी के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। श्रीकृष्ण ने अनेक उपायों से अपने को निर्दोष बताने की चेष्टा की किन्तु श्रीराधा जी ने कहा—) अहो गोपेन्द्र नन्दन! मुझे और मत रुलाओ। यहां से तुम चले जाओ अभी (यहां तुम्हारे आने को जान कर, जिसके साथ रात्रि में विहार किया है) वह आपकी हृदयाधिष्ठात्री देवी तुम से रूठ जायेगी। (मेरे चरणों में क्षमा याचना का कोई प्रयोजन नहीं, उसी रमणी के अलता द्वारा ही फिर उसके चरणों को जाकर विभूषित करो—उसके चरणों में जाकर प्रणाम करो ॥४०॥

[धीराधीरनायिका में कभी धीरात्व की अधिकता रहती है और कभी अधीरात्व की। उपर्युक्त उदाहरण में धीरात्व की अधिकता दिखलायी गयी है। निम्नलिखित श्लोक में अधीरात्व का उदाहरण देते हैं]—

अनुवाद—श्रीराधा जी ने कहा—तुम उसी अपनी अभीष्ट-प्रदायिनी देवी की शरण में जाकर सदा उसकी सेवा करो। (मैं तुम्हारी कामवरदायिनी नही हूँ।) हे दामोदर! जिसका महाप्रसाद प्राप्त कर अब तुमने आनन्द लाभ किया है। '(कौन सा महाप्रसाद'?—तो सुनो—) जिसके चरणों के अलता से तुम्हारा मस्तक मण्डित है, जिसके उच्छिष्ट ताम्बूल की लालिमा से तुम्हारा मुख उज्ज्वल हो रहा है, जिसकी सुहृत्स्वरूपा कुचस्थली प्रसादी माला से आपका कण्ठ विभूषित हो रहा है,—वही तुम्हारी कामवरदातृ देवी है उसकी शरण में जाकर सदा उसकी सेवा करो ॥४१॥

१६—सर्व एव रसोत्कर्षो मध्यायामेव युज्यते । यदस्यां वर्त्तते व्यक्ता मौग्ध्यप्रागल्भ्ययोर्युतिः ॥ ४२ ॥

अथ प्रगल्भा—

१७—प्रगल्भा पूर्णतारुण्या मदान्धोरुरतोत्सुका । भूरिभावोद्गमाभिज्ञा रसेनाक्रान्तवल्लभा ॥
अतिप्रौढोक्तिचेष्टासौ माने चात्यन्तकर्कशा ॥ ४३ ॥

तत्र पूर्णतारुण्या यथा—

(२७) मुष्णाति स्तनयुग्ममभ्रमुपतेः कुम्भस्थलीविभ्रमं विस्फारं च नितम्बमण्डलमिदं रोधःश्रियं लुण्ठति । द्वन्द्वं लोचनयोश्च लोलशफरीविस्फूर्जितं स्पर्धते तारुण्यामृतसंपदा त्वमधिकं चन्द्रावलि क्षालिता ॥ ४४ ॥

अथ मदान्धा—

(२८) निष्क्रान्ते रतिकुञ्जतः परिजने शय्यामवाप्य मां स्वैरं गौरिरिरंसया मयि दृशं दीर्घां क्षिपत्यच्युते सद्यः प्रोद्यदुरुप्रमोदलहरीविस्मारितात्मस्थिति-र्नाहं तत्र विदांबभूव किमभूत्कृत्यं किलातः परम् ॥ ४५ ॥

उरुरतोत्सुका यथा—

(२९) उदञ्चद्वैपरीत्यां पृथुमखपदाकीर्णमिथुनां स्खलद्बर्हाकल्पां दलदमलगुञ्जामणिसराम् ।
ममानङ्गक्रीडां सखि वलयरिक्तीकृतकरां मनस्तामेवोच्चैर्मणितरमणीयां मृगयते ॥ ४६ ॥

अनुवाद—(मध्या नायिका में अपने तो लक्षण रहते ही हैं) उसके अतिरिक्त मुग्धा तथा प्रगल्भा के लक्षण भी रहते हैं, मुग्धा एवं प्रगल्भा में तीनों प्रकार की नायिकाओं के सब लक्षण नहीं रहते । अतः मध्या नायिका में ही समस्त रसोत्कर्ष-विद्यमान रहता है ॥४२॥

अनुवाद—(प्रगल्भा नायिका के लक्षण)—जिस नायिका में पूर्ण-यौवन रहे, जो मदान्ध तथा सुरत-व्यापार में अतिशय उत्सुका हो, जो प्रचुर परिमाण में भावोद्गम की अभिज्ञा, प्रेमरस में प्रियतम को आक्रमण करने में समर्थ हो, जिसके वाक्य एवं चेष्टाएँ अतिशय उद्भट हों तथा मान विषय में जो अतिशय कर्कश हो उसे 'प्रगल्भा' नायिका कहते हैं । ४३॥

अनुवाद—(पूर्णतारुण्या का उदाहरण)—श्रीकृष्ण ने श्रीचन्द्रावली को कहा—हे चन्द्रावलि ! तुम्हारे उरोजद्वय एरावतगण्ड के विलास का अपहरण कर रहे हैं, तुम्हारा विशाल नितम्वमण्डल नदी तीर की शोभा को पराभूत कर रहा है, नेत्रयुगल चञ्चल मीन के विक्रम की स्पर्द्धा प्रकाश कर रहे हैं । चन्द्रावलि ! तारुण्यामृत-सम्पत्तिद्वारा तुम समधिकरूप से अभिषिक्त हो रही हो ॥४४॥

अनुवाद—(मदान्धा का उदाहरण)—किसी यूथेश्वरी ने अपनी सखी से कहा—हे गौरि ! कुञ्ज-भवनसे मेरी सखियोंके बाहर चले जाने पर, यथेच्छ रमणेच्छासे अच्युत श्रीकृष्ण मुझे अपनी शय्या पर ले गये । मेरे प्रति मन्द मुसकराते हुए दीर्घदृष्टि उन्होंने निक्षेप की । तत्क्षण ऐसी आनन्द-तरंगें उठीं कि मैं अपनी सुध-बुध पर्यन्त खो बैठी । उसके बाद क्या हुआ, उसे मैं कुछ न जान पायी ॥४५॥

अनुवाद—(उरुरतोत्सुका का उदाहरण) एक यूथेश्वरी अपनी प्रिय सखी से बोली—हे सखि ! जिसमें नायक-नायिका की विपरीत-स्थिति स्वयं उद्गत हो, जिसमें दोनों के ही गात्र नख-क्षतादि से आकीर्ण हों जिसमें मधुरगुच्छ एवं आभरण नीचे जा पड़े जिसमें अमलगुञ्जमाला तथा मणिमाला टूट जायें,जिसमें दोनों की भुजाएं कंकण-भूषणादिसे रहित हो जायें तथा जो उच्च शीत्कार ध्वनिसे रमणीय हो, मेरा मन उसी अनङ्ग-क्रीड़ा का अनुसन्धान करता है । (यह औत्सुक्य भी कृष्णसुखैकतात्पर्यमय है । इसमें स्वसुख वासना की गन्धमात्र भी नहीं) ॥४६॥

भूरिभावोद्गमाभिज्ञा यथा—

(३०) साचिप्रेङ्खदपाङ्गशृङ्खलशिखा विस्फारितभ्रूलता साकूतस्मितकुड्मलावृतमुखी प्रोत्क्षिप्तरोमाङ्कुरा
कुञ्जे गुञ्जदलौ विराजसि चिरात्कूजद्भिः ऽञ्चीस्वरा बद्धुं बन्धुरगात्रि कृष्णहरिणं शङ्के त्वमाकाङ्क्षसि ॥

रसाक्रान्तवल्लभा यथा—

(३१) अवचिनु कुसुमानि प्रेक्ष्य चारुण्यरण्ये विरचय पुनरेभिर्मण्डनान्युज्ज्वलानि।
मधुमदन मदङ्गे कल्पयाकल्पमेतैर्युवतिषु मम भीमं रौतु सौभाग्यभेरी ॥ ४८ ॥

अतिप्रौढोक्तिः यथा पद्यावल्याम्—

(३२) काकुं करोषि गृहकोणकरीषपुञ्ज-गूढाङ्ग ! किं ननु वृथा कितव ! प्रयाहि।
कुत्राद्य जीर्णतरणिभ्रमणातिभीति-गोपाङ्गनागणविडम्बनचातुरी ते ? ॥ ४९ ॥

अनुवाद—(भूरिभावोद्गमाभिज्ञा, अर्थात् नानाविध-भाव-प्रकटन में निपुणा का उदाहरण)—कोई एक यूथेश्वरी श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा में कुञ्ज में बैठी और अनेक प्रकार के भाव प्रकाश कर रही थी। श्रीकृष्ण अभी आये नहीं। यूथेश्वरी की प्रियसखी दूर से श्रीकृष्ण को आता देखकर, कुञ्ज में आकर अपनी यूथेश्वरी से वह इस प्रकार कहती है—(श्रीकृष्ण को हरिण के साथ और यूथेश्वरी को व्याध के साथ तुलना दी गयी है इस श्लोक में)—हे सुन्दराङ्गि ! बहुत देर से तुम इस भ्रमरगुंजित कुञ्ज में ऐसे बैठी हो (जैसे व्याध लता-पता के पीछे अपने को छिपाकर हरिण की प्रतीक्षा में बैठा रहता है), लगता है तुम कृष्ण-हरिण को फंसाने की आकांक्षा कर रही हो। (मेरे पास व्याध के पास रहने वाली रस्सी-जंजीर तो है नहीं ?—तो कहती है—तुम्हारी यह तिरछी तथा चञ्चल अपाङ्ग-दृष्टि ही श्रीकृष्ण रूप हरिण को बन्धन में डालने वाली शृंखला है। (मेरे पास पहले हरिण को फंसाने वाला जाल कहाँ है ?—तो कहती है)—तुम्हारी विशाल भ्रुलता ही जाल का काम करेगी। (व्याध जैसे मृगबन्धन के समय अपना मुख सम्यक्‌रूप से आवृत किये रहता है, वैसे) तुम भी स्वाभिलाषसूचक मृदुमधुर मुसक्यान-मुकुल द्वारा अपना मुख आवृत किये बैठी हो। (मृग को प्रलुब्ध करने के लिये व्याध जैसे नव-नव यव-तृणादि फैलाये रखता है, वैसे) तुम्हारे शरीर पर भी पुलकावली शोभित हो रही है। हरिण को आकर्षण करने के लिये व्याध जैसे वंशीध्वनि करता है, वैसे तुम भी तो वीणा पर नानाविध स्वरों का आलाप कर रही हो। (कृष्णमृग अवश्य आकृष्ट होकर आयेगा) ॥४७॥

अनुवाद—(रसाक्रान्त-वल्लभा का उदाहरण)—कोई एक व्रजसुन्दरी श्रीकृष्ण को कहती है—हे मधुमथन ! वृन्दावन में देख-देख कर सुन्दर कुसुमों का चयन करो, फिर उन समस्त कुसुमों द्वारा उज्ज्वल भूषण तैयार करो। फिर उन सब भूषणों द्वारा मेरे अङ्गों को इस प्रकार भूषित करो कि समस्त युवतियों में मेरे अतिशय सौभाग्य की भेरी बज उठे। (यहां प्रणय-विलास मात्र ही उद्देश्य है—अपने अलंकरणों का तो व्याज मात्र है। व्रजसुन्दरियों का प्रणय-विलास मात्र ही अभीष्ट है) ॥४८॥

अनुवाद—(अति प्रौढ़ोक्ति-का उदाहरण)—श्रीकृष्ण ने एक बार नौका विलास के समय व्रज-गोपियों को यमुना-मंझधार में आकर कहा कि यह नौका तो पुरानी है, आप सब मोटीताजी, फिर भारी-भारी आभूषणों-वस्त्रों से लद रही तो, मेरी नौका तो डूबने वाली है। तब समस्त गोपियां अति भयभीत हो उठीं और श्रीकृष्ण की अनुनय-विनय करने लगी थीं उनमें से एक व्रजसुन्दरी को मिलने के लिये श्रीश्यामसुन्दर एक दिन उसके घर के कोने में जा छिपे। व्रजसुन्दरी ने उन्हें देख लिया और

अतिप्रौढचेष्टा यथा—(३३) सख्यास्तवानङ्गरणोत्सवेऽधुना ननर्त मुक्तालतिका स्तनोपरि।
उत्प्लुत्य यस्याः सखि नायकश्चलो धीरं मुहुर्मे प्रजहार कौस्तुभम् ॥ ५० ॥

मानेऽत्यन्तकर्कशा यथोद्धवसंदेशे—
(३४) मेदिन्यां ते लुठति दयिता मालती म्लानपुष्पा तिष्ठन्द्वारे रमणि ! विमनाः खिद्यते पद्मनाभः।
त्वं चेन्निद्रा क्षपयसि निशां रोदयन्ती वयस्या माने कस्ते नवमधुरिमा तं तु नालोचयामि ॥ ५१ ॥
१८—मानवृत्तेः प्रगल्भापि त्रिधा धीरादिभेदतः ॥ ५२ ॥
तत्र धीरप्रगल्भ—१९—उदास्ते सुरते धीरा सावहित्था च सादरा ॥ ५३ ॥

अति आनन्द अनुभव किया। तथापि बाहर से कोप प्रकाश करते हुए बोली—'अभी तक तुम यहां छिपे खड़े हो ? बुलाती हूँ मैं अपनी सास को।' तब श्रीकृष्ण शंकित होकर उस व्रजसुन्दरी की अनुनय-विनय करने लगे। तब उस व्रजसुन्दरी ने कहा—अरे कितव ! घर के कोने में सूखे उपलों के ढेर में छिपकर क्यों वृथा मिनती-समाजत कर रहे हो ? यदि अपना मंगल चाहते हो तो शीघ्र ही यहां से भाग जाओ। (नौकाविलास के दिन की बात स्मरण कर वह फिर बोली)—हम गोपांगनाओं को पुरानी नौका में चढ़ाकर और इधर-उधर घुमाते हुए हमारी जिस चतुराई से विडम्बना की थी, तुम्हारी वह चतुराई आज कहां गयी है ? ॥४९॥

अनुवाद—(अति प्रौढचेष्टा का उदाहरण)—रात्रिकाल में कुञ्ज भवनमें लीला-विलास के समय चन्द्रावली ने जो धृष्टता प्रकाश की, प्रातः काल उसकी सखी पद्मा को उसे बताने हुए श्रीकृष्ण ने नर्म-वचनों में कहा—हे सखि ! अभी अभङ्गसमरोत्सव में तुम्हारी इस सखी चन्द्रावली के वक्षस्थल पर मुक्ताहार नृत्यकर रहा था, कि उस मुक्ताहार के मध्य का दोलक-मणि अचानक चञ्चल हो उठा और कूद कर मेरी स्थिर कौस्तुभमणि को बार-बार प्रहार करने लग गया ॥५०॥

अनुवाद—(मान में अत्यन्त कर्कशा) जैसे कि श्रीउद्धव सन्देश में कहा गया है—श्यामला अत्यन्त मानवती हो उठी, अनेक चेष्टा करने पर भी श्रीकृष्ण उसके मान को भंग न कर पाये। तब श्यामला की किसी एक सखीने श्यामला को कहा—हे रमणि ! तुम्हारी प्रिया मालतीलता के पुष्प कुम्हला गये हैं और वह पृथ्वीपर गिरी-पड़ी जा रही है, (तुम पूर्ववत् उस की रक्षा क्यों नहीं करती हो—मूल में जल सिंचन करो न ? और पद्मनाभ श्रीकृष्णभी विमनस्क होकर द्वार पर बैठे दुख पा रहे हैं। तुम भी जागते-जागते रात्रि बिता रहो हो एवं ऐसी अवस्था दिखाकर हम सखियों को भी रुला रही हो। सखि ! तुम्हारे इस प्रकार के मान में जाने कौन सा नया माधुर्य उछल रहा है ?—मैं नहीं समझ पा रही हूँ ॥५१॥

अनुवाद—मध्या नायिका की भांति मानविषय में प्रगल्भा—नायिका भी तीन प्रकार की हैं—धीरा-प्रगल्भा, अधीरा प्रगल्भा तथा धीराधीरा-प्रगल्भा ॥५२॥

अनुवाद—(धीरा-प्रगल्भा का लक्षण एवं उदाहरण)—धीराप्रगल्भा नायिका दो प्रकार की हैं—एक तो वह है जो मानिनी होने पर सुरतविषय में उदासीना रहती है, उसे 'धीर-प्रगल्भा' कहते हैं। दूसरी, जो मानिनी होकर भी अवहित्था-पूर्वक अर्थात् अपना भाव गोपन पूर्वक नायक के प्रति आदर प्रकाश करती है, उसे भी 'धीरा-प्रगल्भा' कहते हैं ॥५३॥

यथा—(३५)

देवी नाद्य मयार्चितेति न हरे ताम्बूलमास्वादितं शिल्पं ते परिचित्य तप्स्यति गृहीत्यङ्गीकृता न स्रजः। आहूतास्मि गृहे व्रजेशितुरिति क्षिप्रं व्रजन्त्या वचस्तस्याश्रावि न भद्रयेति विनयैर्मानः प्रमाणीकृतः ॥५४॥

तथा च—यथा वा (३६)

कण्ठे नाद्य करोमि दुर्व्रतहता रम्यामिमां ते स्रजं वक्तुं सुष्ठु न हि क्षमास्मि कठिनैर्मौनं द्विजैर्ग्राहिता। का त्वां प्रोज्झ्य चलेत्खले यमचिरं श्वश्रूर्न चेदाह्वयेदित्थं पालिकया हरौ विनयतौ मन्युर्गभीरीकृतः ? ॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रीपादचक्रवर्ती ने टीका में लिखा है कि श्रीरूपगोस्वामी ने दूसरों के मतानुरोध से दो प्रकार की धीरा-प्रगल्भाओं का उल्लेख किया है। वास्तव में धैर्य्य या धीरात्व की पूर्णता को लेकर दो भेद हैं। वास्तव में जो सुरत-विषय में उदासीन रहती है, उसका धैर्य पूर्ण है और वही धीर-प्रगल्भा है। जिसमें धैर्य्य की अपूर्णता है, उसे धीर-प्रगल्भावत् माना जा सकता है, वह धीरप्रगल्भा नहीं है—श्रीग्रन्थकार का निजमत यही है ॥५३॥

अनुवाद—(धीरप्रगल्भा का उदाहरण)—भद्रा मानिनी हो रही थी। श्रीकृष्ण ने कहा—भद्रे ! आज तुमने ताम्बूल क्यों नहीं खाया ? भद्रा ने कहा—हरे ! आज अभीतक मैंने देवी का पूजन नहीं किया है, इसलिए ताम्बूल नहीं लिया। श्रीकृष्ण बोले—मैं तुम्हारे लिये माला गूंथ कर लाया हूँ, उसे कण्ठ में धारण कर लो। तब भद्रा ने कहा—तुम्हारे शिल्प—मालाग्रन्थन चातुरी-को देखकर मेरा गृहपति परितप्त होता है, इसलिये तुम्हारी ग्रथित माला अंगीकार नहीं कर सकती हूँ। माला अंगीकार न करने पर श्रीकृष्ण बोले—अच्छा, कुछ देर यहां ठहर कर मेरी बात तो सुनो। इसके उत्तर में भद्रा बोली—व्रजेश्वरी श्रीयशोदा ने मुझे बुलवाया है, मैं नहीं रुक सकती। इतना कहकर भद्रा वहां से शीघ्र चल दी, श्रीकृष्ण की बात तक नहीं सुनी इस प्रकार विनम्र-वचनों में भद्रा ने अपना मान प्रमाणित किया ॥५४॥

अनुवाद—(दूसरा उदाहरण) पाली नाम्नी व्रजसुन्दरी मानिनी हो रही थी। श्रीकृष्ण अपने हाथ से माला रचकर लाये, पाली से बोले—प्रिये ! तुम्हारे लिये मैं यह सुन्दर माला रचकर लाया हूँ, कण्ठ में धारण कर लो ! तब पालीने कहा—मैंने आज कठिन व्रत धारण किया हुआ है, इसलिये तुम्हारी इस सुन्दर माला को कण्ठ में धारण नहीं कर सकती। तब श्रीकृष्ण बोले—अपने मुखचन्द्र से वचनामृत की वर्षाकर मेरे तप्त प्राणों को शीतल करो। तब पाली ने कहा—निर्दयी ब्राह्मणों ने मुझे मौन व्रत धारण करवाया है, मैं तुमसे स्पष्ट भाव से कोई बातचीत करने में अक्षम हूँ। तब श्रीकृष्ण बोले—प्रेयसि ! यदि बात-चीत करने में तुम्हारा मौन व्रत भंग होता है तो मौन रहकर ही कुछ समय मेरे पास रही आओ। तब पाली बोली—तुम्हारे सान्निध्य को त्याग कर कौन रमणी भला चली जा सकती है ? हां, यदि दुष्ट स्वभावा मेरी सास ने मुझे न बुला लिया होता, तो मैं आपके साथ स्वच्छन्द-भाव से रह भी जाती। इस प्रकार विनय द्वारा पाली ने श्रीकृष्ण के प्रति अपने क्रोध को गम्भीरता से जीते रखा ॥५५॥

अनुवाद—(अन्य-उदाहरण)—चन्द्रावली मानिनी हो रही थी। श्रीकृष्ण ने पूछा—चन्द्रावलि ! क्या तुमने मेरे प्रति मान किया हुआ है ? चन्द्रावली ने अपने मनोभाव को गोपन रखते हुए कहा—ना,

यथा वा—(३७)
कुचालम्भे पाणिर्नहि मम भवत्या विघटितो मुहुश्चुम्बारम्भे मुखमपि न साचीकृतमभूत् ।
परीरम्भे चन्द्रावली न च वपुः कुञ्चितमिदं क्व लब्धा मानस्य स्थितिरियमनालोकितचरी ? ।। ५६ ।।
अथ अधीरप्रगल्भा—२०—संतर्ज्य निष्ठुरं रोषादधीरा ताडयेत्प्रियम् ।। ५७ ।।
यथा—(३८)
मुग्धाः कंसरिपो वयं रचयितुं जानीमहे नोचितं तां नीतिक्रमकोविदां प्रियसखीं वन्देमहि श्यामलाम् ।
मल्लीदामभिरुच्छलन्मधुकरैः संयम्य कण्ठे यथा साक्षेपं चकितेक्षणस्त्वमसकृत्कर्णोत्पलैस्ताडचसे ।। ५८ ।।
धीराधीरप्रगल्भा—२१—धीराधीरगुणोपेता धीराधीरेति कथ्यते ।। ५९ ।।
यथा—(३९) स्फुरति न मम जातु क्रोधगन्धोऽपि चित्ते व्रतमनु गहनाभूत्किंतु मौने मनीषा ।
अघहर लघु याहि व्याज आस्तां यदेताः कुसुमरसनया त्वां बन्धु (न्द्धु) मिच्छन्ति सख्यः ।।६० ।।

ना, तुम्हारे प्रति मान क्यों करुंगी ? । तो तुम्हारे अङ्ग का स्पर्श कर सकता हूँ ?—श्रीकृष्ण ने पूछा । चन्द्रावली बोली—मैं तुम्हारे सामने खड़ी हूँ, जो चाहो सो करो । ऐसा कहकर वह उदासीन सी होकर खड़ी रही । तब श्रीकृष्ण बोले—चन्द्रावलि ! पहले तो जब कभी मैं तुम्हारे अङ्गों का स्पर्श करता, तो तुम सदा बाधा दिया करती थी, किन्तु अब मैंने तुम्हारे वक्षस्थल में हाथ स्पर्श किया है, तुमने कोई बाधा नहीं दी । मैं तुम्हारा बार-बार चुम्बन कर रहा हूँ, तो तुम जरा भी अपना मुख टेढ़ा-सीधा नहीं कर रही हो, मैं तुम्हें आलिंगन कर रहा हूँ, तुमने अपने शरीर को जरा भी संकुचित नहीं किया—किन्तु पहले तो तुम कभी ऐसा नहीं करने देती थी ? चन्दावली ! मान की ऐसी अदृष्टपूर्व स्थिति तुमने कहाँ से पायी है ? (यहां गाम्भीर्य, भाव-गोपन, आदर-प्रदर्शित होने से 'धीरात्व है और श्रीकृष्ण के आचरण में कोई बाधा न देने में प्रगल्भता भी सूचित हो रही है) ।।५६।।

अनुवाद—(अधीर-प्रगलभा का लक्षण एवं उदाहरण) जो नायिका क्रोध में अधीर होकर प्रियतम को तर्ज्जन करती है, निष्ठुर भाव से ताड़ना भी करती है, उसे 'अधीर-प्रगलभा' कहते हैं ।।५७।।

(सापराध श्रीकृष्ण को किसी व्रजसुन्दरी ने कहा) ओ कंसरिपो ! मैं मुग्धा हूँ, तुम्हारे साथ किस प्रकार समुचित व्यवहार करना चाहिये, उसे मैं नहीं जानती । प्रियसखी श्यामला ही व्यवहार में रीति नीति को जानती है । मैं उसकी वन्दना करती हूँ, जिसने मधुकरों द्वारा फेंकी हुई मल्लिका-माला से तुम्हारे कण्ठ को बान्ध दिया था और हे चकितेक्षण ! तुम्हारा तिरस्कार करते हुए कर्णफूल से बार-बार तुम्हारी ताड़ना की थी । (श्यामला अधीर-प्रगलभा हैं—यहां यह दिखाया गया है) ।।५८।।

अनुवाद—(धीराधीर प्रगलभा का लक्षण एवं उदाहरण)—जिसमें धीरा और अधीरा दोनों नायिकाओं के गुण रहते हैं, उसे 'धीराधीर-प्रगलभा' नायिका कहा जाता है ।।५९।।

हे अघहर ! मेरे चित्त में कभी भी क्रोध की गन्ध स्फुरित नहीं होती (तुमसे बोलती इसलिये नहीं हूँ कि) मैने व्रत धारण किया हुआ है । अतः कह रही हूँ कि तुम यहां से शीघ्र चले जाओ, (चला क्यों जाऊं ?) तुम कपट यह देखो, ये सखियां फूलडोरी से तुम्हें बान्धने की इच्छा कर रही हैं ।।६०।।

श्रीकृष्ण अपराध करके मंगला सखी के सामने आकर उस की स्तुति करने लगे । मंगला प्रगलभा होकर भ्रुकुटि तान कर श्रीकृष्ण की ताड़ना करने को तैयार हो उठी । उसने अपने कान से कर्णफूल

यथा वा—(४०)

कृतागसि हरौ पुरः स्तुवति तं भ्रमद्भ्रूलता तिताडयिषुरुद्धुरा श्रुतितटाद्विकृष्योत्पलम् ।
न तेन तमताडयत्किमपि याहि याहीति सा ब्रुवत्यजनि मञ्जुला सखि ! परं पराञ्चन्मुखी ॥ ६१ ॥
२२—किशोरिकाणामप्यासामाकृतेः प्रकृतेरपि । प्रागल्भ्यादिव कासांचित्प्रगल्भात्वमुदीर्यते ॥ ६२ ॥
२३—मध्या तथा प्रगल्भा च द्विधा सा परिभिद्यते । ज्येष्ठा चापि कनिष्ठा च नायकप्रणयं प्रति ॥ ६३ ॥

यथा—(४१)—

सुप्ते प्रेक्ष्य पृथक् पुरः प्रियतमे तत्रार्पयन्पुष्पजं लीलाया नयनाञ्चले किल रजश्चक्रे प्रबोधोद्यमम् ।
कृष्णः शीतलतालवृन्तरचनोपायेन पश्याग्रतस्तारायाः प्रणयादिव प्रणयते निद्राभिवृद्धिक्रमम् ॥ ६४ ॥

यथा वा—(४२)—

दीव्यन्त्यौ दयिते समीक्ष्य रभसादक्षैस्त्र्यहात्मग्लहैगौरीं घूर्णितयोपदिश्य हितवद्दायप्रयोगं भ्रुवा ।
तस्यास्तूर्णमुपार्जयन्निव जयं शिक्षावशेनाच्युतः श्यामामेव चकार धूर्तनगरीसंकेतविज्जित्वराम् ॥ ६५ ॥
२४—काचित्कांचिदपेक्ष्य स्याज्ज्येष्ठेत्यापेक्षिकी भिदा । अतो भेदद्वयमिदं न कृतं गणनान्तरे ॥ ६६ ॥

उतार तो लिया, किन्तु उससे श्रीकृष्ण की ताड़ना न की । केवल 'जाओ जाओ यहां से'—ऐसे कहते हुए अत्यन्त विमुख होकर रही आयी ॥६१॥

अनुवाद—व्रजकिशोरियों की आकृति तथा प्रकृति की प्रगल्भतावश उनमें भी किसी-किसी में प्रगल्भात्व कहा गया है ॥६२॥ मध्या और प्रगल्भा—इन दोनों के दो दो भेद हैं—ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा । नायक के प्रेम की अधिकता जिस नायिका में रहती है, उसे 'ज्येष्ठा' कहते हैं और जिसके प्रति प्रेम कम रहता है उसे 'कनिष्ठा' कहा जाता है ।

अनुवाद—(मध्याका ज्येष्ठात्व तथा कनिष्ठात्व)—दूरवर्ती लताकुञ्जमें छिपे रहकर वृन्दा नान्दी-मुखोसे बोली—सखि ! यह देख,कुञ्ज गृह में लीला सखी तथा तारा सखी दोनों एक दूसरे की ओर मुख करके नींद में सो रही हैं । चाहे दोनों ही श्रीकृष्ण की प्रियतमा हैं, तो भी श्रीकृष्ण लीला की आँखों से पुष्पपराग डालकर उसे जगाना चाह रहे हैं और प्रेम पूर्वक तालपत्र के पंखा से तारा को हवा कर उसे सोते रहने देने का प्रयास कर रहे हैं । (यहां लीला का ज्येष्ठात्व तथा ताराका कनिष्ठात्व दिखाया गया है श्रीकृष्ण के प्रेम के तारतम्यानुसार) ॥६४॥

अनुवाद—(प्रगल्भा का ज्येष्ठात्व एवं कनिष्ठात्व)—गौरी तथा श्यामा, दोनों ही प्रगल्भा नायिका हैं, कौतुकवश दोनों चौसर खेलने बैठीं । पण रखा गया कि जो पराजित हो, वह तीन दिन तक श्रीकृष्ण-संग प्राप्त नहीं कर पायेगी, जीतने वाली ही तीन दिन श्रीकृष्ण-संग प्राप्त करेगी । श्रीकृष्ण ने वहां आकर सब देखा-सुना । श्रीकृष्ण नेत्र के इशारों से गौरी को गोट चलाने की चाल बताने लगे । ऐसा लगाकि गौरी शीघ्र हो जीत जायेगी । चौसर क्रीड़ा की जय-पराजय की समस्त गूढ़ चालों को जानने वाले हैं श्रीकृष्ण । उन्होंने अपने दुस्तर्क्य कौशल से श्यामा को ही विजयिनी बना दिया । (गौरी देखती रह गयी । श्यामा के प्रति प्रेमाधिक्य होने से यहां श्यामा का ज्येष्ठात्व और गौरीका कनिष्ठात्व दिखाया गया है) ॥६५॥

अनुवाद—ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा, ये जो भेद ऊपर कहे गये हैं, वे आपेक्षिक-भेद हैं, सर्वनिरपेक्ष भेद नहीं हैं, अर्थात् जो नायिका तुलना में ज्येष्ठा हैं, दूसरी किसी नायिका की तुलना

२५—कन्या मुग्धैव सा किंतु स्वीयान्योढे उभे बुधैः। मुग्धामध्यादिभेदेन षड्भेदे परिकीर्तिते॥ ६७॥
२६—मध्याप्रौढे द्विषड्भेदे प्रोक्ते धीरादिभेदतः। कन्या स्वीया परोढेति मुग्धा च त्रिविधा मता।
इति ताः कीर्तिताः पञ्चदश भेदा इहाखिलाः॥ ६८॥
२७—अथावस्थाष्टकं सर्वनायिकानां निगद्यते। तत्राभिसारिका वासकज्जा चोत्कण्ठिता तथा॥ ६९॥
२८—खण्डिता विप्रलब्धा च कलहान्तरितापि च। प्रोषितप्रेयसी चैव तथा स्वाधीनभर्तृका॥ ७०॥
तत्र अभिसारिका, यथा—
२९—याभिसारयते कान्तं स्वयं वाभिसरत्यपि। सा ज्योत्स्नी तामसी यानयोग्यवेषाभिसारिका॥ ७१॥
३०—लज्जया स्वाङ्गलीनेव निःशब्दाखिलमण्डना। कृतावगुण्ठा स्निग्धैकसखीयुक्ता प्रियं व्रजेत्॥ ७२॥

में वह कनिष्ठा भी हो सकती हैं। इसलिये इन दोनों भेदों को गणना में नहीं लिया गया है। (यूथेश्वरी भेद प्रकरण में आलोचना द्रष्टव्य है) ॥६६॥ कन्या सर्वदा मुग्धा नायिका होती है (उसकी और दूसरी-दूसरी अवस्था नहीं होती, अतः कन्या एक भेद है) मुग्धा के स्वीया तथा परोढ़ा दो भेद हैं। मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा—इन तीनों के स्वीया तथा परोढ़ा दो-दो भेद होने से कुल छः भेद हो जाते हैं ॥६७॥ मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा—प्रत्येक के स्वीया और प्रौढ़ा भेद से छः प्रकार होते हैं। मध्या तथा प्रगल्भा के धीरादि के तीन भेदों से छः भेद होते हैं। कन्या, स्वीया, परोढ़ा एवं मुग्धा यह तीन प्रकार हैं—इस प्रकार नायिकाओं के कुल पन्द्रह प्रकार-भेद माने गये हैं ॥६८॥

रूप-कृपा तरंगिणी-टीका—कृष्ण प्रेयसीवृन्द के अर्थात् कन्या, स्वीया, प्रौढ़ा, मुग्धा, प्रगल्भा, धीरा ,अधीरा,धीराधीरा इत्यादिके अवस्था भेदसे कुल पन्द्रहभेद गिनाये गये हैं। जैसेकि ऊपर कह आए हैं, कन्या एक भेद है। स्वीया और प्रौढ़ा इन दोनोंके सात-सात भेद हैं। (१) मुग्धा,(२) धीर-प्रगल्भा, (३) अधीर प्रगल्भा, (४) धीराधीर प्रगल्भा, (५) धीर मध्या (६)अधीर मध्या,एवं (७) धीराधीरमध्या। इस प्रकार १+७+७=कुल १५ भेद कहे गये हैं ॥६६-६८॥

अनुवाद—ऊपर्युक्त पन्द्रह प्रकार की नायिकाओं में प्रत्येक की फिर आठ-आठ अवस्थाएं इस प्रकार मानी गयी गयी हैं—(१) अभिसारिका, (२) वासक सज्जा, (३) उत्कण्ठिता, (४) खण्डिता, (५) विप्रलब्धा, (६) कलहान्तरिता, (७) प्रोषित-प्रेयसी तथा (८) स्वाधीन भर्तृका ॥६९-७०॥

अनुवाद—(अभिसारिका-लक्षण एवं उदाहरण) जो नायिका कान्त को अभिसार कराती है या स्वयं अभिसार करती है, उसे 'अभिसारिका' कहते हैं (संकेत स्थान पर प्रियतम के साथ मिलने के लिये गोपन-भाव से जाने का नाम 'अभिसार' है) जो स्वयं अभिसार करती है, वह फिर अभिसार-गमनयोग्य वेश के अनुसार दो प्रकार की है—'ज्योत्स्नी' तथा 'तामसी'। (अर्थात् ज्योत्स्नामयी रजनी में ज्योत्स्ना की भांति शुभ्र वर्ण की वेश-भूषा धारण करने से उसे 'ज्योत्स्नी' कहा जाता है, और अन्धकारमयी रात्रि में काले वर्ण की वेश-भूषा धारण करने से उसे 'तामसी' कहा जाता है।) अभिसारिका नायिका लज्जा से मानो निजाङ्ग में ही निजको लीन कर लेती है। (कंकण-किंकिणी, नूपुरादि) समस्त भूषणों को शब्दहीन करके और घूँघट मार कर एकमात्र अपनी स्नेह परायण सखी को साथ लेकर प्रियतम के पास जाती है ॥७१-७२॥

अनुवाद—(अभिसारयित्री—जो कान्त को अभिसार कराती है—उसका उदाहरण)—किसी एक व्रजरमणी ने कृष्णमिलन-हित उत्कण्ठित होकर अपनी एक प्रिय सखी को श्रीकृष्ण के पास भेजते

अत्र अभिसारयित्री, यथा—

(४३) जानीते न हरिर्यथा मम मनःकंदर्पकण्डूमिमां
मां प्रीत्याभिसरत्ययं सखि ! यथा कृत्वा त्वयि प्रार्थनाम् ।
चातुर्यं तरसा प्रसारय तथा सस्नेहमासाद्य तं
यावत्प्राणहरो न चन्द्रहतकः प्राचीमुखं चुम्बति ॥ ७३ ॥

अथ ज्योत्स्न्यां स्वयमभिसारिका, यथा—

(४४) इन्दुस्तुन्दिलमण्डलेः प्रथयते वृन्दावने चन्द्रिकां
सान्द्रां सुन्दरि नन्दनो व्रजपतेस्त्वद्वीथिमुद्वीक्षते ।
त्वं चन्द्राञ्चितचन्दनेन खचिता क्षौमेण चालंकृता
किं वर्त्मन्यरविन्दचारुचरणद्वन्द्वं न संधित्ससि ? ॥ ७४ ॥

तामस्यां, यथा विदग्धमाधवे—(४।२२)

(४५) तिमिरमसिभिः संवीताङ्ग्यः कदम्बवनान्तरे सखि ! बकरिपुं पुण्याल्मानः सरन्त्यभिसारिकाः ।
तव तु परितो विद्युद्वर्णास्तनुद्युतिसूचयो हरि हरि घनध्वान्तान्येताः स्ववैरिणि ! भिन्दते ॥ ७५ ॥

अथ वासकसज्जा—

३१—स्ववासकवशात्कान्ते समेष्यति निजं वपुः । सज्जीकरोति गेहं च या सा वासकसज्जिका ॥ ७६ ॥

समय इस प्रकार समझाया-बुझाया—हे सखि ! तुम शीघ्र ही श्रीकृष्ण के पास जाओ । वह मेरे मनोगत कन्दर्पोद्वेग को न जान पायें और मेरे प्रति प्रीति वश जिससे अभिसार करें । प्रत्युत मेरे मिलाने के लिये वे तुम से प्रार्थना करें—ऐसी स्नेहपूर्ण चतुराई जाकर करो । सखि ! अभी तुम जाओ, देर मत करो । जब तक विरहिणी रमणियों का प्राणहर्ता हत भाग चन्द्र पूर्वदिशा का चुम्बन नहीं करता (जब तक चन्द्र उदित नहीं होता) उससे पहले ही तुम श्रीकृष्ण को अभिसार कराओ ।।७३।।

अनुवाद—(ज्योत्स्नामयी रात्रि में स्वयमाभिसारिका)—विशाखाजी ने श्रीराधाजी से कहा—सुन्दरि ! आज पूर्ण चन्द्र उदित होकर वृन्दावन में निबिड़ चाँदनी का विस्तार कर रहा हैं । व्रजेन्द्र-नन्दन भी उच्चस्थान पर आरोहण कर तुम्हारे आने की राह देख रहे हैं । अतएव तुम अपने अङ्गों में कर्पूरमिश्रित चन्दन लेप करके अति शुभ्र (सफेद) वस्त्र धारण करो । कमलों से भी कोमल सुचारु चरणों को तुम उधर क्यों नहीं बढ़ा रही हो ? ।।७४।।

अनुवाद—श्रीविदग्ध माधव नाटक में ललिताजी श्रीराधाजी को कहती हैं—हे सखि ! गोकुल-वासिनी गोपरमणीवृन्द कितनी पुण्यशालिनी हैं ? वे तिमिरमय नीलवस्त्रों द्वारा अपने अङ्गों को आच्छादित करके कदम्बवन में कंसारि श्रीकृष्ण के निकट अभिसार कर रही हैं, किन्तु हे स्ववैरिणि ! (तुम स्वयं अपनी शत्रु हो, क्योंकि) तुम्हारी विद्युतमयी अङ्गकान्ति रूप सूचिका (सुई) चारों ओर फैली गाढ़ अन्धकार राशि को भेदन कर रही है (अर्थात् तुमने नीलवसन तो धारण कर लिये हैं किन्तु तुम्हारी समुज्ज्वल अङ्गकान्ति उन वस्त्रों को भेद कर बाहर प्रसारित हो रही है ।।७५।।

अनुवाद—(वासकसज्जा)—अपने अनुकूल अवसर से प्रियतमकान्त आवेंगे—ऐसा सोचकर जो नायिका अपने शरीर को एवं घर को सुसज्जित करती है, उसे वासक-सज्जा या 'वासक-सज्जिका' कहते हैं । उसकी चेष्टाएं इस प्रकार प्रकाशित होती हैं—स्मर-क्रीड़ा का संकल्प, प्रियतम के आगमन

३२—चेष्टा चास्याः स्मरक्रीडा संकल्पो वर्त्मवीक्षणम् । सखीविनोदवार्ता च मुहुर्दूतीक्षणादयः ।। ७७ ।।

यथा—(४६)

रतिक्रीडाकुञ्जं कुसुमशयनीयोज्ज्वलरुचिं वपुः सालंकारं निजमपि विलोक्य स्मितमुखी ।
मुहुर्ध्यायं ध्यायं कमपि हरिणा संगमविधिं समृद्‌ध्यन्ती राधा मदनमदमाद्यन्मतिरभूत् ।। ७८ ।।

अथ उत्कण्ठिता—

३३—अनागसि प्रियतमे चिरयत्युत्सुका तु या । विरहोत्कण्ठिता भाववेदिभिः सा समीरिता ।। ७९ ।।

३४—अस्यास्तु चेष्टा हृत्तापो वेपथुर्हेतुतर्कणम् । अरतिर्बाष्पमोक्षश्च स्वावस्थाकथनादयः ।। ८० ।।

यथा—(४७) सखि किमभवद्‌बद्धो राधाकटाक्षगुणैरयं समरमथ वा किं प्रारब्धं सुरारिभिरुद्धरैः ।
अहह बहुलाष्टम्यां प्राचीमुखेऽप्युदिते विधौ विधुमुखि न यन्मां सस्मार व्रजेश्वरनन्दनः ।।८१ ।।

पथ को देखना, सखियों के साथ विनोद-आलाप तथा बार-बार वह दूती की राह देखती रहती है। (अथवा-'तुम अभी कुञ्ज में बैठो, मैं अभी शीघ्र आता हूँ'—नायक की इस प्रकार की इच्छा ही नायिका को कुञ्ज में वास कराती है—इसलिये उसे वासक-सज्जा कहते हैं) ।।७६-७७।।

अनुवाद—श्रीकृष्ण के आने की प्रतीक्षा कर रही हैं श्रीराधा जी कुञ्ज में बैठी हुई। वृन्दादेवी श्रीराधा-कृष्ण के मिलन-उपयोगी रूप में उस कुञ्ज को सजा रही हैं। सखीगण ने श्रीराधा जी को उनके मनानुकूल भाव से सजा दिया है। लीला-विशेषमय भावावेश में आनन्द-विह्वला श्रीराधाजी को दूर से देखकर श्रीरूपमञ्जरी अपनी किसी सखी से कहती है—हे सखि ! देख, रति-क्रीड़ा के उपयोगी कुञ्जभवन को पुष्पशय्या द्वारा उज्ज्वल कान्तिमय देखकर एवं अपने देह को भी विविध अलंकारों से सुसज्जित देखकर श्रीराधाजी मृदुमन्द मुसका रही हैं। श्रीकृष्ण के साथ किसी एक अनिर्वचनीय संगम-विधि का बार-बार ध्यान करते-करते उसे आनन्द तरंगों से समृद्ध करते हुए वह मदन मद में उन्मत्तमति हो रही हैं ।।७८।।

अनुवाद—(उत्कण्ठिता) निरपराध प्रियतम के बहुत देर तक न आने पर भी जो उसके आगमन के लिये उत्सुका रहती है, भाववेत्ता पण्डित जन उसे 'विरहोत्कण्ठिता' कहते हैं। उसकी चेष्टाएँ इस प्रकार होती हैं—हृदय में ताप, शरीर में कम्प, प्रियतम के न आने की चिन्ता, अस्वस्थता, अश्रुमोचन तथा अपनी अवस्था को वह वर्णन करती रहती है। (निरपराध शब्द का यहां तात्पर्य यह है कि यदि प्रियतम अपराधयुक्त होता है तो नायिका में मान उदित हो आता है, उत्कण्ठा नहीं। अतः निरपराध रहने पर वह उत्कण्ठिता ही रहती है) ।।७९-८०।।

अनुवाद—श्रीचन्द्रावली ने अपनी सखी पद्मा से कहा—यह क्या श्रीराधा की कटाक्ष-रज्जु से बँध गये हैं ? अथवा किन्हीं प्रचण्ड असुरों से इनका युद्ध आरम्भ हो गया है ?—(कुछ भी तो मैं निर्णय नहीं कर पा रही हूँ यहां श्रीकृष्ण के न आने के हेतु का विचार किया जा रहा है) आज कृष्णाष्टमी है, यह देख पूर्व दिशा में चन्द्र उदित हो आया है, तथापि, अहो ! व्रजेन्द्रनन्दन ने मुझे स्मरण नहीं किया है। (अर्द्ध रात्रि हो गयी है वे क्यों नहीं आये—यहां उत्कण्ठा सूचित हो रही है) ।।८१।।

अनुवाद—वासक-सज्जा की अवस्था के अन्त में, मान के हर जानें पर एवं पराधीनतावश नायक नायिका के न मिल सकने पर उत्कण्ठा पैदा हुआ करती है ।।८२।।

३५—वाससज्जादशाशेषे मानस्य विरतावपि। पारतन्त्र्ये यथा यूनोरुत्कण्ठा स्यादसंगमात् ॥ ८२॥

अथ खण्डिता—

३६—उल्लङ्घ्य समयं यस्याः प्रेयानन्योपभोगवान्। भोगलक्ष्माङ्कितः प्रातरागच्छेत्खण्डिता हि सा॥
एषा तु रोषनिःश्वासतूष्णींभावादिभाग्भवेत्॥ ८३॥

यथा—(४८)

यावैर्धूमलितं शिरो भुजतटीं ताटङ्कमुद्राङ्कितां संक्रान्तस्तनकुङ्कुमोज्ज्वलमुरोमालां परिम्लायिताम्।
घूर्णाकुड्मलिते दृशौ व्रजपतेर्दृष्ट्वा प्रगे श्यामला चित्ते रुद्रगुणं मुखे तु सुमुखी भेजे मुनीनां व्रतम् ८४॥

अथ विप्रलब्धा—

३७—कृत्वा संकेतमप्राप्ते दैवाज्जीवितवल्लभे। व्यथमानान्तरा प्रोक्ता विप्रलब्धा मनीषिभिः।
निर्वेदचिन्ताखेदाश्रुमूर्च्छानिःश्वसितादिभाक्॥ ८५॥

(४९) यथा—

विन्दति स्म दिवमिन्दुरिन्दिरानायकेन सखि वञ्चिता वयम्।
कुर्महे किमिह शाधि सादरं द्रागिति व्रजममगान्मृगेक्षणा॥ ८६॥

अनुवाद—(खण्डिता) पूर्वनिर्धारित समय का अतिक्रमण करके जिसका प्रियतम अन्य प्रेयसी का उपभोग करके अपने अङ्गों पर भोग चिह्नों को धारण करते हुए प्रातः काल उसके पास आकर उपस्थित होता है, उसे 'खण्डिता नायिका' कहते हैं। उसकी चेष्टाएं होती हैं—क्रोध, दीर्घनिश्वास तथा मौन आदि ॥८३॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण अन्य नायिका के साथ रात्रि बिताकर अङ्गों में भोग चिह्नों का धारण किये हुए प्रातः काल श्यामलाकी कुञ्ज में पहुँचे, उस समय उन्हें देखकर श्यामला की जो अवस्था हुई, उसका वर्णन उसकी एक सखी दूसरी सखी के प्रति करती है—हे सखि ! आज प्रातः काल श्रीकृष्ण का शिरोभाग महावर से नील-लोहित हो रहा था, उनके भुजामूल में कुण्डल के चिह्न थे, वक्षस्थल स्तनलिप्त कुंकुम से उज्ज्वल हो रहा था, पुष्पमाला कुचसी हुई सी थी, दोनों नेत्र विघूर्णित थे—यह देखकर सुमुखी श्यामला चित्त में तो क्रोध और मुख में मुनियों की भांति मौन धारण कर रह गयी ॥८४॥

अनुवाद—(विप्रलब्धा)—संकेत देखकर दैवयोग से यदि प्राणवल्लभ नहीं आते, तो जो नायिका अन्तःकरण में अत्यन्त दुखी होती है, मनीषिगण उसे 'विप्रलब्धा' कहते हैं, (उसकी चेष्टाएं ये होती हैं)—निर्वेद, चिन्ता, खेद, अश्रुवर्षण मूर्च्छा और निश्वासादि। (प्रलब्धा का अर्थ है वंचिता। विप्रलब्धा अर्थात् जो विशेषरूप से वंचिता हो, उसे विप्रलब्धा कहा जाता है) ॥८५॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण सकेत कुञ्ज में आवेंगे—दूती मुख से यह सुनकर श्रीराधाजी संकेत कुञ्ज आकर उनकी प्रतीक्षा कर रही हैं। उस दिन थी कृष्णाद्वादशी। रात के तीन प्रहर निकल जाने पर आकाश में चन्द्रमा निकल आया। तब तक भी श्रीकृष्ण न आये। यह देखकर श्रीराधा जी विशाखाजी से कहती हैं)—सखि ! चन्द्र आकाश में उदित हो आया है (किन्तु अब तक श्रीकृष्ण नहीं आये।) हम इन्दिरानायक—लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण द्वारा वंचित रह गयी हैं। अब इस अवस्था में मैं क्या करूं ? शीघ्र तुम मुझे सादर वह शिक्षा दो—इतना कहकर ही मृगनयनी श्रीराधाजी मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं ॥८६॥

अथ कलहान्तरिता—

३८—या सखीनां पुरः पादपतितं वल्लभं रुषा । निरस्य पश्चात्तपति कलहान्तरिता हि सा ॥
अस्याःप्रलापसंतापग्लानिनिःश्वसितादयः ॥ ८७ ॥

(५०) यथा—

स्रजः क्षिप्ता दूरे स्वयमुपहृताः केशिरिपुणा प्रिया वाचस्तस्य श्रुतिपरिसरान्तेऽपि न कृताः ।
नमन्नेष क्षोणीविलुठितशिखं प्रेक्षि न मया मनस्तेनेदं मे स्फुटति पुटपाकार्पितमिव ॥ ८८ ॥

अथ प्रोषितभर्तृका—

३९—दूरदेशं गते कान्ते भवेत्प्रोषितभर्तृका । प्रियसंकीर्तनं दैन्यमस्यास्तानवजागरौ ।
मालिन्यमनवस्थानं जाड्यचिन्तादयो मताः ॥ ८९ ॥

(५१) यथा—

विलासी स्वच्छन्दं वसति मथुरायां मधुरिपुर्वसन्तः संतापं प्रथयति समन्तादनुपदम् ।
दुराशेयं वैरिण्यहह मदभीष्टोद्यमविधि विधत्ते प्रत्यूहं किमिह भवता हन्त शरणम् ॥ ९० ॥

अनुवाद—(कलहान्तरिता) जो नायिका सखियों के सामने चरणों में पड़े प्रियतम को क्रोध में भरकर तर्जना कर भगा देती है, और फिर अनुताप करती है, उसे 'कलहान्तरिता' कहते हैं। उसकी चेष्टाएं होती हैं—प्रलाप, सन्ताप, ग्लानि एवं दीर्घनिश्वासादि। कलह अर्थात् विवाद। अन्तर अर्थात् भेद या निरोध। कलह द्वारा भेद पैदा हुआ है जिसमें—उसे कलहान्तरिता कहा गया है। श्रीचक्रवर्ती कहते हैं—त्यक्तकलहा अर्थात् पहले कलह था, अब नहीं है, किन्तु अब पहले वाले कलह के लिये जो अनुताप करती है, इस अवस्था को प्राप्त नायिका को कलहान्तरिता जानना चाहिये ॥८७॥

अनुवाद—(श्रीराधा जी अपनी सखियों के प्रति कह रही हैं—हे सखियो ! मेरा कैसा दुर्भाग्य ! देखो तो)—श्रीकृष्ण ने स्वयं आकर जिस माला को मुझे उपहाररूप में दिया था, (अवज्ञापूर्वक) मैंने उसे दूर फेंक दिया है। उनके मधुर वचनों के प्रति मैंने कान तक नहीं दिये। उन्होंने अपने मस्तक को पृथ्वी पर रखकर जब मेरे चरणों में प्रणाम किया, तब मैंने उनके प्रति आँख उठाकर भी नहीं देखा। हाय ! हाय !! इस समय उन समस्त कारणों से मेरा मन पुटपाक (कुठाली) में तपाये गये द्रवीभूत धातु या सोने की भांति सन्तप्त हो रहा है ॥८८॥

अनुवाद—(प्रोषित-भर्तृका)—जिस नायिका का कान्त दूर देश चला गया हो, उसे 'प्रोषित-भर्तृका' कहते हैं। उसकी चेष्टाएँ होती हैं—प्रिय-संकीर्तन, दैन्य, कृशता, जागरण, मालिन्य, अनव-स्थान अर्थात् सब पदार्थों में चित्त की अनासक्ति, जड़ता, तथा चिन्तादि। (प्रोषित अर्थात् परदेशगत, जिसका प्रियतम दूर देश या परदेश में चला गया है, वह नायिका) ॥८९॥

अनुवाद—(ललिता के प्रति श्रीराधाजी के विषादयुक्त वचन)—विलास-परायण श्रीकृष्ण तो स्वच्छन्द होकर मथुरा में वास कर रहे हैं, बसन्त प्रतिपद पर सर्व प्रकार से हमारे सन्ताप को बढ़ा रहा है। हाय ! मृत्यु ही मेरा अभीष्ट होते हुए भी मरण के उद्यम करने पर (श्रीकृष्ण निश्चय आवेंगे) ऐसी दुराशा मेरी वैरिण होकर विघ्न पैदा कर रही है। हाय ! हाय !! इस अवस्था में मैं किस का आश्रय ग्रहण करूँ ? कौन मेरी रक्षा करेगा ? ॥९०॥

अथ स्वाधीनभर्तृका—

४०—स्वायत्तसन्नदयिता भवेत्स्वाधीनभर्तृका सलिलारण्यविक्रीडाकुसुमावचयादिकृत् ॥ ६१ ॥

(५२) यथा—

मुदा कुर्वन्पत्राङ्कुरमनुपमं पीतकुचयोः श्रुतिद्वन्द्वे गन्धाहृतमधुपमिन्दीवरयुगम् ।
सखेलं धम्मिल्लोपरि च कमलं कोमलमसौ निराबाधां राधां रमयति चिरं केशिदमनः ॥ ६२ ॥

यथा वा श्रीगीतगोविन्दे—

(५३) रचय कुचयोः पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयोर्घटय जघने काञ्चीमञ्च स्रजा कबरीभरम् ।
कुवलयदलश्रेणीं पाणौ पदे कुरु नूपुराविति निगदितः प्रीतः पीताम्बरोऽपि तथाकरोत् ॥ ६३ ॥

४१—चेदियं प्रेयसा हातुं क्षणमप्यतिदुःशका । परमप्रेमवश्यत्वान्माधवीति तदोच्यते ॥ ६४ ॥

४२—हृष्टाः स्वाधीनपतिकावाससज्जाभिसारिकाः । मण्डिताश्च पराः पञ्च खिन्ना मण्डनवर्जिताः ।
वामगण्डाश्रितकराश्चिन्तासंतप्तमानसाः ॥ ६५ ॥

४३—उत्तमा मध्यमा चात्र कनिष्ठा चेति तास्त्रिधा । व्रजेन्द्रनन्दने प्रेमतारतम्येन कीर्तिताः ॥ ६६ ॥

अनुवाद—(स्वाधीनभर्तृका)—कान्त जिस नायिका के अधीन होकर सदा उसके पास रहता हैं, उसे 'स्वाधीन भर्तृका' कहते हैं। उसकी चेष्टाएं होती हैं—जलकेलि, वन विहार तथा कुसुम-चयनादि ॥६१॥

अनुवाद—(पौर्णमासी के प्रति वृन्दा के वचन) श्रीकृष्ण ने श्रीराधा के उन्नत उरोजद्वय पर आनन्दपूर्वक अनुपम पत्रावली रचना की। दोनों कानों में नीलकमल धारण कराये जिनकी सुगंध पर भ्रमरगण आकृष्ट हो उठे, कौतुकपूर्वक श्रीराधा की वेणी पर कोमल कमल सजाते हुए स्वच्छन्द भाव से श्रीकृष्ण ने उनके साथ वहुत समयतक रमण किया ॥६२॥

अनुवाद—श्रीगीतगोविन्द में कहा गया है—श्रीराधा जी ने श्रीकृष्ण से कहा—आप मेरे वक्षस्थल पर कस्तूरी द्वारा पत्रावली रचना करो। कपोलों पर चन्दन-लेप से चित्र रचना करो, कमर में मेखला धारण करा दो, पुष्पमाला से मेरी वेणी को सुसज्जित करो, मेरे हाथों में वलय (कंकण) पहना दो एवं मेरे चरणों में नूपुर धारण करा दो। श्रीराधाजी के इस प्रकार आदेश को पाकर पीताम्बर श्रीकृष्ण ने भी वैसे ही उन्हें विभूषित किया ॥६३॥

अनुवाद—(माधवी नायिका) परम प्रेमके वशीभूत होकर यदि स्वाधीन भर्तृकाको उसके प्रियतम (श्रीकृष्ण) उसे क्षणकाल के लिये भी त्याग करने को समर्थ न हों, तो उस स्वाधीन भर्तृका को 'माधवी' कहते हैं ॥६४॥

पूर्वोल्लिखित आठ प्रकार की नायिकाओं में स्वाधीन-भर्तृका, वासक-सज्जिका, तथा अभिसा-रिका—ये तीनों नायिकाएं प्रसन्नचित्त तथा भूषणों से मण्डित रहती हैं। शेष की विप्रलब्धा, खण्डिता, उत्कण्ठिता, कलहान्तरिता और प्रोषित भर्तृका नायिकाएं खेद पूर्ण एवं मण्डनरहित (भूषणों रहित) होती हैं। वे बायें कपोल पर हाथ रखें हुए चिन्ता में सन्तप्त चित्त रहती हैं ॥६५॥

अनुवाद—व्रजेन्द्रनन्दन में प्रेम के तारतम्य अनुसार उपर्युक्त नायिकाएं फिर तीन प्रकार की हैं—उत्तमा, मध्यमा तथा कनिष्ठा। इन तीनों में श्रीकृष्ण के प्रति जिसका जितना प्रेम रहता है,

४४—भाव: स्यादुत्तमादीनां यस्या यावान्प्रिये हरौ। तस्यापि तस्यां तावान्स्यादिति सर्वत्र युज्यते ॥९७॥

तत्र उत्तमा, यथा—

(५४) कर्तुं शर्म क्षणिकमपि मे साध्यमुज्झत्यशेषं चित्तोत्सङ्गे न भजति मया दत्तखेदाप्यसूयाम्।
श्रुत्वा चान्तर्विदलति मृषाप्यार्तिवार्तालवं मे राधा मूर्धन्यखिलसुदृशां राजते सद्गुणेन ॥ ९८ ॥

मध्यमा, यथा—

(५५) दुर्मानमेव मनसा बहु मानयन्ती किं ज्ञातकृष्णहृदयार्तिरपि प्रयासि।
रङ्गे तरङ्गदखिलाङ्गि वराङ्गनानां नासौ प्रिये सखि भवत्यनुरागमुद्रा ॥ ९९ ॥

कनिष्ठा, यथा—(५६) दनुजभिदभिसारप्रस्तुतौ वृष्टिमुग्रां जनगमनविरामादुच्चकैः स्तौषि तुष्टा।
कथय कथमिदानीं जृम्भिते मेघडिम्भे कुतुकिनि ! बत कुञ्जप्रस्थितौ मन्थरासि ॥ १०० ॥

उस नायिका के प्रति श्रीकृष्ण का भी उतने परिमाण में प्रेम रहता है। (यह तीन प्रकार का भेद प्रेम के स्वरूप-विचार को लेकर माना गया है। परस्पर नायिकाओं के आपेक्षिक भेद को यहां लक्ष्य नहीं किया गया है) ॥९६-९७॥

अनुवाद—(उत्तमा का उदाहरण—सुबल के प्रति श्रीकृष्ण ने कहा—हे सखे !) मेरे क्षणिक सुख के लिये भी श्रीराधा अपना समस्त कार्य त्याग कर देती है, मैं उसके लिये खेद भी यदि उत्पादन करता हूँ तो भी वह अपने मन में मेरे प्रति असूया नहीं मानती। (मुझे कुछ दुख न होने पर भी) कोई यदि मेरे थोड़े से दुख की झूंठी बात कह दे, तो उसे सुनते ही उसका अन्तःकरण विदलित हो उठता है। अहो ! सद्गुणों में श्रीराधा समस्त व्रजसुन्दरियों की मुकुटमणि होकर विराजती है। (यहां श्रीराधा के श्रीकृष्णविषयक प्रेम का सर्वोत्कर्ष प्रदर्शित किया गया है—इसलिये श्रीराधाजी को 'उत्तमा' कहा गया है और फिर उत्तमा नायिकाओं में भी सर्वश्रेष्ठा कहा गया है) ॥९८॥

अनुवाद—(मध्यमा का उदाहरण)—रंगा नाम की व्रजसुन्दरी के साथ श्रीकृष्ण कुञ्जमें विराजमान थे, अचानक श्रीकृष्ण के मुख से किसी दूसरी नायिका का नाम निकल पड़ा। उसे सुनकर ईर्ष्या-वश रंगा कुञ्ज से बाहर जाने लगी। यह देखकर उसकी एक सखी ने कहा) —हे रंगे ! परम दुखप्रद मान को ही तुमने मन में परम साध्य मान रखा है, श्रीकृष्ण के हृदय की आर्ति जान करके भी तुम कुञ्ज से बाहर चली जा रही हो। रोष में भरकर तुम्हारे सब अंग तरंग की तरह काँप रहे हैं। हे प्रिय सखि ! यह तो वरांगनाओं के अनुराग के लक्षण नहीं हैं (यहां श्रीकृष्ण के दुख को जान लेने पर भी उसका चित्त नहीं पिघल रहा है—इसलिये उसकी मध्यमा में गिनती की गयी है) ॥९९॥

अनुवाद—(कनिष्ठा का उदाहरण) कोई व्रजगोपी श्रीकृष्ण के पास अभिसार करने की इच्छुक थी, वह शीघ्र ही चली जाये—इस उद्देश्य से वृन्दा ने उसे कहा—हे सखि ! श्रीकृष्ण के निकट अभि-सार के लिये तैयार होने पर यदि अतिशय वर्षा आ जाये तो उस समय प्रबल वर्षा में कोई भी व्यक्ति बाहर नहीं निकलेगा—यही सोच कर तू उस प्रबल वर्षा की सन्तुष्ट चित्त होकर स्तुति करेगी। किन्तु हे कुतुकिनी ! बोल तो, अब मेघों की समान्य घटा को छाया देखकर भी तू कुञ्ज में जाने में क्यों शिथिल हो रही है ?—देर क्यों कर रही ?। (यहां वह नायिका प्रबल वृष्टि की सम्भावना में शिथिला हो रही थी। वर्षा के बाद ही चली जाऊंगी—ऐसा सोच रही है—यह विचार उसके प्रेम में कनिष्ठता को सूचित कर रहा है—अतः 'कनिष्ठा' कही गयी है) ॥१००॥

४५—पूर्वं याः पञ्चदशधा प्रोक्तास्तासां शतं तथा। विंशतिश्चाभिरत्र स्यादवस्थाभिः किलाष्टभिः १०१
४६—पुनश्च त्रिविधैरेभिः प्रभेदैरुत्तमादिभिः। त्रिशती स्पष्टमुक्तात्र षष्टचा युक्ता मनीषिभिः॥ १०२॥
किंच ४७—
यथा स्युर्नायिकावस्था निखिला एव माधवे। तथैव नायिकावस्था राधायां प्रायशो मताः॥ १०३॥

॥ इति नायिकाभेद-प्रकरणम्॥

अथ श्रीयूथेश्वरीभेद-प्रकरणम्

१—एतासां यूथमुख्यानां विशेषो वर्णितोऽप्यसौ। सुहृदादौ व्यवहृतिव्यक्तये वर्ण्यते पुनः॥ १॥
२—सौभाग्यादेरिहाधिक्यादधिका साम्यतः समा। लघुत्वाल्लघुरित्युक्तास्त्रिधा गोकुलसुभ्रुवः॥ २॥
३—प्रत्येकं प्रखरा मध्या मृद्वी चेति पुनस्त्रिधा॥ ३॥

अनुवाद—नायिकाओं के पंद्रह प्रकार पहले कहे जा चुके हैं। फिर उनमें प्रत्येक के अभिसारिका, वासकसज्जादि आठ प्रकार के भेद हैं, इस प्रकार (१५×८)कुल एक सौ बीस प्रकार होते हैं। फिर एक सौ बीस में प्रत्येक प्रकार में उत्तमा, मध्यमा तथा कनिष्ठा—इस प्रकार के भेदों से (१२०×३) कुल तीन सौ साठ प्रकार की नायिकाएं निर्धारित होती हैं-—ऐसा मनीषियों ने कहा है ॥१०१-१०२॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण में जैसे नायक की समस्त अवस्थाएं विद्यमान हैं, उसी प्रकार श्रीराधिकाजी में प्रायशः नायिकाओं की समस्त अवस्थाएं अवस्थित हैं। (श्रीचक्रवर्तीपाद ने कहा है—श्रीकृष्ण में अनुकूलत्व एवं शठत्वादि समस्त नायक-अवस्थाएं सर्वथा सम्भव हैं, किन्तु श्रीराधाजी में धीर-प्रगल्भत्वादि अवस्थाएं उस प्रकार सर्वदा हर प्रकार से नहीं रहती हैं। अतः प्रायशः-शब्द का उल्लेख किया गया है) ॥१०३॥

श्रीयूथेश्वरी-भेद प्रकरण

अनुवाद—नायिका-भेद प्रकरण में यूथेश्वरियों के विशेषत्व का वर्णन कर आये हैं, अर्थात् उनके स्वभावादि भेद से एक-दूसरे से असाधारणता वर्णन की जा चुकी है। अब यहां उनके सुहृदादि व्यवहार (अर्थात् सुहृत्, तटस्थ, विपक्ष, स्वपक्षादि भेद) अभिव्यक्त करने के लिये पुनः उनका विशेषत्व वर्णन करते हैं) ॥१॥

अनुवाद—गोकुल की सुन्दरी यूथेश्वरियों के तीन भेद हैं—अधिका, समा और लघ्वी। सौभाग्यादि की अधिकता से 'अधिका', समता से 'समा' और लघुत्व के कारण 'लघ्वी' कही गयी हैं। इन तीनों में प्रत्येक के फिर तीन भेद हैं—प्रखरा, मध्या और मृद्वी। जो प्रगलभ वाक्य प्रयोग करने वाली है—(सदम्भ वचन वोलती है) जिसके वाक्य एवं चेष्टादिक को और कोई खण्डन नहीं कर सकता, उसे 'प्रखरा' कहते हैं। जिसमें और सब सद्गुण हैं किन्तु प्रगलभ-वाक्यों का अभाव है, उसे मृद्वी कहते हैं।—इन दोनों की मध्यवर्ती को 'मध्या' कहते हैं अर्थात् अन्य सद्गुणों के साथ प्राखर्य तथा मृदुता दोनों जिसमें वर्तमान रहते हैं, उसे मध्या कहा जाता है ॥२-४॥

४—प्रगल्भवाक्याप्रखरा ख्याता दुर्लङ्घ्यभाषिता। तदूनत्वे भवेन्मृद्वी मध्या तत्साम्यमागता ॥ ४ ॥

तत्र अधिकात्रिकम्—५—आत्यन्तिकी तथैवापेक्षिकी चेत्यधिका द्विधा ॥ ५ ॥

तत्र आत्यन्तिक्यधिका—

६—सर्वथैवासमोर्ध्वा या साम्यादात्यन्तिकाधिका। सा राधा सा तु मध्यैव यन्नान्या सदृशी व्रजे ॥ ६ ॥

यथा—(१) तावद्भद्रा वदति चटुलं फुल्लतामेति पाली शालीनत्वं त्यजति विमला श्यामलाहंकरोति।
स्वैरं चन्द्रावलिरपि चलत्युन्नमय्योत्तमाङ्गं यावत्कर्णे न हि निविशते हन्त राधेति मन्त्रः ७ ॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—गोकुल यूथेश्वरियों के तो अधिका, समा, लघ्वी तीन भेद हैं। फिर प्रत्येक के प्रखरा, मध्या और मृद्वी तीन भेद हैं—अधिक प्रखरा, अधिक-मध्या तथा अधिक मृद्वी, सम-प्रखरा, सममध्या तथा सममृद्वी, और लघुप्रखरा, लघुसमा एवं लघुमृद्वी—इस प्रकार यूथेश्वरियों के कुल नौ भेद होते हैं। अब उनके उदाहरण वर्णन करते हैं—॥२-४॥

अनुवाद—अधिका-यूथेश्वरी फिर दो प्रकारकी हैं—आत्यन्तिकी-अधिका एवं आपेक्षिकी अधिका। (अधिका के तीनों प्रकार फिर आत्यन्तिकी और आपेक्षिकी भेदों से छः प्रकार की वे हो सकती हैं) ॥५॥

अनुवाद—(आत्यन्तिकी-अधिका) जो सर्वतोभाव से असमोर्ध्वा है—जिसके समान कोई नहीं, अधिक भी नहीं उसे 'आत्यन्तिकी-अधिका' कहते हैं। श्रीराधा जी ही आत्यन्तिकी-अधिका हैं (मुग्धादि भेद से तथा प्रखरादि भेद से भी वह अधिका हैं) श्रीराधाजी किन्तु मध्या ही हैं, क्योंकि ब्रजमें उनके सदृश और कोई भी नायिका नहीं है। वह अपने सदृश आप ही हैं ॥६॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रीराधाजी के प्रेम का नाम है मादन। मादन-प्रेम का सर्वोच्चतम स्तर है। यह श्रीराधाजी में ही सर्वदा विराजमान रहता है, अन्य किसी व्रजसुन्दरी में मादन नहीं रहता इसलिये प्रेम के विचार में श्रीराधा के समान कोई नहीं अधिक की तो बात दूर रही। मादन का पूर्व-वर्ती मोहन-महाभाव भी एक मात्र श्रीराधाजी में विद्यमान रहता है। अतः श्रीराधा को द्वितीय स्थानीया भी और कोई नहीं।

पहले कहा जा चुका है—स्वभाव-वैचित्री भेद से नायिका तीन प्रकार की हैं—मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा। अधिका नायिका भी त्रिविधा हैं—प्रखरा, मध्या तथा मृद्वी—इन त्रिविध नायिकाओं में श्रीराधाजी मध्या नायिका हैं। मध्यात्व ही अतिशय रस-विधायक होता है। श्रीराधा जी सर्वातिशायी-रूप से रसातिशय की विधायिकी हैं। इसलिये उन्हें ही सर्वतोभाव से मध्या नायिका कहा गया है ॥६॥

अनुवाद—(आत्यन्तिकी-अधिका)—किसी समय व्रजसुन्दरीवृन्द एकत्रित होकर अपने-अपने यूथ का सौभाग्य वर्णन कर रही थीं। तब श्रीराधाजी की सखी श्यामला ने कहा—हे ब्रजसुन्दरियो! सुनो, मैं सत्य कहती हूँ—जब तक 'राधा' यह दो-अक्षरात्मक मन्त्र कानों में प्रवेश नहीं करता, तब तक ही भद्रा मनोहारी वाक्य बोल सकती है, पाली भी प्रफुल्लता धारण कर सकती है, विमला भी शालीनता त्याग नहीं कर सकती अर्थात् धृष्टता प्रदर्शन नहीं कर सकती, और मुझ श्यामला का अहंकार भी तब तक बना रहता है, अधिक क्या कहूँ, चन्द्रावली भी तब तक अपना मस्तक ऊंचा उठाये रख सकती है, एवं स्वच्छन्दता पूर्वक गमन कर सकती है, (किन्तु राधा-नाम मन्त्र उपस्थित होते ही सब का मस्तक नीचा हो जाता है) ॥७॥

अथ आपेक्षिकाधिका—
७—मध्ये यूथाधिनाथानामपेक्ष्यैकतमामिह । या स्यादन्यतमा श्रेष्ठा सा प्रोक्तापेक्षिकाधिका ॥ ८ ॥

तत्र अधिकप्रवरा, यथा—
(२) पश्य क्षोणिधरादुपैति पुरतः कृष्णो भुजङ्गाग्रणीस्तूर्णं भीरुभिरालिभिः सममितस्त्वं याहि मन्त्रोज्झिते आचार्याहमटामि भोगिरमणीवृन्दस्य वृन्दाटवीं किं नः कामिनि कार्मणेन वशतां नीतः करिष्यत्यसौ ॥ ९ ॥

अथ अधिकमध्या—
(३) आलीभिर्मे त्वमसि विदिता पूर्णिमायाः प्रदोषे रोषेणासौ प्रथयसि कथं पाटवेनावहित्थाम् ।
धृत्वा धूर्ते सहपरिजनां मद्गृहे त्वां निरुन्ध्यां वर्त्मप्रेक्षी गुणयतु स ते जागरं कुञ्जराजः ॥ १० ॥

अनुवाद—(आपेक्षिकी-अधिका)—यूथेश्वरियों के बीच एक की अपेक्षा जो दूसरी-श्रेष्ठा होती हैं, उसे 'आपेक्षिकी-अधिका' कहते हैं ॥८॥

अनुवाद—(अधिक प्रखरा का उदाहरण)—एक समय दो यूथेश्वरियां एक साथ ही पुष्पचयन के छल से अपनी-अपनी सखियों के साथ वृन्दावन आ रही थीं। अचानक उन्होंने देखाकि श्रीकृष्ण गोवर्धन गिरि से नीचे उतरकर आ रहे हैं। उन्हें देखकर एक कुछ भयग्रस्त हो उठी। तब दूसरी यूथेश्वरी ने उसे कहा—हे सखि ! यह देख सब सर्पों में अग्रणी कृष्णसर्प पर्वत से सामने नीचे उतर कर आ रहा है। तू तो सर्पवशीकरण मन्त्र को नहीं जानती हो। इसलिये तुम अपनी डरपोक सखियों को लेकर अतिशीघ्र भाग जाओ। (यदि तू कहे कि तुम भी चलो, तुम यहां रहकर कृष्णसर्प द्वारा क्यों ग्रस्त होती हो ? तो सुनो—)मैं सर्प-रमणियों की आचार्या होकर वृन्दावनमें विचरण किया करती हूँ। हे कामिनी ! मेरे द्वारा वशीकरणी औषधि के प्रयोग करने से यह कृष्णसर्प वशीभूत होकर मेरा क्या बिगाड़ सकता है ? ॥९॥—[जिस यूथेश्वरी ने उपर्युक्त वचन कहे हैं कि मैं श्रीकृष्ण को वशीभूत कर लूंगी—उसके सौभाग्यों की अधिकता सूचित हो रही है तथा उसका श्रेष्ठत्व भी। उसके इन प्रगल्भ वचनों से उसकी प्रखरता भी स्पष्ट दीख रही है। अतः यह यूथेश्वरी अधिक-प्रखरा है।]

अनुवाद—(अधिक-मध्या का उदाहरण) एक बार श्रीकृष्ण से मिलने के लिये कोई एक यूथेश्वरी पूर्णिमा के सायंकाल में अभिसार पूर्वक वृन्दावन में उपस्थित हुई। वहां उसने दूर से श्रीकृष्ण का दर्शन भी किया। किन्तु ठीक उसी समय उसने देखाकि और एक यूथेश्वरी भी अपनी सखियों के साथ अभिसार कर उसी स्थान पर आयी है। पहली यूथेश्वरी को देखकर दूसरी यूथेश्वरी संकुचित हो उठी और अपने को छिपाने की चेष्टा करने लगी। तब उसे घर वापस लौटाने के उद्देश्य से पहली यूथेश्वरी ने कहा—अरी सखि ! मैंने तुमको पहचान लिया है। तुम्हारी सखियों को भी। फिर तू चालाकी से अपने छिपाने की चेष्टा क्यों कर रही हैं ? (फिर परिहास करते हुए बोली)—अरी धूर्त्ते ! आज मैं रोषपूर्वक तुम्हें और तुम्हारी सखियों को पकड़ ले जाकर पूर्णिमा-रात्रि में अपने घर में बन्द करके रखूंगी। कुञ्ज का राजा श्रीकृष्ण आज तुम्हारी बाट जोहते हुए जागरण का ही अभ्यास करें ॥१०॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—पहली यूथेश्वरी ने जो यह कहा कि तुम्हें और तुम्हारी सखियों को मैं पकड़ लेजाकर अपने घर में बन्द कर दूंगी—ऐसा करना तो असम्भव था, इसलिये यह वचन केवल परिहास मात्र थे। यहां दूसरी यूथेश्वरी जो है वह अधिक-मध्या है उसमें अधिकात्व तथा

अथ अधिकमृद्वी—
(४) न्यञ्चन्मूर्ध्ना सह परिजनैर्दूरतो मा प्रयासीर्मामालोक्य प्रियसखि यतः प्रेमपात्रो ममासि ।
माला मौलौ तव परिचिता मत्कलाकौशलाढ्या द्यूते जित्वा दनुजदमनं या त्वया स्वीकृतास्ति ११ ॥
अथ समात्रिकम्—द—साम्यं भवेदधिकयोस्तथा लघुयुगस्य च ॥ १२ ॥
तत्र समप्रखरा—
(५) न भवति तव पार्श्वे चेत्सखी कापि ना भूत्परिहर हृदि कम्पं किं हरिस्ते विधाता ।
अहमतिचतुराभिर्वेष्टितालीघटाभिः प्रियसखि पुरतस्ते दुस्तरा बाहुदास्मि ॥ १३ ॥

मध्यात्व दोनों विद्यमान हैं। 'श्रीकृष्ण तुम्हारी बाट जोहकर रात को जागरण का अभ्यास करें इन वचनों से उसका अधिकात्व सूचित हो रहा है। संकोचवश पटतापूर्वक आत्म गोपन की चेष्टा करना उसमें प्रखरता के एवं मृदुत्व के अभाव को भी सूचित कर रहा है। अतः यह अधिक मध्या है। किन्तु प्रथमा यूथेश्वरी के वाक्य ही उसमें प्रखरता और मध्यात्व के भाव को स्पष्ट बता रहे हैं—वह अधिक-मध्या नहीं है।

अनुवाद—(अधिकमृद्वी का उदाहरण)—श्रीकृष्ण के साथ मिलन के बाद कोई एक यूथेश्वरी श्री-कृष्णद्वारा दी हुई माला को मस्तक पर धारण करके घर को जा रही थी। रास्ते में दूसरी एक यूथेश्वरी को आता देखकर वह संकुचित हो उठी और अपने मस्तक को झुकाकर माला छिपाने लगी। तब रास्ते में मिलने वाली यूथेश्वरी बोली—'हे प्रिय सखि ! दूर से मुझे देखकर तुम अपने मस्तक को झुकाकर अपनी सखियों के साथ भागने की चेष्टा क्यों कर रही हो ? तुम तो मेरी भी प्रियसखी हो। तुमने अपने मस्तक पर जो माला धारण कर रखी है, उसे मैंने ही अपनें कला-कौशल से गूँथा है। मैंने ही यह श्रीकृष्ण को दी थी। द्यूतक्रीड़ा में श्रीकृष्णको पराजित करके तुमने श्रीकृष्णसे उसे प्राप्त किया है ॥११॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—मैं ने ही अपने कला-कौशल से बनाकर श्रीकृष्ण को दी थी—यह बात जो रास्ते में मिलने वाली यूथेश्वरी कह रही है—मिथ्या और ईर्ष्यावश कह रही है। वास्तव में श्री-कृष्ण ने उसे स्वयं आदर पूर्वक प्रथम यूथेश्वरी को दिया था। यही प्रथम यूथेश्वरी ही अधिक मृद्वी है। श्रीकृष्ण ने उसे माला दी, अतः वह सौभाग्य में अधिका भी है—उसमें जो संकोच की विद्यमानता है—वह उसके मृदुत्व को प्रकाशित कर रही है।

अनुवाद—[समात्रिक-अर्थात् तीन प्रकार की समता]—(पहले दो प्रकार की अधिकाओं की बात कही गयी है—आत्यन्तिकी-अधिका तथा आपेक्षिकी अधिका। परवर्ती प्रसंग में लघु यूथेश्वरियों के प्रकार भेद कहे जायेंगे। वे भी आत्यन्तिकी लघु और आपेक्षिकी लघु—दो प्रकार की हैं।)—दो अधिका तथा दो लघुओं में परस्पर तीन प्रकार से समता है ॥१२॥

अनुवाद—[समप्रखरा का उदाहरण]—(किसी दिन एक ही समय दो यूथेश्वरियां वृन्दावन के किसी पुष्पउद्यान में कुसुम चयन कर रही थीं। दूर से यह देखकर श्रीकृष्ण ने आवाज दी—'कौन है रे मेरे उद्यान में कुसुम चयन करने वाले'—ऐसा कहते हुए श्रीकृष्ण उद्यान की ओर भाग कर आने लगे। यह देखकर उनमें से एक यूथेश्वरी भय-भीत हो उठी। उसके भय-संकोच को देखकर दूसरी यूथेश्वरी उसके प्रति बोली—हे सखि ! यद्यपि तुम्हारे साथ कोई भी सखी नहीं है, न हो, भय कैसा ? तुम दिल की धड़क बन्द करो। हरि तुम्हारा क्या कर सकता है ? हे प्रिय सखि ! मैं अपनी अति

अथ सममध्या—

(६) लोले न स्पृश मां तवालिकतटे धातुर्यदालक्ष्यते त्वं स्पृश्यासि कथं भुजङ्गरमणी दूरादतस्त्यज्यते ।
धिग्वामं वदसि त्वमेव कुहकप्रेष्ठासि भोगाङ्किते येनाद्य च्युतकञ्चुकाः शुषिरतः सख्योऽपि सर्पन्ति ते १४

चतुर सखियों द्वारा वलशाली दोनों भुजाओं को पसार कर तुम्हारे अग्रभाग में आकर तुम्हारी रक्षा करूंगी। हमारे घेरे को तोड़कर श्रीहरि का तुम्हारे निकट पहुँचना अति कठिन होगा ।।१३।।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—यहां दोनों यूथेश्वरियां ही श्रीकृष्ण के स्पष्ट लक्ष्यका विषय हैं । अत: इस विषय में दोनों की समता है। श्रीकृष्ण का समान लक्ष्य होने से दोनों की सौभाग्य के दृष्टिकोण से भी समता है। किन्तु 'मैं तुम्हारी रक्षा करुंगी—इत्यादि वचन कहने वाली यूथेश्वरी की प्रगल्भता-(प्रखरता) सूचित हो रही है। इसलिये ऐसा कहने वाली यूथेश्वरी—है 'समप्रखरा'। दोनों यूथेश्वरियों के समान सौभाग्य या अधिकात्व के समान होते हुए भी रक्षा करने का आश्वासन देने वाली यूथेश्वरी की प्रखरता स्पष्ट है।

अनुवाद—[सम-मध्या का उदाहरण]—एकबार कोई एक यूथेश्वरी श्रीकृष्ण के साथ मिलित होने के बाद अपने घर को लौट रही थी। उसके अंगों पर विलास के चिह्न दीख रहे थे। रास्ते में एक दूसरी यूथेश्वरी उसे मिल गयी। तब दोनों में जो नर्मालाप हुआ, वह इस श्लोक में वर्णित हुआ है। द्वितीय यूथेश्वरी ने कहा)—अयि चञ्चले ! तुम मुझे स्पर्श मत करना, क्योंकि तुम्हारे ललाट पर चन्दन-लेप दीख रहा है अर्थात् श्रीकृष्ण द्वारा सम्भुक्ता होकर तुम अपवित्र हो रही हो। तब प्रथम यूथेश्वरी ने कहा—हां, हां, तुम भला उस श्रीकृष्ण द्वारा कैसे स्पृश्य हो सकती हो ? तुम तो भुजंगरमणी हो (अर्थात् तुम तो श्रीकृष्ण के साथ निरन्तर रमण करने वाली हो—तुम स्वयं श्रीकृष्ण को अपने साथ रमण कराने वाली हो। मैं किन्तु तुम्हारी भांति नहीं हूँ। यह तो आज ही केवल श्रीकृष्ण ने वलपूर्वक, मेरी इच्छा न रहते हुए भी मुझे उपयोग किया है। इसलिये मेरी अपेक्षा तुम्हारी अपवित्रता तो कहीं अधिक है।) इसलिये मैं तुम को दूर से ही त्याग करती हूँ। (तब द्वितीय यूथेश्वरी बोली—) तुम्हें धिक्कार है। (अपना दोष न देखकर) उल्टा मुझे दोष लगा रही हो ? अयि भोगांकिते ! (सर्पफणों द्वारा चिन्हिते ! मुझको भुजङ्गरमणी कह रही हो, किन्तु) तुम ही कुहकप्रेष्ठा हो अर्थात् नागरूपी मायावी श्रीकृष्ण की अतिशय रमणेच्छावती प्रेयसी हो।) यह देख गोवर्धन-कन्दरा-छिद्र से कंचुकी-मुक्त होकर तुम्हारी सखियां भी सर्प की भांति आ रही हैं। (अर्थात् वेणु-ध्वनि प्रभाव से उनके कंचुकी वस्त्र भी खिसक रहे हैं, वे इधर-उधर विचरण कर रही हैं) ।।१४।।

(यहां प्रथमा का श्रीकृष्ण-मिलन द्वारा और दूसरी का परिहासमय तिरस्कार द्वारा—दोनों का सौभाग्य समान है। अत: अधिकात्वभी समान है। दोनों के वचन भी श्लेषयुक्त हैं। दोनोंकी प्रखरता तथा मृदुता मिश्रित रहने से समान है। अत: वहां दोनों ही सम-मध्या हैं ।

अनुवाद—(सम-मृद्वी का उदाहरण)—तारा नाम की यूथेश्वरी ने श्रीकृष्ण के प्रति मान किया। श्रीकृष्ण ने उसका मान भंग करनेके लिये उसकी ही प्रियसखी लीलावती को उसके पास भेजा। लीलावती ने आकर तारा की अनेक अनुनय-विनय की और मान त्याग करने का अनुरोध किया। तब तारा लीलावती के प्रति बोली—अयि लीलावति ! मैं धर्म के नाम से शपथ खाकर कहती हूँ, तुम मुझे प्राणों के समान अतिशय प्रिय हो। मैं तुम जैसी सुहृद के वचन कैसे टाल सकती हूँ ?—अर्थात् मैंने मान का

अथ समसमृद्धौ—

(७) प्रत्याख्यातु सुहृज्जनः कथमयं ताराभिधस्ते गिरं प्राणास्त्वं हि समोच्चकैरसि शपे धर्माय लीलावति किंतु त्वामहमर्थये परमिदं कल्याणि तं बल्लवं स्वीयं शाधि यथा स गौरि सरले कुर्याज्जने न च्छलम् १५

यथा वा—

(८) प्राहित्य कठिने निजं परिजनं मदार्यां त्वया निकाममुपजल्प्यतां विभीषिकाडम्बरैः ।
व्रजामि रविजातटं गुरुगिरा मृषाशङ्किनि प्रदोषसमये समं सवयसा शिवां सेवितुम् ॥ १६ ॥

अथ लघुत्रिकम्—९—लघुरापेक्षिकी चात्यन्तिकी चेति द्विधोदिता ॥ १७ ॥

तत्र आपेक्षिकीलघुः—

१०—मध्ये यूथाधिनाथानामपेक्ष्यैकतमामिह । या स्यादन्यतमान्यूना सा प्रोक्तापेक्षिकी लघुः ॥ १८ ॥

त्याग कर दिया । किन्तु हे कल्याणि ! गौरि ! तुम्हें एक आखिरी प्रार्थना करती हूँ कि तुम अपने उस प्रीतम को इस प्रकार की शिक्षा दो कि वह फिर मुझ जैसी सरला रमणी के साथ कपट व्यवहार न किया न करे ।।१५।।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रीकृष्ण ने तारा यूथेश्वरी के पास उसकी सखी लीलावती को भेजा इससे ताराका अतिशय सौभाग्य या अधिकात्व सूचित हो रहा है । फिर तारा ने कहा—लीलावति ! तू अपने प्रीतम श्रीकृष्ण को ऐसी शिक्षा दे—इससे लीलावती का भी अतिशय सौभाग्य सूचित हो रहा है । अतः अधिकात्व में दोनों समान हैं । दोनों की मृदुलता भी बराबर दीखती है । अतः समसमृद्धीय हैं ये । (श्रीचक्रवर्ती पाद का कहना है कि लीलावती श्रीकृष्ण को शिक्षा देने या शासन की योग्यता रखती है—ऐसा सूचित होता है । अतः तारा में प्रखरता नहीं किन्तु लीलावती में प्रखरता दीखती है) पहले कह आये हैं कि दो अधिकाओं के बीच समता होती है और दो लघुओं के बीच में भी समता हुआ करती हैं । उपर्युक्त तीनों उदारणों में दो अधिकाओं के बीच समता दिखायी गयी है । अत्र नीचे के उदाहरणों में दो लघु यूथेश्वरियों के बीच समता दिखाने हैं ।

अनुवाद—(लघु-यूथेश्वरियों में समता का दृष्टान्त—किसी यूथेश्वरी ने श्रीकृष्ण मिलन के लिये प्रदोषकाल में अभिसार किया । मार्ग में अन्य एक यूथेश्वरी उसे मिली और उसे भय दिखाने लगी । तब पहली यूथेश्वरी उससे बोली)—हे कठिन हृदये ! इतना भयका जाल मेरे आगे क्यों फैला रही हो ? तू अपने परिवार के व्यक्ति को मेरी सास के पास भेजकर भली-भांति उसकी बुद्धि में मेरे प्रति द्वेष पैदा कर लेना । हे वृथा शंका करने वाली ! मैं तो बड़ी-बूढ़ी (सासआदि) के आदेश को पाकर प्रदोषके समय दुर्गा की सेवा के लिये अपनी सखियों को लेकर यमुना तट पर जा रही हूँ । (यहां किसी भी यूथेश्वरी में अतिशय सौभाग्य सूचित नहीं हो रहा है । अतः कोई भी अधिका नहीं, दोनों लघु हैं । लघुत्व में दोनों की समता दिखायी गयी है ।।१६।।

अनुवाद—(तीन-प्रकार का लघुत्व) लघु फिर दो प्रकार की हैं—आपेक्षिका तथा आत्यन्तिकी ।।१७।।

अनुवाद—(आपेक्षिका लघु) यूथेश्वरियों में किसी एक की अपेक्षा दूसरी की जब न्यूनता स्थापन होती है, तो न्यूना को 'आपेक्षिकी लघु' कहा जाता है ।।१८।। नीचे तीन प्रकारकी आपेक्षिकी लघु यूथेश्वरियोंका दृष्टान्त दिखाते हैं)—

तत्र लघुप्रखरा—

(९) त्वं मिथ्यागुणकीर्तनेन चटुले वृन्दाटवीतस्करे गाढं देवि निबध्य मां किमधुना तुष्टा तटस्थायसे।
हृत्वा धैर्यधनानि हन्त रभसादाच्छिद्य ह्रीवैभवं येनायं सखि वञ्चितोऽपि बहुधा दुःखी जनो वञ्च्यते १९

अथ लघुमध्या—

(१०) गोष्ठाधीशसुतस्य सा नवनवप्रेष्ठस्य यावद्दृशोः पन्थानं वृषभानुजा सखि वशीकारौषधिज्ञा ययौ।
तावत्त्वय्यपि रूक्षमस्य बलवद्दाक्षिण्यमेवेक्ष्यते का चन्द्रावलि देवि दुर्भगतया दूनात्मनां नः कथा ॥ २० ॥

अनुवाद—(लघु-प्रखरा का दृष्टान्त—किसी एक यूथेश्वरी ने श्रीकृष्ण के गुणों का बखान कर किसी दूसरी यूथेश्वरी के चित्त को श्रीकृष्ण में आसक्त कराया, किन्तु श्रीकृष्ण ने उस दूसरी यूथेश्वरी को वंचित रखा। इसलिये उसने एकदिन कृष्ण के प्रति आसक्ति कराने वाली पहली यूथेश्वरी को रोष में भर कर कहा)—हे चञ्चले ! तुमने कितने कितने मिथ्या गुण गा कर वृन्दावन-तस्कर उस श्रीकृष्ण में मेरी गाढ़ आसक्ति पैदा की थी। अब क्यों तुम संतुष्ट होकर तटस्था की भांति व्यवहार कर रही हो ? हे देवि ! उस वन-तस्कर ने मेरे समस्त धैर्य धन को और लज्जासम्पद को लूट लिया है। हाय हाय ! सखि ! अनेक प्रकार से लूटी जाकर भी मैं दुखिया फिर उसके द्वारा वंचित हो रही हूँ ॥१९॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—यहां दोनों यूथेश्वरियों में किसी के भी सौभाग्य-अतिशय का परिचय नहीं मिलता, इसलिये दोनों लघु हैं। इनमें उक्तवचन कहने वाली यूथेश्वरी का लघुत्व अधिक है, क्योंकि बार-बार श्रीकृष्ण से वंचित हो रही है। दूसरी वंचित नहीं, बल्कि संतुष्ट है। वंचित होने वाली यूथेश्वरी आपेक्षिकी लघु है। किन्तु जो वचन वह पहली यूथेश्वरी के प्रति कह रही है, उनमें उसकी प्रखरता सूचित हो रही है। अतः वह यूथेश्वरी अपेक्षिका यूथेश्वरियों में लघुप्रखरा है ॥

अनुवाद—[लघु-मध्या का दृष्टान्त—एक बार चन्द्रावली ने अपनी सुहृतपक्षा किसी यूथेश्वरी के प्रति स्नेह पूर्वक श्रीकृष्ण सम्बन्धित सौभाग्यादि के विषय में शुभ-संवाद पूछा। उस यूथेश्वरी ने आक्षेप करते हुए चन्द्रावली को कहा]—हे सखि ! जिस दिनसे वशीकारिणी औषधि की जानकार वृष-भानुनन्दिनी श्रीराधा नव-नव रमणी-प्रिय व्रजेन्द्रनन्दन की दृष्टि में आयी हैं, उस दिन से जब तुम्हारे प्रति भी श्रीकृष्ण का रूखापन एव और अनेकों नायिकाओं के प्रति भी कम स्नेह देखा जा रहा है, तब हे देवि ! चन्द्रावलि ! मुझ जैसी दुर्भागिनी दुखित-चित्त नारियों का क्या कहना ? ॥२०॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—यहां दूसरी यूथेश्वरी के सौभाग्य का सूचक कोई वचन नहीं दीखता। अतः वह लघु है। चन्द्रावली की अपेक्षा भी वह लघु है—यह बात उसके वचनों से स्पष्ट हो रही है। इसलिये वह आपेक्षिकी लघु यूथेश्वरी है। श्रीकृष्ण के प्रति 'नव-नव रमणी-प्रिय' तथा श्रीराधा जी के प्रति वशीकारिणी औषधि जानने वाली—ऐसे व्यंग भरे वचनों से उसकी प्रखरता सूचित हो ही रही है। फिर अपने दुर्भाग्य तथा दुख भरे वचनों से उसकी मृदुता भी प्रकाशित हो रही है। प्रखरता तथा मृदुता की समता में उसका मध्यात्व सूचित हो रहा है—इसलिये वह यूथेश्वरी लघुमध्या है ॥

अनुवाद—(लघुमृद्वी का दृष्टान्त)—कोई भी एक यूथेश्वरी श्रीकृष्ण-मिलन की आशा से अपनी सखियों के साथ किसी बहाने से यमुना-पुलिन में आयी। दूरसे ही उसने श्रीकृष्ण को देखा। किन्तु निकट थोड़ी दूरी पर उसने चन्द्रावली को भी देखा। तब वह शंकित चित्त होकर अपनी सखियों से बोली—अरी सखियो ! अब हमारा यहां से भाग चलना ही ठीक रहेगा, क्योंकि यद्यपि हम अद्भुत श्रीकृष्ण

अथ लघुमृद्वी—

(११) अपसरणमितो नः सांप्रतं सांप्रतं स्याद्यदपि हरिचकोरं चित्रमालाचयामः।
कलयत सहचर्यः पर्यटद्गोरदीप्तिस्तटभुवि नवशोभां सौति चन्द्रावलीयम् ॥ २१ ॥

अथ आत्यन्तिक लघुः—

११—अन्या यतोऽसि न न्यूना सा स्यादात्यन्तिकी लघुः। त्रैविध्यसंभवेऽप्यस्या मृदुतैवोचिता भवेत् २२ ॥

यथा—(१२) निजनिखिलसखीनामाग्रहेणाघवैरी कथमपि स मयाद्य व्यक्तमामन्त्रितोऽस्ति।
क्षणमुरुकरुणाभिः संवरीतु त्रपां मे मदुदवसितलक्ष्मीं गोष्ठदेव्यस्तनुध्वम् ॥ २३ ॥

१२—न समा न लघुश्चाद्य' भवेन्नैवाधिकान्तिमा। अन्यास्त्रिधाधिकाश्च लघवश्च ताः ॥ २४ ॥

चकोर को देख रही हैं, तथापि, देखो, चारों ओर अपनी गौर-कान्ति बखेरती हुई यह चन्द्रावली यमुनातट पर नवीनशोभा विस्तार कर रही है। अर्थात् चन्द्रावलि के सौन्दर्यामृत को पान करने के लिये कृष्णचकोर का अधिक आग्रह होगा। अतः हमें यहां से चलना चाहिये ॥२१॥

रूपकृपा तरंगिणी-टीका—यहां इस यूथेश्वरी का सौभाग्यातिशय नहीं दीखता, अतः यह लघु है। चन्द्रावली से भी लघु होने से यह आपेक्षिकी-लघु है। शंकित होकर भागने का विचार रखने से उसमें मृदुता है। अतः इसे 'लघुमृद्वी' कहा गया है।

अनुवाद—(आत्यन्तिकी लघु) जिससे और कोई लघु या न्यून न हो, उसे 'आत्यन्तिकी-लघु' कहते हैं। इसमें प्रखर आदि तीनों प्रकार के भेद हो सकते हैं, फिर भी इसमें मृदुता ही समुचित है ॥२२॥

अनुवाद—(आत्यन्तिकी का दृष्टान्त)—किसी एक यूथेश्वरीने यूथेश्वरियों की सभामें आकर कहा कि आज मेरी जन्म तिथि है। उसके उपलक्ष्य में मेरे पिता-माता ने श्रीकृष्ण को अपने घर में भोजन के लिये निमंत्रित किया है—मैंने भी अपनी समस्त सखियों को आग्रह पूर्वक सायं काल अपने कुंजगृह में भोजन करने के लिये स्पष्ट कहकर बुलाया है। (इसलिये आप से भी मेरी प्रार्थना है) हे गोष्ठ देवि-गण ! आप क्षणकाल के लिये मेरे प्रति विशेष करुणा कर मेरी लज्जा का सम्वरण करने के उद्देश्य से मेरे घर की शोभा वृद्धि कीजियेगा ॥२३॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—इस यूथेश्वरी का अन्यान्य यूथेश्वरियों को आग्रहपूर्वक निमन्त्रण देने का अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्ण आपके अधीन हैं अतः आपकी सहायता के बिना मेरी मनोकामना पूर्ण होने की सम्भावना नहीं। अतः यह सूचित हो रहा है कि इस यूथेश्वरी को अपने कुञ्जगृह में श्रीकृष्ण को बुलाने का साहस नहीं है। सब सखियों के आग्रह से वह श्रीकृष्ण को अपने यहाँ बुलाने का साहस कर रही है। इससे उसकी अयोग्यता सूचित हो रही है। फिर यूथेश्वरियों के पास किसी सखी-दूती को न भेजकर स्वयं गयी है निमन्त्रण देने। वह भी अति अनुनय-विनय पूर्वक प्रार्थना कर रही है। इन सब कारणों से यह यूथेश्वरी आत्यन्तिकी-लघु कही गयी है।

अनुवाद—आत्यन्तिकी-अधिका समा नहीं होती है और न ही लघु। इसलिये वह एक प्रकार की है। आत्यन्तिकी लघु कभी भी अधिका नहीं होती। वह समा और लघु ही होती है। इसलिये आत्यन्तिकी लघु दो प्रकारकी है। और बीचकी जो तीन प्रकारकी यूथेश्वरियाँ हैं अर्थात् आपेक्षिकी-अधिका, समा और आपेक्षिकी लघु—इन तीनों में हर एक के प्रखरा, मध्या एवं मृद्वी—ये तीन प्रकार हैं। कुल नौ प्रकार

१३—विनात्यन्ताधिकान्तेन सर्वासु लघुता भवेत् । सर्वास्वधिकता च स्याद्विनैवात्यन्तिकीं लघुम् ॥ २५ ॥
१४—आद्यैकैवान्तिमा द्वेधा मध्यस्था नवधोदिताः । इत्यसौ यूथनाथानां भिदा द्वादशधोदिता ॥ २६ ॥

इति श्रीयूथेश्वरीभेद-प्रकरणम् ॥

अथ दूतीभेद-प्रकरण

१—अथाश्रितसहायानां कृष्णसंगमतृष्णया । एतासां पूर्वरागादौ दूत्ययुक्तिर्विलिख्यते ॥ १ ॥
२—दूती स्वयं तथाप्ता च द्विधात्र परीकीर्तिता ॥ २ ॥
तत्र स्वयंदूती—
३—अत्यौत्सुक्यत्रुटद्व्रीडा या च रागातिमोहिता । स्वयमेवाभियुङ्क्ते सा स्वयंदूती तत. स्मृता ॥ ३ ॥

होते हैं । सव मिलकर यूथेश्वरियों के बाहर भेद होते हैं—जैसे (१) आत्यन्तिकी-अधिका, (२) आत्यन्तिकी लघु, (३) समा-लघु, (४) अधिक-मध्या,(५) सममध्या, (६) लघुमध्या, (७) अधिक प्रखरा, (८) सम-प्रखरा, (९) लघु प्रखरा, (१०) अधिक मृद्वी, (११) सममृद्वी तथा (१२) लघु मृद्वी । आत्यन्तिकी अधिका को छोड़कर समस्त यूथेश्वरियों की लघुता होती है । और आत्यन्तिकी लघु को छोड़कर और सवका अधिकात्व भी सम्भव है ।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—पहले कह आये हैं कि यूथेश्वरियों के तीन भेद हैं—अधिका, समा और लघ्वी । फिर कहा गया कि इन तीनों में हर एक के तीन तीन भेद हैं—प्रखरा, मध्या तथा मृद्वी । फिर अधिका के दो प्रकार कहे गये—आत्यन्तिकी अधिका तथा आपेक्षिकी-अधिका । लघु के भी दो प्रकार वताये गये थे—आपेक्षिकी लघु और आत्यन्तिकी लघु । उपर्युक्त श्लोकों में भी यूथेश्वरी प्रकरण का उपसंहार करते हुए कुल वारह भेदों का स्पष्ट वर्णन किया गया है ।

अथ दूतीभेद-प्रकरण

अनुवाद—(नायिका के परस्पर भाव-विनिमय में जो रमणी सहायक होती है—उसे 'दूती' कहते हैं । पूर्वराग-अवस्था में अप्राकृत भक्तिमय मधुररस के नायक श्रीकृष्ण में तथा नायिका यूथेश्वरी व्रजसुन्दरियों के परस्पर मिलन की तीव्र लालसा रहती है ।) यूथेश्वरी वृन्द की कृष्ण-मिलन की तृष्णापूर्ति के लिये पूर्वरागावस्था में उनकी आश्रिता सहायक रूपा दूतियों की अति आवश्यकता रहती है, अतः दूती-विषय का वर्णन करते हैं ॥१॥

(पहले नायक-सहाय प्रकरण में नायक की दूतियों के सम्बन्ध में कहा जा चुका है । अव नायिका यूथेश्वरियों की दूतियों के विषय में उल्लेख करते हैं)—

अनुवाद—यूथेश्वरियों की दूतियाँ दो प्रकार की हैं— स्वयं-दूती तथा आप्त-दूती ॥२॥

अनुवाद—(स्वयं-दूती)-श्रीकृष्ण-मिलन के लिये अतिशय उत्सुकता के कारण जिसकी लज्जा छूट जाती है और अनुरागवश जो अतिशय विमोहित हो उठती है, वह यदि स्वयं ही नायक के पास जाकर अपना अभिप्राय प्रकाशित करे—तो उसे 'स्वयं दूती' कहते हैं ॥३॥

४— स्वाभियोगास्त्रिधा प्रोक्ता वाचिकाङ्गिकचाक्षुषाः ॥ ४ ॥

तत्र वाचिकः—

५—वाचिको व्यङ्गच एवात्र स शब्दार्थभवो द्विधा । उक्तौ व्यङ्गचौ च तौ कृष्णपुरःस्थविषयौ द्विधा ॥५ ॥

तत्र कृष्णविषयः—६ – स साक्षाद्व्यबदेशाभ्यां स्यात्कृष्णविषयो द्विधा ॥ ६ ॥

तत्र साक्षात्—७—साक्षाद्बहुविधो गर्वाक्षेपयाञ्चादिभिर्भवेत् ॥ ७ ॥

तत्र गर्वेण शब्दोत्थो व्यङ्गचो, यथा विदग्धमाधवे—

(१) साध्वीनां धुरि धार्या ललितासङ्गेन गर्विता चास्मि ।
हितमालपामि माधव पथि मद्य भुजङ्गतां रचय ॥ ८ ॥

अनुवाद—स्वाभियोग अर्थात् अपने अभिप्राय का प्रकाश करना भी तीन प्रकार का है—वाचिक, आंगिक तथा चाक्षुष ॥४॥

अनुवाद—(वाचिक) व्यंग अर्थात् व्यंजना वृत्ति—गूढाशय से अपनी अभिलाषा को प्रकाशित करना 'वाचिक-स्वाभियोग' है । व्यंग भी दो प्रकार का है—शब्द-भव अर्थात् शब्द की शक्ति से जो पैदा हो, तथा अर्थ-भव अर्थात् अर्थ की शक्ति से जो उत्पन्न हो । ये दोनों व्यंग भी फिर दो प्रकार के हैं—कृष्ण-विषयक तथा अग्रवर्ती द्रव्यविषयक अर्थात् जो वस्तु सामने वर्तमान हो उसके विषयको लेकर। (व्यंग अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति गम्य स्वाभियोग ही रसके अनुकूल रहता है, किन्तु अभिधावृत्तिगम्य (स्पष्ट शब्दों में कहना) स्वाभियोग रस में आघात पहुँचाता है) ॥५॥

अनुवाद—कृष्णविषयक व्यंग—दो प्रकार का होता है—साक्षात् और व्यपदेश । साक्षात् कृष्ण-विषयक व्यंग फिर गर्व, आक्षेप एवं याचनादि भेद से बहुत प्रकार का है ॥६-७॥

अनुवाद—(गर्व हेतुक शब्दोत्थ व्यंग) यथा श्रीविदग्ध माधव नाटक में—श्रीकृष्ण ने एक पत्र लिखकर पद्मा के साथ ललिता जी को भेजा । उस पत्र का अभिप्राय जानकर ललिता जी पुष्पचयन के छल से श्रीराधाजी को वृन्दावन के निकट ले आयी । जब श्रीकृष्ण सामने आये तो श्रीराधा जी ने श्री-कृष्ण के प्रति कहा – हे माधव ! व्रज में मैं साध्वी वृन्दों की गणना में शिरोमणि हूँ, ललिता का संग पाकर मैं गर्विता भी हो रही हूँ आपको मैं हितकारी उपदेश देती हूँ कि आज मार्ग में आप भुजङ्गता विस्तार मत करना ॥८॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्लोक में कहे गये 'साध्वीनां' 'ललिता संगेन' एवं 'भुजङ्गता' इन तीन शब्दों का व्यञ्जना से अपना अभिप्राय प्रकाशित किया गया है । 'साध्वीनां'—अर्थात् पतिव्रता रमणियों में मैं सर्वाग्रगण्या हूँ—यह तो यथाश्रुत अर्थ है, इसकी व्यञ्जना है कि मैं सुन्दरियों में अग्रगण्या हूँ । 'ललिता-सङ्गेन' अर्थात् ललिता के संग को पाकर मैं गर्विता हूँ—यह यथाश्रुत अर्थ है, इसकी व्यञ्जना या गूढ़ अर्थ यह है कि ललित नामक भावविशेष से मैं पूर्ण होने से गर्वित हूँ अथवा ललित—सर्वोत्कृष्ट जो आप हैं, आप में आसक्तिवश मैं गर्वित हो रही हूँ । 'माद्य भुजङ्गतां रचय' इसका प्रकट अर्थ तो है कि आज भुजङ्गता—कामुकता विस्तार मत करना । व्यञ्जना में अर्थ यह है कि (मा—मां) आज मुझ को (भुजङ्गतां—भुजं गतां) भुजाओं में भरकर आलिंगन करो ।—श्रीराधाजी ने साक्षाद्भाव से श्रीकृष्ण को ये वचन कहे हैं । इन शब्दोंके व्यञ्जनालब्ध-अर्थों में श्रीराधा जो ने स्वयं ही अपना अभिप्राय प्रकाश किया है

अर्थोत्थो यथा—

(२) तमालश्यामाङ्ग क्षिपसि किमपाङ्गश्रियमितः प्रसिद्धाहं श्यामा त्रिजगति सतीनां कुलगुरुः।
समारब्धे यस्याः कथमपि मनाग्बाधनविधौ मृगीमालाचयेषा प्रसभमभितो हन्ति कुपिता ॥ ९ ॥

अथ आक्षेपज शब्दोत्थो व्यङ्ग्यो यथा—

(३) अध्वानं व्रज धूर्त मा वृणु पुरः पश्याम्बरान्ते दृशं निक्षिप्योरुपयोधरोन्नतिमिमां नष्टेन्दुलेखाश्रियम्।
नव्या कञ्चुलिकोज्ज्वला तनुरियं र गेण वल्गुश्रिया यावन्न स्तिमिता सती कुटिल मे वैवर्ण्यमापद्यते १० ॥

अनुवाद—(गर्वहेतुक अर्थोत्थ व्यंग) श्यामा ने श्रीकृष्ण से कहा—'हे तमाल-श्यामांग ! मेरे प्रति क्यों कटाक्षभरी दृष्टि निक्षेप कर रहे हो ? मैं श्यामा हूँ, त्रिभुवन की सति-रमणियों की कुल गुरुरूप से मैं प्रसिद्ध हूँ। मुझे सामान्य बाधा के आने पर यह हरिणियों की पंक्ति एकदम कुपित होकर चारों दिशाओं से आकर आप को मारेगी। (यहां श्यामा अपना गर्व स्थापन करते हुए हरिणीगण की जो बात कह रही है—इसकी व्यंजना—गूढ़ अर्थ यह है कि मेरे साथ कोई सखी नहीं है, मै अकेली हूँ, आपकी जो इच्छा हो सो करो -यहां अर्थ की व्यंजना प्रदर्शित की गयी है) ॥९॥

अनुवाद—(आक्षेपकृत शब्दोत्थ व्यंग) कोई यूथेश्वरी श्रीकृष्ण-संग के लिये वृन्दावन गयी। श्रीकृष्ण ने मार्ग में ही आकर उसका पथ रोक लिया। तब वह आक्षेप करती हुई बोली—'हे ब्रजधूर्त्त ! मेरा मग मत रोकना। सामने आकाश की तरफ दृष्टि डाल कर तो देखो—निबिड़ मेघ घटा उठ आयी है (पयोधर उन्नत हो रहे हैं—भयानक मेघ घिर आये हैं) उससे इन्दुलेखा की शोभा भी नष्ट हो गयी है। हे कुटिल ! मेरी कंचुली तो नयी है, मनोज्ञकान्ति विशिष्ट लाली द्वारा उज्ज्वल है और अति सूक्ष्म है—यह कहीं भीग कर विवर्ण न हो जाये ॥१०॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—'अध्वानं मा वृणु'—का प्रकट अर्थ तो है—मेरा पथरोध मत करो, किन्तु शब्दोत्थ व्यंजना यह है कि अध्वानं (निःशब्द) मा (मुझे) वृणु (वरण करो—अर्थात् चुपचाप मुझे अङ्गीकार करो। अम्बर का प्रकट अर्थ है—आकाश। व्यंजित अर्थ है वस्त्र। आकाश की ओर दृष्टि डालकर तो देख यह प्रकट अर्थ है। व्यंजित अर्थ है मेरे वक्षस्थल के वस्त्र पर तो दृष्टि डालकर देखो। तुम देखोगे—(निबिड़ मेघ को उठा हुआ—प्रकट अर्थ) गूढ़ार्थ—मेरे उन्नत पयोधर—स्तनयुगल। (इन्दुलेखाकी शोभा नष्ट हो गयी है—प्रकट अर्थ)गूढ़ार्थ —नखचिह्न शोभा नष्ट हो गयी है अर्थात् अनेक काल से संगाभाव से नखचिह्न लुप्त हो चुके हैं।—सम्भोग द्वारा उन्हें फिर उद्दीप्त करो। ऐसे ही आगे के पदों का गूढ़ार्थ है कि जब तक यह मेरा (नव्या) नव तरुण (राग) प्रेमोज्ज्वल (तनु) शरीर सात्त्विक भाव विशेष वैवर्ण्य से आर्द्र नहीं हो उठता, तब तक मेरा पथ तुम रोके रहो। आक्षेप कहते हैं—अभीष्ट कहने के विषय को विशेष रूप से प्रतिपादन करने के लिये जो निषेध है। पथ रोध न करना ही यहां अभीष्ट विषय है। किन्तु उसके विशेषरूप से प्रतिपादन के उद्देश्य से निषेध किया गया है—पथ रोध मत करना। अतः यहां आक्षेप के बहाने शब्दोत्थ व्यंग रूप सें स्वाभिप्राय प्रकटित किया गया है।

अनुवाद—(आक्षेपकृत अर्थोत्थ व्यंग)—कोई एक यूथेश्वरी श्रीकृष्ण के साथ मिलनेके लिये जब वृन्दावन आयी तो उसने देखा कि श्रीकृष्ण तो सामने वनमें पुष्प चुन रहे हैं तब वह उनसे बोली —ओ कदम्बवन-धूर्त्त ! तुम मेरे क्रोड़ देश—(निकटवर्ती स्थान) से जो केवल प्रस्फुटित अति सुगन्धित नव

अर्थोत्थो यथा—

(४) कदम्बारण्यानां कितव विकचं लुण्ठसि नवं मधुत्सङ्गाद्दिष्ट्या वरपरिमलं मल्लिपटलम् ।
रुचिस्फारं हारं हरसि यदि मे कोऽत्र शरणं विदूरे यद्गोष्ठं जनविरहिता चेयमटवी ॥ ११ ॥

अथ याञ्चा—द—याञ्चा स्वार्था परार्थेति द्विधात्र परिकीर्तिता ॥ १२ ॥

तत्र स्वार्थयाञ्चया शब्दोत्थो व्यङ्ग्यो, यथा—

(५) पुष्पमार्गणमनोरथोद्धता कृष्ण मञ्जुलतया तवानया ।
रक्षितास्मि सविकासया पुरो विस्फुरत्सुमनसं कुरुष्व माम् ॥ १३ ॥

अर्थोत्थो, यथा—

(६) वृन्दारण्यं भुजगनिकराक्रान्तमश्रान्तमस्मात् कात्यायन्यै कुसुमपटलं जातभीर्नाहरामि ।
तेन क्रीडोद्धुतफणिपते श्रद्धयास्मि प्रपन्ना त्वामेकान्ते दिश विषहरं मन्त्रमेकं प्रसीद ॥ १४ ॥

यथा वा—

(७) समस्तभिरक्षितुं जनमरन्ध्रवीरुद्धने वने चरसि कीर्त्यसे त्वमुरुकीर्तिभाजां धुरि ।
प्रसीद करुणां कुरु त्वरितमुद्दिशाध्वक्रमं यदूद्वह वधूजनः श्रयतु विस्मृताध्वा व्रजम् ॥ १५ ॥

मल्लिका पुष्पों को चयन कर रहे हो, यह मेरा सौभाग्य है। क्योंकि गोष्ठ से अति दूर इस निर्जन वनमें तुम यदि मेरा मनोहर हार चुरा लेते, तो यहां मेरी कौन रक्षा करता ?। (यहां गोष्ठ से अति दूर निर्जन वन, तथा अकेले पन का जताना—स्वाभिप्राय को आक्षेप-व्यंग रूप में वर्णन किया गया है) ।।११।।

अनुवाद—(याचना)—याचना दो प्रकार की है—स्वार्था तथा परार्था ।।१२।।

अनुवाद—(स्वार्थ याचना शब्दोत्थ व्यंग)—किसी व्रजदेवी ने श्रीकृष्ण से कहा—हे कृष्ण ! पुष्पों की अन्वेषण-वासना को लेकर मैं तुम्हारी इस प्रस्फुटित कुसुमों से शोभित सुन्दर लता द्वारा आवद्ध हो गयी हूँ—अर्थात् इसकी शोभा दर्शन करने के लिये रुक गयी हूँ। तुम मेरा मनोभीष्ट पूर्ण करो, जिससे मैं ये पुष्प प्राप्त कर सकूं। अथवा तुम मुझे आदेश दो कि मैं पुष्प चयन करलूं या तुम ही चयन करके मुझे दे दो। (गूढ़ अर्थ इस प्रकार है—हे कृष्ण ! बलवती (पुष्पान्वेषण) कामवासना से चञ्चल होकर मैं यहां आयी हूँ आपका (मंजुलता) सौन्दर्य देखकर मैं रुक गयी हूँ। (विस्फुरत-सुमनसं) आप अपने अङ्ग-सङ्ग से मेरे चित्त का आनन्द विधान करो ।।१३।।

अनुवाद—(स्वार्थ-याचना अर्थोत्थ व्यंग)—किसी व्रजदेवी ने श्रीकृष्ण से कहा—वृन्दावन इस समय निरन्तर साँपों से घिरा हुआ है। इसलिये मैं भयवश कात्यायनी की पूजा के लिए कुसुम चयन नहीं कर सकती हूँ। इसलिये हे चंचल कालिय-दमन ! मैं श्रद्धापूर्वक तुम्हारी शरण ग्रहण करती हूँ, तुम मुझ पर प्रसन्न होओ एवं इस निर्जन प्रदेश में मुझे एक विषहर मन्त्र का उपदेश करो, (जिससे मुझे सर्पभय न रहे। (यहां भी प्रगलभा व्रजदेवीने एकान्त स्थल को जता कर स्वाभिप्राय व्यंग्य-रूप में प्रकाशित किया है) ।।१४।।

अनुवाद—(दूसरा-दृष्टान्त—मध्या व्रजदेवी का) एक व्रजदेवी ने श्रीकृष्ण के प्रति कहा—हे यदुनाथ ! आप इस छिद्ररहित लताओं से आवृत घनेवन में सब लोगों की रक्षा के लिये विचरण करते हैं। परम-यशस्वी व्यक्ति भी आप का यह यश गान करते हैं। आप प्रसन्न होकर करुणा पूर्वक मुझ पथ-

परार्थयाञ्चया शब्दोत्थो, यथा—

(८) सकृत्पीत्वा वंशीध्वनिनवसुधां कर्णचुलुकैर्मदाली विभ्रान्ता लघिमनिकरोत्तालितमतिः ।
सदाहं कंसारे कमपि गदमासाद्य विषमं विवर्णा त्वां धन्वन्तरिमिह परं निश्चितवती ॥ १६ ॥

अर्थोत्थो, यथा—

(९) असूर्यंपश्यापि प्रियसहचरी प्रेमभिरहं तवाभ्यर्णं लब्ध्वा मधुमथन दूत्यं विदधती ।
द्रुतं तस्याः स्नेहं निशमय न यावच्छशिधिया धयन्ववक्त्रज्योत्स्नां निशि हतचकोरस्तुदति माम् ॥ १७ ॥

अथ व्यपदेशः—९—जल्पो व्याजेन केनापि व्यपदेशोऽत्र कथ्यते ॥ १८ ॥

भ्रान्त बधूको भी पथ दिखा दीजिये कि मैं व्रज में पहुंच सकूं । (यहां अति दीनतापूर्वक,पथ-भ्रान्त शब्दसे प्रार्थना के छल से अर्थोत्थ स्वाभियोग प्रदर्शित किया गया है ।) ॥१५॥

अनुवाद—(परार्थ-याचन शब्दोत्थ व्यंग)—किसी व्रजदेवी ने श्रीकृष्ण से कहा—हे कंसारे ! तुम्हारी वंशोध्वनिरूप नवसुधा का एक बार मात्र कर्णाञ्जलि से पान करते ही मेरी सखी बेसुध होकर पड़ी है एवं अपने को तुच्छ मानने से उसकी बुद्धि और भी उल्टी हो रही है । सन्तापमय (सदाहं) कोई भी विषय रोग(गदम्)को प्राप्त होकर वह केवल मात्र आपको ही धन्वन्तरि सम चिकित्सक कहकर निश्चय कर रही है ॥ (उक्त श्लोक में मदाली और सदाहं इन दो ही की व्यञ्जनाकी प्रधानता है । प्रकट अर्थ में तो व्रजदेवी ने अपनी प्रियसखी के सन्तापमय रोग की बात कही है । किन्तु गूढ़ार्थ यह है कि—हे कृष्ण ! आपकी वंशीध्वनि सुधा के पान करते ही मुझ में कन्दर्पमत्तता अतिशय उदित हो उठी है । मैं सर्वदा इस विषय कन्दर्प-पीड़ा की यन्त्रणा भोग करती हूँ । मै आप को ही इस रोग का एकमात्र चिकित्सक निश्चय कर रही हूँ ॥१६॥

अनुवाद—(परार्थ-याचना अर्थोत्थ व्यंग) किसी व्रजदेवी ने श्रीकृष्ण से कहा—हे मधुसूदन ! मैं असूर्यम्पश्या हूँ अर्थात् मैं घर से कभी बाहर नहीं निकलती हूँ मुझे सूर्य भी नहीं देख सकता । फिर भी अपनी प्रिय सखी के प्रेमके वशीभूत होकर तुम्हारे पास मैं उसकी दूती बनकर आयी हूँ । तुम शीघ्र उसके प्रेम विषय को सुनो क्योंकि देर करने में रात्रि हो जायेगी । तब मेरे मुखमण्डल की कान्ति को चन्द्रमा समझकर विरहदग्ध चकोर मुझे पीड़ा देने लगेगा । (अपने को असूर्यम्पश्या कहकर इस व्रजदेवी ने अपनी दुर्लभता जनायी है । अपने मुखमण्डल को चन्द्रकान्ति समान कह कर अपना सौन्दर्य-माधुर्य बताया है । प्रिय सखी की दूती बनकर आयी बताकर अपना ही उत्कर्ष वर्णन किया है अर्थात् कृष्ण-सम्भोग योग्यता कहकर अपना अभिप्राय व्यक्त किया है) ॥१७॥

अनुवाद—(व्यंग-व्यपदेश)—किसी अन्य बात को कहकर अपने अभीष्ट को जनाना रसशास्त्र में व्यपदेश माना गया है । (प्रकट-भाव में जो कहा गया हो, वह अभीष्ट न हो, किन्तु प्रकट अर्थ के छल से गूढ़ अभीष्ट का जो व्यक्त करना है वह है व्यंग । व्यंग-व्यपदेश भी शब्दोत्थ तथा अर्थोत्थ दो प्रकार का है) ॥१८॥

अनुवाद—(शब्दोत्थ व्यंग-व्यपदेश)—किसी व्रजदेवी ने श्रीकृष्ण से कहा—हे मदांध हास्तिन् (हाथी) ! असंख्य नीलकमलों से शोभित, निर्मल जल सौन्दर्य से उल्लासवती, मत्त हंस समूह जिसके तटपर मधुर ध्वनि कर रहे हैं, उस सन्मुखवर्तिनी सुरतरंगिणी (गंगा) को परित्याग करके अहह ! मलिन जल वाली, पंकिला कर्मनाशा नदी का सेवन क्यों कर रहे हो ? ॥१९॥

तेन शब्दोत्थो, यथा—

(१०) त्यजन्कुवलयाधिकां घनरसश्रियोल्लासिनीं पुरः सुरतरङ्गिणीं मधुरमत्तहंसस्वनाम् ।
मलीमसपयोधरामपि मदान्ध पद्मिन्निमां भवन्किमिव पङ्किलामहह कर्मनाशामपि ॥ १९ ॥

अर्थोत्थो, यथा—

(११) मधुपैरनवघ्रातां विमुच्य माकन्दमञ्जरीं मधुराम् ।
भ्राम्यसि मदकल कोकिल कथमिव वृन्दावने परितः ॥ २० ॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—इस व्रजदेवी ने जो कुछ प्रकट भाव में कहा है, वास्तव में उसका अभीष्ट अर्थ यह नहीं है। उसका गूढ़ अभीष्ट अर्थ है कि मुझे त्याग कर तुम किसलिये कुत्सित रमणी का संग कर रहे हो ? व्रजदेवी ने श्रीकृष्ण को हाथी के साथ, अपने को गंगा के साथ तथा विपक्षीया रमणी को कर्मनाशा-नदी के साथ तुलना दी है।—शब्दोत्थ व्यंग का रूप इस प्रकार समझा जा सकता है। 'पद्मिन' ! पद्मि का अर्थ है हाथी, पक्ष में पद्मधारी-लीलाकमलधारी—श्रीकृष्ण होता है। 'सुरतरंगिणी'—गंगा को कहते हैं, पक्षान्तर में सुरत-रंगिणी अर्थात् कंदर्प-वैदग्धी विशिष्टा। सुरतरंगिणी के विशेषण रूप में कहे गये शब्दों को देखिये—कुवलयाधिका—गंगा के पक्ष में—अनेक नीलकमलों से शोभित। व्रजदेवी के पक्ष में—नीलकमलों के समान नेत्रों वाली। 'घनरसश्रियोल्लासिनी'—गंगा के पक्ष में—मेघ के निर्मल जल-सौन्दर्य से उल्लासवती' व्रजदेवी के पक्ष में—घनरस (मधुर रस—शृङ्गार रस) की वैचित्री-सम्पत्ति से उल्लासवती। 'मधुर-मत्त हंसस्वना'—गंगा पक्ष में—मत्तहंस मधुर ध्वनि करते हुए जहां इधर-उधर विचरण कर रहे हैं। व्रजदेवी के पक्ष में—मत्तहंसों की मधुर ध्वनि की भांति जिसकी मधुर कण्ठ ध्वनि है।—इस प्रकार व्रजदेवी ने अपनी तुलना गंगा के साथ देकर अपना उत्कर्ष स्थापन किया है।

विपक्षीया को कर्मनाशा नदी,जो मगध देश में बहती है, के साथ उपमा दी है। मलिमस-पयोधरा नदीपक्ष में—मलिन जलपूर्णा विपक्षीया पक्ष में—मलिन स्तनोंवाली। 'पङ्किला'—नदीपक्ष में कीचड़ युक्ता, विपक्षीया पक्ष में—पापयुक्ता। कर्मनाशा-नदी पक्ष में तो पुण्यकर्मों का नाश करने वाली। विपक्षीया पक्ष में—जो विदग्ध क्रियाहीन है। 'पुरः'-अर्थात् सामने उपस्थित—इसकी व्यंजना यह है कि सर्व-विषय में उत्कर्षमयी जो मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ। इसके द्वारा इस व्रजदेवी ने अपना श्रीकृष्ण सङ्ग का अभिप्राय व्यक्त किया है। यह स्वयंदूती-स्वाभियोग है।

अनुवाद—(अर्थोत्थ व्यंग व्यपदेश) एक व्रजदेवी ने श्रीकृष्ण को कहा—ओ मदमत्त कोकिल ! मधुपों से विना सूंघे मधुर आम्रमुकुलों को छोड़कर तुम क्यों वृन्दावन में इधर-उधर भ्रमण कर रहे हो ? ॥२०॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—यहां भी प्रकट अर्थ केवल व्यपदेश या छल है। व्रजदेवी का गूढ़ आशय इस प्रकार—'मधुपैरनवघ्राता' पक्षान्तर अर्थ है दक्षिण-पवन द्वारा अस्पृष्ट अर्थात् मेरे सर्वांग वस्त्रावृत रहने से बसन्तकालीन दक्षिण पवन मेरे अंगों के परिमल को हरण नहीं कर पायी है, अतः हे मदकल कोकिल ! (मधुरभाषि ! मैं लज्जाशीला, सुरूपा मधुरगंधवती हूँ—मुझे त्याग कर तुम इधर-उधर वृन्दावन में क्यों भ्रमण कर रहे हो ? यह भी स्वयं दूती-स्वाभियोग है।

अथ पुरःस्थविषयः—

१०—शृण्वतोऽपि हरेर्मत्वा व्याजादश्रुतिवत्किल । जल्पोऽग्रतः स्थिते जन्तौ पुरःस्थविषयो मतः ॥ २१ ॥

तत्र शब्दोत्थो, यथा—

(१२) आहूयमानास्मि कथं त्वयालिनां स्वनैः स्वपुष्पावचयाय मालति ।
आमोदपूर्णं सुमनोभिराश्रितं पुन्नागमेव प्रमदेन कामये ॥ २२ ॥

अर्थोत्थो, यथा—

(१३) अनवचितचरीयं चारुपुष्पा लताली तव निखिलविहङ्गाश्चात्र निर्धूतशङ्काः ।
त्वयि विचरितुमीहे तेन गोवर्धनाद्य प्रकटय तमुपायं निर्वृता येन यामि ॥ २३ ॥

यथा वा—

(१४) प्रसिद्धः साध्वीनां व्रतहरविनोदो व्रजपतेः सुतोऽयं त्वं वाचाप्यलमसि निरोद्धुं न मृदुला ।
अहो धिङ्मूढाहं तदपि गहने ग्रन्थिललताशताक्रान्ते श्रान्ता यदिह विचराम्यस्य पुरतः ॥ २४ ॥

अनुवाद—(पुरस्थविषय) कोई बात कही गयी, उसे श्रीकृष्ण ने सुन लिया, फिर ऐसा विचार कर कि उन्होंने नहीं सुनी है, तब छलपूर्वक सामने विद्यमान किसी जन्तु को लक्ष्य करके जो वचन कहना है, उसे पुरस्थ-विषय कहा जाता है ॥२१॥ (पुरस्थ-विषय भी शब्दोत्थ तथा अर्थोत्थ दो प्रकार का हो सकता है)।

अनुवाद—(शब्दोत्थ पुरस्थ विषय) श्रीकृष्ण के सामने किसी व्रजसुन्दरी ने मालती लता को सम्बोधन करते हुए कहा—हे मालति ! भंवरों की गुंजार द्वारा अपने देह में लगे पुष्पों के चयन करने के लिये मुझे तुम क्यों बुला रही हो ? मैं तो सुगंधित एवं कुसुमयुक्त पुन्नाग की आनन्द सहित कामना करती हूँ। (पुन्नाग पक्षान्तर में पुरुष श्रेष्ठ श्रीकृष्ण। आमोद-पूर्ण—पक्षान्तर में आनन्द पूर्ण। 'सुमनोभिराश्रित' पक्षान्तर में उत्तम मनोविशिष्ट अर्थात् मनस्वी साधुगण जिनका आश्रय ग्रहण करते हैं। इस प्रकार व्रजसुन्दरी ने मालती लता को उपलक्ष्य करके श्रीकृष्ण को अपना अभिप्राय जताया है ॥२२॥

अनुवाद—(अर्थोत्थ पुरस्थ विषय) – श्रीकृष्ण के सामने गोवर्धन पर्वत को लक्ष्य करके किसी एक व्रजसुन्दरी ने कहा— हे गोवर्धन ! तुम्हारी सुन्दर पुष्पों वाली इन लताओं के पुष्प पहले किसी ने चयन नहीं किये हैं, इसलिये यहां के समस्त पक्षी भी भयशून्य हैं। मैं तुम्हारे तट देश में ही विचरण करने की इच्छा करती हूँ। अतः तुम ऐसा एक उपाय रचो कि जिससे यहां सुख पूर्वक विचरण किया जा सके। (इन वाक्यों में व्रजसुन्दरी ने उस स्थान की निर्जनता प्रकाश करते हुए गोवर्धन को उपलक्ष्य करके श्रीकृष्ण को अपनी कृष्णसंगाभिलाषा व्यक्त की है) ॥२३॥

अनुवाद—(एक प्रगल्भा व्रजसुन्दरी ने श्रीकृष्ण के सामने अपनी एक सखी को कहा—हे सखि यह व्रजेन्द्रनन्दन साध्वीरमणियों का व्रत ध्वंस करने में प्रसिद्ध है। तुम अति मृदुल स्वभाव की हो। तू तो एक वाक्य भी कहकर उसको रोक न सकोगी। अहो ! मैं भी मूर्ख हूँ, धिक्कार है मुझे, क्योंकि यह सब बात जानते हुए भी घनी-लताओं से परिवृत इस वृन्दावन में, जहां कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता, अत्यन्त थकी हुई होकर भी इस व्रजेन्द्रनन्दन के सामने विचरण कर रही हूँ। (यहां भी व्रजसुन्दरी ने श्रीकृष्ण के सामने अपने स्वाभियोग को व्यक्त किया है) ॥२४॥

अथ आङ्गिकाः—

११—अङ्गुलिस्फोटनं व्याजसंभ्रमाद्यङ्गसंवृतिः। पदा भूलेखनं कर्णकण्डूतिस्तिलकक्रिया॥ २५॥
१२—वेशक्रिया भ्रुवोर्धूतिः सख्यामाश्लेषताडने। दंशोऽधरस्य हारादिगुम्फो मण्डनशिञ्जितम्॥ २६॥
१३—दोर्मूलादिप्रकटनं कृष्णनामाभिलेखनम्। तरौ लताया योगाद्याः कृष्णस्याग्रे स्युराङ्गिकाः॥ २७॥

तत्र अङ्गुलिस्फोटनम्—(१५) इयं सतीनां प्रवरा वराक्षी कथं नु लभ्येति मयि क्लमाढ्ये।
विशाखयास्फोटयत पञ्चशाखशाखावली मद्धसनेन सार्धम्॥ २८॥

व्याजसंभ्रमाद्यङ्गसंवृतिः—

(१६) पिहितमपि पिधत्ते मत्पुरस्तादुरो यद्वृतमपि मुहुरास्यं यत्पटेनावृणोति।
व्रजनवहरिणाक्षी तन्मनोजस्य मन्ये शरपरिभवघूर्णाग्रातचित्तेयमास्ते॥ २९॥

पदा भूलेखनम्—

(१७)—कम्रं नम्रमुखी लिलेख चरणाङ्गुष्ठेन गोष्ठाङ्गने(णे)
यत्किंचिद्व्रजसुन्दरी मयि दृशोर्वृत्ते नवप्राघुणे।
तेनानङ्गनिदेशपट्टपदवीमासाद्य मन्मानसं
क्षिप्त्वा तत्कुचशैलसंकटतटीसंधौ बलात्कीलितम्॥ ३०॥

अनुवाद—(आङ्गिक स्वाभियोग)—श्रीकृष्ण के आगे अंगुलियों का स्फोटन, सम्भ्रम (अर्थात् त्वरा, शंका, लज्जादि) के छलसे अंगाच्छादन चरणांगुष्ठ द्वारा पृथ्वीपर लिखना,कानखुजलाना, तिलक रचना वेश-रचना, भ्रूकम्पन, सखी को आलिंगन, सखी की ताड़ना, अधर-दंशन, मालादि गुम्फन, भूषणों को बजाना, भुजामूलों को दिखाना, कृष्णनाम-लिखना, वृक्ष से लता का संयोग कराना—इत्यादि आङ्गिक स्वाभियोग हैं। तात्पर्य यह है कि अंग विशेष की चेष्टा विशेष द्वारा श्रीकृष्ण के निकट अपने अभिप्राय को प्रकाश करना—'आंगिक स्वाभियोग' कहलाता है ॥२५-२६-२७॥

अनुवाद—(अङ्गुलि-स्फोटन)—श्रीकृष्ण ने सुबल के प्रति कहा—हे बन्धो! सतीश्रेष्ठा इस विशाखा को कैसे प्राप्त किया जाये?—यह सोचते हुए जब मैं क्लान्त हो गया, तब विशाखा ने इस प्रकार अंगुलि स्फोटन किया, कि मेरा समस्त दुख उसी क्षण दूर हो गया। (यहां विशाखा ने अंगुलि-स्फोटन द्वारा अपना अभिप्राय व्यक्त किया है) ॥२८॥

अनुवाद—(व्याजसंभ्रमादि वशतः अङ्ग सम्वरण)—श्रीकृष्ण सामने किसी एक व्रजसुन्दरी की चेष्टा देखकर मन-मन में कहने लगे—यह व्रज की नव मृगनयनी मुझे देखकर अपने आवृत वक्षस्थल को फिर-फिर आच्छादित कर रही है एवं आच्छादित मुखमण्डल को भी फिर घूँघट द्वारा ढक रही है। इससे जान पड़ता है कि इसका चित्त कन्दर्प-वाणों से घायल होकर घूर्णाग्रस्त हो रहा है ॥२९॥

अनुवाद—(चरण द्वारा भू-लेखन) किसी एक व्रजरमणी की चेष्टा देखकर श्रीश्याम सुन्दर मन ही मन कहते हैं—आज इस व्रजसुन्दरी ने मुझे पहली बार देखा है। गोष्ठांगन में अपने चरणांगुष्ठ द्वारा इसने मनोहररूप में जो कुछ लिखा था, वह अनंगदेव का आदेश पत्र रूप धारण कर मेरे मन को उस व्रजसुन्दरी के कुचशैलों के मध्यवर्ती संकीर्ण स्थल में बलपूर्वक बांध कर रखे हुए हैं ॥३०॥

कर्णकण्डूतिः—
(१८) रक्ताङ्गुलीशिखरघट्टनलोलपाणि-शिञ्जानकङ्कणकृतस्मरतूर्यशङ्कम् ।
लीलोच्चलत्कनककुण्डलमत्र कर्ण-कण्डूयनं व्रजसरोजदृशः स्मरामि ।। ३१ ।।

तिलकक्रिया—
(१९) सानन्दं शरदिन्दुसुन्दरमुखी सिन्दूरबिन्दूज्ज्वलं बन्धूकद्युतिना करेण तिलकं गान्धर्विका कुर्वती ।
त्वामालोक्य शिखण्डशेखर सकृत्कर्णोच्चलत्कुण्डला रूढं चेतसि रागकन्दलमिव व्यक्तं व्यतानीद्बहिः ३२

वेशक्रिया—(२०) हरौ पुरःस्थे करपल्लवेन सलीलमुल्लास्यमिलन्मरन्दम् ।
नालीकनेत्रा किल कर्णपालीं लवङ्गस्तबकं निनाय ।। ३३ ।।

भ्रुवोर्धूतिः—(२१) विधुन्वती मदनधनुर्भयंकरं भ्रुवोर्युगं कथय किमद्य खिद्यसे ।
विशाखिके मुखशशिकान्तिशृङ्खला बबन्ध ते मधुरिपुगन्धसिन्धुरम् ।। ३४ ।।

सख्यामाश्लेषः—
(२२) पुरः कलय मण्डलीकृतकठोरवक्षोरुहं चलत्कनककङ्कणक्वणिततुङ्गितानङ्गया ।
अपाङ्गमघमर्दने नयनवीथिनव्यातिथौ प्रसार्य परिषस्वजे सहचरी चिरं चित्रया ।। ३५ ।।

अनुवाद—(कर्ण-कण्डुयन)—किसी व्रजसुन्दरी ने श्रीकृष्ण को देखकर जो चेष्टा प्रकाशित की, वाद में श्रीकृष्ण निर्जन स्थान में बैठकर उसकी बात पर विचार कर रहे थे। उन्हें चिन्तित देखकर सुवल ने उसका कारण पूछा। तब श्रीकृष्ण बोले—'हे सखे ! कोई एक व्रजसुन्दरी मुझे देखते ही अपने वायें हाथ की लालवर्ण कनिष्ठा अंगुली को कान में डालकर घुमाने लगी (जैसे कान को भीतर से खुजाया जाता है।) तब उसके हाथों में पड़े कंकणों का एक ऐसा शब्द हुआ कि मानो उसके मनोभाव बाहर आ रहे हों एवं मुझे शंका पैदा होने लगी। इस लीला से उसने कान का स्वर्ण कुण्डल भी उछलने लगा था। हे सखा ! मैं उस व्रजकमलनयनी की कान खुजाने की बात को ही याद कर रहा हूँ ।।३१।।

अनुवाद—(तिलक रचना) कुन्दलता ने श्रीकृष्ण से कहा—हे मोर पुच्छधारि ! केवल एकबार तुम्हारा दर्शन करके शरदिन्दु सुन्दरमुखी श्रीराधा आनन्दित-चित्त होकर अपने लाल वर्ण हाथ से सिन्दूर बिन्दु की उज्ज्वल तिलक रचना करने लगी। उसके दोनों कर्णकुण्डल इधर-उधर झूमने लगे। ऐसा लगता है कि उसने अपने चित्त पर चढ़े रागांकुर (प्रेमांकुर) को बाहर प्रकाशित किया हो ।।३२।।

अनुवाद—(वेश-रचना) श्रीकृष्ण के सामने आकर कमलनयनी पाली ने आनन्दित होकर लीला-भङ्गी से मकरन्द चुचाते हुए लवंग-गुच्छ को उठाया और अपनी कर्णलता के अग्रभाग में उसे धारण कर लिया ।।३३।।

अनुवाद—(भ्रु-कम्पन)—वृन्दा ने श्रीविशाखा से कहा—हे विशाखे ! कामधनुष से भी भयंकर अपनी भ्रुकुटियों को कम्पा कर आज तुम क्यों वृथा दुख उठा रही हो ? तुम्हारे मुखचन्द्र की कान्ति-रूप शृंखला ने ही कृष्णरूप मदस्रावी हस्ती को बान्ध कर रखा हुआ है ।।३४।।

अनुवाद—(सखी का आलिगन)—श्रीकृष्ण को सामने देखकर चित्रा आनन्दपूर्वक अपनी सखी को आलिगन करने लगी—यह देखकर रूपमञ्जरी ने रतिमञ्जरी को कहा—सखि ! सामने तो देखो, अघमर्दन श्रीकृष्ण चित्रा के नेत्रों का नवीन अतिथि हो रहा है एवं चित्रा श्रीकृष्ण की ओर कटाक्ष

(२३) सखीताडनम्—

विमुञ्च निखिलं वशीकरणकारणान्वेषणं मनस्त्वयि विशाखया मुरहरोपहारीकृतम् ।
मुहुर्यदनया भवत्पदसरोजकक्षामिलत्तडिच्चलदृगन्तया स्फुटमताडि पुष्पैः सखी ॥ ३६ ॥

अधरदंशः—(२४) भजति पथि दृशोर्व्रजेन्द्रसूनौ मदनमदोन्मदिता पुरस्तवाली ।
इयमिह कुपितेव पश्य सख्यै विधुवदना रदनच्छदावदाङ्क्षीत् ॥ ३७ ॥

हारादिगुम्फाः—

(२५) केयं पुरः स्फुरति फुल्लसरोरुहाक्षी सव्ये यया सुबल मामवलोकयन्त्या ।
आवृत्य मौक्तिकसरे परिगुम्फ्यमाने चेतोमणिर्मम सखे तरलो व्यधायि ॥ ३८ ॥

मण्डनशिञ्जितम्—

(२६) विलोक्य मां श्यामलया विदूरतः संकीर्यमाणा मणिकङ्कणावली ।
वितन्वती झङ्कृतिडम्बरं मुहुः शङ्के ब्रवीत्यङ्गजराजशासनम् ॥ ३९ ॥

करते हुए अपने गोलाकार कठोर उरोजद्वय को दिखा रही है एवं चञ्चलभावापन्न होकर स्वर्ण-कंकणों की ध्वनि द्वारा श्रीकृष्ण के कन्दर्प को उद्दीपित करके अपनी सहचरी को बहुत देर से आलिंगन किये हुए है ॥३५॥

अनुवाद—(सखी-ताड़न)—सुबल ने श्रीकृष्ण को कहा—बन्धो! विशाखा के वशीकरण के सब उपायों को ढूण्ढना अब त्याग करो। हे मुरारे! विशाखा ने अपने मन-आत्मा को उपहार में तुम्हें भेंट कर दिया है। (वह कैसे ?)—मैं स्पष्ट यह देख रहा हूँ कि वह तुम्हारे चरण कमलों पर ही अपने तड़ित् तुल्य चञ्चल नेत्रकटाक्ष बार-बार निक्षेप करते हुए अपनी सखी की पुष्पद्वारा ताड़ना कर रही है ॥३६॥

अनुवाद—(अधरदंश)—श्यामला ने ललिता से कहा—व्रजेन्द्रनन्दन जब तुम्हारी सखी श्रीराधा के सामने दिखायी दिये, तो उस चन्द्रवदनी श्रीराधा मदनमदोन्मत्त होकर मानो सखी विशाखा के प्रति कुपित होते हुए अपने अधरोष्ठों को दंशन करने (काटने) लगी ॥३७॥

अनुवाद—(हारादि गुम्फन)—श्रीकृष्ण ने सुबल से पूछा—हे सुबल! देखना, सामने यह प्रफुल्लित कमलनयना रमणी कौन है? यह बायीं ओर ग्रीवा फेर कर मुझे देख-देखकर मुक्ताहार पिरो रही है। मेरी चित्त रूप मणि को भी चञ्चल कर रही है अर्थात् हार के बीच की लटकन (पेंडल) की भांति मेरा चित्त डोलायमान हो रहा है ॥३८॥

अनुवाद—(भूषणों की ध्वनि) श्रीकृष्ण ने सुबल से कहा—सखे! दूर से मुझे देखकर श्यामला अपने मणि-कंकणों को ऐसे भाव में एकत्रित करने की चेष्टा करने लगी कि उनसे बार-बार झंकार ध्वनि पैदा होने लगी, मानो मदन-राज के आदेश की वह घोषणा कर रही हो ॥३९॥

अनुवाद—(भुजाओं के मूलदेश का प्रदर्शन)—सामने श्रीकृष्ण को देखकर सखी को बुलाने के छल से श्यामा अपनी भुजाओं को ऊंचा उठा रही थी। यह देख कर श्रीकृष्ण ने कहा—श्यामे! इस वृन्दावन के भीतर सब ओर मनोहर लताएं शोभित हो रही हैं। अहो देख तो उन लताओं के अग्र-भाग अनेकानेक मधुर फलों से लद रहे हैं। किन्तु हे कल्याणि! विचित्र बात यह है कि तुमने जब

दोर्मूलप्रकटनम्—(२७) श्यामे दिव्यतराः स्फुरन्ति परितो वृन्दावनान्तर्लता
या: कल्याणि वहन्ति हन्त मधुरामग्रे फलानां ततिम् ॥
चित्रेयं तव दोर्लता वलयिनी यस्यास्त्वयोल्लासिते
मूले नन्दितकृष्णकोकिलमभूदाविर्वरीयः फलम् ॥ ४० ॥

कृष्णनामाभिलेखनम्—(२८) दूत्यमत्र तव तिष्ठतु वृन्दे तिष्ठते यदियमिन्दुमुखी मे।
नाम मे विलिखति प्रियसख्याः पश्य गण्डफलके घुसृणेन ॥ ४१ ॥

तरौ लताया योगः—(२९) रूपं निरूप्य किमपि व्रजपङ्कजाक्ष्याः साक्षादभूवमहमर्जुन यावदार्तः।
सा गामधीरमधिनोत्कलधौतयूथ्यास्तावत्तमालविटपे घटनां विधाय ॥ ४२ ॥

अथ चाक्षुषाः—

१४—नेत्रस्मितार्धमुद्रत्वे नेत्रान्तभ्रमकूणने। साचीक्षा वामदृक्प्रेक्षा कटाक्षाद्याश्च चाक्षुषाः ॥ ४३ ॥

तत्र नेत्रस्मितं, यथा—(३०) विभ्रमं रतिपतेः स्थगयन्तीं केशवस्य पुरतः कपटेन।
त्वामवेत्य चटुले सखि जात्या गूढमत्र हसतस्तव नेत्रे ॥ ४४ ॥

कंकणयुक्त भुजलताओं को ऊपर उठाया तो उनके (अग्रभाग में नहीं, बल्कि) मूल देश में अति श्रेष्ठफल (कुचद्वय) प्रकाशित हो उठे, जो कृष्णरूप कोकिल को आनन्दित कर रहे थे ॥४०॥

अनुवाद—(कृष्णनाम-लिखन)—श्रीकृष्ण ने वृन्दा से कहा—वृन्दे ! तुम्हें अब दूती का कार्य और नहीं करना पड़ेगा। यह देख, तुम्हारी-प्रियसखी इन्दुमुखी मुझको देखकर केसर-लेप से अपने कपोलों पर मेरा नाम लिख रही है ॥४१॥

अनुवाद—(वृक्ष से लता का संयोग)—श्रीकृष्ण ने अपने सखा अर्जुन को कहा—हे अर्जुन ! इस व्रज-कमल नयनी के अनिर्वचनीय रूप के साक्षात् दर्शन करके जब मैं अतिशय कातर हो उठा, तो उसने तत्क्षण तमालवृक्ष के साथ स्वर्णयूथिका लता को संयोजित कर दिया, उससे मेरा अधैर्य्य उसने दूर कर दिया ॥४२॥

अनुवाद—(चाक्षुष-स्वाभियोग)—नेत्र-हास्य, नेत्रार्द्ध मुद्रण, नेत्रान्त घुमाना, नेत्रान्त का संकुचित करना, टेढ़ीदृष्टि, वामनेत्र से देखना एवं कटाक्ष आदि चाक्षुष अभियोग कहलाते हैं ॥४३॥

क्रमशः इनके दृष्टान्तों का उल्लेख करते हैं—

अनुवाद—(नेत्र-हास्य) सायंकाल के समय श्रीकृष्ण वन से व्रज में आ रहे थे। उनको देखकर श्रीराधा जी ने पहले अपने दोनों नेत्र बन्द कर लिये, किन्तु उत्सुकता वश फिर उसके दोनों नेत्र प्रफुल्लित हो उठे। यह देखकर श्यामा परिहासपूर्वक श्रीराधासे बोली—सखि ! कपट करते हुए श्रीकृष्णके आगे तुम रति-पति के विभ्रम को गोपन कर रही हो, यह देखकर स्वभावतः ही तुम्हारे चञ्चल दोनों नेत्र दूसरे के अलक्षित भाव से हास्य कर रहे हैं ॥४४॥

अनुवाद—(नेत्रार्द्ध-मुद्रण)—एक बार श्रीराधा श्रीकृष्ण के सामने अर्द्ध नेत्र निमीलित करके बैठीं हुई थीं। यह देख कर परिहासपूर्वक कुन्दलता ने कहा—सखि ! श्रीकृष्ण के मुखमण्डलरूप आकाश में जो दो नेत्र विराज रहे हैं, कविगण उन्हें पुष्पवन्त (अर्थात् एक ही समय में उदित चन्द्र और सूर्य) कहते हैं। इसलिये उन नेत्रों के सान्निध्य में तुम्हारे नेत्रकमल अर्द्ध-निमीलित क्यों न होंगे ? । (चन्द्र को देखकर कमल निमीलित होता है और सूर्य को देख प्रस्फुटित होता है। जब चन्द्र और सूर्य दोनों

नेत्रार्धमुद्रा—(३१) कवयो हरिवक्त्रपुष्करेऽस्मिन्सखि नेत्रे कथयन्ति पुष्पवन्तौ ।
अनयोः सविधे तवाक्षिपद्मं भविता नार्धनिमीलितं कथं वा ॥ ४५ ॥

नेत्रान्तभ्रमः—

(३२)—न हृद्येऽप्यध्यस्ता रतिरनडुहां संगररसे न रम्येऽपि क्रीडासदसि सुहृदां धीरुपहिता ।
त्वयि क्षिप्त्वा दृष्टिं परमिह तमालायितमभून्मुकुन्देन श्यामे तदपि किमपाङ्गं नटयसि ॥ ४६ ॥

नेत्रान्तकूणनम्—(३३) कलिन्दजाकूलपुरंदरे दृशोरध्वन्यवाप्ते प्रथमाध्वनीनताम् ।
त्रपाञ्चितं किञ्चिदकुञ्चि चञ्चलं विलक्षया श्यामलया दृगञ्चलम् ॥ ४७ ॥

साचीक्षा—

(३४) तिर्यग्विवर्तितनटन्नयनत्रिभागं प्रेक्षिष्ट यत्तरणिजापुलिने मृगाक्षी ।
हृन्मग्नभग्नमकराङ्कशराग्रवन्मां सद्यस्तदद्य नितरां विवशीकरोति ॥ ४८ ॥

वामदृक्प्रेक्षा—(३५) पूर्णं प्रमोदोत्तरलेन राधे श्यामं रसानां विधिमिन्दुभाजम् ।
सव्येन नेत्राञ्जलिना पिबन्ती त्वमुन्मनाः कुम्भभवायितासि ॥ ४९ ॥

एकसाथ सामने हैं तो हों राधे ! तुम्हारे नेत्रकमलों का आधा बन्द और आधा खुला रहना ही युक्त है ॥४५॥

अनुवाद—(नेत्रान्त-घूर्णन) वृन्दा ने कहा—श्यामे ! श्रीमुकुन्द को बैलों का युद्धरस अति सुहाता है, फिर भी वह तुम्हारी तरफ दृष्टि निक्षेप कर रहे हैं, बैलों के युद्ध में रुचि प्रकाशित नहीं कर रहे हैं। सखाओं की सुन्दर क्रीड़ा-सभा में भी उनका मन नहीं जाता दीख रहा है, वह केवल तमाल वृक्ष की भांति स्तब्ध होकर खड़े हैं, तुम फिर किसलिये अपने नेत्र-प्रान्तों को नचा रही हो ? ॥४६॥

अनुवाद—(नेत्रान्त-संकोचन) नान्दीमुखी ने पौर्णमासी को कहा—देवि ! कालिन्दी-कूल-पुरन्दर श्रीकृष्ण कालिन्दी-कूल पर विचरण कर रहे थे तो श्यामला ने उनका पहली बार ही दर्शन किया। वह विस्मित हो उठी और लज्जा प्रकाशित करते हुए उसके चञ्चल नेत्र-प्रान्त किञ्चित् संकुचित हो उठे ॥४७॥

अनुवाद—(वक्रदृष्टि)—सुबल के प्रति श्रीकृष्ण ने कहा—सखे ! आज मैं जब यमुना-पुलिन में विचरण कर रहा था तो मुझे देखकर श्रीराधा ने अपने नृत्य-परायण एवं वक्रगति से घूमते हुए नेत्र-कटाक्ष मेरे ऊपर निक्षेप किये। तभी से श्रीराधा की वक्रदृष्टि मेरे हृदय में प्रवेश करके कामबाण के टूटे हुए अग्रभाग (नोक) की भांति मुझे अतिशय विवश कर रही है ॥४८॥

अनुवाद—(वामनेत्र से देखना) निर्जन वन में श्रीकृष्ण को देखकर श्रीराधाजी वामनेत्र से उनके सौन्दर्य-माधुर्य का आस्वादन कर रही थीं। यह देखकर वृन्दाने नर्मपूर्ण कहा—हे राधे ! आनन्द तरंग द्वारा परिपूर्ण-चन्द्रयुक्त श्याम-समुद्र को तुम विमना होकर वाम नेत्राञ्जलि से पान करते-करते अगस्त्य का रूप धारण कर रही हो। (श्रीकृष्ण श्याम-रस के अर्थात् मधुररस के समुद्र हैं। जलसमुद्र से तो चन्द्र की उत्पत्ति हुई है, किन्तु उनका मुखचन्द्र इस सागर में नित्य विराजमान रहता है, जो मधुररस-सुधा नित्य विकीर्ण करता रहता है, जिसका आस्वादन श्रीराधा जी वाम नेत्रांजुलि में भर-भर कर करती हैं। अगस्त्य मुनि ने घूँट भर कर जल समुद्र का पान कर लिया था, किन्तु यह रससागर तो अखण्ड आस्वादन-प्रदान करता रहता है। कभी समाप्त नहीं होता।) ॥४९॥

कटाक्षः—

१५—यद्गतागतिविश्रान्तिवैचित्र्येण विवर्तनम् । तारकायाः कलाभिज्ञास्तं कटाक्षं प्रचक्षते ।। ५० ।।

यथा—

(३६) चित्रं गौरि विवर्तते भ्रमिकरी विश्रम्य विश्रम्य ते दृक्ताराभ्रमरी गतागतिमियं कर्णोत्पले कुर्वती । यस्याः केलिभिराकुलीकृतमतेः पद्मालिवार्ता क्व सा गान्धर्वे मधुसूदनस्य नितरां स्वस्याप्यभूद्विस्मृतिः ५१

१६—इत्येतेषामसंख्यानां दिगेवेयं प्रदर्शिता । यथोचितममी ज्ञेया नायकेऽप्यघविद्विषि ।। ५२ ।।

स्वाभियोग एवं अनुभाव—

१७—स्वाभियोगा इति प्रोक्ताश्चेदमी बुद्धिपूर्वकाः । स्वभावजास्तु भावज्ञैरनुभावाः प्रकीर्तिताः ।। ५३ ।।

अनुवाद—(कटाक्ष)—नेत्रों की पुतलियों का गमन-आगमन तथा विश्रान्ति चमत्कारिता के साथ उसका जो विवर्त्तन या पुनः पुनः अभ्यास करना है, रसवेत्ता उसे 'कटाक्ष' कहते हैं ।।५०।।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—लक्ष्य वस्तु अर्थात् श्रीकृष्ण तक चमत्कारिता से नेत्र-पुतलियों का निक्षेप करना, (गमन) दीर्घकालतक श्रीकृष्ण के प्रति नेत्र-पुतलियों की दृष्टि को न रखकर लज्जावश उसे चमत्कारितापूर्वक फिरा लेना (आगमन) । दृष्टि के जाने और फिराने के बीच के अति अल्प समय तक दृष्टि को विश्राम (विश्रान्ति) देकर श्रीकृष्ण-दर्शन करना—पुनः पुनः इस भाव से नेत्र-पुतलियों के गमन-आगमन एवं विश्रान्ति द्वारा जो कृष्ण दर्शन है—उसे 'कटाक्ष' कहते हैं । इस प्रकार के कटाक्षों द्वारा व्रजसुन्दरीगण श्रीकृष्ण को अपना अभिप्राय ज्ञापन कराती हैं ।

अनुवाद—(कटाक्ष का उदाहरण) श्रीराधाजी श्रीकृष्ण के प्रति कटाक्ष-वाण निक्षेप कर रही हैं। उससे श्रीकृष्ण प्रेम-विवश हो रहे हैं—यह बात श्रीराधा भी अनुभव कर रही हैं । किन्तु अचानक चन्द्रा-वली की सखी पद्मा को वहां देखकर श्रीराधा को सन्देह हो उठा, लगता है पद्मा के कटाक्षों से श्रीकृष्ण में प्रेमविवशता उत्पन्न हो रही है । यह जानकर वृन्दा ने श्रीराधा के प्रति कहा—हे गौरि ! तुम्हारी यह नेत्र-पुतलीरूप भ्रमरी विचित्र भाव से विश्राम करते-करते घूर्णित होकर भ्रमण कर रही है । वह कर्णोत्पल के प्रति (श्रीकृष्ण मुख के प्रति) निरन्तर यातायात कर रही है । हे गान्धर्वे ! तुम्हारी नेत्र-पुतलीरूप भ्रमरी की विलास-भङ्गी से मधुसूदन (पक्ष में श्रीकृष्ण) व्याकुल चित्त होकर आत्म स्मृति को विशेष रूप से खो चुका है । उसके लिये पद्माली की (भ्रमर के पक्ष में पद्मश्रेणी की, श्रीकृष्णपक्ष में पद्मालि—चन्द्रावली की बात या सन्देह यहाँ कहाँ ? ।।५१।।

अनुवाद—वाचिक, आंगिक तथा चाक्षुष स्वाभियोगके असंख्य प्रकार हैं । यहां दिग्दर्शन मात्र उनका उल्लेख किया गया है। (यहां केवल नायिका के स्वाभियोग का प्रकार वर्णन किया गया है) किन्तु नायक चूड़ामणि श्रीकृष्ण में भी ये समस्त स्वाभियोग यथायोग्य भाव में प्रकाशित होते हैं ।।५२।। स्वाभियोग अर्थात् स्वयं अपना अभिप्राय प्रकाशित करना (जिसके तीन प्रकार ऊपर वर्णन कर आये हैं) दो भावों से प्रकाशित हो सकता है—बुद्धिपूर्वक और स्वभाववश । श्रीकृष्ण के साथ मिलन का अभिप्राय जताने के उद्देश्य से बुद्धिपूर्वक यदि वाक्य-भङ्गी आदि प्रकटित हों तो वे समस्त स्वाभियोग माने जाते हैं । और यदि वे बुद्धि पूर्वक न हों, श्रीकृष्ण दर्शनादि के कारण स्वाभाविकरूप में वह समस्त चेष्टाएं प्रकाशित हों, तो उन्हें 'अनुभाव' जानना चाहिये, क्योंकि वे समस्त चेष्टाएं हृदयके भावों की अवबोधक होती हैं ।।५३।।

अथ आप्तदूती—१८—न विश्रम्भस्य भङ्गं या कुर्यात्प्राणात्ययेष्वपि ।
स्निग्धा च वाग्मिनी चासौ दूती स्याद्गोपसुभ्रुवाम् । अमितार्था निसृष्टार्था पत्रहारीति सा त्रिधा ५४
तत्र अमितार्था—
१९—ज्ञात्वेङ्गितेन या भावं द्वयोरेकतरस्य वा । उपायैर्मेलयेत्तौ द्वावमितार्था भवेदियम् ॥ ५५ ॥
यथा—(३७) सा ते बकान्तक कटाक्षशरार्दितापि जीर्णं त्रपाकवचनेव वृथा वहन्ती ।
वर्णैर्नु नोद मुखचन्द्रविगाहिभिर्मां गम्यैर्दृशां गुणतया न किल श्रुतीनाम् ॥ ५६ ॥
अथ निसृष्टार्था—
२०—विन्यस्तकार्यभारा स्याद्द्वयोरेकतरेण या । युक्त्योभौ घटयेदेषा निसृष्टार्था निगद्यते ॥ ५७ ॥
यथा—(३८) अघदमन जगत्यनर्घरूपा विलसति सा गुणरत्नराशिरेका ।
धिगपटुमतिरस्मि यत्पुरस्तां कठिममणेस्तव वक्तुमुद्यताहम् ॥ ५८ ॥

अनुवाद—(आप्त-दूती)—(पहले दो प्रकार की दूतियों का उल्लेख किया जा चुका है—स्वयं दूती एवं आप्त-दूती । पूर्व प्रसंग में स्वयं-दूती के सम्बन्ध में कहा गया है । अब आप्त दूती के विषय में वर्णन करते हैं)—जो दूती प्राणान्त पर्यन्त विश्वास भंग नहीं करती, जो स्नेहशीला एवं वाक्य प्रयोग में निपुणा हों—वे गोपसुन्दरियों की आप्त-दूती कहलाती हैं । आप्त-दूती तीन प्रकार की हैं—अमितार्था, निसृष्ठार्था एवं पत्रहारी ।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—ब्रह्मसूत्र श्रीगोविन्द (२।१।१) के भाष्य में आप्त का तात्पर्य इसप्रकार कहा गया है—जो अपने कर्म में निरत हो, राग-द्वेष रहित हो एवं जो राग-द्वेष रहित लोगों द्वारा नित्य आद्दत होता है उसे 'आप्त' कहते हैं । इस प्रकार नायक-नायिका का मिलन कराने में निरत, रागद्वेष रहित तथा नायक-नायिका द्वारा जो नित्य आद्दत हैं—वे 'आप्त-दूती' हैं ॥

अनुवाद—(अमितार्था)—जो दूती नायक-नायिका दोनोंके अथवा उनमें किसी एकके भी भावोंको इशारे से जानकर विविध उपायों से उनका मिलन कराती रहती है, उसे अमितार्था-दूती कहते हैं ॥५५॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण के कटाक्ष-वाण से घायल होकर उनके मिलने के लिये श्रीराधा जी अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठीं । किन्तु लज्जावश अपनी बात को वह किसी के सामने व्यक्त नहीं कर पा रही थीं । तीव्र उत्कण्ठा वश श्रीराधा जी का मुँह उदास दीख रहा था । उसे देखकर उनके मनोभाव को जानकर उनकी कोई एक सखी श्रीकृष्ण के पास आकर बोली—हे बकासुर हन्ता ! तुम्हारे कटाक्ष-वाण से पीड़ित होकर श्रीराधा वृथा ही लज्जारूप जीर्ण-कवच धारण कर रही हैं । उसने उनके मुखचन्द्र पर परिव्याप्त वर्णद्वारा (मलिनता या उदासीपूर्ण कान्ति द्वारा) मुझे तुम्हारे पास भेजा है । वह वर्ण (अक्षर) कानों से नहीं सुना जा सकता । केवल नेत्रों से देखा जा सकता है । अर्थात् उनके मुख के मलिन-वर्ण को देख कर ही उनके मनोभाव को जान कर मैं तुम्हारे पास आयी हूँ) । (वर्ण का अर्थ रंग भी होता है और अक्षर भी । यहां वर्ण रंग एवं अक्षर दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है ।) ॥५६॥

अनुवाद—(निसृष्टार्था)—नायक एवं नायिका—इन दोनों में एक के द्वारा कार्यभार प्राप्त कर युक्तिद्वारा जो दोनों का मिलन कराती है, उसे निसृष्टार्था-दूती कहते हैं ॥५७॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण के साथ अपना मिलन कराने के उद्देश्य से श्रीराधा ने किसी दूती को श्रीकृष्ण के पास भेजा । उस दूतो ने जाकर श्रीकृष्ण से कहा—हे अघदमन ! अनुपम सौन्दर्यवती एवं

अथ पत्त्राहारी—२१—संदेशमात्रं या यूनोर्नयेत्सा पत्त्रहारिका ॥ ५९ ॥

यथा—(३९) तया निभृतमर्पिता मयि मुकुन्द संदेशवाग्व्रजाम्बुजदृशाद्य या श्रुतिपुटेन तां स्वीकुरु ।
प्रविश्य मम निर्भरे यदिह सान्द्रनिद्रोत्सवे कदर्थयसि धूर्त मां किमिव युक्तमेतत्तव ॥ ६० ॥

२२—ताः शिल्पकारी दैवज्ञा लिङ्गिनी परिचारिका । धात्रेयी वनदेवी च सखी चेत्यादयो व्रजे ॥ ६१ ॥

तत्र शिल्पकारी—

(४०) त्वामाहुः प्रमदाकृतिं भगवतस्त्वष्टुर्द्वितीयां ननु तत्तूर्णं लिख रूपमत्र भुवने यद्वेत्सि लोकोत्तरम् ।
इत्यभ्यर्थितया मयाद्य फलके त्वां प्रेक्ष्य सा चित्रितं चित्रा चित्रदशां गता सहचरीनेत्रेषु चित्रीयते॥ ६२ ॥

दैवज्ञा—(४१) तवाद्य शुभरोहिणीवृषभराशिभाजः परामवेत्य गणनादहं सुखसमृद्धिमत्रागता ।
तदेहि मुदिराकृते परमचित्रकोदण्डभागखण्डविधुमण्डला भवति विद्युदुद्द्योतताम् ॥ ६३ ॥

गुणरत्नराशिरूपा एक मात्र श्रीराधा ही इस जगत् में सर्वोपरि विराजमान हैं। किन्तु हाय ! धिक्कार है मुझे ! मैं बड़ी मूर्ख हूँ, क्योंकि कठोर मणि के समान तुम्हारे पास भी उसका प्रसंग चलाने चली आयी हूँ। (यहां दूती ने राधाके सौन्दर्यगुणराशि का वर्णन कर यह भी जताया कि मैं मूर्ख हूँ कि आपके पास चली आयी हूँ अर्थात् श्रीराधा ने मुझे नहीं भेजा है। श्रीराधाजी की लघुता व्यक्त न हो—यह युक्ति है जो निसृष्टा दूती ने श्रीकृष्ण में श्रीराधा सहित मिलन की उत्कण्ठा बढ़ाने के लिये निकाली) ॥५८॥

अनुवाद—(पत्रहारी)—जो दूती नायक या नायिका का सन्देश मात्र उन दोनों को पहुंचा देती है, उसे 'पत्रहारी दूती' कहते हैं ॥५९॥

अनुवाद—किसी एक व्रजदेवी द्वारा भेजी हुई एक दूती ने श्रीकृष्ण से आकर कहा—हे मुकुन्द ! उस कमलनयनी व्रजदेवी ने आज निर्जन स्थान पर आप के लिये जो सन्देशा भेजा है, उसे आप ध्यान से सुनो—हे धूर्त्त ! मैं अपने घर में गहरी नींद में सो रही थी, उस समय निद्रा में आकर तुमने जो मुझे सताया है, वह क्या तुम्हारे लिये युक्ति संगत है ? ॥६०॥

अनुवाद—इन समस्त आप्तदूतियों में व्रज में रहने वाली शिल्पकारी दैवज्ञा (ज्योतिषिनी) तापस-वेशधारिणी, दासियां, धात्रीकन्या वनदेवी तथा सखियां आदि आती हैं ॥६१॥

अनुवाद—(शिल्पकारी) किसी एक दूती ने श्रीकृष्ण के पास आकर कहा—हे सौन्दर्यनिधे ! एकदिन चित्रा ने मुझे कहा कि अयि शिल्पकारिणि ! विद्वान् लोग कहते हैं कि तुम विश्वकर्मा की दूसरी मूर्ति हो, स्त्रीरूप में अवतीर्ण हुई हो इसलिये इस जगत में लोकोत्तर जो रूप है, तू शीघ्र उसका चित्र अंकित कर। चित्रा के द्वारा ऐसा चाहने पर आज मैंने तुम्हारा ही चित्र फलक पर अंकित करके उसे दिखाया। उसे देखते ही चित्रा की एक ऐसी विचित्र अवस्था हो उठी कि उसकी सखियों के दृष्टि में तो वह भी एक चित्र—जड़वत् प्रतीत होने लगी। (चित्रा की उस अवस्था को देखकर शिल्पकारिणी ने उसकी कृष्ण-प्रीति को जानलिया और श्रीकृष्ण के पास जाकर उसे प्रकाशित किया। यह शिल्पकारिणी अमितार्था आप्त-दूती है ॥) ६२॥

अनुवाद—(दैवज्ञा) श्रीराधा के द्वारा भेजी हुई एक दूती ने श्रीकृष्ण के पास आकर कहा—हे नवघनश्याम ! मैं गणना करके यह जान पायी हूँ कि शुभ-रोहिणी नक्षत्र यक्त वृषराशि में जिसका जन्म होता है, आज उसे परम समृद्धि की प्राप्ति होगी। आपका जन्म भी ऐसे काल में हुआ था। इसलिये

लिङ्गिनी—२३—लिङ्गिनी तापसीवेशा पौर्णमासीवदीरिता ॥ ६४ ॥

यथा—(४२) सरले न विधेहि पुत्रि चिन्तां वशगस्ते भविता व्रजेन्द्रसूनुः ।
यदहं चतुरात्र सिद्धमन्त्रा जरती प्रव्रजिता तवास्मि दूती ॥ ६५ ॥

परिचारिका—२४—लवङ्गमञ्जरीभानुमत्याद्याः परिचारिकाः ॥ ६६ ॥

यथा—(४३) सहचरपरिषत्तः क्षिप्रमाराद्धिकृष्टस्तव गुणमणिमालामीश्वरि प्राहितश्च ।
मधुरिपुरयमक्ष्णोः प्रापितश्चाभिकक्षां भण पुनरपि सेयं किंकरी किं करोतु ॥ ६७ ॥

धात्रेयी—(४४) धात्रेयिकास्मि मधुमर्दन राधिकायास्त्वय्यद्भुतं किमपि वक्तुमिहागताहम् ।
निष्पद्य कृष्णरुचिरद्य हिरण्यगौरी सद्यः सुधाकरकलाधवलेयमासीत् ॥ ६८ ॥

तुम्हें भी आज परम सुख-समृद्धि की प्राप्ति होगी यह जान कर ही मैं तुम्हारे पास आयी हूँ। अतएव हे नवघनमूर्ते ! मेरे साथ चलो, परमविचित्र भ्रु धनुविशिष्टा एवं अखण्ड चन्द्रवदना (श्रीराधारूपा) विद्युत् लता तुम्हारे साथ शोभित होगी। (यह दैवज्ञा निसृष्टार्था आप्त-दूती है) ॥६३॥

अनुवाद—(तापसवेशा)—पौर्णमासी की भांति तपस्विनी वेश धारण करने वाली दूती को 'लिंगिनी-दूती' कहते हैं ॥६४॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण सङ्ग प्राप्ति के लिये श्रीराधा की उत्कण्ठा के विषय में नान्दीमुखी से जानकर पौर्णमासी श्रीराधा के पास गयीं और श्रीराधा को आश्वासन देते हुए इस प्रकार करने लगीं—हे सरले ! हे पुत्रि ! तुम चिन्ता मत करो। व्रजेन्दनन्द्रन तुम्हारे वशीभूत हो जायेंगे, क्योंकि मैं तुम्हारी दूती हूँ। मैं चतुरा, सिद्धमन्त्रा वृद्धा और तपस्विनी हूँ—अपनी चतुराई द्वारा मैं श्रीकृष्ण को तुम्हारे वशीभूत कर दूँगी। जहां चतुराई काम न करेगी मैं मन्त्रशक्ति द्वारा उसे वशीभूत कर दूँगी। मैं वृद्धा हूँ फिर तपस्विनी हूँ। सब मेरे प्रति श्रद्धा और आदर करते हैं। श्रीकृष्ण भी मेरे वचनों को टाल नहीं सकता ॥६५॥

अनुवाद—(परिचारिका-दूती) लवंगमञ्जरी तथा भानुमती आदि परिचारिका या सेवा-परायणा दूतियां हैं ॥६६॥ यथा श्रीकृष्ण सखाओं के साथ बैठे हुए थे। श्रीराधा जी की प्रेरणा पाकर लवंग मञ्जरी अपनी चतुरता से श्रीकृष्ण को वहां से उठा लायी श्रीराधा जी के पास। श्रीराधा जी से बोली —हे स्वामिनि ! सखाओं की गोष्ठी से इस श्रीकृष्ण को मैंने अपने पास बुला लिया था, फिर आप के गुणों की माला इन को ग्रहण करायी—सुनायी है। इनको आप के दर्शनों का लाभ भी करा दिया है। अब आज्ञा कीजिये, यह किंकरी और क्या सेवा करे ? (यह भी निसृष्टार्था आप्त दूती है) ॥६७॥

अनुवाद—(धात्रेयी-दूती) श्रीकृष्ण संग प्राप्त न करके श्रीराधा जी परम व्याकुल हो रही थीं। यह देखकर उनकी धात्री-पुत्री श्रीकृष्ण के पास जाकर बोली—हे मधुमर्दन ! मैं श्रीराधा की धात्री-पुत्री हूँ। आपके पास एक अद्भुत संवाद कहने आयी हूँ, वह यह है कि आज कनक गौरी श्रीराधा कृष्ण-वर्ण की वस्तु में रुचिमती हो कर चन्द्रकला की भांति धवला हो उठी है—कृशा और विवर्णा हो गयी हैं ॥६८॥

अनुवाद—(वनदेवी-दूती) श्रीराधा जी मानवती हो रही थीं। उनके मान भंग करने के लिये श्रीकृष्ण ने वृन्दा जी को बुला भेजा एवं श्रीराधा जी को मना लाने का आग्रह किया। तब श्रीवृन्दा ने

वनदेवी—(४५)

जात्याहं वनदेवतापि भगिनी कुत्रापि ते प्रेमतः क्वाप्यम्बा जननी क्वचित्प्रियसखी कुत्रापि भर्तुः स्वसा।
ग्रीवामुन्नमय प्रसीद रचय भ्रू रिङ्गितादीङ्गितं कुर्याद्बल्लवकुञ्जरः परिणतिं वक्षोजकुम्भे तव ॥ ६६॥

अथ सखी—

२५—स्वात्मनोऽप्यधिकं प्रेम कुर्वाणान्योन्यमच्छलम् । विस्रम्भिणी वयोवेषादिभिस्तुल्या सखी मता ७०॥

यथा—'४६) न मे शोकस्तस्यां यदियमतिपूतैः प्रियसखी हता ते दृग्भङ्गीषुभिरनुपमां यास्यति गतिम् ।
परं शोचाम्युच्चैर्जगदिदमहं यन्मधुरिपो विना तस्याः प्रेक्षामहह भविता व्यर्थनयनम् ॥ ७१॥

२६—वाच्यं व्यङ्ग्यमिति द्वेधा तद्दूत्यमुभयोरपि ॥ ७२॥

एक बहुरूपा वनदेवीको श्रीराधाजी के पास भेजा । उसने श्रीराधाजी के पास अपनी अचिन्त्यशक्ति जताते हुए कहा—हे राधे ! मैं जातिसे वनदेवी होते हुए भी तुम्हारी प्रीतिवश कहीं तुम्हारी बहन—अनङ्गमञ्जरी रूपमें कहीं तुम्हारी नानी-मुखराके रूपमें,कहीं तुम्हारी प्रियसखीके रूपमें,और कहीं तुम्हारी ननद—कुटिलाके रूपमें तुम्हारे साथ यथोचित व्यवहार करती रहती हूँ,किन्तु तुम मुझे उन सब रूपोंमें पहचान नहीं सकती हो इस समय तुम्हारे सामने दूती रूप में उपस्थित हुई हूँ । एक बार ग्रीवा ऊंची उठाकर मेरे प्रति दृष्टि पात करो । मैं अदृष्टचरी हूँ या कि दृष्टचरी, इसका परिचय प्राप्त करो । मेरे अनुरोध से तुम प्रसन्न होवो। (प्रसन्न होकर मेरे साथ बात-चीत करो । लज्जावश यदि तुम अपने मन का भाव प्रकाशित न कर सको, तो) भ्रु-चालना—इशारे से अपना मनोभाव प्रकाश करो) जिससे गोपकुल-करीन्द्र श्रीकृष्ण (अपने हाथों से) तुम्हारे वक्षोज कुम्भ में परिणति (मर्द्दन) कर-सके । (यह वनदेवी भी निसृष्टार्था आप्तदूती है) ॥६६॥

अनुवाद—(सखी) जो निष्कपटभाव से एक-दूसरे के प्रति अपने से भी अधिक प्रेम पोषण करती हैं, एक दूसरे की विश्वास पात्र होती हैं, और जो वयस और वेशादि में अर्थात् वेश-भूषा, रूप, गुण, वैदग्धी, सौन्दर्य-माधुर्य तथा विलासादि में एक दूसरे के तुल्य होती हैं, उनको एक दूसरे की सखी कहा जाता है ॥७०॥

अनुवाद—यथा—श्रीकृष्ण-मिलन की उत्कण्ठा में श्रीराधा जी बेसुध पड़ी हैं । इसकी सूचना देने के लिये श्रीराधा जी की सखी विशाखा श्रीकृष्ण के पास आकर बोली—हे मधुसूदन ! आप के दृष्टि भंगी रूप अति पवित्र वाणों द्वारा घायल होकर मेरी प्रिय सखी—श्रीराधा यदि अनुपमा गति (मृत्यु) को प्राप्त करे, उसमें मुझे कुछ शोक न होगा, किन्तु अत्यन्त दुखका विषय यह है कि उसे देखे बिना यह समस्त जगत् व्यर्थनयन हो जायेगा । (अतएव जितना जल्दी हो सके मेरी सखी के पास जाकर उसे जीवन-दान दो । विशाखा अमितार्था-आप्तदूती हैं) ॥७१॥

अनुवाद—(सखी-दूत्य भेद) नायक की दूती एवं नायिका की दूती, इन दोनों का दूत्य दो प्रकार का है—वाच्य एवं व्यङ्ग्य ॥७२॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—सखीरूपा दूती नायक-श्रीकृष्ण की पक्षीया भी हो सकती है और नायिका-व्रजगोपी की पक्षीया भी हो सकती है । अभिधा-शक्ति द्वारा जो अर्थ समझा जाता है—उसे वाच्य कहते हैं । और व्यञ्जना-वृत्ति द्वारा जो अर्थ समझा जाता है, उसे व्यङ्ग्य कहते हैं ।

तत्र कृष्णप्रियायां वाच्यं यथा—
(४७) शप प्रहर तर्ज मां क्षिप बहिः कुरुष्वाथ वा कदापि मतिराग्रहान्न सखि मे विरंस्यत्यतः।
प्रयामि तदहं हरेरुपनयाय सत्यं ब्रुवे न सा श्वसितु या न वामनुभवेन्नवां संगतिम् ॥ ७३ ॥
व्यङ्ग्यं, यथा—
(४८) सखि तर्कितासि कामितकृष्णागुरुसौरभा त्वमिह। भवदभिमतार्थविधये नैगमसविधं गमिष्यामि ७४
यथा वा—(४९) त्वमसि किमिव बाले व्याकुला तृष्णयोच्चैः शृणु हितमविलम्बं तत्र यात्रां विधेहि।
विलसदमलरागः पूर्वशैलस्य तिष्ठन्विधुरुपरि चकोरि त्वत्प्रतीक्षां करोति ॥ ७५ ॥
अथ कृष्णे वाच्यम्—(५०) तवास्मि कृष्ण प्रहिता तवाग्रे सौन्दर्यसारोज्ज्वलया त्रिलोक्याम्।
अभूतपूर्वां रचयन्विधिर्यां स्वस्यापि विस्मापकतामयासीत् ॥ ७६ ॥

अनुवाद—(कृष्ण-प्रिया प्रति वाच्यदूत्य)—श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा का अनुराग उदित हो रहा था, किन्तु लज्जावश वह उसे गोपन कर रही थीं। उनकी किसी सखी ने इंगित में उसे जान लिया। वह श्रीराधा के पास लाने के लिये तैयार हुई। श्रीराधा ने उसे डांट कर जाने को रोका। तब उस सखी ने श्रीराधा के प्रति कहा—हे प्रेमिणि ! तुम मुझे शाप दो, ताड़न करो चाहे डांटो या तिरस्कार करो, अथवा यहां से बाहर निकाल दो, मेरी बुद्धि आज इस आग्रह को नहीं छोड़ेगी। इसलिए श्रीकृष्ण को आपके निकट लाने के लिये मैं जा रही हूँ। मैं सत्य कह रही हूँ, जो नारी तुम्हारे नव-मिलन का अनुभव नहीं करती, वह मानों मृतक है। (यह सखी श्रीकृष्ण का पक्ष अवलम्बन करके श्रीराधा को कह रही है। इसके वचनों का जो प्रकट अर्थ है, वही श्रीराधा का अभीष्ट है। इसलिये यह वाच्य दूत्य है) ॥७३॥

अनुवाद—(व्यंग्य-दूत्य) श्रीकृष्ण-मिलन हित श्रीराधा को उत्कण्ठित जानकर उनकी कोई सखी नर्मवचन बोली—हे सखि ! तुम्हें देखकर ऐसा लगता है, तुम कृष्णागुरु-सौरभ की कामना कर रही हो। तुम्हारी अभीष्ट सिद्धि के लिये मैं नैगम (पंसारी-बनिया के) पास जाऊंगी (यह तो है वाच्य या प्रकट-अर्थ। गूढ़ अर्थ यह है कि तुम 'कामित कृष्णा' अर्थात् श्रीकृष्ण की कामना कर रही हो। तुम अगुरु-सौरभा हो अर्थात् अगुरु (अगर की भांति तुम्हारे अङ्गों की सौरभ है अतः यह शब्द-शक्त्युत्थ व्यंग्य दूत्य है) ॥७४॥

अनुवाद—(अर्थशक्त्युत्थ व्यंग्य) श्रीकृष्ण-मिलन के लिये श्रीराधाजी को अत्यन्त उत्कण्ठिता देखकर उनकी एक सखी ने कहा—हे बाले ! हे चकोरि ! अत्यन्त पिपासा वश क्या तुम एक अद्भुत व्याकुलता को प्राप्त हो रही हो ? मैं तुम्हारे हित की बात कहती हूँ, सुनो पूर्वशैल पर विमलरागशाली चन्द्र उदित होकर चकोरी की प्रतीक्षा कर रहा है, (वहां जाने पर तुम्हारी पिपासा बुझ जायेगी)। (गूढ़ अर्थ है—हे राधे ! पूर्वदिशावर्ती—गोवर्धन पर्वत पर तुम्हारे प्रति अनुरक्त श्रीकृष्णचन्द्र तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं—वहां जाकर उनकी अधर सुधा का पान कर पिपासा शान्त करो) ॥७५॥

अनुवाद—(कृष्णके प्रति वाच्य दूत्य)श्रीराधा-सखी विशाखाने श्रीकृष्ण के पास जाकर कहा—हे सुन्दर ! त्रिभुवन में सौन्दर्यसार से समुज्ज्वला, जिस अभूतपूर्वा रमणी की रचना कर स्वयं विधाता भी विस्मित हो उठा था, उस श्रीराधा द्वारा भेजी हुई मैं आपके पास आयी हूँ। (श्रीराधा-पक्षीया दूती नायक श्रीकृष्ण के पास आयी है और वाच्य—स्पष्ट अर्थों में वचन कहे हैं ॥७६॥

अथ व्यङ्ग्यम्—

२७—तत्प्रियायाः पुरः पश्चात्कृष्णे व्यङ्ग्यं द्विधा भवेत् । तत्साक्षाद्व्यपदेशाभ्यां द्विविधं च द्विधोदितम् ॥

तत्र तत्प्रियायाः पुरः कृष्णे साक्षाद्व्यङ्ग्यं यथा—

(५१) माधव ! कलापिनीयं न सविधमायाति मे दुराराधा । निजपाणिना तदेनां प्रसीद तूर्णं गृहाणाद्य ७८

यथा वा उद्धवसंदेशे—

(५२) सन्ति स्फीता व्रजयुवतयस्त्वद्विनोदानुकूला रागिण्यग्रे मम सहचरी न त्वया घट्टनीया ।
दृष्ट्वाभ्यर्णे शठकुलगुरुं त्वां कटाक्षार्धचन्द्रान्भ्रूकोदण्डे घटयति जवात्पश्य संरम्भिणीयम् ॥ ७९ ॥

अनुवाद— (व्यंग्य)-श्रीकृष्ण-प्रेयसी के सामने और पीछे या अनुपस्थिति के भेद से श्रीकृष्ण के प्रति व्यग्य दो प्रकार का है। इन दोनों भेदों में प्रत्येक के फिर 'साक्षात्' और 'व्यपदेश' दो दो प्रकार हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण के प्रति व्यंग्य-दूत्य के कुल चार भेद हैं—(१) श्रीकृष्णप्रिया के सामने श्रीकृष्ण के प्रति साक्षात् व्यंग्य, (२) श्रीकृष्णप्रिया के आगे श्रीकृष्ण के प्रति व्यपदेश-व्यंग्य, (३) श्रीकृष्ण प्रिया के उपस्थित न रहने पर श्रीकृष्ण के प्रति साक्षात् व्यंग्य, तथा (४) श्रीकृष्णप्रिया की अनुपस्थिति में श्री-कृष्ण के प्रति व्यपदेश-व्यंग्य। (इन चारों का क्रमशः उदाहरण देते हैं, इस प्रसंग में जो दूतियाँ हैं, वे सब नायिकाकी दूतियां बनकर श्रीकृष्ण के पास जाने वाली हैं) ॥७७॥

अनुवाद—(कृष्णप्रिया के सामने श्रीकृष्ण के प्रति साक्षात्-दूत्य)—श्रीकृष्ण के साथ मिलने के लिये अभिसार करके विशाखा के साथ श्रीराधा वृन्दावन में आयीं। किन्तु कुछ दूर से श्रीकृष्ण के दर्शन करते ही उनमें वामता उदित हो उठी और वह कुञ्ज में जाने की अनिच्छुक हो गयीं। तब विशाखा श्रीकृष्ण के पास आकर सामने श्रीराधा को दिखाते हुए बोली—हे माधव ! यह कलापिनी मेरे साथ नहीं आ रही है, मेरे लिये इसे आपके पास लाना दुःसाध्य है। अतः आप प्रसन्न होकर इसे अभी अपने हाथ से पकड़ लाओ ॥७८॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—व्यंग्य यह है—'कलापिनी' का अर्थ है मोरनी, पक्ष में सालंकृतारमणी। 'मे दुराराधा' का अर्थ है मेरे पक्ष में दुसाध्य, तथा पक्ष में है 'मेदुरा राधा' स्निग्धा राधा। व्यङ्ग्य अर्थ होता है—हे माधव ! यह सालंकृता श्रीराधा मेरे साथ तुम्हारे पास नहीं आ रही है, यह अति स्निग्धा है। तुम प्रसन्न होकर इसे अपने हाथ से पकड़ लो—अब नीचे के उदाहरण में अर्थशक्त्युत्थ व्यंग्य प्रदर्शित करते हैं—

अनुवाद—(श्रीउद्धवसन्देश (५१) में यथा—सामने अवस्थिता श्रीराधा को दिखाकर विशाखा ने श्रीकृष्ण से कहा—हे श्रीकृष्ण ! तुम्हारी क्रीड़ा के अनुकूल अनेक स्थूला व्रजयुवतियां विद्यमान हैं, (उनके द्वारा, तुम्हारी विलास-वासना पूर्ण हो जायेगी, इसलिये) सामने उपस्थित मेरी इस रागिणी सहचरी को तुम क्षुब्ध मत करना। यह देख, शठकुलका गुरु तुम्हारी ओर देखने मात्र से अपनी भ्रुकुटी-धनुप से कटाक्ष रूप अर्द्ध चन्द्र बाणों की योजना कर रहा है। (स्फीता अर्थात् स्थूल-बुद्धि—वैदग्धीहीना। 'रागिणी'—क्रोधस्वभावा, पक्षे अनुरागिणी। व्यंग्य इस प्रकार है—अनेक व्रजयुवतो हैं किन्तु वे अरसिका वैदग्धी-हीना हैं। तुम्हारे उपभोग योग्य नहीं है। तुम्हारे सामने मेरी सखी श्रीराधा उपस्थित है, जो दर्शन मात्र से ही तुम्हारी ओर कटाक्ष बाण निक्षेप करते हुए अपना अनुराग प्रकाश कर रही हैं।) ॥७९॥

व्यपदेशेन, यथा—(५३) धवमुपेक्ष्य कठोरमियं पुरः परिमलोल्लसिता किल माधवी।
श्रयितुमुत्कलिकावलितादभुतं ननु भवन्तमुपैति हलिप्रिय॥ ८०॥

तत्प्रियायाः पश्चात्साक्षाद्व्यङ्ग्यं, यथा—

(५४) स्फुरत्सुरमणिप्रभः सुरमणीघटाश्लाघितां सदाभिमतसौरभः प्रकटसौरभोद्भासिनीम्।
मुकुन्द मुदिरच्छविर्नवतडिन्निभां तामसौ भवानपि न चम्पकावलिमृते किल भ्राजते॥ ८१॥

व्यपदेशेन व्यंग्यं, यथा—

(५५) शैलस्तुङ्गशिरा विराजति सरस्तस्योत्तरे विस्तृतं तत्तीरे वनमुन्नतं तदुदरे हारी लतामण्डपः।
तस्य द्वारि गभीरसौरभभरैराह्लादयन्ती दिशः फुल्ला ते मधुसूदनाद्य पदवीमालोकते मालती ८२॥

अनुवाद—(कृष्णप्रिया के सामने श्रीकृष्ण प्रति व्यपदेश व्यंग्य)—हे हलिप्रिय (कदम्बवृक्ष)! यह सामने उपस्थित माधवी (लता) तुम्हारे परिमल से आनन्दित होकर उत्कृष्ट कलियों से समावृत होकर कठोर धव (धवनामक वृक्ष) की उपेक्षा करके तुम्हारा ही आश्रय लेने आयी है॥८०॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रीकृष्ण-मिलन के उद्देश्य से कोई एक व्रजसुन्दरी अपनी सखी के साथ वृन्दावन आयी, किन्तु श्रीकृष्ण के निकट वह नहीं गयी। कुछ दूरी पर श्रीकृष्ण की दृष्टि-गोचर होकर खड़ी रही। श्रीकृष्ण एक कदम्ब वृक्ष के सहारे खड़े थे, पास में एक धवनामक वृक्ष भी विद्यमान था। कलियों से लदी एक माधवीलता कदम्ब वृक्ष की ओर झुक रही थी। इस अवस्था में श्रीराधा की सखी ने कदम्बवृक्ष एवं माधवी लता के व्यपदेश से श्रीकृष्ण के प्रति उस ब्रजसुन्दरी के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए कहा—हे हलिप्रिये—कदम्बवृक्ष, पक्षान्तर में हलि—वलराम के प्रिय श्रीकृष्ण! माधवी लता, पक्ष में माधव प्रिया, धव—धव नामक वृक्ष, पक्ष में पति। 'उत्कलिकावलिता' उत्कृष्ट कलियों से आवृत, पक्ष में उत्कण्ठा से व्याकुला। व्यंग्य-अर्थ इस प्रकार है—बलरामप्रिया श्रीकृष्ण! यह अग्रवर्तिनी रमणी तुम्हारे साथ मिलित होने के लिये अत्यन्त व्याकुल है अपने कठोर निष्ठुर पति को यह त्याग कर तुम्हारा आश्रय लेने आयी है।

अनुवाद—(कृष्णप्रिया के पीछे श्रीकृष्ण के प्रति साक्षात् व्यंग्य) चम्पकावली नामक ब्रजगोपी कहीं दूसरे स्थान पर थी। उसकी किसी सखीने श्रीकृष्ण के सामने आकर कहा—हे मुकुन्द! दीप्यमान सुरमणि (कौस्तुभमणि) की प्रभा से शोभित, सर्वदा अपनी प्रिय सुरभि समूह से परिवृत, नवजलधर-कान्ति है आपकी। उत्तम रमणियों से सेविता, स्पष्टरूप से अनुभूयमान सौरभ से उद्भासिनी, नव-विद्युत्शोभा धारिणी चम्पकावली के बिना आप भी शोभा नहीं पा रहे हो॥८१॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—व्यंग्यरूप में यह अर्थ निकलता है—हे मुकुन्द! चम्पकावली के बिना आप की शोभा प्रकाशित नहीं होती है। क्योंकि आप नवजलधर कान्ति विशिष्ट हैं और चम्पकावली नवतड़ित् तुल्य शोभाधारिणी है। नवतडित् के साथ ही नवजलधर शोभित होता है। मिलन पक्ष में आप दोनों की समयोग्यता भी है। आप सुरमणिप्रभ हो और वह सु-रमणीवृन्द द्वारा सेविता है। आप अपनी प्रिय सुरभीगण (गौओं) से परिवृत रहते हैं और वह सुरभीगाभी समूह -अपने अंग सौरभ से सदा परिवृत रहती है। अतः चम्पकावली से मिलित होकर अपने को शोभित—कृतार्थ करो॥

अनुवाद—(कृष्णप्रिया के पीछे श्रीकृष्ण के प्रति व्यपदेश व्यंग्य)—ललिताजी श्रीराधा को अभिसार कराकर श्रीराधाकुण्ड के तीरस्थित किसी एक केलिकुञ्ज में ले आयी। कुञ्ज में श्रीराधाजी को बैठाकर ललिता जी श्रीकृष्ण को बाहर ढूंढने लगी। उसने देखा कि श्रीकृष्ण दूर अपने सखाओं के साथ

२८—यथा नायिकया दूत्ये वयस्याया नियोजनम् । कृष्णाय क्रियते तस्य प्रकारोऽयं विलिख्यते
नियोजनं क्रियासाध्यं वाचिकं चेति तद्द्विधा ।। ८३ ।।

तत्र क्रियासाध्यम्—(५६) दिवि वीक्ष्य नवाम्बुदं तथासौ परिरब्धोद्यमलमाततान तन्वी ।
अपि किंचिदिहानुदीर्य वाचा प्रजिघायाघभिदे यथा वयस्याम् ।। ८४ ।।

यथा वा—(५७) मुहुरपि विधुरान्तर्वेणुमाकर्ण्य मुग्धा स्वयमिह न वयस्यां माधवाय न्ययुङ्क्त ।
अपि तु विशदमस्याः स्वेदशालिन्यरुद्धा तनुमनु विकसन्ती कण्टकश्रेणिरेव ।। ८५ ।।

अथ वाचिकम्—२९-वाच्यं व्यङ्ग्यमिति प्रोक्तं पूर्ववद्वाचिकं द्विधा ।। ८६ ।।

बैठे हैं। सखाओं के सामने श्रीराधा के आनेकी बात स्पष्ट भाव से तो ललिता जी कह नहीं सकी, अतः मधुसूदन—भ्रमर एवं मालती लता के व्यपदेश से श्रीराधाकुण्ड तीर पर श्रीराधा के आने की बात जताते हुए ऐसे बोली जैसे वह एक भ्रमर को कह रही हो—हे मधुसूदन ! (भ्रमर) पक्षे श्रीकृष्ण ! यह जो उच्चशिरा पर्वत (गोवर्धन) विद्यमान है, उसकी उत्तर दिशा में एक विस्तृत सरोवर (राधाकुण्ड) है। उसके तीर पर घना वन है। उसके बीच मनोहर लतामण्डप है। उस लतामण्डप के द्वारदेश पर अत्यन्त सौरभभरी, समस्त दिशाओं को आमोदित करती हुई प्रफुल्लित मालती लता (प्रफुल्ल यौवना—श्रीराधा) है, वह तुम्हारो बाट जोह रही है। (हे भ्रमर ! तुम शीघ्र जाकर इससे मिलो।) ।।८२।।

अनुवाद—श्रीकृष्ण को बुला लाने के लिये नायिका जिस तरह दूत्यकार्य में अपनी सखी को नियोजित करती हैं, उसके प्रकार का यहां उल्लेख करते हैं। वह नियोगक्रिया द्वारा निष्पन्न होता है, तथा वाच्य द्वारा—अर्थात् वह नियोजन, (१) क्रिया-साध्य तथा (२) वाचिक भेद से दो प्रकार का है ।।८३।।

अनुवाद—(क्रिया-साध्य दूती-नियोजन) श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का स्मरण करके व्याकुलचित्त होकर श्रीराधाजी उन्मत्त की भांति अवस्था को प्राप्त हो उठीं। यह देखकर उनकी कोई प्रियसखी श्रीकृष्ण को बुलाने गयी। श्रीवृन्दा ने श्रीपौर्णमासी को कहा—आकाश में नवीन मेघ को देखकर श्रीराधा दोनों भुजाएं प्रसार कर ऐसे भाव में आलिंगन की चेष्टा करने लगीं कि मुखसे कुछ न बोलने पर भी उस चेष्टा ने श्रीकृष्ण को बुला लाने के लिये सखी को भेज दिया। (औत्सुक्य व्यभिचारी भाव द्वारा क्रिया-साध्य होने का उदाहरण है यह) ।।८४।।

अनुवाद—(अब सात्त्विकविकार द्वारा क्रिया-साध्यता का उदाहरण देते हैं)—श्रीकृष्ण के वेणु-नाद को सुनकर व्याकुला व्रजगोपी के सात्त्विक विकार को देखकर उसकी एक प्रिय सखी श्रीश्याम-सुन्दर को बुलाने गयी—इस वृत्तान्त को नान्दीमुखी श्रीपौर्णमासी से कह रही हैं—वेणुनाद श्रवणकर बार-बार मनमें दुखित होने पर भी मुग्धता के कारण वह व्रजगोपी स्वयं श्रीकृष्ण को बुला लाने के लिये किसी सखी को भेज न सकी। किन्तु उसके स्वेदयुक्त शरीर पर जो स्पष्टभाव से पुलकावली प्रकटित हो उठी, उसने ही सखी को श्रीकृष्ण के पास भेजा। व्रजगोपी ने लज्जावश उस पुलकावली को रोकने का यत्न भी किया, किन्तु वह तो और भी स्पष्ट भाव से प्रकाशित हो उठी ।।८५।।

अनुवाद—(वाचिक-नियोजन)—वाच्य तथा व्यंग्य—भेद से यह भी दो प्रकार का है ।।८६।। यथा (वाच्य)—एक व्रजगोपी विना कारण श्रीकृष्ण से मान ठान बैठी। बाद में उन्हें निर्दोष निश्चय करके इस खिन्ना व्रजगोपी ने श्रीकृष्ण को बुला लाने के लिये अपनी एक सखी को भेजा और कहा—हे सखि

तत्र वाच्यं, यथा—(५८) त्वमसि मदसवो बहिश्चरन्तस्त्वयि महती पटुता च वाग्मिता च ।
लघुरपि लघिमा न मे यथा स्यान्मयि सखि रञ्जय माधवं तथाद्य ॥ ८७ ॥

अथ व्यङ्ग्यम्—३० —अत्र शब्दार्थमूलत्वाद्व्यङ्ग्यं च द्विविधं भवेत् ॥ ८८ ॥

तत्र शब्दमूलं, यथा—(५९) नहि शिक्षितुं वरकलासु कौशलं गुणचातुरीं च न मृगाक्षि कामये ।
तमहं समभ्यसितुमेव सुभ्रुवां सखि केशबन्धनविशेषमर्थये ॥ ८९ ॥

यथा वा—

(६०) ण पउमराअप्पमुहं रअणं कामेइ गोइ मे हिअअम् । किन्तु सदा हीरवरं वाञ्छइ हारान्तरे काउम् ॥
[न पद्मरागप्रमुखं रत्नं कामयति गोपि मे हृदयम् । किंतु सदा हीरवरं वाञ्छति हारान्तरे कर्तुम् ।]

अथ अर्थमूलम्—

३१—आक्षेपेण स्वपत्यादेर्गोविन्दादेः प्रशंसया । वैशिष्ट्येन च देशादेरर्थमूलमनेकधा ॥ ९१ ॥

तत्र स्वपत्याद्याक्षेपेण, यथा—

(६१) विधातुर्दौरात्स्यान्न हि वहति घोरप्रकृतये रुचिं चेतः पत्ये हतवपुरिदं दीव्यति रुचा ।
भजत्कक्षामक्ष्णोर्विषममिदमुग्रं प्रहरते यमीतीरारण्यं किमिह सखि शिक्षां न तनुषे ॥ ९२ ॥

तुम मेरे उन प्राणों के समान हो जो बाहर अवस्थान करते हैं। तुम अति निपुण-और बात बनाने में चपल हो। जिससे मेरी तो स्वल्पमात्र चञ्चलता या इच्छा हो प्रकाशित न हो, इस रीति से मेरे प्रति श्रीकृष्ण को अनुरक्त करके मेरे पास ले आओ ।।८७।।

अनुवाद—व्यङ्गच भी दो प्रकार का है—शब्दमूल तथा अर्थमूल ।।८८।। (शब्दमूल) यथा कोई एक व्रजसुन्दरी श्रीकृष्ण के नव यौवन-रूपादि का माधुर्य अनुभवकर अधीर हो उठी। इसने गूढ़ शब्दों का प्रयोग करते हुए अपनी सखी को श्रीकृष्ण को ले आने के लिये भेजा—हे मृगनयनि सखि ! मैं प्रधान कलाविद्या अथवा गुणचातुरी आदि की कुछ भी शिक्षा प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करती हूँ, किन्तु सुन्दर-रमणियों के केशकलापों की वेणी गूथने के अनेक प्रकार का अभ्यास करने की इच्छा मुझे है। (गूढ़ अर्थ है कि मैं सुन्दर रमणियों के सर्वस्व केशव को पाने की प्रार्थना करती हूँ) ।।८९।।

अनुवाद—(पूर्वश्लोक में नीतिनिपुण मुग्धा सखी के नियोग का उदाहरण दिया गया है। इसमें एक प्रवीणा प्रौढ़ा के नियोग का उदाहरण देते हैं -एक ब्रजसुन्दरी ने कहा—हे गोपि ! मेरे हृदय में पद्मरागादि मणि धारण करने की कामना नहीं है, किन्तु सदा हीरक श्रेष्ठ को हार के मध्य में सजाकर धारण करने की कामना है। ('सदाहीरवर'—शब्द में व्यङ्गच यह है कि सदा अहीरवर अर्थात् श्रेष्ठ गोप श्रीकृष्ण को नायकमणि रूप में धारण करने की इच्छा करती हूँ) ।।९०।।

अनुवाद—(अर्थमूलव्यङ्गच) अपने पति आदिक के प्रति आक्षेप, गोविन्दादिकी प्रशंसा तथा देशादि की विशेषताकथन द्वारा अर्थमूल व्यङ्गच अनेक प्रकार का होता है ।।९१।।

अनुवाद—(स्वपतिप्रभृति के प्रति आक्षेप-व्यङ्गच)—श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-रूपास्वादन की उत्कण्ठा में एक व्रजसुन्दरी लज्जा छोड़कर अपने पतिसंग के प्रति अनिच्छा व्यक्त करते हुए श्रीकृष्णसंगोत्कण्ठा को गूढ़ शब्दों में अपनी सखी से कहती है—हे सखि ! विधाता की विडम्बना से मेराचित्त और अब कठोर स्वभाव वाले अपने पति में जरा भी रुचि नहीं रखता है। यौवन से उत्पन्न कान्ति से यह मेरा शरीर दिन-दिन उल्लसित होता जा रहा है, (यौवनोत्थ देहकान्ति का ही यह दोष है कि मेरी रुचि

गोविन्दादेः प्रशंसया, यथा—

(६२) कुलस्त्रीणां नेष्टा परपुरुषरूपस्तुतिकथा तथापि त्वं प्राणाः सखि मम बहिष्ठाः स्वयमसि ।
किया नास्ते तस्मिन्व्रजपतिकुमारे मधुरिमा छटाप्याराद्यस्य म्रदयति दृशोर्द्वन्द्वममृतैः ॥ ६३ ॥

यथा वा—(६३) दूत्यचक्रचतुरासि चञ्चले नन्दनो व्रजपतेः स नागरः ।
मां जहाति शिशुता च रक्षणी माकृथाः सखि ततः प्रमादिताम् ॥ ६४ ॥

देशादिवैशिष्ट्येन, यथा—

(६४) वृन्दारण्ये व्रततिपटलीसंकटे पुष्पहेतो-र्भ्रामंभ्रामं सहचरि चिरं श्रान्तिमभ्यागतास्मि ।
तद्विश्रान्तिं क्षणमिह करोम्येकिकाहं निकुञ्जे त्वं कालिन्दीतटपरिसरादाहरेथाः प्रसूनम् ॥ ६५ ॥

यथा वा—(६५) मधुरिता मधुना विधुनाप्यसौ सखि पतङ्गसुतापुलिनाटवी ।
सवयसा वयसा च विभूषिता तनुरियं किमिह क्षममुच्यताम् ॥ ६६ ॥

अपने कठोरस्वभाव पति से हट गयी है) । एक विपत्ति यह भी है कि (जामन-वन भी मेरे नेत्र-पथ में आकर मेरे ऊपर निर्दयता पूवक प्रहार कर रहा है, (व्यङ्गय पक्ष में 'यमीतीरारण्य'—यमी अर्थात् यम की वहन यमुना का तीर पर मुझ में कामोद्दीपन कर मुझे जला रहा है । अत: मेरे प्राणोंको रक्षाके लिये मुझे कुछ शिक्षा प्रदान करो । पक्ष में श्रीकृष्ण को लाकर मुझसे मिलाओ ॥६२॥

अनुवाद—(गोविन्दादि की प्रशंसा)—एक व्रजसुन्दरी ने अपनी प्रिय सखी से कहा—हे सखि ! कुलीन रमणियों के पक्ष में पर-पुरुष के रूप-गुणों की प्रशंसा उचित नहीं है, तथापि तुम तो मेरे बाह—रले प्राणों के समान हो, तभी मैं तुम से कुछ कहने का साहस कर रही हूँ—उस व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण का कैसा अद्भुत माधुर्य है, उसे तो मैं नहीं जानती हूँ केवल इतना समझ पायी हूँ कि उस रूप की एकमात्र छटा ने दूर से भी मेरे नेत्रों को अमृत के समान शीतल कर दिया है ॥६३॥ (पूर्वश्लोक में 'गोविन्दादि' शब्द का उल्लेख आया है । गोविन्द की प्रशंसा का उदाहरण ऊपर दिया गया है, अब 'आदि' शब्द से दूती की प्रशंसा तथा आत्म प्रशंसा का उदाहरण देते हैं)—एक व्रजसुन्दरी ने अपनी कृष्णनिष्ठता को अभिव्यक्त करते हुए अपनी सखी से कहा—हे चञ्चले ! तुम तो दूती कार्य में अति निपुणा हो, ब्रज-पति कुमार श्रीकृष्ण नागर (युवावस्था-प्राप्त) हैं । अब तक मैं शिशु (कुमारावस्थायुक्त) थी और उस शिशुता ने मेरी अब तक रक्षा की । अब शिशुता मुझे त्याग गयी है—मैं यौवनावस्था में आ गयी हूँ । (अब तो केवल विवेक और धैर्य्य ही मेरी रक्षा कर रहे हैं) । इस लिये अब तू मेरी रक्षा करने में असावधानी मत कर । (पक्षान्तर में—अब श्रीकृष्ण मिलन कराने में उदासीनता मत बरतो उनसे शीघ्र मिलाओ) ॥६४॥

अनुवाद—(देशादि-वैशिष्ट्यकथन)—श्रीकृष्ण-मिलन की सम्भावना में एकसुन्दरी वृन्दावन में अपनी सखी के साथ आयी । सारिका के मुख से उसने सुना कि श्रीकृष्ण यमुनातीर पर हैं । उसने अपनी सखी को यमुनातीर पर पुष्पचयन कर लाने के वहाने श्रीकृष्ण को बुलाने भेजा यह कहकर—हे सखि ! लताओं से आवृत इस वृन्दावन में बहुत देर तक भ्रमण करते-करते मैं तो थक गयी हूँ । मैं इस निर्जन कुञ्ज में कुछ देर विश्राम करती हूँ । तुम यमुनातट से पुष्प चयन कर लाओ । (पक्षान्तर में श्रीकृष्ण को जाकर बुला ला इस कुञ्ज में) ॥६५॥ (काल-पात्रादि का वैशिष्ट्य कथन)—एक व्रजगोपी वासन्ती ज्योत्स्नामयी रात्रि का वैशिष्ट्य वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण के समक्ष अपना आशय व्यक्त

अथ सखीप्रकरणम्

१—प्रेमलीलाविहाराणां सम्यग्विस्तारिका सखी। विस्रब्धरत्नपेटी च ततः सुष्ठु विविच्यते ॥ १ ॥
२—एकयूथानुषक्तानां सखीनामेव मध्यतः। अधिकादेर्भिदा ज्ञेया प्रखरादेश्च पूर्ववत् ॥ २ ॥
३—प्रेमसौभाग्यसाद्गुण्याद्याधिक्यादधिका सखी समा तत्साम्यतो ज्ञेया तल्लघुत्वात्तथा लघुः ॥ ३ ॥
४—दुर्लङ्घ्यवाक्यप्रखरा प्रख्याता गौरवोचिता। तदूनत्वे भवेन्मृद्वी मध्या तत्साम्यमागता ॥ ४ ॥
५—आत्यन्तिकाधिकत्वादिभेदः पूर्ववदत्र सः। स्वयूथे यूथनाथैव स्यादत्रात्यन्तिकाधिका ॥
सा क्वापि प्रखरा यूथे क्वापि मध्या मृदुः क्वचित् ॥ ५ ॥
तत्र आत्यन्तिकाधिकात्रिकम्—
६—तत्त्रिकं सकलापेक्ष्यं नातीवान्यवशं तथा। स्वयूथे तद्व्यवहृतिव्यक्तये पुनरुच्यते ॥ ६ ॥

करने के लिये अपनी सखी को भेजते हुए कहती है—हे सखि! यह यमुना-पुलिन वन (स्थान) वसन्त तथा चन्द्र (कृष्णचन्द्र) से माधुर्यपूर्ण हो रहा है। मेरा शरीर भी इस समय वेश-भूषा रूपी सखी एवं नवयौवन से विभूषित हो रहा है। इस समय क्या कर्तव्य है—उसे बताओ। (पक्षान्तर में श्रीकृष्णचन्द्र को लाकर मुझ से मिलाओ ॥९६॥

सखी-प्रकरण

अनुवाद—(सखी-लक्षण)—सखियां ही श्रीश्रीराधाकृष्ण की प्रेमलीला एवं विहारादि का सम्यक् विस्तार करने वाली हैं। वे अत्यन्त विश्वास-रत्नों की पेटिका स्वरूपा हैं ॥१॥

अनुवाद—एक यूथ में ही अनुरक्त होकर रहने वाली सखियों में (यूथेश्वरियों की भांति) अधिकाधिक भेद तथा प्रखरादि भेद जानना चाहिये ॥२॥ सखियों में जिनका प्रेम, सौभाग्य, तथा साद्गुण्य सर्वापेक्षा अधिक है, उनको 'अधिका' कहते हैं, जो प्रेमादि में समान हैं, उन्हें 'समा' तथा जो लघु हैं उन्हें 'लघु' कहा जाता है ॥३॥ जिनके वाक्य उल्लंघन-योग्य नहीं होते और निरन्तर गौरवयुक्ता हैं, उन्हें 'प्रखरा' कहते हैं। गौरवादि की न्यूनता के कारण 'मृद्वी' तथा समता रहने वाली सखियों को 'मध्या' कहा जाता है ॥४॥ आत्यन्तिकी अधिकादि भेद भी पूर्ववत् (यूथेश्वरियों की भांति) जान लेने चाहिये। अपने यूथ में यूथेश्वरी आत्यन्तिक धिका होती है। वह किसी यूथ में प्रखरा, किसी में मध्या और कहीं मृद्वी भी होती है ॥५॥

अनुवाद—(आत्यन्तिकी-अधिकात्रय) आत्यन्तिकाधिका के प्रखरा, मध्या तथा मृद्वी जो तीन भेद हैं, अपने अपने यूथ में अवस्थित सखियों की अपेक्षा को लेकर होते हैं। ये कभी भी अन्य के अत्यधिक वशीभूत नहीं होतीं, (देशकाल-पात्र विशेष के अवसर पर किञ्चिद् वशीभूत हो भी जाती हैं।) अपने यूथ में उनके अन्यान्य व्यवहार को स्पष्ट करने के उद्देश्य से यहां फिर आलोचना करते हैं ॥६॥

तत्र अत्यन्ताधिक प्रखरा—

(१) नीले नीलनिचोलमर्पय मघे देहि स्रजं दामनीं त्वं कालागुरुकर्दमैः सखि तनुं लिम्पस्व चम्पे मम।
जानीहि भ्रमराक्षि कुत्र गुरवः पश्य प्रदोषोद्गमे कुञ्जाभिक्रमणाय मां त्वरयति स्फराधकारावली ॥ ७ ॥
७—अधिकप्रखराः श्यामामङ्गलाद्याः प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

तत्र अत्यन्ताधिक मध्या—

(२) अनङ्गशरजर्जरं स्फुटति चेन्मनो वस्तदा मदर्थनकदर्थनैः कृतमितः स्वयं गच्छत।
दृशां पथि भवादृशीप्रणयितानुरूपः सुखं यदत्र रतहिण्डकः स किल पाति गोमण्डलम् ॥ ९ ॥
८—भवन्त्यधिकमध्यास्तु श्रीराधापालिकादयः ॥ १० ॥

तत्र अत्यन्ताधिक मृद्वी—

(३) शृणु सखि ! वचस्तथ्यं मानग्रहे मम का क्षतिः स्फुरति मुरलीनादे को वा श्रमः श्रवणामृतौ।
अति ठिनतादुर्वादं ते निशम्य मया व्रजे दमयितुममुं किंतु क्षिप्तं दृगर्द्धमघद्विषि ॥ ११ ॥
९—अधिका मृदवश्चन्द्रावलीभद्रादयो मताः ॥ १२ ॥

अनुवाद—(अत्यन्ताधिक-प्रखरा)—व्रजगोपी श्यामा श्रीकृष्ण को संकेत कुञ्ज में पहुंचा हुआ जानकर अभिसार करने के लिये उचित वेश-भूषा रचना के लिये अपनी सखियों को कहने लगी—ओ नीले ! नील ओढ़नी ला, मखे ! दमनक पुष्प रचित माला दे, हे चम्पे ! श्याम-अगुरु द्वारा मेरे अंगों पर लेप करदो। हे भ्रमराक्षि ! देखना, बाहर कहीं कोई गुरुजन तो विद्यमान नहीं है ? मुझे तो यह प्रदोष कालीन मेघ अन्धेरे में अभिसार करने के लिये त्वरा करा रहा है ॥७॥ श्यामा और मंगलादि अत्यन्ताधिक प्रखरा मानी गयी हैं ॥८॥

अनुवाद—(अत्यन्ताधिक मध्या) श्रीललितादि निज सखियों के साथ श्रीराधाजी सूर्य पूजा के छल से वृन्दावन आयीं। दूरसे श्रीकृष्ण को देखकर आनन्द में स्तब्ध हो गयीं। सखीगण बार-बार कहने लगीं, आगे चलो, जल्दी चलो। तब श्रीराधा जी अपने सात्त्विक विकार को गोपन करते हुए उनसे कहने लगीं—हे सखियो। तुम्हारा मन यदि काम-वाणों से आहत हुआ जा रहा हो तो तुम ही यहां से स्वयं अभिसार के लिये चली जाओ, मुझे वृथा क्यों पीड़ित कर रही हो ? वह नारी;लम्पट तुम जैसी गोपियों के प्रेमास्पदत्व के योग्य है। इस समय वह सुखपूर्वक गौओं (इन्द्रियों) का पालन कर रहा है ॥९॥ श्रीराधा एवं पालिकादि अत्यन्ताधिकमध्या कही जाती हैं ॥१०॥

अनुवाद—(अत्यन्ताधिक-मृद्वी) एक दिन मानिनी चन्द्रावली के पास पद्मा को न देखकर चतुर-चूड़ामणि श्रीकृष्ण उसके पास आये और दक्षिण-स्वभावा चन्द्रावली को अनुनय-विनय वचन-विलास से प्रसन्न कर लिया। बाद में जब यह सब बात पद्मा को पता लगी तो चन्द्रावली का वह रोषपूर्वक तिरस्कार करने लगी। तब चन्द्रावली अनुनय तथा युक्तिपूर्वक बोली—सखि पद्मे ! सत्य बात सुन, मान ग्रहण करने में मेरी क्या हानि ? मुरली ध्वनि के सुनते समय कानों को बन्द करने में श्रम क्या ? किन्तु व्रज में तुम्हारा अतिशय जो दुर्वाद बढ़ रहा है, उसको दबाने के लिये मैंने केवल एक बार श्रीकृष्ण के प्रति अर्द्ध दृष्टि निक्षेप की है—(पूरी तरह उन्हें देखा भी नहीं) मैंने उनसे सम्भाषण तक भी नहीं किया ॥११॥ इस प्रकार चन्द्रावली तथा भद्रादि व्रज में अत्यन्ताधिक-मृद्वी मानी गयी हैं ॥१२॥

अथ आपेक्षिकाधिकात्रिकम्—

१०—यौथिकीषु सखीष्वेव यूथेशातो लघुष्विह। याधिकैकामपेक्ष्यान्या सा स्यादापेक्षिकाधिका॥ ३१॥

तत्र अधिकप्रखरा—

(४) सुमध्ये! मायासीस्त्वमधिकममीभिर्मृदुलतां मदस्योपादानैः शठकुलगुरोर्जल्पमधुभिः।
अयि क्रीडालुब्धे किमु निभृतभृङ्गेन्द्रभणिते कुडुङ्गे राधायाः क्लममपि विसस्मार भवती॥ १४॥

यथा वा—

(५) मुग्धे तूष्णीं भव शठकलामण्डलाखण्डलेन त्वं मन्त्रेण स्फुटमिव वशीकृत्य तेनानुशिष्टा।
कुञ्जे गोवर्धनशिखरिणो जागरेणाद्य राधां दृष्ट्वाप्युच्चैः सखि वदसि मे चाटुवादे प्रवृत्ता॥ १५॥

११—ललिताद्यास्तु गान्धर्वा यूथेऽत्र प्रखराधिकाः॥ १६॥

अनुवाद—(आपेक्षिकाधिकात्रिका)—यूथेश्वरीकी अपेक्षा जो सब सखियां लघु होती हैं, उनमें एक की तुलना में दूसरी अधिका होने पर, उनको 'आपेक्षिकाधिका' कहा जाता है॥१३॥

अनुवाद—(आ० अधिक-प्रखरा)—अचानक श्रीराधाजी विप्रलब्धा हो गयीं। उनको प्रसन्न करने के लिये श्रीकृष्ण ने अनुनय करके विशाखा जी को वशीभूत कर लिया। स्वभावतः कोमल विशाखा जी ने ललितादि के सामने श्रीराधा को मान भंग करने की प्रार्थना की। ललिताजी क्रोध में भरकर तिरस्कार करते हुए बोली—हे सुन्दरि! (तुम केवल आकार से सुन्दर हो, किन्तु बहुवल्लभ धूर्तनायकों के चरित्र तुम नहीं जान पाती हो)। उस शठकुल-चूड़ामणि के समस्त मत्तताजनक मधुर वाक्यों में अधिक कोमलता स्वीकार मत कर लेना। हे क्रीड़ालुब्धे (विशाखे)! मधुकरों की गुञ्जार से मुखरित उस कुञ्ज में श्रीराधा को जो ग्लानि प्राप्त हुई थी, उसको क्या एकदम तुम भूल गयी हो॥१४॥ (पूर्व प्रसंग-में मध्या(विशाखा) की प्रार्थनाके प्रत्युत्तर में प्रगल्भता दिखायी गयी है अब मृद्वीकी प्रार्थना के प्रत्याख्यान में उसे दिखाते हैं)—मान के बाद कलहान्तरिता दशा में भी श्रीराधा ललिता जी के भय से बाहरी मान ग्रहण कर रही थीं। श्रीराधाजी की तत्कालीन अवस्था का अनुभव कर श्रीकृष्ण ने ललिताजी को प्रसन्न करने के लिये चित्राजी को भेजा। चित्रा जी श्रीकृष्ण की निर्दोषता सिद्ध करने के लिये ललिता जी की जब अनुनय-विनय करने लगी तो ललिता जी उसका तिरस्कार करते हुए बोली—अरी मूर्खे! चुप रहो तुम, तुम निश्चय ही उस शठ-कलाचार्य के मंत्र के वशीभूत हो रही हो एवं उसको सिखायी हुई यहां आयी हो। हे सखि! आज गोवर्धन पर्वत पर स्थित कुञ्ज में अभी श्रीराधा जाग रही हैं, वह जान कर भी तुम चाटुवाक्य (खुशामद भरे वचन) बोल रही हो?॥१५॥ श्रीराधाजी के यूथ में श्रीललितादि आपेक्षिक-प्रखराधिका हैं॥१६॥

अनुवाद—(आ० अधिक मध्या) श्रीकृष्णांग-संग में विशाखा का अल्प आदर देखकर श्रीराधा जी ने चतुरिका नाम्नी अपने समान स्निग्ध-स्वभावा सखी को दूतीकार्य में नियुक्त कर दिया। एक दिन विशाखा जी ने भी चतुरिका को अपने हाथ से निर्मित माला अर्पण करने के छल से श्रीराधा का नाम लेकर श्रीकृष्ण के पास भेजा। निकुञ्ज के पास जाकर विशाखा कुछ दूर खड़ी रही और चतुरिका को इशारे में निषेध करते हुए बोली—हे सखि! श्रीराधा की भेजी हुई यह माला तुम ही श्रीदामोदर को समर्पण करो। मैं यहां पुष्पचयन करती हूँ। हे चतुरिके! मेरी यहां विद्यमानताकी कोई भी बात श्रीकृष्ण

अथ अधिकमध्या—(६) दामार्प्यतां प्रियसखीप्रहितं त्वयैव दामोदरे कुसुममत्र मयावचेयम् ।
नाहं भ्रमाच्चतुरिके सखि सूचनीया दृष्टां कदर्थयति मामधिकं यदेषः ॥ १७ ॥

यथा वा—
(७) गिरो गम्भीरार्थाः कथमिव हितास्ते न शृणुयां निगूढो मां किंतु व्यथयति मुरारेरविनयः ।
मयोल्लासात्तस्मै स्वयमुपहृता हन्त सखि या कुरङ्गाक्षीकेशोपरि परिचिता सा स्रगधुना ॥ १८ ॥
१२—अत्र यूथे विशाखाद्या भवन्त्यधिकमध्यमाः ॥ १९ ॥

अथ अधिकमृद्वी—
(८) दरापि न दृगर्पिता सखि शिखण्डचूडे मया प्रसीद बत मा कृथा मयि वृथा पुरोभागिताम् ।
नटन्मकरकुण्डलं सपदि चण्डि लीलागतिं तनोत्ययमदूरतः किमिह संविधेयं मया ? ॥ २० ॥
१३—अधिका मृदवश्चात्र चित्रामधुरिकादयः ॥ २१ ॥

अथ समात्रिकम्—१४—गाढविश्रम्भनिर्भेदप्रेमबन्धं (द्धं) समात्रिकम् ॥ २२ ॥

से भूलकर मत कहना, क्योंकि मुझे यहां देखते ही वे मुझे अति परेशान करेंगे।।१७।। पूर्व उदाहरण में अपने समान स्वपक्ष की सखी द्वारा दूत्य में मध्यात्व दिखाया गया है। अब अपने से भी कुछ अधिक आदर पात्री सुहृत् पक्ष सखी का दूत्य दिखाते हैं—किसी एक मानिनी गोपी का मान भंग करने के लिये श्रीकृष्ण ने अनुनय पूर्वक मानिनी की सुहृत्पक्षा किसी सखी को उसके पास भेजा। उसके मुखसे निवेदन सुनकर उसके वचनों का अनुमोदन करते हुए वह बोली—हे सखि ! तुम्हारे वचन बड़े निगूढ़ हैं एवं अनेक अर्थपूर्ण हैं फिर भी इन्हें मैं हितकर जानकर क्यों नहीं सुनूंगी ? किन्तु श्रीकृष्ण की अतिशय अविनय (अहंकारता) मुझे दुख दे रही है। देख सखि ! मैंने परम उत्कण्ठा से जो माला उन्हें उपहार रूप में दी, उसे उन्होंने अंगीकार नहीं किया, क्योंकि वह अब भी (चन्द्रावली की सखी कुरङ्गाक्षी के केशों पर दीख रही है ।।१८।। श्रीराधा जी के यूथ में विशाखादि अधिक मध्या हैं ।।१९।।

अनुवाद—(आ० अधिक-मृद्वी)— श्रीराधा की प्रिय सखी चित्रा जी कोमल-स्वभाव होते हुए भी एक बार मानिनी हो उठी। उसके स्वभाव के ज्ञाता श्रीकृष्ण ने आकर विविध विनय-अनुनय कर उसे प्रसन्न कर लिया। लक्षण देखकर प्रिय सखी ने चित्रा जी का तिरस्कार किया। तब चित्राजी सम्भ्रम-पूर्वक मनोभावों को गोपन करते हुए बोली—हे सखि ! हाय ! मैंने तो आंख उठाकर भी श्रीकृष्ण को नहीं देखा। तुम प्रसन्न होवो, मुझे दोष मत लगाओ। हे चण्डि ! अच्छा यह बता, यदि वह मेरे निकट इस गृहांगन में आकर अपने मकरकुण्डलों को नचाते हुए लीला-गति विस्तार करें, तो मैं क्या करूंगी ? ।।२०।। श्रीराधायूथ में चित्रा जी और मधुरिकादि अधिक मृद्वी हैं ।।२१।।

अनुवाद—(समात्रिक) सुदृढ़ विश्वास पूर्वक एकात्मता पूर्ण प्रेम में जो परस्पर अत्यासक्त हैं, उन्हें समात्रिक कहते हैं ।।२२।।

अनुवाद—(समप्रखरा) एक बार श्रीराधा जी ने सम प्रखरा तथा सममध्या—अपनी दोनों प्रिय सखियों को श्रीकृष्ण के साथ मिलन कराने के उद्देश्य से एकान्त में अपने घर बुलाया। फिर उन्हें पुष्प चयन करने के छल से वृन्दावन भेज दिया। इन दोनों को दूर से देखकर श्रीकृष्ण अति हर्षित हुए। सममध्या सखी भय भीत होकर अपने घर को जाने को तैयार हो उठी तब उसे आश्वासन

तत्र समप्रखरा—

(९) प्रविशति हरिरेष प्रेक्ष्य नौ हृष्टचेता: सखि सपदि मुधा त्वं संभ्रमान्मा प्रयासीः ।
पृथुभुजपरिघाभ्यां स्कन्धयोरर्पिताभ्यां तटभुवि सुखमावां मण्डिते पर्यटावः ॥ २३ ॥

अथ सममध्या—

(१०) श्यामे ! गौरि ! हरिः क्व दीव्यति सखि ! क्षोणीभृतः कन्दरे
किं पञ्चास्यनखाः स्वविक्रममधुर्वक्षोजकुम्भे तव । ?
आकर्षत्यभितः स नागमथनस्त्वामेव कृत्वा रवं
मिथ्यालास्यनटि ! त्वमेव रमसे तस्मिन्सुकण्ठीरवे ॥ २४ ॥

अथ सममृद्वी—(११) प्रालम्बमिन्दुमुखि यादृशमेव दत्तं कृष्णेनतुभ्यमपरं सखि तादृशं मे ।
त्वं चेन्मदीयमपि दित्ससि नाद्य मादा हास्यं विमुञ्च चलिता तव पार्श्वतोऽस्मि ॥ २५ ॥

अथ लघुत्रिकम्—१५—लघुत्रिकं प्रियसखीसौख्योत्कर्षार्थचेष्टितम् ॥ २६ ॥
१६—यद्यप्यन्योन्यनिष्ठं स्यात्सख्यं तदपि युज्यते । सदा साहाय्यहेतुत्वान्मुख्यं तत्तु लिघुत्रिके ॥ २७ ॥

देते हुए समप्रखरा सखीने कहा—हे सखी ! हम दोनोंको देखकर प्रसन्न चित्त होकर श्रीकृष्ण हमारी ओर आरहे हैं, तुम वृथा भय मानकर शीघ्र घर मत जाओ । उनकी परिघतुल्य(अर्गल समान)विशाल भुजाओं को अपने स्कन्धों पर धारण कर हम सुख पूर्वक यमुना पुलिन में विचरण करेंगी ॥२३॥

अनुवाद—(सममध्या) सममध्या श्यामाको गोवर्धन तटदेशसे आता देखकर सममध्या गौरी उससे पूछने लगी—हे श्यामे ! (श्यामा)—हे गौरी !, (गौरी)—कृष्ण कहां खेल रहे हैं ? (श्यामा)—गोवर्धन कन्दरा में । (गौरी)—तुम्हारे वक्षोज-करि कुम्भों में क्या किसी सिंह के नखों के आघात-चिह्न हैं ? (श्यामा)—हे सखि ! वह नाग (हस्ती) दमन सिंह (श्रीकृष्ण) वंशीध्वनि करके तुम्हें ही तो सदा आकर्षण करता है । (गौरी) हे मिथ्या-नृत्य नर्तकि ! तुम भी तो सुकण्ठीरव (मुरलीध्वनि) में आनन्द प्राप्त करती हो ॥२४॥

अनुवाद—(सममृद्वी)—इन्दुमुखी तथा मदिरा ये दोनों श्रीराधा जी की प्रियसखियां हैं । प्रायः एक से स्वभाव की होने से एक दूसरे के प्रति अति स्नेह रखती हैं । एकबार श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर प्रालम्ब नाम की दो मालाएं दोनों के लिए दीं । इन्दुमुखी वयस में बड़ी है, इसलिये दोनों मालाएं श्रीकृष्ण ने उसके हाथ दीं । रास्ते में जाकर मदिरा से उपहास करते हुए इन्दुमुखी ने उसे माला देने से मना कर दिया । मदिरा ने दुखी होकर कहा—हे इन्दुमुखि ! श्रीकृष्ण ने तो हम दोनों के लिये मालाएं दी थीं, तुम यदि एक माला मुझे नहीं दे रही हो, तो मत दो । किन्तु परिहास बन्द करो, मैं तुम्हारे साथ नहीं जाऊंगी, जा रही हूँ मैं ॥२५॥

अनुवाद—(लघुत्रिक)—लघु-प्रखरा, लघु-मध्या तथा लघु-मृद्वी—ये तीनों अपनी यूथेश्वरी की अनुकूलता के लिये समस्त चेष्टाएं करती हैं ॥२६॥ यद्यपि सख्य अन्योन्य-निष्ठ (परस्पर निष्ठ) होता है, तथापि शारीरिक चेष्टाओं से पुष्ट सख्य प्रधानता से लघुत्रिक में ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि ये ही सर्वदा गमनागमन, कुछ ले आना-दे आना रूप सहायता करतो हैं ॥२७॥ यह लघु फिर दो प्रकार का है—आपेक्षिकी तथा आत्यन्तिकी ॥२८॥

१७—लघुरापेक्षिकी चात्यन्तिकी चेति द्विधेरिता ॥ २८ ॥

१८—आपेक्षिकलघुश्चात्र कथिता ललितादिका ॥ २९ ॥

तत्र आपेक्षिकलघुः—

तत्र लघुप्रखरा, यथा विदग्धमाधवे—(५।३२) (१२)—

धारा बाष्पमयी न याति विरतिं लोकस्य निर्मित्सतः प्रेमास्मिन्निति नन्दनन्दन रतं लोभान्मनो मा कृथाः।
इत्थं भूरि निवारितापि तरले मद्वाचि साचीकृतभ्रूद्वन्द्वा नहि गौरवं त्वमकरोः किं नाद्य रोदिष्यसि ॥३०॥

१९—सा लघुप्रखरा द्वेधा भवेद्वामाथ दक्षिणा ॥ ३१ ॥

तत्र वामा—

२०—मानग्रहे सदोद्युक्ता तच्छैथिल्ये च कोपना । अभेद्या नायके प्रायः क्रूरा वामेति कीर्त्यते ॥ ३२ ॥

तत्र मानग्रहे सदोद्युक्ता, यथा पद्यावल्याम्—(२२२)

(१३) कंचन वञ्चनचतुरे प्रपञ्चय त्वं मुरान्तके मानम् । बहुवल्लभे हि पुरुषे दाक्षिण्यं दुःखमुद्वहति ।३३

मानशैथिल्ये कोपना, यथा—

(१४) सरभसमभिव्यक्ति याते नवाविनयोत्करे चटुपटिमभिर्नीता मृद्वी प्रसादमघद्विषा ।
असरलसखीचिल्लीव्यालीपरिभ्रमकम्पिता विमुखितमुखी भूयो भद्रा हठाद्भ्रूकुटीं दधे ॥ ३४ ॥

अनुवाद—(आ०-लघु)—श्रीराधाजी की तुलनामें ललितादिक आपेक्षिकी लघु मानी जाती हैं ॥२९॥ (लघुप्रखरा)-श्रीविदग्धमाधव(५।३२) यथा-एकबार श्रीकृष्णके अनुनय-विनय करने पर श्रीराधाजीका मान भंग हो गया, किन्तु श्रीराधा जी रोने लगीं । ललिता जी उनका तिरस्कार करते हुए श्रीकृष्ण के प्रति उनके अतिशय अधिक अनुराग को प्रकाशित करने हुए कहने लगी—जो व्यक्ति श्रीनन्दनन्दन में प्रेम करने की इच्छा करता है, उसकी अश्रुधारा फिर कभी वन्द नहीं हो पाती । इसलिये उसमें अनुराग मत करो—यह वात मैंने वार-बार कहकर रोका है तुम्हें, किन्तु हे चञ्चले ! तुम मेरे ही प्रति भ्रुकुटि टेढ़ी कर देती हो और मेरी वात को गौरव नहीं देती हो । अब क्यों रो रही हो ? ॥३०॥

अनुवाद—लघु-प्रखरा दो प्रकार की हैं—वामा तथा दक्षिणा ॥३१॥ (वामा)—जो नायिका मानवती होने के लिये प्रायः तैयार रहती है, मान शिथिल होने पर कोप करने लगती है, जो नायक द्वारा नहीं मनती है एवं नायक के प्रति क्रूर—कठिन वर्ताव करती है, उसे रसशास्त्र में 'वामा' कहते हैं ॥३२॥

अनुवाद—(मान भवन में मानोद्यता) पद्यावली (२२२) में यथा दक्षिण-स्वभाववाली अपनी यूथेश्वरी को एक वामस्वभावा सखी युक्तियुक्त वचन कहकर मान करने का उपदेश देते हुए कहती है—हे सुन्दरि ! वञ्चना करने में चतुर श्रीमुरारि के प्रति मान करना ही युक्तियुक्त है, देख, जो पुरुष बहु-वल्लभ हो, उसके प्रति दाक्षिण्य या सरलता दिखाना दुख ही दिया करता है ॥३३॥

अनुवाद—(मान-शिथिलता पर कोपना) श्रीकृष्ण के किसी अपराध पर एकबार भद्राजी मानिनी हो गयीं । फिर श्रीकृष्ण ने एकान्त स्थान पर अनुनय करके उसे मना लिया । किसी वाम-प्रखरा सखीने यह जानकर भद्राजी पर क्रोध किया और फिर उसे मानिनी बना दिया । यह वृत्तान्त अन्य किसी सखीने अपनी प्रियसखी को सुनाते हुए कहा—अचानक नया बड़ा अपराध सामने आने पर मानिनी भद्रा, जो मृदुस्वभावा है, अनेक अनुनय वचनों से श्रीकृष्ण ने उसे प्रसन्न कर लिया, किन्तु अपनी वामा-सखी की भ्रुकुटि-नागिन को इधर-उधर टेढ़ी चाल-चलते देख कर भद्रा ने फिर उस समय भ्रुकुटि तान ली और श्रीकृष्ण से विमुखी—मानिनी हो गयी ॥३४॥

नायकाभेद्या यथोद्धवसंदेशे—(५३)—

(१५) कामं दूरे वसतु पटिमा चाटु वृन्दे तवायं राज्यं स्वामिन्विरचय मम प्राङ्गणं मा प्रयासीः।
हन्त क्लान्ता मम सहचरी रात्रिमेकाकिनेयं नीता कुञ्जे निखिलपशुपीनागरोज्जागरेण ॥ ३५ ॥

नायके क्रूरा, यथा दानकेलिकौमुद्याम्—(५७।२१)—

(१६) अमूर्व्रजमृगेक्षणाश्चतुरशीतिलक्षाधिकाः प्रतिस्वमिति कीर्तितं सवयसा तवैवामुना।
इहापि भुवि विश्रुता प्रियसखी महार्घ्येत्यसौ कथं वदति साहसी शठ! जिघृक्षुरेनामसि? ॥ ३६ ॥
२१—यूथेऽत्र वामप्रखरा ललिताद्याः प्रकीर्तिताः ॥ ३७ ॥

अथ दक्षिणा—

२२—असहा माननिर्बन्धे नायके युक्तवादिनी। सामभिस्तेन भेद्या च दक्षिणा परिकीर्तिता ॥ ३८ ॥

तत्र माननिर्बन्धासहा, श्रीगीतगोविन्दे—(६।२)—

(१७) स्निग्धे यत्परुषासि यत्प्रणमति स्तब्धासि यद्रागिणि द्वेषस्थासि यदुन्मुखे विमुखतां यातासि तस्मिन्प्रिये
तद्युक्तं विपरीतकारिणि तव श्रीखण्डचर्चा विषं शीतांशुस्तपनो हिमं हुतवहः क्रीडामुदो यातनाः ॥ ३९ ॥

अनुवाद—(नायकाभेद्या) श्रीउद्धवसन्देश (५३) में यथा—एकबार अचानक श्रीराधा विप्रलब्ध-अवस्था को प्राप्त हो गयीं। श्रीकृष्ण ने ललिताजी के पास आकर कहा कि ललिते!—ऐसा अपराध-दैव-योग से बन गया है। अब तुम ही श्रीराधा जी को कहो कि वह मेरा अपराध क्षमा कर दें। तब ललिता जी ने कहा—हे स्वामि! इस प्रकार की चाटू-वाक्य रचना की चतुराई दूर रहने दो, इस वन में अपना राज्य भले ही विस्तार करो, किन्तु मेरे प्राङ्गण की तरफ कभी मत आना। हाय! वैदग्धी-शून्या गोपियों के नागर! तुम्हारे प्रेम में मेरी प्रियसखी राधा ने सारी रात ही अकेले इस कुञ्ज में बिता दी एवं क्लान्त हो गयीं—(अब अपराध मार्जन के लिये कहते तुम्हें लज्जा नहीं आती)? ॥३५॥

अनुवाद—(नायक के प्रति क्रूरा) श्रीदान केलिकौमुदी (५७) में यथा—एक बार यज्ञ के लिये ताजा-घी मटकियों में भर कर श्रीराधा जी अपनी सखियों के साथ नील-वस्त्र से ढक कर जा रही थीं गोवर्धन की ओर। कर वसूल करने के बहाने श्रीकृष्ण ने आकर उनका रास्ता रोक लिया। बहुत देर तक ललिता जी से वाद-विवाद चलता रहा। जब श्रीकृष्ण श्रीराधा को पकड़ने के लिये आगे बढ़े तो ललिता जी ने गर्वपूर्वक निवारण करते हुए कहा—सुनो! इन व्रजांगनाओं में एक-एक का मूल्य चौरासी लाख से भी अधिक है, जैसे कि तुम्हारे प्रिय सखा मधुमंगल ने पहले कहा है। इन में फिर मेरी प्रियसखी श्रीराधा तो बहुमूल्या है—परम दुर्लभा है। हे शठ! तुम किस साहस से उसको पकड़ने की इच्छा कर रहे हो? ॥३६॥ श्रीराधा जी के यूथ में ललितादिक वाम-प्रखरा कही गयी हैं ॥३७॥

अनुवाद—(दक्षिणा)—जो नायिका मान करना सहन नहीं कर पाती, नायक के प्रति युक्ति युक्त वचन बोलती है, एवं जो नायक द्वारा प्रशंसा के वशीभूत हो जाती है, उसे 'दक्षिणा' कहते हैं ॥३८॥

अनुवाद—(मान सहने में असमर्थ) श्रीगीतगोविन्द (६।२) में यथा—कलहान्तरिता श्रीराधा को उनकी किसी एक प्रखरा-सखी ने तिरस्कार पूर्वक कहा—हे सखि! स्नेह-शील प्राणेश्वरी के प्रति जो कठोर हुआ है, उसके प्रणत—झुकने पर तुम नम्र नहीं हुई, अनुरागी नागर से तुमने विद्वेष किया है, उसके अनुकूल होने पर तुम विमुखी हो गयी, हे विपरीत-आचरणशीले! तुम्हारे पक्ष में वह युक्तियुक्त ही हुआ है। अब भी तुम्हारे प्रति विपरीत बर्ताव समुचित ही दीखता है, क्योंकि तुम चन्दनलेप को

नायके युक्तवादिनी, यथा पद्यावल्याम्—(२६७)—
(१८) अदोषाद्दोषाद्वा त्यजति विपिने तां यदि भवानभद्रं भद्रं वा व्रजकुलपते ! त्वां वदतु कः ?
इदन्तु क्रूरं मे स्मरति हृदयं यत्किल तया त्वदर्थं कान्तारे कुलतिलक ! नात्मापि गणितः ॥ ४० ॥

नायकभेद्या; यथा—
(१६)न व्यर्थां कुरुषे ममैव भणितिं मध्ये सखीनामिति श्रुत्वा ख्यातिमसौ कृती मधुरिपुर्मां बाढमाशिश्रिये ।
दृष्ट्वा मद्वदनं प्रसीद रभसादेतं पुरः कातरं कल्याणीभिरलं कृशोदरि दृशोर्भङ्गीभिरङ्गीकुरु ॥४१॥
२३—तुङ्गविद्यादिका चात्र दक्षिणप्रखरा भवेत् ॥ ४२॥

अथ लघुमध्या—
(२०) त्वया रचितसंकथां पथि समीक्ष्य मां मानिनी सखी मम विषण्णधीः कृतकटाक्षमाक्षेप्स्यति ।
व्रजाधिपतिनन्दन त्वमवधेहि मन्त्रं ब्रुवे विनात्र ललिताश्रयं भवदुपक्रमोऽयं वृथा ॥ ४३ ॥

विष-लेप, चन्द्र को सूर्य (तापदायक) हिम को अग्नि तथा क्रीड़ा-विनोद में तुम्हें यातना की धारणा हो रही है ॥३६॥

अनुवाद—(नायक के प्रति युक्त बोलने वाली) पद्यावली (२६७) में यथा—संकेत कुञ्ज में बैठी एक व्रजगोपी श्रीकृष्ण के आने की उत्कण्ठा में व्याकुल हो रही थी, दैवयोग से श्रीकृष्ण को विलम्ब करता जान वह विप्रलब्धावस्था को प्राप्त कर अपने घर जाने लगी। कुछ देर पीछे श्रीकृष्णको अपने पास आता देख कर क्रोध में वह अधीर हो उठी और प्रीतम की भर्त्सना करने लगी। श्रीकृष्ण भी तब निकटवर्ती किसी कुञ्ज में अनमने होकर बहुत देर बैठे रहे। फिर वास्तविकता जानकर उस ब्रजगोपी की किसी सखी ने श्रीकृष्ण की निर्दोषता निवेदन की। तब वह नायिका कलहान्तरिता दशा को प्राप्त हो अनुताप करने लगी। इतने में उसको एक और सखी ने आकर श्रीकृष्ण को अपनी प्रियसखी के प्रेमातिरेक को सुनाया—हे व्रजकुलपते ! दोष से हो या अदोष से, तुमने उसे जो वन में त्याग कर दिया—इस विषय में तुम्हें और कोई भला-मानुष कहे या बुरा, हे कुलतिलक ! मेरा किन्तु यह कठोर (अतिकोमल) हृदय इस बात को स्मरण कर रहा है कि उसने तुम्हारे लिये इस दुर्गमवन में आकर अपने देहादिक की कुछ भी परवाह नहीं की—उसने आपको आत्मसमर्पण कर दिया था ॥४०॥

अनुवाद—(नायक-भेद्या) एक बार विप्रलब्धा श्रीराधा को प्रसन्न करने के लिये महाकुशल श्रीकृष्ण ने अनुनय-विनय द्वारा तुङ्गविद्या को तैयार किया। वह श्रीराधा के पास आकर सविनय प्रार्थना करने लगी—हे सखि ! सब सखियों में (तुङ्गविद्या के) मेरे वचनों को तुमने कभी भी खाली नहीं जाने दिया। अब मेरे वचनों पर ध्यान देकर तुम प्रसन्न होवो। थोड़ी दूरी पर भयभीत चित्त श्रीकृष्ण को कल्याणमयी दृष्टि पूर्वक अंगीकार करो ॥४१। तुङ्गविद्या जी श्रीराधायूथ में दक्षिण-प्रखरा हैं ॥४२॥

अनुवाद—(लघु-मध्या)—श्रीराधा जी किसी कारण से मानवती हो गयीं। उनका मान भंग कराने के लिये श्रीकृष्ण ने मार्ग में मिली विशाखाजी को प्रार्थना की। तब विशाखा जी ने कहा—हे व्रजेन्द्रनन्दन ! मार्ग में मेरे साथ आप को बोलना देखकर मानिनी प्रियसखी श्रीराधा मेरे प्रति विषण्णचित्त होकर कटाक्ष करते हुए आक्षेप करेगी। इसलिये मैं तुम्हें उत्तम परामर्श देती हूँ—ललिता की शरण गये विना तुम्हारे इस प्रकार के सब उद्यम वृथा जायेंगे ॥४३॥

अथ लघुमृद्वी—

(२१) सखि ! तव मुहुर्मूर्ध्ना पादग्रहोऽपि मया कृतस्तदपि च हरौ जातासि त्वं प्रसादपराङ्मुखी ।
भवतु यमुनातीरे वेणोर्निशम्य पराक्रमं विचलितधृतिस्त्वं लोलाक्षी मयापि हसिष्यसे ॥ ४४ ॥

अथ आत्यन्तिकलघुः—

२४—आत्यन्तिकलघुस्तत्र प्रोक्ता कुसुमिकादिका । सर्वथा मृदुरेवेयं यन्नितान्तलघीयसी ॥ ४५ ॥

यथा—(२२)

वन्दे सुन्दरि ! संदिश प्रियसखीं मानं विमुञ्चत्वसें सोत्कण्ठापि मनस्विनीव वसति त्वच्छङ्कया वेश्मनि ।
दूरे त्वन्मुखमीक्षते हरिरयं मौनं शुकः शिक्षते लास्यं नेच्छति चन्द्रकी सवयसः क्वास्मीति न स्वं विदुः ४६

२५—प्रखरादिष्वन्यतमा यूथेशैकैव कीर्तिता । मध्यस्था नवधैवान्या समा लघुरिति द्विधा ॥ ४७ ॥

२६—एकैकस्मिन्नतो यूथे भिदा द्वादशधा भवेत् । अथ दूत्यार्थमेतासां विशेषः पुनरुच्यते ॥ ४८ ॥

अनुवाद—(लघुमृद्वी)—मानिनी श्रीराधा का मान शमन करने के लिए श्रीकृष्ण द्वारा अनुनय विनय करने पर चित्रा जी श्रीराधा के पास आकर अनेक समय तक अनुनयपूर्वक प्रार्थना करने लगीं । किन्तु मान भंग तो हुआ नहीं, बल्कि श्रीराधाजी उसे भी फटकारने लगीं । तब चित्राजी भी क्रोध में भर कर श्रीराधा से बोली—हे सखि ! मैंने अनेक बार तुम्हारे चरणों पर मस्तक रख कर प्रणाम किया है, फिर भी तुम श्रीकृष्ण के प्रति जरा भी प्रसन्न नहीं हो रही हो । ठीक है मैं भी देख लूंगी—यमुना तीर पर जब वेणु का पंचम स्वर वह आलाप करेंगे, तब तुम विचलित मति और चञ्चल-नैनी होकर मेरे उपहास का विषय बनोगी ॥४४॥

अनुवाद—(आत्यन्तिकी लघु)—कुसुमिकादि सखियां आत्यन्तिक लघु कही गयी हैं । नितान्त अति लघु होने से वे सर्वथा ही लघु हैं ॥४५॥ मान-भग के बाद कलहान्तरिता दशा में भी श्रीराधा ललिता जी के आग्रह को लङ्घन करने में भय मान रही थीं । बाहर से मान-आभास को धारण किये हुए थीं । श्रीकृष्ण ने अनुनय विनय कर कुसुमिका सखी को ललिताजी के पास भेजा ललिता के चरणों में पड़कर श्रीराधा के मान न त्याग करने पर सबके पक्ष में दुख होगा—ऐसी दीनतापूर्वक प्रार्थना करते हुए कहने लगी—हे सुन्दरि ! मैं आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ । तुम प्रिय सखी श्रीराधा को मान त्याग करने की अनुमति प्रदान करो । वह श्रीकृष्ण मिलन के लिये उत्कण्ठिता होते हुए भी माननी को भांति अपने घर में तुम्हारे भयवश बैठी हुई हैं । यह देख, श्रीकृष्ण दूर खड़े हुए तुम्हारे मुख की ओर टकटकी लगाये हुए हैं । शुकपक्षी चुप बैठा है, मोरने नृत्य बन्द कर दिया है एवं सखियां बेसुध हो रही हैं उन्हें यह भी पता नहीं कि वे कहां हैं, इस परिस्थिति में यदि आप प्रसन्न नहीं होती हो तो तुम्हारी बहुत कठोरता प्रमाणित होगी ॥४६॥

अनुवाद—प्रखरा, मध्या तथा मृद्वी सखियों के इन तीनों भेदों में यूथेश्वरी अकेली ही अपने यूथ में आत्यन्तिकाधिका, प्रखरा, मध्या या मृद्वी होती है । आपेक्षिकाधिका, समा तथा आपेक्षिक लघु यूथ में यह तीन भेद एक दूसरे की अपेक्षा करते हुए प्रखरा, मध्या तथा मृद्वी भेद से नौ प्रकार के हो सकते हैं । और आत्यन्तिक लघु, समा तथा लघु—ये दोनों दो दो प्रकार के हैं । इस प्रकार सर्वमत से उनके कुल बारह भेद होते हैं । अब इनके दूत्य का विशेष विवरण फिर उल्लेख करते हैं ॥४७-४८॥ श्रीकृष्ण-

२७—दूत्यमत्र तु तद्दूराद्यूनोर्यदभिसारणम् । तत्र तु प्रथमा नित्यनायिकैवात्र कीर्तिता ॥ ४९ ॥
२८—स्युर्नायिकाश्च सख्यश्च तिस्रो मध्यस्थितास्ततः ॥ ५० ॥
२९—तत्राद्या नायिकाप्राया द्वितीया द्विसमा ततः । तृतीया तु सखीप्राया नित्यसख्येव पञ्चमी ॥ ५१ ॥
३०—आद्यायां निखिलाः सख्यो दूत्य एव न नायिकाः । पूर्वोक्ता नायिका एव पञ्चम्यां न तु दूतिकाः ५२
तत्र नित्यनायिका—
३१—यात्र यूथेश्वरी प्रोक्ता सा भवेन्नित्यनायिका । अपेक्ष्यन्वादतीवास्या मुख्यं दूत्यं न विद्यते ॥ ५३ ॥
३२—स्वयौथिक्यसखींमध्ये या यत्रातीव रागिणी । नियुक्तैवास्ति तद्दूत्ये सुष्ठु सा यूथमुख्यया ।
तथापि प्रणयात्क्वापि कदाचिद्गौणमीक्ष्यते ॥ ५४ ॥
३३—दूरे गतागतमृते यद्दूत्यं गौणमत्र तत् । गौणं हरेः समक्षं च परोक्षं चेति तद्द्विधा ॥ ५५ ॥
तत्र समक्षम्—३४—साङ्केतिकं वाचिकं च समक्षं द्विविधं मतम् ॥ ५६ ॥
तत्र साङ्केतिकम्—३५—तत्राद्यं स्याद्दृगन्ताद्यैः कृष्णं प्रेर्य स्वनिह्नुतिः ॥ ५७ ॥

प्रियागण का दूत्य का अभिप्राय है, दूरवर्ती नायक एवं नायिका का जो अभिसार कराती हैं—उनका वाच्य या सन्देश । उनमें जो प्रथमा अर्थात् आत्यन्तिकाधिका हैं, उन्हें 'नित्यनायिका' कहा जाता है ॥४९॥ फिर मध्यस्था अर्थात् आपेक्षिकाधिका, समा और आपेक्षिक लघु—ये तीनों नायिका भी हो सकती हैं और सखी भी—दोनों हो सकती हैं ॥५०॥

इनमें प्रथमा अर्थात् आपेक्षिका ही नायिका प्रायः होती हैं । (यह यूथेश्वरी की नित्य सखी और लघुगण को कभी भी सखी हो सकती हैं) । द्वितीया अर्थात् समा—द्विसमा (पांच भेदों में ये नायिकात्व तथा सखीत्व में समा होती हैं । अर्थात् कदाचित् नायिकात्व और कदाचित् सखीत्व व्यक्त होता है। तृतीया अर्थात् आपेक्षिकलघु सखी-प्राया होती हैं, अर्थात् पूर्ववर्ती तीनों प्राय सखी रूप में काम करती हैं, कदाचित् कभी कहीं नायिका भी बनती हैं । आत्यन्तिक लघु जो पांचवी हैं, वे नित्यसखी हैं—अर्थात् कभी भी नायिका नहीं बनतीं । सर्वलघु होने के कारण उनका नायिकात्व कभी भी सम्भव नहीं होता ॥५१॥ वे आत्यन्तिकाधिका सखियों की एवं अन्य चारों की दूती का कार्य करती हैं। कभी भी वे नायिका नहीं बनतीं । पांचवी जो आत्यन्तिक लघु हैं, उनके लिये अन्य समस्त सखियां नायिका रहती हैं, किन्तु उनका ये दूतीकार्य नहीं करती हैं ॥५२॥

अनुवाद—(नित्य-नायिका)—जिन्हें यूथेश्वरी कहा जाता है, वही 'नित्य-नायिका' हैं । वे सबकी आदरणीया होती हैं, इसलिये उनमें मुख्य दूतित्व नहीं रहता ॥५३॥ अपने यूथ में रहनेवाली सखियों में जो जिसमें अत्यन्त अनुराग रखती है, यूथेश्वरी उसे ही अपने दूत्य या दूतीकार्य में नियुक्त करती है। तथापि प्रणयवश कहीं कभी गौणरूप से दूती-कार्य भी उनमें देखा जाता है ॥५४॥ गौण दूत्य का अभिप्राय है कि दूर स्थान पर गमनागमन विना—निकट स्थान पर अथवा कभी सखी से गुप्तरूप में दूती का कार्य सम्पन्न कराना । यह गौण-दूत्य भी श्रीकृष्ण के समक्ष तथा श्रीकृष्ण के परोक्ष भेद से दो प्रकार का है ॥५५॥

अनुवाद—(समक्ष) सांकेतिक तथा वाचिक फिर दो प्रकार का है ॥५६॥ (सांकेतिक)—नेत्र से, अंगुली से तथा भ्रूचालन और ओष्ठ-स्पन्दन आदिद्वारा सखी के प्रति श्रीकृष्ण को बुलाना, किन्तु आत्म गोपन करते हुए—'सांकेतिक समक्ष-दूत्य' कहलाता है ॥५७॥ (उसका उदाहरण)—एक बार नेत्र-भङ्गी

यथा—(२३) प्रियसखि ! विदितं ते कर्म यत्प्रेरयन्ती स्वमघदमनमक्ष्णा क्षिप्रमन्तर्हितासि ।
अहह न हि लताः स्युस्तत्र चेत्कण्टकिन्यो मम गतिरभविष्यत्तत्करात्का न वेद्मि ॥ ५८ ॥
इदमधिकमृद्वीदूत्यम् ॥

अथ वाचिकम्—३६—मिथः पुरो वा पश्चाद्वा वाक्यमेकत्र वाचिकम् ॥ ५९ ॥

तत्र मिथः पुरः कृष्णे वाचिकम्—
(२४) मयापलपनं कियत्त्वयि करिष्यते या सखी ममानिशमुपेन्द्र ते कुसुममञ्जरीलुं ञ्चति ।
इयं गुणवती करे तव विधृत्य दत्ताद्य सा यथेच्छसि तथा कुरु स्वयमितो गृहं गम्यते ॥ ६० ॥
इदमधिकप्रखरादूत्यम् ॥

कृष्णस्य पश्चात्सख्यां, यथा—(२५)—
मत्कण्ठादिह मौक्तिकानि विचिनु त्वं वीरुदारोधतः स्रस्तान्येष किलास्ति मल्यरचनाभ्यासक्तचित्तो हरिः ।
दिष्टया क्षेममुपस्थितं सुमुखि नः सानौ यदस्य च्युतो हस्ताद्वेणुरिति प्रयामि कपटान्निह्नोतुमेनं गिरौ ६१
अधिकमध्यादूत्यमिदम् ।

द्वारा चन्द्रावली ने श्रीकृष्ण को शैव्या की सूचना दी कि इसे अंगीकार करो। स्वयं चन्द्रावली छिप गयी। शैव्या श्रीकृष्ण के साथ यथेष्ट विहारादि करके चन्द्रावली के पास आयी। कपटपूर्वक विहारादि के प्रसंग को गोपन करते हुए वह चन्द्रावली से तिरस्कार पूर्वक बोली—हे प्रियसखी ! तुम्हारी करतूत को मैं अच्छी तरह समझ गयी हूँ। भ्रू-इंगित कर तुमने श्रीकृष्ण को मेरे पास भेज दिया और स्वयं तत्काल छिप गयी। अहो ! यदि यहां कांटेदार लता न होती, तो श्रीकृष्ण के हाथों न जाने मेरी क्या गति होती ? (यहां अधिकमृद्वी का दूत्य वर्णन किया गया है) ॥५८॥

अनुवाद—(वाचिक)—सखी एवं श्रीकृष्ण के सम्मुख श्रीकृष्ण को, या श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में किन्तु सखी के सामने सखो को एवं श्रीकृष्ण के सामने सखी की अनुपस्थिति में श्रीकृष्ण के प्रति जो सन्देश देना है—उसे 'वाचिक-दूत्य' कहते हैं। (यह तीन प्रकार का है) ॥५९॥

अनुवाद—(एक दूसरे के सामने श्रीकृष्ण के प्रति वाचिकदूत्य)—यूथेश्वरी श्यामला ने अपनी प्रिय सखी गुणवती का हाथ पकड़ कर श्रीकृष्ण को समर्पण करते हुए कहा—हे उपेन्द्र ! मैं और कहां तक तुम से छिपाऊँ ? जो निरन्तर तुम्हारे लिये कुसुम मञ्जरी तोड़ लाती है, यह वही गुणवती है। आज इसे पकड़ कर मैं तुम्हारे हाथ में अर्पण करतो हूँ, तुम्हारी इच्छा हो सो करो, मैं तो अब अपने घर जा रही हूँ। (इसे अधिक-प्रखर-दूत्य कहा जाता है) ॥६०॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण के पीछे सखी के प्रति)—श्रीकृष्ण द्वारा प्रार्थना करने पर भी चित्रा जी श्रीकृष्ण सङ्ग में रुचि नहीं कर रही थी—यह जानकर श्रीराधा ने उसी कुञ्ज में ही श्रीकृष्ण के साथ उसका संग कराना चाहा, श्रीकृष्ण वहां माला-निर्माण करने में आविष्ट थे। श्रीराधा जी ने वहां चले जाने का सोचा और छल पूर्वक चित्राजी से बोली हे सखि ! घनी लताओं से परिवृत स्थान में मेरे कण्ठ से मुक्ता हार टूट गया है, उसके मुक्ता तो तू चयन करदे। श्रीकृष्ण इस समय माला-रचना में विशेष अभीष्ट हैं। हे सुमुखि ! आज सौभाग्यवश मुझे और भी एक शुभ कार्य करना है। यह देख, श्रीकृष्ण के हाथ से वेणु पर्वत पर गिर गया है। मैं छल पूर्वक उसे पर्वत कन्दरा में छिपाने जा रही हूँ। (यहां अधिकमध्या का दूत्य दिखाया गया है) ॥६१॥

सख्याः पश्चात्कृष्णे, यथा—

(२६) विचकिलमवचेतुं सा सखी मद्वचोभिः कथमपि तटपुष्पारण्यमेका गतास्ति ।
अघहर ! मम गेहाद् यान्तमभ्यर्थये त्वां पुनरियमतिमुग्धा न त्वया खेदनीया ॥ ६२ ॥

अथ हरेः परोक्षम्—
३७—तत्परोक्षं हरेः सख्याः सखीद्वारा यदर्पणम् । व्यपदेशादिना वापि तत्पार्श्वे प्रेषणादिकम् ॥ ६३ ॥

तत्र सखीद्वारा, यथा—(२७)
रुद्धां विद्धि गुरोर्गिरा शशिकलामात्मद्वितीयामतस्त्वामुद्यम्य नयामि शर्मणि सदा जागर्ति ते राधिका ।
भृङ्गाः सुभ्रु तदङ्गसौरभभरैराकृष्यमाणाः क्रमात्पन्थानं प्रथयन्ति ते कुरु पुरः कुञ्जप्रवेशे त्वराम् ६४ ॥

अथ व्यपदेशः—
३८—व्यपदेशो हरौ लेखोपायनाद्यर्पणक्रिया । निजप्रयोजनाश्चर्यदर्शनादिश्च कीर्तितः ॥ ६५ ॥

अनुवाद—(सखी की अनुपस्थिति में श्रीकृष्ण के प्रति)—चन्द्रावली के घर उसके साथ विहार करके श्रीकृष्ण वृन्दावन जा रहे थे। चन्द्रावली ने एक सखी को पहले ही पुष्पचयन के लिये यमुनातट पर भेजा हुआ था। चन्द्रावली ने श्रीकृष्ण से कहा—वह प्रसिद्धा सखी मल्लिका पुष्पचयन करने के लिये मेरे कहने पर वहुत मुशकिल से यमुनातट पर अकेली गयी है। हे अघहर ! तुम मेरे घर से जा रहे हो, विदा करते समय एक प्रार्थना करती हूँ कि तुम उस अति मुग्धा सखी को तंग मत करना। (यहां स्पष्ट न कहकर चन्द्रावली ने उस सखी से मिलने का संकेत किया है, चन्द्रावली का यह मृद्वीत्व व्यक्त हो रहा है) ॥६२॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण के परोक्ष में)—किसी सखी द्वारा सखी को भेजना, अथवा छलपूर्वक श्रीकृष्ण के पास किसी सखी को भेजना—'परोक्ष-दूत्य' कहलाता है ॥६३॥

अनुवाद—(सखीद्वारा श्रीकृष्ण को सखी-समर्पण)—किसी अपनी प्रिय सखी के दूत्य में (सन्देश-देनेमें)श्रीराधा ने शशिकला व उसके समान स्वभाववाली उसकी अनुरागिणी सखीको पहलेही नियुक्त कर रखा था। किन्तु उस सखी को अभिसार कराने का अवसर शशिकला को नहीं मिल पाया, यह जानकर श्रीराधा ने एक दूसरी सखी को जो शशिकला की मानों दूसरी मूर्ति थी, पुष्पचयन के छल से उस पहली प्रियसखी को वृन्दावन में श्रीकृष्ण-कुञ्ज में ले जाने को भेजा। उसे कुञ्ज में लाकर वह बोली—हे सुन्दरि ! तुम्हारी दूसरी मूर्ति शशिकला आज गुरुजनों के वचनों से घर में रोक ली गयी है। इसलिये आज मैं तुमको यत्नपूर्वक अभिसार कराती हूँ। मेरा इस कार्य में कुछ भी कर्तृत्व नहीं है, क्योंकि तुम्हें सुखदेने के लिये सदा उत्सुका श्रीराधा की आज्ञा से मैं तुम्हें यहाँ लायी हूँ। यह देख, भ्रमर कृष्णांग-सौरभ में आकृष्ट होकर तुम्हें मार्ग वता रहे हैं कि श्रीकृष्ण कहां हैं, अब तू शीघ्र कुञ्ज में प्रवेश कर ॥६४॥

अनुवाद—(व्यपदेश) श्रीकृष्णके पास पत्र-भेजना,उपहारादि अर्पण करना, अपना प्रयोजन, किंवा आश्चर्यदर्शनादि 'व्यपदेश' (छल) कहे गये हैं ॥६५॥

अनुवाद—(लेख्य-व्यपदेश से)—श्रीकृष्णसङ्ग-असम्मता किसी अपनी सखी को श्रीकृष्ण-मिलन के उद्देश्य से श्रीराधा ने पत्र-देने के लिये उसे श्रीकृष्ण के पास भेजा। श्रीकृष्ण ने उसके साथ पत्रानुसार

तत्र लेख्यव्यपदेशेन, यथा—(२८)

दूतीपद्धतिमुद्धते परिहर त्वं साचि किं प्रेक्षसे वामाक्षि स्वयमाहृतं प्रियसखीलेखं पुरो वाचय।
शय्या पुष्पमयी निकुञ्जभवने सौरभ्यपुञ्जावृता मृद्वी त्वामियमाह्वयत्यलिघटाकोलाहलव्याजतः॥ ६६॥

उपायनव्यपदेशेन, यथा—(२९)

प्रसीद वसनाञ्चलं मम विमुञ्च निर्मञ्छनं व्रजामि ननु निर्दय स्फुरति पश्य संध्योर्जिता।
विदत्यपि तवोन्नतं गुणमुपाहरं मदन्धीः स्रजं प्रियसखीगिरा चलमते न ते दूषणम्॥ ६७॥

निजप्रयोजनव्यपदेशेन, यथा—

(३०) मुक्तावली निशि मया दयिताकदम्बवाटीकुटीरकुहरे सखि विस्मृतास्ति।
तामाहरेति वृषभानुजया नियुक्ता तां प्रोज्झ्य किं शशिकले गृहमागतासि॥ ६८॥

आश्चर्यदर्शनव्यपदेशेन, यथा—

(३१) सखि व्यालीं वक्त्रे द्युमणिपटलं कण्ठसविधे दधच्चन्द्रान्मूर्ध्नोपरि सकलरत्नानि वमति।
अलिश्यामो हंस स्फुटमिति मदुक्त्यासि चलिता तदाश्चर्यं द्रष्टुं किमिव कुपितेवात्र मिलसि॥ ६९॥

व्यवहार किया। किन्तु उसमें उदासीनता देखकर श्रीकृष्ण ने उसे कहा—हे चञ्चले ! दूती का व्यवहार त्याग कर, मेरी ओर वक्रभाव से क्यों देख रही हो ! हे कुटिल नयने ! प्रियसखी का जो पत्र लायी हो, उसे तुम स्वयं मेरे सामने पढ़ो। सौरभपूर्ण कुञ्जगृह में यह पुष्प शय्या तुम्हें भ्रमरों की गुंजार के छल से बुला रही है ॥६६॥

अनुवाद—(उपहार-व्यपदेश से) श्रीकृष्ण के साथ निश्चय करने के बाद श्रीराधाजी ने सन्ध्या-समय (पूर्वकथित) सखी को माला दे आने के छल से श्रीकृष्ण के पास भेजा। श्रीकृष्ण ने जब उसका वस्त्र पकड़ा तो वह दीनतापूर्वक बोली—हे निर्दयी ! प्रसन्न हो, मेरे वस्त्र को छोड़ दो। तुम्हारी बलिहारी ! देख तो सन्ध्या हो रही है (यह समय विलासोपयुक्त नहीं है) तुम्हारा कोई दोष नहीं, मैं तुम्हारे इस उन्नत गुण (उद्धत दोष) को जानकर भी प्रियसखी के कहने पर माला लेकर जो चली आयी, यह मेरी ही मूर्खता का परिचायक है ॥६७॥

अनुवाद—(निजप्रयोजन व्यपदेश से)—श्रीकृष्ण को संकेत देकर श्रीराधा ने शशिकला को अपना मुक्ताहार ले जाने के छल से क्रीड़ा-कुन्ज में भेजा। श्रीकृष्ण के साथ विहार करके शशिकला जब घर लौट रही थी तो ललिताजी ने उसको लज्जित करने के लिये नर्मवाक्यों में पूछा—हे शशिकले ! कल रात मैं अपनी प्रिय मुक्तामाला कदम्ब वन के कुञ्ज भवन में भूलकर छोड़ आयी थी, तुम उसे ले आओ, श्रीराधा का यह आदेश पाकर भी क्या उसे तुम वहां छोड़कर आ गयी हो ? ॥६८॥

अनुवाद—(आश्चर्यदर्शन-व्यपदेश से)—श्रीकृष्ण के रूप-वेशादि का गूढ़ प्रहेलिका द्वारा वर्णन कर श्रीराधाजी ने एक सखी को कहा कि जाकर उस आश्चर्य को तुम देख आओ। इस बहाने से उसे संकेत-स्थल पर भेजा। वहाँ श्रीकृष्ण के साथ लीला-विलास करके वह घर लौट रही थी। उसको प्रणय कोप युक्त एवं लज्जा से नीचे मुख झुकाये देखकर श्रीराधा जी ने नर्मवचन में पूछा—हे सखि ! एक भ्रमर के समान श्याम हंस अद्‌भुत क्रीड़ा कर रहा है, उसके मुख में सर्पिणी है, कण्ठ के पास सूर्य, शिर के ऊपर चन्द्रमा को धारण कर मुख से रत्न उगल रहा है—मेरे इन वचनों को सुनकर तुम स्वयं

अथ नायिकाप्रायात्रिकम्—

३६—आपेक्षिकाधिकानां यत्तिसृणां लघुषु स्फुटम् । कदाचिदेव दूत्यं ता नायिकाप्रायिकास्ततः ।। ७० ।।

तत्र अधिकप्रखराद्‌दूत्यम्—(३२)

पाणौ मे पतितासि शम्भलि चिरादत्याकुलं मा कृथाः काकु ते करवाणि निष्क्रयमहं शीर्णाभिसारैः सदा।
त्वं दिष्टचाद्य निकुञ्जसीमनि समानीता किमु स्तम्भसे मुक्तास्त्वत्कुचकुम्भगाः क्षपयतु श्यामः स सिंहीपतिः

अथ अधिकमध्याद्‌दूत्यम्—

(३३) व्यथयसि सदा मां वाग्भङ्‌ग्या शनैरनुशिष्ययं छलयसि च मां भ्रूनर्तक्या विनुद्य यमुद्धते ।
अयमिह वशीकृत्य स्वैरी मयाप्युपलम्भितस्त्वयि वितनुतां कृष्णः पद्मी स पद्मिनि विभ्रमम् ।। ७२ ।।

अथ अधिकमृद्वीद्‌दूत्यम्—(३४) अनुदिनमभिसारं कारितास्मि त्वयाहं कुसुमितरविकन्यातीरवन्याकुटीषु ।
सकृदहमकृतज्ञा त्वां पुरः कुञ्जमध्ये यदियमुपनये का निष्कृतिस्ते ततोऽभूत् ।। ७३ ।।

आश्चर्य दर्शन करने गयी थी, अब कुपित होकर क्यों यहां आ रही हो ? (पक्षान्तर में—मुख में बंशी कण्ठ में कौस्तुभ, शिर पर मोरपुच्छ धारण कर वह भ्रमर तुल्य श्यामवर्ण हंस (श्रीकृष्ण) मधुर वेणु बजा रहा है । यह प्रकृत अर्थ—होते हुए प्रहेलिका रूप में आश्चर्य-जनक लग रहा था—इस आश्चर्य-दर्शन के बहाने दूत्य प्रकाशित हुआ है ।।६९।।

अनुवाद—(नायिका-प्रायात्रिक्) प्रखरा, मध्या, एवं लघु—ये तीन प्रकार की आपेक्षिकाधिका सखियां जब स्वभावतः लघु सखियों का कदाचित् दूती-कार्य करती हैं, तो इनको 'नायिका-प्राया' कहा जाता है ।।७०।।

अनुवाद—(अधिक-प्रखरा-दूत्य)—ललिताजी अपने से न्यून किसी अपनी सखी को पुष्पचयन के बहाने वृन्दावन में उस कुञ्ज के निकट ले आयी, जिसमें श्रीकृष्ण विराजमान थे । निकट आकर क्रोध दिखाते हुए ललिता जी बोलीं—हे शम्भलि दूति ! अनेक दिन पीछे तुम मेरे हाथ पड़ी हो, अब व्याकुल होकर अनुनय-विनय मत करना । मुझ को सदा अभिसार करा कराकर तुमने क्षीण कर दिया है । आज भाग्य से तुम को पाकर तुम्हारे पहले कर्म का बदला चुकाऊंगी तुम निकुञ्ज के पास आकर अब अन-मनी क्यों हो रही हो ? वह श्याम वर्ण सिंह (श्रीकृष्ण) आज तुम्हारे वक्षस्थल पर स्थित कलशों के मुक्ता विखेरेगा ।।७१।।

अनुवाद—(अधिकमध्या-दूत्य) – विशाखा जी अपने से न्यूना अपनी एक प्रिय सखी को श्रीकृष्ण के पास लायी । उसको क्रीड़ा में अनिच्छा देखकर उसे समझाते हुए कहने लगीं—तुम जिनको वाक्य-भङ्गी से धीरे-धीरे शिक्षा देकर सदा मुझे व्यथित करती रही हो, जिनको भ्रूकुटी-नर्तकी द्वारा प्रेरणा देकर मेरी वञ्चना करती रही हो, उन्हीं स्वच्छन्द विहारी श्रीकृष्ण को वशीभूत कर तुम्हें उनके पास लायी हूँ । अब हे पद्मिनि ! वही कृष्णवर्ण पद्मी (हस्ती) अथवा लीलापद्मधारी श्रीकृष्ण तुम पद्मिनी-नायिका से विलास करेंगे ।।७२।।

अनुवाद—(अधिक मृद्वी-दूत्य) चित्राजी ने एक दिन अपनी प्रियसखी को श्रीकृष्ण के पास भेजा । सखी की अनिच्छा देखकर चित्राजी ने उसके द्वारा किये उपकारों को व्यक्त करते हुए कहा—हे सखि ! तुम प्रतिदिन मुझे यमुना तटस्थित पुष्पित निकुञ्जभवन में अभिसार कराती रही हो । मैं अकृतज्ञा यदि तुम्हें एक बार भी इस अग्रवर्ती कुञ्ज में प्रवेश करा सकूँ तो मैं उऋण हो जाऊँगी ।।७३।।

अथ द्विसमात्रिकम्—

४०—समानां प्रखरामध्याम्‌ृद्वीनां तु परस्परम् । दूत्यं च नायिकात्वं च समं ता द्विसमास्ततः ॥ ७४॥

तत्र समप्रखराद्दूत्यम्—

(३५)—प्रागेकान्तरमेव निश्चितमभूदन्योन्यदूत्यं हि नौ वारस्तत्र तवायमस्तु करवै दूत्यं तथाप्यद्य ते ।
भ्रूभङ्गं सखि मुञ्च मण्डय तनुं यद्याचते मामसौ सव्या ते स्फुरती दृगद्य मृगये गोष्ठाङ्गणे माधवम् ।७५

अथ सममध्याद्दूत्यम्—(३६)

त्वं न्यस्तासि मुरद्विषः शशिकले पाणौ मया गम्यते दूती हन्त तवाहमेव कमले किं धिङ्मृषा जल्पसि ।
इत्यन्योन्यविलक्षणप्रणयितामाधुर्यमुग्धे हरिर्दोर्भ्यां ते हृदये निधाय युगपत्पश्योन्मदः खेलति ॥ ७६ ॥

यथा वा—

(३७) क्व मालतिकयार्पिता चलसि माधवि त्वं मम क्व माधविकयार्पिता त्वमपि यास्यलं मालति ।
असंभवसहोद्गमे रहसि कृष्णभृङ्गो युवा युवामिह धयन्नयं वहतु कंचिदानन्दथुन् ॥ ७७ ॥

अनुवाद—(द्विसमात्रिक) समस्वभावा प्रखरा, मध्या एवं मृद्वी—ये तीनों सखियों का एक दूसरे के प्रति दूत्य सम्भव है, इसलिये इन्हें द्विसमा कहते हैं ॥७४॥

अनुवाद—(समप्रखरा-दूत्य)—श्रीराधाजी ने दो समप्रखरा सखियों को बारी-बारी से एक दूसरे के दूत्य करने में नियुक्त किया था। उनमें एकबार एक सखी ने दूसरी को अपने दूत्य की बारी के दिन, उसके रूपरंग से पहचान लिया कि वह आज क्रीड़ा-अभिलाषिणी हो रही है। तो वह उससे बोली—हे सखि ! पहलेसे ही एक एकदिन छोड़कर हम दोनोंका परस्पर दूत्यकार्य निश्चित है, तथापि आज तुम्हारे लिये मैं दूत्य करूंगी। सखि ! भ्रुकुटि मत चढ़ाना। वेश-भूषा कर, क्योंकि तुम्हारा बांया नेत्र फड़क कर मुझे ऐसी प्रार्थना कर रहा है। अब मुझे आज्ञा दो-मैं ब्रजाङ्गनमें जाकर श्रीकृष्णको ढुण्ढती हूँ ॥७५॥

अनुवाद—(सममध्या-दूत्य)—कमला और शशिकला श्रीराधा जी की दोनों प्रियसखी हैं। यद्यपि उस दिन एक की दूत्य की बारी थी, तथापि श्रीकृष्ण के पास प्रेमपूर्वक दोनों ने ही आकर दूत्य करने की इच्छा प्रकट की। श्रीकृष्ण दोनों को दोनों पार्श्वों में लेकर क्रीड़ा करने लगे। यह देख कर एक अन्य सखी ने श्रीराधाजी से आकर कहा—कमला ने शशिकला को कहा है—हे शशिकले ! तुम को श्रीकृष्ण के हाथ में सौंप कर मैं जा रही हूँ। तब शशिकला बोली—'कमले ! मैं तो आज तुम्हारी दूती होकर आयी हूँ। कमला बोली—हा धिक् ! क्यों झूँठ बोल रही हो ?—इस प्रकार उन दोनों का अति अद्भुत प्रणय-माधुर्य देखकर परमानन्दित होकर श्रीकृष्ण ने दोनों भुजाओं में दोनों को भर कर वक्षस्थल पर धारण कर लिया। देखो तो वह उन्मत्त होकर क्रीड़ा कर रहे हैं ॥७६॥

अन्य-उदाहरण—एक दिन मालती तथा माधवी श्रीराधा जी की दोनों प्रियसखियां श्रीकृष्ण के पास गयीं। दोनों ने उन्हें एक दूसरे के लिये नेत्रों से इशारा किया। श्रीकृष्ण ने दोनों को ही रोक लिया और युक्ति युक्त वचन बोले—'हे माधवि ! तू कहां जा रही है ? दूती मालती ने तुम्हें मुझे समर्पण किया हैं। यह सुनकर मालती वहां से निकलने लगी तो श्रीकृष्ण उससे बोले—वाह ! मालति तुम कैसे जा रही हो ! दूती माधवी ने तुम्हें मुझे अर्पण किया है। तब दोनों बोलीं—'यह क्या बात ठहरी ? तुम एक ही के साथ सदा विहार करते हो। आज हम दोनों को क्यों रोक रहे हो ?' तब श्रीकृष्ण बोले—

४१—अतीवाभेदमधुरं सौहृदं सममध्ययोः। विरलं शक्यते ज्ञातुं किंतु प्रेमविशेषिभिः ।। ७८ ।।

अथ सममृद्वीदूत्यम्—

(३८) द्रुतमनुसरन्मन्दाराक्षीं मुकुन्द निवर्तय व्रततिनिभृतं या कुञ्जान्तः कुटीमुपनीय माम् ।
इति तव सखीवाक्येन त्वामहं सुखमाह्वये स्फुरति हि मुहुर्मध्ये तिष्ठन्वधुः समतारयो ।। ७९ ।।

अथ सखीप्रायात्रिकम्—

४२—लघूनां प्रखरामध्यामृद्वीनां प्रायशः सदा । दूत्यं भवति तेनेमाः सखीप्रायाः प्रकीर्तिताः ।। ८० ।।

तत्र लघुप्रखरादूत्यं, यथा श्रीगीतगोविन्दे—(११।६) (३९)

त्वां चित्तेन चिरं वहन्नयमिति श्रान्तो भृशं तापितः कंदर्पेण च पातुमिच्छति सुधासंबाधबिम्बाधरम् ।
अस्याङ्कं तदलंकुरु क्षणमिह भ्रूक्षेपलक्ष्मीलवक्रीते दास इवोपसेवितपदाम्भोजे कुतः संभ्रमः ? ।। ८१ ।।

'शरद् में मालती (लता) प्रफुल्लित होती है और वसन्त में माधवी (लता)। एक साथ दोनों की विद्यमानता असम्भव होते हुए भी आज युवा कृष्ण भ्रमर दोनों का ही मकरन्द एकत्र पान कर अनिर्वचनीय-आनन्दोत्सव मनायेगा ।।७७।।

अनुवाद—सममध्या दो सखियों का परस्पर सौहार्द अत्यन्त अभिन्न होता है, मधुर होता है, किन्तु सर्वत्र दुर्लभ है, किन्तु प्रेम-विशेष के ज्ञाता इस तत्त्व को जानते हैं। ।।७८।।

अनुवाद—(सममृद्वी-दूत्य) —श्रीराधाजी की प्रिय सखी मन्दाराक्षी अपने से अभिन्ना एक अन्य सखी के दूत्य की बारी के दिन श्रीकृष्ण के निकट से छिप कर अपने घर जा रही थी। उसकी एक सखी के कहने पर श्रीकृष्ण ने उसे बुलाया किन्तु वह उनके पास नहीं गयी। सखी बोली—हे मुकुन्द ! जल्दी से भागकर मन्दाराक्षी को पकड़ लो, वह मुझे कुञ्ज वन में लाकर स्वयं छिपकर भागी जा रही है। श्रीकृष्ण ने मन्दराक्षी को कहा—देख, तुम्हारी सखी के कहने पर ही मैं तुम को बुला रहा हूँ। (तुम यह शंका मत करो कि निभृत विलास सदा एकाकिनी नायिका के मिलन पर निःसंकोच सम्पन्न होता है) क्योंकि दो समान नक्षत्रों (तारों) के बीच चन्द्रमा और अधिक शोभायमान होता है ।।७९।।

अनुवाद—(सखी प्रायात्रिक)—आपेक्षिक लघु प्रखरा, मध्या एवं मृद्वी—इन तीनों सखियों की प्रायः सदा दूती कार्य में नियुक्ति होती है। इसलिये उन्हें 'सखी-प्राया' कहते हैं ।।८०।।

अनुवाद—(लघुप्रखरा-दूत्य) श्रीगीतगोविन्द (११।६) में—यथा कलहान्तरिता दशा के शेष में श्रीकृष्ण ने अनेक अनुनय-विनय श्रीराधाजी को मनाने में की। फिर भी लज्जा के कारण कुछ अंश मान का रहने पर श्रीराधा जी श्रीकृष्ण के पास नहीं जा रही थीं। तब उनकी एक प्रिय सखी ने कहा—हे सुन्दरि ! यह नागरेन्द्र अनेक समय तक तुम्हें चित्त में धारण करते हुए थक गया है एवं कन्दर्प-ताप से सन्तप्त हो रहा है। अतएव सुधापूर्ण आपके विम्बाधर का पान करना चाहता है। तुम क्षणभर के लिये उसके अंक को अलंकृत करो। लज्जा-सम्भ्रम का कोई कारण नहीं है, क्योंकि तुमने तो इसे भ्रूभंगी की शोभा विन्दु से मोल ले रखा है। क्रीत-दास से सम्भ्रम कैसा ? उसने तुम्हारे चरण-कमलों की सेवा भी तो अनेक बार की है। (अतः परमदुर्लभतम वस्तु जब अल्प दाम में पायी जाये तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिये—तुम उसकी अंक को शोभित करो ।।८१।।

अथ लघुमध्यादूत्यम्—
(४०) किमिति कुटिलितभ्रूश्चण्डि वृत्ताद्य सद्यस्त्वमिह कुसुमहेतोः सौहृदादाहृतासि।
व्रज नरपतिपुत्रं सन्तमन्तर्निलीय प्रियसखि तटकुञ्जे हन्त जाने कथं वा॥ ८२॥
अथ लघुमृद्वीदूत्यम्—(४१)
कुञ्जगेहमवगाह्य माधवं सुप्तमत्र सिचयेन वीजय। फुल्लमिन्दुकिरणैः कुमुद्वतीकोरकप्रकरमाहराम्यहम्।
४३—आसां मध्ये भवेत् ाचिन्नायिकात्वे दराग्रहा। तस्मिन्ननाग्रहा काचित्सख्यसौख्याभिलाषिणी।८४॥
तत्र आद्या, यथा—(४२)
लेखामाहर नीपकुञ्जकुहरात्त्वं चन्द्रकाणां मया न्यास्तानामिति मद्गिरा सरभसं स्मेया स्वयं प्रस्थिता।
तामुन्मुच्य मदीरितां शशिकले किं चन्द्रलेखाशतं चेलेनावृतमन्यदेव दधती लब्धासि नम्रा गृहम्॥ ८५॥

अनुवाद—(लघुमध्या-दूत्य) एक कुञ्ज में श्रीकृष्ण को छिपाकर बैठा दिया और आकर प्रियसखी को पुष्पचयन के लिये उसी कुञ्ज में ले आयी। श्रीकृष्ण ने उसे अवरुद्ध कर लिया। तब वह सखी रोषमें भरकर साथलानेवाली प्रियसखीको भौंह चढ़ाकर देखने लगी तब वह बोली-हे कोपने! (क्रोधिनि!)मैं तो सौहार्द्दवश तुमको यहां पुष्पचयन करने के लिये लायी थी। मुझे क्यों अब कुटिल दृष्टिसे देख रही हो! प्रियसखि! मुझे क्या पता कि व्रजेन्द्रनन्दन यहां छिपा बैठा है? ॥८२॥

अनुवाद—(लघुमृद्वी-दूत्य) श्रीराधाजी की एक प्रियसखी अपनी सखीको एक कुञ्जमें ले आयी,जहां पहले से वह श्रीकृष्ण को बैठा गयी थी। कुञ्ज में आकर बोली—देख, सखि! कुञ्ज में चली जा, वहां श्रीकृष्ण सो रहे हैं, उनको अपने वस्त्रांचल से हवा करती रह, जब तक मैं चन्द्रकिरण से प्रस्फुटित कुमुद-कलियों का चयन कर लाती हूँ॥८३॥

अनुवाद—इन तीनों प्रकार की आपेक्षिकाधिका गोपियों में कोई कोई तो नायिकात्व में थोड़ी उत्सुका रहती हैं, कोई नायिकात्व में इच्छुक न होकर अपनी सखी के सुख की अभिलाषा करती हैं॥८४॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—यहां जिनके विषय में नायिकात्व में थोड़ी उत्सुत्कता कही गयी है, वह अपनी यूथेश्वरी के आग्रह एवं अनुरोधवश होती है। यूथेश्वरी का ऐसा आग्रह भी दो प्रकार का है—एक तो अपने कान्त की कामपूर्ति के लिये। दूसरे, अपनी सखी से स्नेह होने के कारण। ऐसी सखियां भी फिर दो प्रकार की हैं—एक तो, श्रीकृष्ण को लोभ उत्पन्न करने वाले सुन्दर देह को धारण करने वाली हैं, दूसरो, ऐसी हैं जिनका देह श्रीकृष्ण के लिये लोभनीय नहीं है। लोभनीय देहवाली सखियों के प्रति एक प्रकारका आग्रह होता है,किन्तु अलोभनीय देहवाली सखियोंके प्रति दूसरे प्रकारका आग्रह जानना चाहिये। लोभनीय देहवाली यह मान कर नायिकात्व में आग्रह वश प्रवृत्त होती है कि मेरी सुकुमारी यूथेश्वरी काम समुद्र में स्वकान्त को सम्पूर्ण रतिदान करने में असमर्थ हो गयी है, इसलिये मुझे नियुक्त कर रही है। अतः मुझे इसकी सहायता करनी चाहिये। दूसरी अलोभनीय देहा अपने द्वारा श्रीकृष्ण के अत्यल्प सुखको जानकर अपनी यूथेश्वरीकी सहायतामें असमर्थ रहकर वह अन्यान्य सौभाग्यवती सखियों को तथा अपनी यूथेश्वरी को सुख देने की इच्छा रखती है, अपने नायिकात्व में आग्रह नहीं रखती है॥

अनुवाद—(नायिकात्व में अल्प-उत्सुका)—श्रीराधाजी ने अपनी प्रियसखी शशिकला को वन में से मोरपुच्छ ले आने के बहाने श्रीकृष्ण के पास भेजा। वहां से उनके साथ विहारोपरान्त जब घर

द्वितीया, यथा—

(४३) मां पुष्पाणामवचयमिषाद्वृन्दशो मा प्रहैषीर्वृन्दारण्ये परमिह भवद्दुःखभीत्या प्रयामि ।
सत्यं सत्यं सुमुखि ! सखितासौख्यतस्ते मम स्यान्नस्वादीयानघविजयिनः केलिशय्याधिरोहः ॥८६॥

अथ नित्यसखी—४४—सख्येनैव सदा प्रीता न'यिकात्वानपेक्षिणी ।
भवेन्नित्यसखी सा तु द्विधैकात्यन्तिकी लघुः । आपेक्षिकलघूनां च मध्येऽन्या काचिदीरिता ॥ ८७॥

यथा—(४४) त्वया यदुपभुज्यते मुरजिदङ्गसङ्गे सुखं तदेव बहु जानती स्वयमवाप्तितः शुद्धधीः ।
मया कृतविलोभनाप्यधिकचातुरीचर्यया कदापि मणिमञ्जरी न कुरुतेऽभिसारस्पृहाम् ॥८८॥

यथा वा—(४५) राधारङ्गलसत्त्वदुज्ज्वलकलासंचारणप्रक्रिया-चातुर्योत्तरमेव सेवनमहं गोविन्द संप्रार्थये ।
येनाशेषवधूजनोद्भटमनोराज्यप्रपञ्चावधौ नौत्सुक्यं भवदङ्गसंगमरसेप्यालम्बते मन्मनः ॥ ८९॥

लौटी तो श्रीराधाजी ने परिहास करते हुए कहा—मैंने तुम्हें कदम्ब कुञ्ज में मोर द्वारा गिराये हुए मोरपुच्छ को लाने के लिये भेजा था । तुम भी हंसने हुए वहां चली गयी । हे शशिकले ! तुम तो एक मोरपुच्छ को त्याग कर सौ-सौ चन्द्रकों (नखक्षतों) को वस्त्र में ढकलर मस्तक झुकाये हुए घर लौट आयी हो ॥८५॥

अनुवाद—(सखी सुखाभिलाषिणी)—श्रीराधाजी की एक प्रियसखी श्रीकृष्णांग-संग में स्पृहाहीन थी, किन्तु श्रीराधा जी उसे बार-बार पुष्पचयन के वहाने श्रीकृष्ण के पास भेजती थीं । तब उस सखी ने अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहा—हे समुखि ! पुष्पचयन के छल से तुम मुझे बार-बार वृन्दावन मत भेजो । मेरे न जाने से तुम दुख मानोगी—इसलिये केवल मैं अब तक जाती रही हूँ । किन्तु मैं तुम से सत्य-सत्य कहती हूँ कि मुझे तुम से जो सख्यसुख मिलता है, उससे मैं श्रीकृष्ण की केलिशय्या-आरोहण के सुख को बढ़कर नहीं मानती हूँ ॥८६॥

अनुवाद—(नित्यसखी)—जो नायिकात्व में आग्रह न करके सदा सखी-सुख में प्रीति रखती हैं, वे 'नित्य-सखी' हैं, वे आत्यन्तिका लघु तथा आपेक्षिकी-लघु भेद से दो प्रकार की हैं । आपेक्षिकी लघुओं में जिन्हें पहले नायिकात्व में आग्रहरहित तथा सखी-सुखाभिलाषिणी कह आये हैं—वे ही द्वितीय भेद अर्थात् आपेक्षिकी लघु कक्षा में आती हैं ॥८७॥ यथा—श्रीराधाजी के यूथ में मणिमञ्जरी आपेक्षिकीलघु है । एकबार श्रीराधाजी ने वृन्दा की एक निजी सखी द्वारा उसे अभिसार कराने की आज्ञा की, किन्तु मणिमंजरी ने अभिसार नहीं किया । इस वृत्तान्त को वृन्दा ने सखियों में विराजमाना श्री राधाजी को आकर बताया—'हे राधे ! आप कृष्णांग-संग में जो सुख उपभोग करती हैं, माणिमंजरी उसी को ही आत्म सुख से भी अति अधिक मानती है, क्योंकि वह निर्मल बुद्धि है । देखिये न, मैंने अति निपुणता से उसे बहुत बड़ा प्रलोभन दिया, किन्तु उसकी अभिसार में जरा भी स्पृहा जागृत न हो सकी ॥८८॥

अन्योदाहरण—यथा श्रीराधा जी एक नित्य सखी को श्रीकृष्ण ने विहार की प्रार्थना, किन्तु उसने श्रीराधा जी के साथ उनके विहार-लीला में सेवा सम्पन्न करने को ही अपनी सर्वाभीष्ट-पूर्ति स्थापन करते हुए कहा—हे गोविन्द ! श्रीराधा के साथ कौतुकहेतु आपके उज्ज्वलरस-वैदग्धी के संघटन में कौशल प्रधान सेवन ही मेरी एकमात्र अभीष्ट कामना है । इसे छोड़कर मुझे और कोई अभिलाषा नहीं

तत्र तद्दूत्यं, यथा—

(४६) अन्तः प्रविशति न सखी कुप्यति मे कुञ्जदेहलीलीना। तदिमां भङ्गुरितभ्रु वमनुनय वृन्दाटवीचन्द्र

४५—प्राखर्यं मार्दवं चापि यद्यप्यापेक्षिकं भवेत्। तथापि विस्तरभयात्तद्विशेषोऽत्र नेरितः॥ ९१॥

४६—प्राखर्यादिस्वभावोऽयं यथायथमुदीरितः। देशकालादिवैशिष्ट्ये स्यादस्यापि विपर्ययः॥ ९२॥

तत्र प्राखर्यस्य विपर्ययो, यथा—(४७)

ध्वान्तैर्घोरतमां तमीमगणयन्वृष्टिं च धारामयीं चण्डं चानिलमण्डलं सखि हरिर्द्वारं तवासौ श्रितः।
हा क्रोधं विसृज प्रसीद तरसा कण्ठे गृहाण प्रियं मूर्ध्नायं ललिताभिधस्तव पदं नत्वा जनो याचते॥ ९३॥

मार्दवस्य विपर्ययो, यथा—(४८)

रणस्तवनकूटतः कुटिलधीः सखि! त्वामसौ कटाक्षितवती कथं तदपि नोज्झसि प्रश्रयम्।
रुषं कुरु करोषि चेन्मृदुतराद्य चित्राप्यसौ विधास्यति तदौचितीं हिमघटेव पद्मोपरि॥ ९४॥

है। इस प्रकार स्वसुख लेश-हीन सेवा में ही समस्त गोपीजन के सुखों की निर्बाध चरम-परिसीमा है। किन्तु आपके अंग-संग रस में वैसा सुख नहीं है। अतः मेरी इसमें उत्सुकता नहीं है, मुझे मेरी चिरवांछनीय सेवा ही प्रदान करो॥८९॥

अनुवाद—(उनका दूत्य)—श्रीराधाजी की कोई एक प्रियसखी श्रीराधाजी को अभिसार कराकर श्रीकृष्ण के पास कुञ्ज में ले आयी। कुञ्ज में प्रवेश करने से श्रीराधा जी ने अस्वीकार कर दिया और सखी के प्रति कुपित भृकुटि तानते हुए श्रीकृष्ण को जताने लगीं—हे वृन्दावनचन्द्र! मेरी सखी बाहर कुञ्ज द्वार पर छिप रही है, अन्दर नहीं आ रही है। मेरी ओर वह कुपित होकर भ्रृकुटि तान रही है। आप जाकर उसे अनुनय करके कुञ्ज में ले आओ॥९०॥

अनुवाद—प्रखरता एवं मृदुता ये दोनों आपेक्षिक भी हो सकते हैं अर्थात् जो प्रखरा है, वह अति प्रखरा की तुलना में मृद्वी हो सकती है, और जो मृद्वी है, वह अति मृद्वी की तुलना में प्रखरा हो सकती है। यहां विस्तार भय से अधिक उल्लेख नहीं किया जा रहा है॥९१॥ यहां प्राखर्यादि स्वभाव का यथा-युक्त वर्णन किया गया है। किन्तु देश-काल एवं पात्रादि की विशेषता में उनके स्वभाव में विपर्यय भी हो सकता है—प्रखरा मृद्वी हो जाती है और मृद्वी प्रखरा हो जाती है॥९२॥

अनुवाद—(प्राखर्य्य-विपर्यय) एकबार घनघोर रात्रि में वर्षा हो रही थी और श्रीराधा जी बहुत देर से मानवती होकर अपने कमरे का द्वार बन्द कर सो रही थीं। उनका मान भंग करने के लिये जब श्रीकृष्ण वहां आये, तो ललिता जी ने प्रणाम करते हुए विनयपूर्वक श्रीराधाजी से कहा—हे प्रियसखि! अन्धेरी रात, धारामयी वर्षा, प्रचण्ड झञ्झावात (तूफान) की भी कुछ परवाह न कर श्रीकृष्ण आपके द्वार पर उपस्थित हैं। हाय! शीघ्र ही मान को त्याग कर प्रसन्नता पूर्वक प्रियतम को गले लगा लो। आपके चरणों में मस्तक टेक कर यह ललिता प्रार्थना करती है। (ललिता जी अति प्रखरा स्वभाव की हैं—किन्तु यहां उसके स्वभाव में मृदुता दिखायी गयी है)॥९३।

अनुवाद—(मृदुता का विपर्यय) एक बार श्रीराधा जी के पास चित्रा जी बैठी थी कि पद्मा उसी समय आ पहुँची। वह व्याज-स्तुति द्वारा बाहर से बहुत प्रशंसा करने लगी, (वास्तव में वह व्यंगपूर्ण निन्दा कर रही थी)। चित्रा जी उसे सहन न कर सकी और उसे फटकार देने के लिये क्रोध भरे वचनों में श्रीराधा जी से बोली—हे प्रियसखि! यह कुटिल बुद्धि पद्मा प्रशंसा के छल से आप पर कटाक्ष कर

४७—दूत्यं तु कुर्वंती सख्याः सखी रहसि संगता । कृष्णेन प्रार्थ्यमानापि स्यात्कदापि न सम्मता ९५ ॥

यथा—(४९)

दूत्येनाद्य सुहृज्जनस्य रहसि प्राप्तास्मि ते संनिधिं किं कंदर्पधनुर्भयंकरममुं भ्रू गुच्छमुच्चच्छसि ?
प्राणानर्पयितास्मि संप्रति वरं वृन्दाटवीचन्द्र ते नत्वेतामसमापितप्रियसखीकृत्यानुबन्धां तनुम् ॥ ९६ ॥

४८—मिथः प्रेमगुणोत्कीर्तिस्तयोरासक्तिकारिता । अभिसारो द्वयोरेव सख्याः कृष्णे समर्पणम् ॥ ९७ ॥

४९—नर्माश्वासननेपथ्यं हृदयोद्घाटपाटवम् । छिद्रसंवृतिरेतस्याः पत्यादेः परिवञ्चना ॥ ९८ ॥

५०—शिक्षा संगमनं काले सेवनं व्यजनादिभिः । तयोर्द्वयोरुपालम्भः संदेशप्रेषणं तथा ।
नायिकाप्राणसंरक्षाप्रयत्नाद्याः सखीक्रियाः ॥ ९९ ॥

तत्र कृष्णे सखीप्रेमोत्कीर्ति यथा पद्यावल्याम्—(१८१)

(५०) मुरहर ! साहसगरिमा कथमिव वाच्यः कुरङ्गशावाक्ष्याः ?
खेदार्णवपतितापि प्रेमधुरां ते न सा त्यजति ॥ १०० ॥

रही थी, फिर भी आपने नम्रता क्यों न छोडी ? मेरे प्रति आप क्रोध भले करो, तथापि आज यह मृदुस्वभावा चित्रा पद्मा से यथोचित बदला लेकर रहेगी । शीतल तुषार (ओस) जैसे कमल पर पड़कर उसे मलिन और संकुचित कर देती है, उसी प्रकार यह अति मृदल-स्वभावा चित्रा भी आज पद्मा की प्रतिभा को संकुचित कर उसे मलिन करके छोड़ेगी । (चित्राजी अति मृद्वी हैं, यहां उनमें विपर्यय—प्राखर्य्य दिखाया गया है) ॥९४॥

अनुवाद—यूथेश्वरी का दूत्य करते हुए यदि कोई सखी श्रीकृष्ण से निर्जन स्थान पर मिलती है, तो श्रीकृष्ण द्वारा प्रार्थना करने पर भी वह अङ्गसंग के लिये कभी सम्मत नहीं होती है । (सखी का यही धर्म है) ॥९५॥ यथा—श्रीराधा जी की एक प्रिय सखी उनका दूत्य करते हुए श्रीकृष्ण के पास गयी । श्रीकृष्ण उसके साथ विहार करने की जब चेष्टा करने लगे तो वह बोली—हे वृन्दावनचन्द्र ! आज मैं आपके पास प्रियसखी श्रीराधा का दूत्य सम्पादन करने आयी हूँ, आप मेरे प्रति कामधनु से भीषण भ्रु वाण निक्षेप कर रहे हैं ? प्रियसखी का दूत्य समाप्त न करने तक मैं आपको अपने प्राण समर्पण कर सकती हूँ, किन्तु शरीर नहीं ॥९६॥

अनुवाद—(सखियों के कार्य)—नायक के प्रति नायिका के तथा नायिका के प्रति नायक के प्रेम तथा गुणों की प्रशंसा करना, दोनों को एक दूसरे के प्रति आसक्त करना, दोनों का अभिसार कराना श्रीकृष्ण को सखी-समर्पण करना, परिहास करना, आश्वासन देना, वेश-भूषा रचना करना तथा दोनों के हृदय के मर्म को छिपाये रखने की पटुता, नायिका के दोष छिपाना, पति आदि की वञ्चना, हितोपदेश, यथा समय दोनोंका मिलन कराना,चामरादि द्वारा सेवा,दोनोंके दोषों को प्रकट कर दोनोंको शिक्षा देना, एक दूसरे का सन्देश पहुंचाना तथा नायिका की प्राण रक्षा में सचेष्ट रहना आदि—ये सोलह क्रियाएं सखियों की हैं ॥९७-९९॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण के प्रति सखी-प्रेमकथन) कलहान्तरिता श्रीराधा जी की एक प्रिय सखी ने श्रीकृष्ण से आकर कहा—हे मुरारे ! उस मृगनैनी श्रीराधा के साहस की गरिमा क्या कहूँ ? वह अनिर्वचनीय है ! वह दुखसागर में पड़कर भी आप के प्रति प्रेमातिशय को त्याग नहीं कर रही है ॥१००॥

सख्यां कृष्णप्रेमोत्कीर्तिः यथा तत्रैव—(१६१)—

(५१) केलीकलासु कुशला नगरे मुरारेराभीरपंकजदृशः कति वा न सन्ति।
राधे त्वया महदकारि तपो यदेष दामोदरस्त्वयि परं परमानुरागः॥ १०१॥

तत्र तस्या गुणोत्कीर्तिः यथा—

(५२) निनिन्द निजमिन्दिरा वपुरवेक्ष्य यस्याः श्रियं विचार्य गुणचातुरीमचलजा च लज्जां गता।
अघार्दन तया विना जगति कानुरूपास्ति ते परं परमदुर्लभा मिलतु कस्य सा मे सखी॥ १०२॥

तस्यां तस्य गुणोत्कीर्तिः, यथा ललितमाधव [1]

(५३) महेन्द्रमणिमण्डलीमदविडम्बिदेहद्युतिर्व्रजेन्द्रकुलनन्दनः स्फुरति कोऽपि नव्यो युवा।
सखि स्थिरकुलाङ्गनानिकरनीविबन्धार्गलच्छिदाकरणकौतुकी जयति यस्य वंशीध्वनिः॥ १०३॥

कृष्णे सख्या आसक्तिकारिता, यथा विदग्धमाधवे—(२।१०)

(५४) सा सौरभोर्मिपरिदिग्धदिगन्तरापि वन्ध्यं जनुः सुतनु गन्धफली बिभर्ति।
राधे न विभ्रमभरः क्रियते यदङ्के कामं निपीतमधुना मधुसूदनेन॥ १०४॥

अनुवाद—(सखी के प्रति कृष्ण-प्रेम कथन) श्रीपद्यावली (१६१) में यथा—श्रीराधा जी के पास आकर एक सखी श्रीकृष्ण के प्रेमाधिक्य का कथन करते हुए उनके सर्वापेक्षा भाग्यों की प्रशंसा करते हुए बोली—हे राधे! इस व्रजमण्डल में श्रीकृष्ण की अनन्त केलिकला में पण्डिता अनेकानेक व्रज-गोपियां हैं, फिर भी न जाने तुम ने क्या तपस्या की है कि दामोदर तुम्हारे प्रति ही परम अनुराग पोषण करता है॥१०१॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण के प्रति राधागुण-कथन)—श्रीराधाजी की एक सखी श्रीकृष्ण के पास आयी तो उनके द्वारा प्रार्थित होने पर भी वह गम्भीरता पूर्वक बोली—हे अघनाशन! लक्ष्मी भी जिसके सौन्दर्य को देखकर अपने शरीर की निन्दा करने लगती है, जिसके गुणों की चातुरी का विचार कर पार्वती भी लज्जित होती है, कहो तो, फिर उसे छोड़कर तुम्हारे योग्य और कौन रमणी है? परम दुर्लभा वह मेरी श्रीराधा भी क्या और किसी के साथ मिलित होगी?—आपको छोड़कर किसी के साथ मिलित न होगी॥१०२॥

अनुवाद—(श्रीराधा जी के प्रति श्रीकृष्णगुण-कीर्तन) यथा—श्रीललितामाधव में—कुन्दलता ने 'कृष्ण' नाम का उच्चारण किया। श्रीराधा जी विस्मित होकर ललिताजी से पूछने लगीं—कृष्ण कौन है? तब ललिता जी ने कहा—हे प्रिय सखि! इन्द्रनीलमणि की कान्ति को पराजित करने वाला व्रजेन्द्र-कुलचन्द्र है वह एक युवा। उसकी वंशीध्वनि परम पतिव्रता कुलीन किशोरियों के नीविबन्धन तोड़ डालने में कौतुकी होकर जययुक्त हो रही है॥१०३॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण के प्रति सखी की आसक्तिकारिता) श्रीविदग्ध माधव (२।१०) में यथा—श्रीराधा का कृष्ण एवं वंशीवदन तथा श्याम-किशोर—यह एक ही श्रीकृष्ण है—ये तीन पुरुष नहीं हैं—ऐसा भ्रम ललिता जी एवं विशाखा जी द्वारा दूर कर देने पर श्रीराधा जी परम आनन्दित हुईं।

---

१ श्रीललितमाधव में इस श्लोक का उल्लेख कहीं नहीं, किन्तु श्रीचै० चरितामृत (३।१।४३) में उपलब्ध होता है।

तस्यां तस्यासक्तिकारिता, यथा—

(५५) यद्येतस्यां वरपरिमलारब्धविश्वोत्सवायां न त्वं कृष्णभ्रमर रमसे राधिकामल्लिकायाम्।
अर्थः को वा नवतरुणिमोल्लासिनस्ते ततः स्याद्वृन्दाटव्यामिह विहरणप्रक्रियाचातुरीभिः ? १०५॥

कृष्णस्याभिसारणं, यथा—

(५६) अवरुद्धसुधांशुवैभवं विनुदन्तं सखि सर्वतोमुखम्। इह कृष्णघनं प्रगृह्य तं ललिताप्रावृडियं समागता १०६॥

सख्या अभिसारणं, यथा श्रीगीतगोविन्दे—(५।४)—

(५७) त्वद्वाम्येन समं समग्रमधुना तिग्मांशुरस्तं गतो गोविन्दस्य मनोरथेन च समं प्राप्तं तमः सान्द्रताम्।
कोकानां करुणस्वनेन सदृशी दीर्घा मदभ्यर्थना तन्मुग्धे विफलं विलम्बनमसौ रम्योऽभिसारक्षणः ॥१०७॥

यह देख कर उन दोनों सखियों ने कहा—हे सुन्दरि राधे ! यद्यपि चम्पक कलिका अपनी सौरभ-लहरियों से समस्त दिशाओं को पूर्णकर देती है, तो भी उसके जन्म को निष्फल ही कहा जायेगा, क्योंकि मधुसूदन (भ्रमर) तो उसकी अंक में शयन कर यथेष्ट मधु पान करते हुए आनन्द प्राप्त नहीं करता। अर्थात् जिस सुन्दरी के अंक में नायक चूड़ामणि श्रीकृष्ण यदि आकर अधर सुधा पान कर आनन्द प्राप्त नहीं करते उस रमणी का जन्म वृथा ही है ॥१०४॥

अनुवाद—(सखी के प्रति श्रीकृष्ण की आसक्तिकारिता)—श्रीराधा जी का इंगित पाकर कोई सखी श्रीकृष्ण के पास आकर भ्रमर के छल से श्रीकृष्ण को सम्बोधन कर श्रीराधा जी के गुणोत्कर्ष का वर्णन कर श्रीकृष्ण को उनमें आसक्त कराते हुए बोली—हे कृष्ण-भ्रमर ! श्रीराधा रूपी श्रेष्ठ मल्लिका का जो सौरभ है, वह सबको अतिशय आनन्द प्रदान कर रहा है, यदि तुम ने क्रीड़ा पूर्वक उसका रस पान नहीं किया तो इस नवयौवन से इस वृन्दावन में चातुर्य पूर्ण विचरण-परिपाटी का क्या फल ?—(श्रीराधा-विलास के विना आपके नव यौवन से वृन्दावनमें विचरण की कोई सार्थकता नहीं है) ॥१०५॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण का अभिसार) ललिता जी श्रीकृष्ण को श्रीराधा जी के पास ले आयी, परमानन्दित होकर तुङ्गविद्या अपनी सखी के सामने ललिता एवं श्रीकृष्ण को रूपक-अलंकार से वर्णन करती है—हे सखि ! यह देख, मनोज्ञा वर्षा (ललिता) चन्द्रप्रभा को ढकने वाले जलवर्षणशील मेघ को (श्रीकृष्ण को) साथ लेकर आयी है ॥१०६॥

अनुवाद—(सखीका अभिसार)श्रीगीतगोविन्द (५।४) यथा—मान-उपशम हुआ जानकर एक प्रिय सखी श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण के निकट शीघ्र अभिसार करने के लिये कहती है—हे राधे ! तुम्हारे रोष के साथ सूर्य भी अस्त हो गया है और श्रीगोविन्द के मनोरथ के साथ अन्धकार भी घना हो गया है, विरहव्याकुल चक्रवाक-दम्पती के रात में दीर्घ आर्तनाद की भांति मेरा भी सम्मान बढ़ रहा है। अतः हे मुग्धे ! इस समय विलम्ब करने का कुछ प्रयोजन नहीं, यही समय अभिसार के लिये अति रमणीय है ॥१०७॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण को सखी-समर्पण) पूर्वराग में अनुरागवती श्रीराधा जी को अभिसार करा कर, उनके गुणोत्कर्ष का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण को समर्पण करते हुए विशाखा जी कहती हैं—हे मुरारे ! मेरी प्रिय सखो श्रीराधा के अन्तःकरण में निवास करने के लिये धैर्य, वैदग्ध्य, कारुण्यादि

कृष्णे सख्याः समर्पणं, यथा—

(५८) यदन्तरमुपासितुं कमलयोनिमीजुर्गुणा यदङ्गमुपसेवितुं तरुणिमापि चक्रे तपः।
नवप्रणयमाधुरीप्रमदमेदुरेयं सखी मयाद्य भवतः करे मुरहरोपहारीकृता॥ १०८॥

नर्म, यथा विदग्धमाधवे—(१।३३)—

(५९) देहं ते भुवनान्तरालविरलच्छायाविलासास्पदं मा कौतूहलचञ्चलाक्षि लतिकाजाले प्रवेशं कृथाः।
नव्यामञ्जनपुञ्जमञ्जुलरुचिः कुञ्जेचरी देवता कान्तां कान्तिभिरङ्कितामिह वने निःशङ्कमाकर्षति १०९

आश्वासनं, यथा—

(६०) मागाः क्लमं सखि मुहुर्वृषभानुपुत्रि भानुं प्रतीहि चरमाचलचंक्रमोत्कम्।
आनन्दयन्नयनमुद्धुरधेनुधूलिध्वान्तं विधूय विधुरेष पुरोज्जिहीते॥ ११०॥

नेपथ्यं, यथा—

(६१) भाले मया ते मृगनाभिनासौ यः पत्रभङ्गोऽस्ति विरच्यमानः।
स बिन्दुरूपेण पतञ्छ्रमाम्बुलुप्तो हरेर्वक्त्ररुचिं तनोतु॥ १११॥

समस्त कल्याणमय गुणों ने ब्रह्मा की आराधना की थी, और जिसके अङ्गों में आश्रय पाने के लिये तारुण्य ने तपस्या की थी, उस प्रियसखी को मैं अब तुम्हारे हाथ में उपहार के रूप में समर्पण कर रही हूँ। पूर्वानुराग की जो माधुरी है, उसके, परमानन्द से यह अति स्निग्धा हो रही है॥१०८॥

अनुवाद—(नर्म) श्रीविदग्ध माधव (१।३३)—में यथा—ललिता जी ने श्रीराधा जी से कहा—हे आनन्दवश चञ्चलाक्षि राधे! तुम्हारा यह शरीर त्रिभुवन में सुदुर्लभ कान्ति कदम्ब का क्रीड़ा भवन है, इसलिये इसे लता जाल में प्रविष्ट मत करो। इस वन में काजल-पुञ्ज से भी मनोहर कान्तिधारी एक कुञ्ज देवता रहता है, वह नवीना कान्तिमयी रमणी को देखते ही उसे निःशंक होकर आकर्षण कर लेता है॥१०९॥

अनुवाद—(आश्वासन)—श्रीकृष्ण के गोचरणहित वन में जाने पर उनके विरह में व्याकुल चित्त श्रीराधा जी को विशाखा जी ने कहा—हे सखि! वृषभानुनन्दिनि! अब सूर्य शीघ्र ही अस्ताचल में जाने को उत्कण्ठित हो रहा है। तू वार-बार अब दुखित मत हो। यह देख, सामने बन्धन-रहित गौओं के खुरों के आघात से उड़ी हुई धूलि के अन्धकार को नाश करते हुए नेत्रों को आनन्द देने वाले चन्द्र (श्रीकृष्ण चन्द्र) का उदय हो रहा है॥११०॥

अनुवाद—(नेपथ्य) श्रीराधा जी के ललाट पर पत्रावली रचना करते हुए ललिता जी ने कहा—हे राधे! मैंने कस्तूरी द्वारा आपके ललाट पर जो पत्रभङ्गी रचना की है, इसलिये कि वह विलास-जनित स्वेद जल से लुप्त होते हुए बूँद-बूँद में टपक कर श्रीकृष्ण के मुख मण्डल को अलंकृत करे॥१११॥

अनुवाद—(हृदयोद्घाट-पटुता)—पूर्वरागावस्था में श्रीकृष्ण-दर्शनादि की परम उत्कण्ठा में श्रीराधा जी अधीर होकर भी हृदय के भाव को लज्जावश छिपा रहीं थीं। तब ललिता जी ने चतुरता-पूर्वक उनसे पूछा—हे किशोरि! नेत्रकमल बन्द मत कर, अपने हृदय को खोलकर बता, अथवा नेत्र मूँद कर ही बता। हे सखि! इस गोकुल में कौन सी कुलवती रमणी है, जिसने अपने विवाहित पति में पातिव्रत्य त्याग नहीं किया है? अपने पति के त्याग एवं श्रीकृष्ण-प्रेम रूपी मार्ग को तुम अकेली

हृदयोद्‌घाटपाटवं यथा—

(६२) तथ्यं वदाद्य नहि संकुच पङ्कजाभं द्वन्द्वं दृशोरिह किशोरि निमीलयन्ती ।
का रज्यते सखि विवोढरि गोकुलेऽस्मिन् क्षुण्णा न वीथिरियमेकिकया त्वयैव ।। ११२ ।।

यथा वा—(६३)

वयस्ते साम्राज्यं सखि वितनुते पुष्पधनुषो जिहीते सौन्दर्यं त्रिभुवनदृगासेचनकताम् ।
न दास्येऽप्यौचित्यं वहति परिणेता परिणतस्त्वमेका ह्रीदग्धे बत विमुषितासि व्रजकुले ।। ११३ ।।

छिद्रसंवृतिः, यथा विदग्धमाधवे—(६।१)

(६४) मुदा क्षिप्तैः पर्वोत्तरलहृदयाभिर्युवतिभिः पयः पूरैः पीतीकृतमतिहरिद्राद्रवमयैः ।
दुकूलं दोर्मूलोपरि परिदधानां प्रियसखीं कथं राधामार्ये कुटिलितदृगन्तं कलयसि ।। ११४ ।।

पत्यादेः परिवञ्चना, यथा—

(६५) श्यामाङ्गः पटुरेष कर्मणि बटुर्गर्गस्य शिष्यो मया राधामर्चयितुं प्रगे दिनकरं सद्मान्ययं प्रापितः ।
तेनाभीर पयस्त्वमागमय गां दुग्ध्वा पतङ्गप्रियां पिङ्गाक्षीमरुणामहं तु करवाण्येभिः सरोजैः स्रजम् ।।११५

भंग मत करो ।।११२।। (दूसरा उदाहरण) पूर्वोक्त उदाहरण में सामान्य रूप से हृदय के भेद को निकालने की पटुता दिखायी गयी है, अब युक्तियुक्त कारण दिखाकर उसका उल्लेख करते हैं—श्रीकृष्ण के प्रति अनुरागवती होकर भी श्रीराधा जी अपनी सखियों के सामने अपने हृदय के भाव खोलकर नहीं रखतीं, यह जान कर उपदेश के छल से लज्जा त्याग कर उनमें भाव का उद्दीपन करते हुए ललिता जी बोली—हे सखि ! तुम्हारे इस नवकिशोर ने कन्दर्प पर पूरा अधिकार कर रखा है, तुम्हारा सौन्दर्य त्रिभुवन वासी लोगों के नेत्रों को पूर्णरूप से परितृप्त नहीं कर पा रहा है, तुम्हारे वृद्ध पतिमन्य में तो तुम्हारे दास्य की योग्यता भी नहीं रही है। हे लज्जादग्धे ! कैसा यह दुख ! इस गोकुल में अकेली तुम ही लज्जा के मारे (श्रीकृष्ण संग से) वंचित हो रही हो, मैं सबको श्रीकृष्ण द्वारा प्रणीत देखती हूँ ।।११३।।

अनुवाद—(छिद्र-संवृति) श्रीविदग्ध माधव (६।१) में यथा—कुञ्ज में रात्रि व्यतीत होने के बाद सूर्योदय की आशंका में त्वरावश श्रीश्रीराधा-कृष्ण के वस्त्र परस्पर पलट गये। श्रीराधा जी ने पीत वस्त्र और श्रीश्यामसुन्दर ने नील वस्त्र धारण कर लिया। प्रातः काल में श्रीराधा को पीतवस्त्र में देखकर जटिला जव उसे तिरस्कृत करने लगी तो विशाखा जी ने कहा—हे आर्ये ! (जटिले !) आप श्रीराधा के प्रति कुटिल-दृष्टि क्यों कर रही हो ? दीपमालिका महोत्सव में अति चञ्चल युवतियों ने आनन्द में भरकर अति गाढ़ा हल्दी का घोल एक दूसरे पर फेंका जिसके श्रीराधा का वस्त्र पीला हो रहा है। उस समय यही वस्त्र श्रीराधा ने अपने स्कन्धों पर डाल रखा था, अतः कुछ आशंका मत करो ।।११४।।

अनुवाद—(पति आदिक की वंचना) एक बार जटिला ने श्रीकृष्ण के भय से अपनी वधू श्रीराधा को आग्रहपूर्वक घरमें रोक रखा। रात्रिकालमें श्रीकृष्ण राधाभवनमें पधार कर विहार करते रहे। लीलावेशमें सूर्योदय हो आया और श्रीकृष्ण उस भवनसे बाहर न निकल पा रहे थे। श्रीकृष्णने वहां गर्गमुनिके शिष्य एक ब्रह्मचारी का रूप धारण कर लिया। ललिता ने श्रीराधा पति-मन्य अभिमन्यु को गो दोहनके

शिक्षा, यथा—

(६६) त्वमीरय समीरणं वरसरोजवल्लीदलैर्विधेहि सखि मन्थरं चरणपद्मसंवाहनम् ।
मुखे घटय वीटिकामववलय्य कर्पूरिणीं हरेरिति नवाङ्गना प्रणयिनीपदं विन्दति ॥ ११६ ॥

यथा वा—

(६७) कुर्वीथाः परमादरं प्रियसुहृद्वर्गे सदा प्रेयसः कामं तस्य रहस्यसंवृतिविधौ निर्बन्धमङ्गीकुरु ।
मा चेतस्तदसंमते सखि निजाभीष्टेऽपि कृत्ये कृथाः प्राप्स्यस्यत्येवमनर्गलोऽपि स हरिस्तूर्णं तवाधीनताम् ॥

अथ काले संगमनं यथा—(६८) वासरीयविरहक्लमविद्धां लोचनोत्पलवलद्भ्रमरालिम् ।
राधिकाकुमुदिनीं विधुनेयं संयुनक्ति ललितोत्तरसंध्या ॥ ११८ ॥

अथ व्यजनादिना सेवा, यथा—(६९) चामरीकृतलताचमरीका कुञ्जधाम्नि ललिता लुलिताङ्गीम् ।
स्विद्यदाकृतिमवीजयदेनां पेतुषीमघहरोरसि राधाम् ॥ ११९ ॥

बहाने अन्यत्र भेजते हुए कहा—हे आभीर वर ! प्रभातकाल में राधा को सूर्यपूजा कराने के लिये मैं इस कृष्णवर्ण ब्राह्मण बालक को यहां लायी हूँ—यह गर्गाचार्य का शिष्य है और कर्मकाण्ड कराने में अति निपुण है । तुम पिङ्गाक्षी और अरुणवर्णा गौओं का दूध दोहन कर ले आओ, क्योंकि ये दोनों सूर्य को अतिप्रिय हैं । मैं यहां कमलों की माला निर्माण करती हूँ ॥११५॥

अनुवाद--(शिक्षा) पूर्वराग के बाद प्रथम संग कराने के लिये अभिसार में ले जाते हुए स्थगित बुद्धि श्रीराधा जी के प्रति ललिता जी बोली –हे सखि ! तुम अति श्रेष्ठ कमल दल से श्रीकृष्ण को पंखा करो, धीरे-धीरे उनके चरणकमलों का सम्वाहन करो। ताम्बूल पत्र की कपूर मिला कर वीटिका उनके मुख में अर्पण करो—इस प्रकार श्रीकृष्णकी सेवा करने पर नवांगना उनकी प्रेयसीकी पद लाभ करती हैं ॥११६॥

अन्योदाहरण यथा—किसी एक व्रजसुन्दरी द्वारा कृष्णवशीकरण के उपाय की जिज्ञासा करने पर दूसरी सखी ने कहा—हे सखि ! श्रीकृष्ण के प्रिय सुहृदवर्ग का सर्वदा आदर करना । श्रीकृष्ण की रहस्य-कथा को सदा यत्नपूर्वक संगोपन करना । श्रीकृष्ण की सम्मति न होने पर अपने अभीष्ट कार्य में भी मनो निवेश नहीं करना । इस प्रकार करने से श्रीकृष्ण परमस्वतन्त्र होकर भी तुम्हारे वशीभूत हो जायेंगे ॥११७॥

अनुवाद—(समय पर सङ्गम कराना) श्रीकृष्ण विरह-व्याकुला श्रीराधा जी को श्रीललिता प्रदोष के आरम्भ में श्रीकृष्ण-मिलन करा रही थी। यह देखकर तुंगविद्या ने अपनी सखी से कहा—यह मनोहर उत्तर सन्ध्या (मनोहर ललिता) कुमुदिनी (श्रीराधा) को दिनकाल में व्यथित देखकर एवं सुन्दर-कमल पर भ्रमरों (नेत्रकमलों पर अलकावली) का झूमना देखकर चन्द्र (श्रीकृष्णचन्द्र) के साथ मिलित करा रही है ॥११८॥

अनुवाद—(व्यजनादि-सेवा) क्रीड़ा-निकुंज में श्रीराधा जी की विहारोपरान्त ललिता जी पल्लव-निर्मित व्यजन से सेवा कर रही थी, यह देख एक प्रिय सखी उसके भाग्यों की सराहना करते हुए बोली—शिथिलांगी एवं स्वेदसिक्तांगी श्रीराधा जी श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर विश्राम कर रही हैं और ललिता जी लतामंजरियों से बने वीजना से उनकी हवा कर रही हैं ॥११९॥

अथ तयोर्द्वयोरुपालम्भः, तत्र हरेरुपालम्भो यथा—

(७०) स म्यमूर्तिरुपनीय निर्भरं शारदार्क इव रागमग्रतः ।
त्वं भजन्सपदि तीव्रतां कुतः पूतनार्दन दुनोषि मे सखीम् ॥ १२० ॥

सख्या उपालम्भो, यथा—

(७१) विपक्षे दाक्षिण्यं प्रणयसि परं केलिकुतुके मुकुन्देनारब्धे कलयसि पृथुं वेपथुभरम् ।
मुग्धैवाभ्यस्यन्ती सहचरि सदा मण्डलनकलां कुतो मौग्ध्येन त्वं समयमनभिज्ञे गमयसि ॥ १२१ ॥

अथ संदेशप्रेषणं, यथा हंसदूते—

(७२) त्वया गोष्ठं गोष्ठीतिलक किल चेद्विस्मृतमिदं न तूर्णं धूमोर्णापतिरपि विधत्ते यदि कृपाम् ।
अहर्वृन्दं वृन्दावनकुसुमपालीपरिमलैर्दुरालोकं शोकास्पदमथ कथं नेष्यति सखी ? ॥ १२२ ॥

अथ नायिकाप्राणसंरक्षाप्रयत्नो, यथा—

(७३) त्वामायान्तं कथयति मृषा कुर्वती दिव्यमुग्रं मूर्च्छारम्भे तव मणिमयीं दर्शयत्याशु मूर्तिम् ।
वन्ये वेणौ ध्वनति मरुता कर्णरोधं विधत्ते रक्षत्यस्याः कथमपि तनुं माधवी यादवेन्द्र ॥ १२३ ॥

[इति दूतिप्रकरणम्]

अनुवाद—(श्रीहरि के प्रति उपालम्भ या तिरस्कार)—श्रीराधा जी विप्रलब्धा हो गयीं और श्रीकृष्ण उनके मान को भंग करने के लिये अनुनय कर रहे थे। उस समय ललिता जी उनका तिरस्कार करते हुए बोली—हे पूतनामर्दन ! (शिशुकाल से ही नारीवध करने वाले महा कठिन हृदय !) तुम पहले तो अपनी सौम्यमूर्ति दिखा रहे थे अब शरत्कालीन सूर्य की भांति तीव्र ताप प्रसारण कर मेरी प्रिय सखी को क्यों दुखी कर रहे हो ? ॥१२०॥

अनुवाद—(सखी के प्रति तिरस्कार)—एकबार श्रीराधा जी प्रणय-मान के उदित होने पर सखियों की प्रार्थना पर भी श्रीकृष्ण के प्रति प्रसन्न न हो रही थीं, तब ललिता जी ने श्रीराधा की गुणावली को भी दोष रूप में वर्णन कर उनका तिरस्कार किया—हे केलिकौतुकि—तुम केवल विपक्ष पक्ष में ही दाक्षिण्य (सरलता) प्रकाश कर सकती हो, किन्तु श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ा-कुतूहल में भयसे काँपने लगती हो। हे सखि ! हे अनभिज्ञे ! सर्वदा जो तुम अपने शरीर को अनेकविध सजाने में अभ्यास करती रहती हो, वह वृथा है। किसलिये अब तुम अपनी मुग्धता (मूढ़ता) दिखाने के लिये समय विगाड़ रही हो ? ॥१२१॥

अनुवाद—(सन्देश-प्रेषण)—हंसदूत में यथा—ललिता जी ने श्रीराधा जी को मूर्च्छित देखकर राजहंस को दूत बनाकर श्रीकृष्ण के पास मथुरा भेजा यह कहकर—हे कुलतिलक ! आप यदि सच-मुच ही गोष्ठ को भूल गये हो, और यदि यम (मृत्यु) भी शीघ्र कृपा नहीं करता, तो मेरी प्रियसखी श्रीराधा इस वृन्दावन की कुसुमावली के अदर्शन-योग्य परिमल में तथा शोकपूर्ण दिनों को कैसे काट पायेगी ? ॥१२२॥

अनुवाद—(नायिका की प्राणसंरक्षा का प्रयत्न)—श्रीउद्धव जी जब व्रज से मथुरा लौट गये, तो श्रीराधाजी की विरह व्याकुलता पराकाष्ठा, वर्णन करते हुए बोले—हे यादवेन्द्र ! 'मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं'—ऐसा कहकर माधवी मिथ्या शपथ उठाती है, श्रीराधा के मूर्च्छित हो जाने पर तुम्हारी मणिमय मूर्त्ति उसे दिखाती है। वन के वांसों के परस्पर घर्षण से जो शब्द होता है, उसे श्रीराधा कहीं आपकी वेणुध्वनि जानकर मूर्च्छित न हो जाये—इस भय से माधवी श्रीराधा के

५१—अथासामपरः कोऽपि विशेषः पुनरुच्यते । असमं च समं चेति स्नेहं सख्यः स्वपक्षगाः ॥
कृष्णे यूथाधिपायां च वहन्त्यो द्विविधा मताः ॥ १२४ ॥

अत्र असमस्नेहः—
५२—अधिकं प्रियसख्यास्तु हरौ तस्यां ततस्तथा । वहन्त्यः स्नेहमसमस्नेहास्तु द्विविधा मताः ॥ १२५ ॥
तत्र हरौ स्नेहाधिकाः—
५३—अहं हरेरिति स्वान्ते गूढामभिमतिं गताः । अन्यत्र क्वाप्यनासक्त्या स्वेष्टां यूथेश्वरीं श्रिताः १२६
५४—मनागेवाधिकं स्नेहं वहन्त्यस्तत्र माधवे । तद्दूत्यादिरतःश्चेमा हरौ स्नेहाधिका मताः ॥ १२७ ॥
यथा—(७४) न मे चेतस्यन्यद्वचसि पुनरन्यत्कथमपि स्थवीयान्मानस्ते सखि मयि मुखं न प्रथयति ।
रवेस्तापेनेव क्षणमुदयता येन जनितो बकारेर्वक्त्रेन्दुच्छविशबलिमा ग्लपयति ॥ १२८ ॥

कानों को बन्द कर देती है ।—इस प्रकार जैसे-तैसे श्रीराधा के प्राणोंकी माधवी रक्षा कर रही है ॥१२३॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—उपर्युक्त १६ प्रकार की सखियों की क्रियाओं के अतिरिक्त और भी क्रियाएँ हो सकती हैं, जैसे दोनों के गुण-रूप-माधुर्य तथा प्रेमातिशय की प्रशंसा, विपक्षा सखियों की क्रियाओं का अनुसन्धान, श्रीनन्द भवन में आकर यूथेश्वरी द्वारा रचित पक्वान्नादि का समर्पण इत्यादि अनेक क्रियाएं श्रीयुगलकिशोर की सेवा सम्पादन में निष्पन्न करती हैं।

[इति दूती-प्रकरण]

अनुवाद—(सखियों के स्नेह परक भेद) इन सखियों के एक और प्रकार के वैशिष्ट्य को फिर वर्णन करते हैं। एक ही यूथ में रहने वाली सखीगण श्रीकृष्ण के प्रति तथा अपनी यूथेश्वरी के प्रति असम (कम-अधिक) सम (समान) स्नेह रखती हैं। इसलिये उनके दो प्रकार कहे गये हैं—असम-स्नेहा और सम-स्नेहा ॥१२४॥

अनुवाद—(असम-स्नेहा) ये भी दो प्रकार की हैं, एक तो श्रीकृष्ण की अपेक्षा अपनी प्रिय सखी में अधिक स्नेह रखती हैं, दूसरी, अपनी प्रिय सखी की अपेक्षा श्रीकृष्ण में अधिक स्नेह पोषण करती हैं ॥१२५॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण में अधिक-स्नेहा) जो सखियां अपने अन्तःकरण में 'मैं श्रीकृष्ण की ही हूँ—ऐसा निगूढ़ (दूसरे से गुप्त) अभिमान पोषण करती हैं, और अन्य किसी भी यूथेश्वरी में स्वजातीय भाव का अभाव देख कर अनासक्तिपूर्वक अपनी यूथेश्वरी का ही आश्रय लिये रहती हैं। जो अपनी यूथेश्वरी से भी कुछ थोड़ा अधिक प्रेम श्रीकृष्ण के प्रति वहन करती हैं और इसलिये कृष्ण-दूत्यादि में या कृष्ण-प्रसंग में उनका पक्षपात करती हैं, उन्हें श्रीकृष्ण में स्नेहाधिका कहते हैं ॥१२६-१२७॥

अनुवाद—(उदाहरण) एक बार अति मानिनी हुई श्रीराधा जी के प्रति उनकी दक्षिण-प्रखरा सखी उन पर आक्षेप करते हुए अपनी निष्ठा का परिचय देती है—हे सखि ! मैं दूसरी-दूसरी सखियों की भांति 'मन में कुछ और मुँह में कुछ और' नहीं हूँ ! देखो, आप का यह दुर्जय मान मुझे सुख नहीं देता—अच्छा नहीं लगता। यह मान क्षण काल के लिये उदय होने पर भी सूर्य की प्रखर किरणों के समान ताप देकर श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र पर मालिन्य ही उत्पन्न करता है और मैं भी उसमें ग्लानि भोग करती हूँ ॥१२८॥ (मध्या-स्नेहाधिका) श्रीराधा जी की दक्षिण मध्या एक सखी का स्वपक्ष को श्रीकृष्ण

अथवा—(७५) सुरकुलमखिलं प्रणम्य मूर्ध्ना प्रवरममुं वरमर्थये वराङ्गि ।
मुहुरभिमतसेवया यथाहं सुबलसखं सुखयामि राधिकां च ॥ १२९ ॥
५५—याः पूर्वं सख्य इत्युक्तास्तास्तु स्नेहाधिका हरौ ॥ १३० ॥

अथ प्रियसख्यां स्नेहाधिकाः—
५६—तदीयताभिमानिन्यो याः स्नेहं सर्वदाश्रिताः । सख्यामल्पाधिकं कृष्णात्सखीस्नेहाधिकास्तु ताः १३१ ॥

यथा—(७६) विरमतु तव वृन्दे दूत्यचातुर्यचर्या सहचरि विनिवृत्य ब्रूहि गोष्ठेन्द्रसूनुम् ।
विषमविषधरेयं शर्वरी प्रावृषेण्या कथमिह गिरिकुञ्जे भीरुरेषा प्रहेया ॥ १३२ ॥

यथा वा—(७७) वयमिदमनुभूय शिक्षयामः कुरु चतुरे सह राधयैव सख्यम् ।
प्रियसहचरि यत्र बाढमन्तर्भवति हरिप्रणयप्रमोदलक्ष्मीः ॥ १३३ ॥

५७—याः पूर्वं प्राणसख्यश्च नित्यसख्यश्च कीर्तिताः । सखीस्नेहाधिका ज्ञेयास्ता एवात्र मनीषिभिः ॥१३४

अथ समस्नेहाः—
५८—कृष्णे स्वप्रियसख्यां च वहन्त्यः कमपि स्फुटम् । स्नेहमन्यूनताधिक्यं समस्नेहास्तु भूरिशः ॥ १३५ ॥

के साथ सम्बन्ध विशेष का परिहास प्रसंग में पता लगा, तो वह अपनी सखी के प्रति बोली—हे सखि ! मैं समस्त देवताओं को मस्तक झुकाकर प्रणाम करते हुए एक मात्र यही अति श्रेष्ठ वर मांगती हूँ कि मैं सुबल-सखा श्रीकृष्ण की और समयविशेष पर श्रीराधा जी की भी अभिमत सेवा कर उनको सुख दे सकूँ । (यहां राधा-सेवाका गौणत्व तथा कृष्णस्नेहाधिकका परिचय मिल रहा है ॥१२९॥ पूर्वोल्लिखित-कुसुमिका एवं विन्ध्यादि सखियां श्रीकृष्ण के प्रति स्नेहाधिका हैं ॥१३०॥

अनुवाद—(प्रियसखी प्रति स्नेहाधिका) जो सखियां सदा अपनी यूथेश्वरी में तदीयतामय अभिमान (रखती हैं—अर्थात् मैं अपनी यूथेश्वरी की ही हूँ—अतः श्रीकृष्ण से कुछ अधिक स्नेह श्रीराधाजी में रखती हैं, वे 'सखी-स्नेहाधिका' हैं ॥१३१॥ यथा—श्रीकृष्ण को संकेत कुञ्ज में बैठा कर वृन्दा श्रीराधा जी को अभिसार कराने के लिये आयी । तब श्रीराधा जी की प्राणसखी शशिकला भयपूर्वक बोली - हे सहचरि ! तुम्हारी दूत्य-चातुरो रहने दो, यहां से लौट कर श्रीकृष्ण से जाकर कह दो कि इस वर्षा-रात्रि में सर्वत्र सर्प विचरण करते रहते हैं, यह मेरी भीरु सखी (श्रीराधा) भला कैसे गिरि-कुंजो में लायी जा सकती है ? ॥१३२॥

(पूर्वोक्त श्लोक में प्रखरा-स्नेहाधिका का उदाहरण दिया गया है । अब मध्या स्नेहाधिका का उदाहरण दिखाते हैं)—कोई एक नवीन व्रजगोपी श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग की अभिलाषा से श्रीराधा जी की नित्य सखी कस्तूरी से एकान्त में प्रेमपूर्वक कुछ पूछने लगी । कस्तूरी उसे उपदेश रूप में बोली—हे चतुरे ! हम स्वयं अनुभव करके तुम्हें यह कहती हैं कि तुम श्रीराधा के साथ सखी-भाव जोड़ो, क्योंकि इस राधासख्य के ही अन्तर्भूत है कृष्णप्रेमानन्द की यथेष्ट सम्पत्ति ॥१३३॥ पहले जिनको—शशिमुखी, वासन्ती आदि को प्राणसखी और कस्तूरी, मणिमञ्जरी आदि को नित्य-सखी कहकर वर्णन कर आये हैं, वे ही सब 'सखीस्नेहाधिका' कही गयी हैं मनीषियों द्वारा ॥१३४॥

अनुवाद—(सम-स्नेहा)—जो सखियां श्रीकृष्ण एवं अपनी प्रियसखी में बिल्कुल समान सुव्यक्त और अनिर्वाच्य स्नेह रखती हैं, उनको 'सम-स्नेहा' कहते हैं । इनकी संख्या बहुत अधिक है ॥१३५॥

यथा—(७८)
विना कृष्णं राधा व्यथयति समन्तान्मम मनो विना राधां कृष्णोऽप्यहह सखि मां विक्लवयति ।
जनिः सा मे मा भूत्क्षणमपि न यत्र क्षणदृहौ युगेनाक्ष्योर्लिह्यां युगपदनयोर्वक्त्रशशिनौ ॥ १३६ ॥
५९—तुल्यप्रमाणकं प्रेम वहन्त्योऽपि द्वयोरिमाः । राधाया वयमित्युच्चैरभिमानमुपाश्रिताः ॥
परमप्रेष्ठसख्यश्च प्रियसख्यश्च ता मताः ॥ १३७ ॥

इति सखीप्रकरणम् ॥

अथ श्रीहरिवल्लभा-प्रकरणम्

१—आसां चतुर्विधो भेदः सर्वासां व्रजसुभ्रुवाम् । स्वात्स्वपक्षः सुहृत्पक्षस्तटस्थ प्रतिपक्षक. ॥ १ ॥
२—सुहृत्पक्षतटस्थौ तु प्रासङ्गिकतयोदितौ । द्वौ स्वपक्षविपक्षाख्यौ भेदावेव रसप्रदौ ॥ २ ॥

(उदाहरण) एक बार मानिनी श्रीराधा जी का मान किसी भी प्रकार भंग न कर पाने पर प्रिय सखी कुरंगाक्षी अनुतप्त हो उठी और अपनी सखी के आगे अपनी अभीष्ट बात कहने लगी—हे सखि ! श्री-कृष्ण के विना श्रीराधा मेरे मन को सर्वथा दुखित करती है । और श्रीराधा के विना श्रीकृष्ण हाय ! हाय !! मुझे दीन करके रख देता है । अतएव हे सुन्दरि ! अब तो मेरी यही प्रार्थना है कि जिस जन्म में मैं एक साथ श्रीश्रीराधा-कृष्ण के आनन्दप्रद मुखचन्द्र का नयनों से आस्वादन न कर सकूं—ऐसा जन्म मुझे कभी न प्राप्त हो ॥१३६॥

अनुवाद—इस श्रेणी की सखियां श्रीश्री राधाकृष्ण में समान प्रमाण में प्रेम वहन करती हैं, परन्तु 'हम तो श्रीराधा की ही हैं'—इस प्रकार का अतिशय अभिमान करती हैं । परम प्रेष्ठ सखियां श्रीललि-तादि तथा प्रियसखी कुरङ्गाक्षी आदि सम-स्नेहा हैं ॥१३७॥

श्रीहरिवल्लभा-प्रकरण

अनुवाद—(हरिवल्लभाओं का भेदान्तर)—श्रीकृष्ण-प्रेयसी जो समस्त वृजसुन्दरीवृन्द हैं, उनके अनेक प्रकार के भेद पहले कह आये हैं, अब यहां एक दूसरे प्रकार के भेद का प्रदर्शन करते हैं ।—इन ब्रजसुन्दरियों के चार भेद हैं—स्वपक्ष, सुहृत्पक्ष, तटस्थ तथा प्रतिपक्ष या विपक्ष ॥१॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—एक ही यूथेश्वरी के यूथ में रहने वाली सब व्रजसुन्दरियों को 'स्वपक्ष' कहा जाता है । उनका भाव यूथेश्वरी के भाव के साथ हर प्रकार से समजातीय होता है । किन्तु समजा-तीय होते हुए भी परिमाण में समान नहीं होता । श्रीराधा जी का भाव मधुस्नेह है और ललिता जी का भी । किन्तु ललिता जी का प्रेम श्रीराधा प्रेम की अपेक्षा अल्प-परिमाण में है । अतः प्रेम के तारतम्य से सखीत्व और यूथेश्वरीत्व का भेद है ।

अनुवाद—प्रसङ्ग क्रम से सुहृत्-पक्ष तथा तटस्थ पक्ष पहले वर्णन करते हैं—स्वपक्ष तथा विपक्ष—ये दोनों भेद ही रसप्रद हैं ॥२॥ स्वपक्ष के सम्बन्ध में विशेष विवरण पहले ही कहा जा चुका है । अब

३—प्रोक्तस्तत्र स्वपक्षस्य विशेषः पूर्वमेव हि सुहृत्पक्षादिभेदानां दिगेव किल दृश्यते ॥ ३ ॥
तत्र सुहृत्पक्षः—४—सुहृत्पक्षो भवेदिष्टसाधकोऽनिष्टबाधकः ॥ ४ ॥
तत्र उष्टसाधकत्वं, यथा—
(१) अद्याकर्णय मद्गिरं परिजनैरेभिः समं श्यामले राधायास्त्वयि सौहृदं सखि जगच्चित्तेषु चित्रीयते ।
उल्लासाद्भवदाख्यया यदनिशं तस्याङ्गरागस्तया सान्द्रश्चन्द्रकशेखरस्य समये चन्द्रान्वितः प्रेष्यते ॥ ५ ॥

अनिष्टबाधकत्वं, यथा—
(२) गीर्भिर्मूढजनस्य खण्डितमतिर्भाण्डीरमूले मुधा किं गन्तास्मि तवोदिते बलवती श्यामे प्रतीतिर्मम ।
निर्व्याजं वटराजरोधसि वधूवेषक्रियोद्भासिना कंसारिः सुबलेन गोष्ठनगरीवैहासिकः क्रीडति ॥६ ॥
अथ तटस्थः—५—यो विपक्षसुहृत्पक्षः स तटस्थ इहोच्यते ॥ ७ ॥

यहां स्वपक्षादि भेद का दिग्दर्शन ही कराते हैं ॥३॥

अनुवाद—(सुहृत्पक्ष) सुहृत्पक्ष फिर दो प्रकार का है—इष्ट-साधक तथा अनिष्ट-बाधक ! (भाव की अल्प विजातीयता रहने से स्वपक्ष न होकर 'सुहृत्पक्ष' कहा जाता है। जैसे श्यामला में अधिकतर मधुस्नेह है, किन्तु थोड़ा घृतस्नेह उसमें मिश्रित है। इसलिये समजातीय होते हुए भी उसे सुहृत्पक्ष में लिया गया है) ॥४॥ (इष्ट साधकत्व)—एकदिन कुन्दलता श्रीराधा जी की सुहृत्पक्ष श्यामला के घर आयी और श्यामला की सखियों को सभा में उस से बोली—हे श्यामले ! आज तुम अपने परिजनों के साथ मेरी बात को सुनो, हे सखि ! तुम्हारे प्रति श्रीराधा जी का जो सौहार्द है, वह जगद्वासियों के चित्त को विस्मित कर रहा है। उसने आनन्दवश कर्पूरमिश्रित गाढ़ अंगराग तैयार करके तुम्हारे नाम से तुम्हारी ही सखी के साथ मोरपुच्छधारी श्रीकृष्ण के पास भेजा है ॥५॥

अनुवाद—(अनिष्ट बाधकत्व)—किसी समय चन्द्रावली की सखी पद्मा ने भाण्डीरवट के नीचे श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण के साथ विहार करते देखा। पद्मा उसे सहन न कर सकने से जटिला के पास चली आयी और सब वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुनते ही चञ्चल-मति जटिला भाण्डीरवट की ओर चल दी। इसी समय श्यामला ने जटिला के पास आकर ऐसेरूप से वृत्तान्त सुनाया कि वह सन्तुष्ट होकर श्यामला से बोली—हे श्यामले ! मूर्ख लोगों की बात से मेरी बुद्धि में भ्रम पैदा हो गया, तभी मैं भाण्डीरवट की ओर जा रही थी। किन्तु हे श्यामले ! तुम्हारी बात से मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है। मैं अब निःसन्देह यह जान पायी हूँ कि मेरी वधू राधा का वेश धारण करने वाले सुबल के साथ ही व्रजमण्डल-विदूषक श्रीकृष्ण विहार कर रहा था ॥६॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—यह ध्यातव्य है कि सुहृत्पक्ष किञ्चित् विजातीयता भाव के कारण केवल इष्ट साधन तथा अनिष्ट निवारण करता है। किन्तु यूथेश्वरी का स्वपक्ष यूथेश्वरी के साथ सम-भाव सम्पन्न होने से यूथेश्वरी के प्रीतिपात्र के साथ प्रीति करता है और उसके विद्वेषी पात्र के प्रति विद्वेष पोषण करता है। किन्तु सुहृत्पक्ष ऐसा नहीं करता यही भेद है स्वपक्ष और सुहृत्पक्ष में।

अनुवाद—(तटस्थ पक्ष)—विपक्ष के सुहृत्पक्ष को 'तटस्थ-पक्ष' कहा जाता है ॥७॥ (उदाहरण) —चन्द्रावली की सखी पद्मा श्रीराधा की सुहृत् पक्ष श्यामला के प्रति निन्दागर्भित इस प्रकार प्रशंसा वचन बोली—हे श्यामे ! तू चन्द्रावली के दुख में खेद प्रकाश नहीं करती हो और उसके मंगल में तुम्हें

यथा—(३)
खेदं न व्यसने तनोषि वहसे नोल्लासमस्याः शुभे दोषाणां प्रकटीकृतौ नहि धियं धत्से गुणानामपि।
अव्याक्षिप्तमनोगतिः सुवदने द्वेषेण रागेण च त्वं श्यामे मुनिवृत्तिरत्र सततं चन्द्रावली दृश्यसे॥ ८॥
अथ विपक्षः—६—मिथ्याद्वेषी विपक्षः स्यादिष्टहानिष्टकारकः॥ ९॥

तत्र इष्टहन्तृत्वं, यथा—
(४) राधे त्वत्पदवीनिवेशितदृशं कुञ्जे हरिं जानतीं पद्मा तत्र निनाय हन्त कुटिला चन्द्रावलीं छद्मना।
इत्याकर्ण्य मुकुन्द सा सुबलतः स्तब्धा तथाद्य स्थिता दृष्ट्वा नीलपटीं तनौ जटिलया प्रातर्यथा तर्जिता १०

आनन्द भी नहीं होता है। चन्द्रावली के दोषों और गुणों के प्रकाश करने में भी तुम बुद्धि को नहीं चलाती हो। उस के सम्बन्ध में द्वेष अथवा अनुराग के द्वारा भी तुम्हारी मनोवृत्ति बिन्दु मात्र विचलित नहीं होती है। इसलिये हे श्यामे! हे सुमुखि! मैं देखती हूँ कि ब्रज में चन्द्रावली के विषय में तो तुमने मुनिव्रत (मौन) धारण कर रखा है॥८॥

रूपकृपा-तरंगिणी टीका—श्रीराधा एवं चन्द्रावली परस्पर विपक्ष हैं। किन्तु श्रीराधा का सुहृत पक्ष श्यामला चन्द्रावली के पक्ष में तटस्थ पक्ष है। विपक्ष के सुहृत्-पक्ष को विपक्ष इसलिये नहीं माना जाता है कि वह विपक्ष का सुहृत् है, विपक्ष के प्रति उसका सौहार्द्द मात्र अवश्य है किन्तु विपक्ष की भांति उसमें ईर्ष्या नहीं रहती। श्रीराधा जी चन्द्रावली के प्रति जैसे ईर्ष्यादि रखती हैं, श्यामला ऐसा नहीं करती चन्द्रावली के प्रति। चन्द्रावली के प्रति वह उदासीन या तटस्थ रहती है। श्यामला चन्द्रावली के दुख एवं सुख का भी अनुभव नहीं करती है।

अनुवाद—(विपक्ष)—जो एक दूसरे के प्रति विद्वेष भाव रखते हैं, उन्हें एक दूसरे का 'विपक्ष' कहा जाता है। विपक्ष एक दूसरे की इष्ट हानि करता है और एक दूसरे का अनिष्ट साधन भी करता है॥९॥

अनुवाद—(इष्टहानिकारित्व)—श्रीराधा जी की प्रतीक्षा में श्रीकृष्ण कुञ्ज में बैठे हैं, यह जान कर पद्मा जाकर अतिशीघ्र चन्द्रावली को अभिसार कराकर श्रीकृष्ण के पास ले आयी। सुबल के मुख से यह सुनकर श्रीराधा जी की क्या दशा हुई, उसे वृन्दा श्रीकृष्ण के प्रति कहती है। हे मुकुन्द! सुबल ने श्रीराधा के पास जाकर कहा है—हे राधे! श्रीकृष्ण कुञ्जभवन में तुम्हारा मग जोहते-देखते बैठे हैं, यह जानकर कुटिलस्वभावा पद्मा छलपूर्वक चन्द्रावली को उस कुञ्ज में ले गयी। सुबल के मुखसे यह सुनते ही श्रीराधा ऐसी स्तब्धता को प्राप्त हुई कि आज प्रातः काल में भी श्रीराधा के शरीर पर (अन्धकारमयी रात्रि में अभिसार उपयोगी) नीली साड़ी देखकर जटिला ने राधा को फटकार दिया—श्रीराधा की स्तब्धता प्रातः काल पर्यन्त भी दूर न हो पायी। (यहां पद्मा ने श्रीराधा जी की इष्टहानि की है। श्रीकृष्ण-संग प्राप्त नहीं होने दिया)।१०॥

अनुवाद—(अनिष्ट-कारित्व) श्रीराधा जी सूर्यपूजा के छल से घर से बाहर जाकर वन में श्रीकृष्ण से मिलीं। जटिला उसकी प्रतीक्षा करती हुई घर में बैठी थी। इतने में चन्द्रावली की सखी पद्मा उसके पास आ पहुँची। जटिला ने उससे पूछा—हे पद्मे! हे पुत्रि! तू कहां से आ रही है? (पद्मा ने कहा) हे आर्ये! मैं अभी गोवर्धन-तट प्रान्त से आयी हूँ। (जटिला ने पूछा) पद्मे! तुमने मेरी बधू को

अथ अनिष्टकारित्वं, यथा—
(५) कुतः पद्मे पुत्रि क्षितिधरतटादम्ब जटिले वधूर्दृष्टा दृष्टा क्व नु रविनिकेतस्य पुरतः।
चिरं नायात्येषा कथमिव निरुद्धात्र हरिणा तवाध्वानं पश्यत्यहह भवती धावतु रुषा ॥ ११ ॥
७—छद्मेर्ष्याचापलासूयामत्सरामर्षगर्वितम् व्यक्ति यात्युक्तिचेष्टाभिः प्रतिपक्षसखीष्विदम् ॥ १२ ॥
तत्र छद्म, यथा—(६) श्रुत्वा कीचकमद्रिमूर्ध्नि पशवः श्यामं च दृष्टवाम्बुदं
धावन्त्वल्पधियः कथं त्वमपि धिग्धीराधिकं धावसि ।
इत्युच्चैरनृतोत्तरेण तरलां प्रत्याय्य पद्मामसौ प्राप्ता पश्य गृहं करोति ललिता राधाप्रमाणे त्वराम् ॥१३॥
अथ ईर्ष्या—(७) उद्घट्य कुटिलं ..चपक्षं देवि दर्शयसि किं वनमालाम् ।
नीलयष्टिवदमुं मदलिन्दे लोकयालि वनमालिनमेव ॥ १४ ॥

तो नहीं देखा ? (पद्मा)—हां देखा है । (जटिला)—कहां देखा है ? (पद्मा)—सूर्य मन्दिर के सामने । (जटिला)—उसे तो गये हुए वहुत देर हो गयी है, आ क्यों नहीं रही है ? (पद्मा)—तुम्हारी बधू को श्रीकृष्ण ने रोक रखा है, वह तुम्हारा पथ निहार रही है । अहो ! तुम अभी कुपिता होकर शीघ्र उसके पास जाओ ॥११॥

अनुवाद—(विपक्ष-सखियों के आचरण)—दो विपक्षा यूथेश्वरियों की सखियां अपने वचनों एवं चेष्टादिक के द्वारा एक दूसरे के प्रति छद्म (कपट) ईर्ष्या, धृष्टता, असूया (गुणों में दोषारोपण) मात्सर्य तथा गर्वादि प्रकाश करती हैं । स्वपक्षीया यूथेश्वरी के रूप-गुणादि का उत्कर्ष तथा विपक्षीया यूथेश्वरी के रूप-गुणादि के अपकर्ष का प्रचार करती हैं। (प्रखरा होते हुए भी कोई सखी विपक्षीया यूथेश्वरी के मुँह सामने प्रायः स्पष्ट भाव से ईर्ष्यापूर्ण वाक्य नहीं कहती) ॥१२॥

अनुवाद—(छद्म) श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि सुनकर तथा दूर से गोवर्धन पर श्रीकृष्ण को देखकर पद्मा आनन्द पूर्वक उधर भागी जा रही थी । ललिता जी ने पद्मा को रोकने के लिये ध्वनि एवं श्रीकृष्ण को भ्रमात्मक वता दिया । उसे जाने से रोककर श्रीराधा जी को अभिसार कराने के लिये त्वरा करने लगी—यही –वात वृन्दा नान्दीमुखी को आनन्द पूर्वक कह रही है—यह देख, पद्मा की प्रतारणा करते हुए ललिता ने कहा—पर्वत के उपर वांसों के परस्पर से होने वाले शब्द को सुनकर तथा नीलवर्ण नव घर्षण मेघ को देखकर मन्दबुद्धि पशु ही उधर भाग सकते हैं, पद्मा ! किन्तु तुम तो परम धैर्य शीला, बुद्धिमती हो, तुम क्यों भागी जा रही हो ? इस प्रकार ललिता जी चञ्चला पद्मा की प्रतारगा कर घर जाकर श्रीराधा की अभिसार की जल्दी मचा रही हैं ॥१३॥

अनुवाद—(ईर्ष्या)-एकदिन पद्मा अपने केश कलापों में श्रीकृष्ण की दी हुई वनमाला को वारवार खोल-वान्ध कर ललिता जी को दिखाने लगी । ललिता जी को यह सहन न हो सका । दैवयोग से श्रीकृष्ण ललिता के प्रांगण में उसी समय आ पहुँचे । तव ललिता जी पद्मा के प्रति बोली—देवि ! अपने कुटिल केश वन्धन को खोल-बान्ध कर मुझे वनमाला क्या दिखा रही हो ? सामने तो देख सखि ! मेरे प्रांगण में तो स्वयं वनमाली मेरे प्रेम में स्तब्ध होकर श्याम-लकुट की भांति खड़ा है ॥१४॥

अनुवाद—एक वार श्रीराधा जी का मान भंग करके चित्राजी उन्हें श्रीकृष्ण के पास ले आयी। श्रीकृष्ण ने सन्तुष्ट होकर चित्रा को अपने गले का हार उपहाररूप में प्रदान कर दिया । चित्रा के कण्ठ में उसे देखकर पद्मा असहिष्णु होकर वोली—हे सखि ! श्रीकृष्ण ने बहुत आग्रह कर यही हार पहले

यथा वा—(८)
निर्बन्धप्रवणेन कंसरिपुणा प्रागर्प्यमाणोऽपि यः प्राज्यं दोषमवेक्ष्य नायकमणौ नस्वी कृतोऽभून्मया ।
हारः संप्रति सोऽयमेव विषमो लब्धे क्व लब्धस्त्वया द्रागिष्टोऽप्युरगक्षताङ्गुलिनिभो दुष्टः सखि त्यज्यताम्
अथ चापलम्—(९) नात्मानं व्यथय वृथा निकुञ्जमध्ये खद्योति द्युतिमिह कुर्वती सरागम् ।
कृष्णाभ्रे गिरिवरसंगतेऽनुरूपा सोमाभा विलसितुमत्र विद्युदेव ॥ १६ ॥

अथ असूया—(१०)
यद्भाण्डीरे तव सहचरी ताण्डवं सा व्यतानीत् पद्मे सै(शै)व्या समजनि न तत्कस्य विस्मापनाय ।
सा चेत्तन्वी प्रकृतिलडहा शिक्षिता चाभविष्यन्मन्ये सर्वं जगदपि ततः प्रेक्षयामोहयिष्यत् ॥ १७ ॥
अथ मत्सरः—
(११) अलंचक्रे राधाहृदयमुरुहारेण हरिणा स्रजा धूर्तेनेयं तव तु कबरश्रीरवरया ।
मनो द्वन्द्वातीतं मुनिवदविकल्पं च दधती तथापि त्वं मुग्धे न विपिनविनोदाद्विरमसि ॥ १८ ॥

मुझे देने की इच्छा की थी, किन्तु मैंने इस के दोलक—पदक की मणि में बहुत बड़ा दोष देख कर इसे स्वीकार नहीं किया। हाय ! हे लालचिन। अब तुम ने इस दोषपूर्ण हार को कहां से प्राप्त किया है ? यदि तुमने इसके गुण-दोष विचारे विना इसे लोभ वश ग्रहण किया है, तो इसे अभी त्याग कर। देख, यह हार प्रिय होवे हुए भी सांप से कटी अंगुली की भांति दुष्ट है अर्थात् तत्काल इसे त्याग देना चाहिये। अत: यदि तू अपना मंगल चाहती है तो इसे इसी क्षण त्याग दे ॥१५॥ (यदि सांप अंगुली में काट जाये तो उसे काट देने में ही प्राण बच जाते हैं।)

अनुवाद—(चापल)—एक दिन श्रीराधा जी को संकेत कुन्ज में बैठा कर विशाखा जी गोवर्धन कुन्ज से श्रीकृष्ण को लेने गयी। वहां श्रीकृष्ण चन्द्रावली तथा पद्मा के साथ बातें कर रहे थे, विशाखा जी निकटवर्ती एक कुन्ज में अवसर की प्रतीक्षा करने लगी। पद्मा ने उसे देखलिया और उसे खद्योतिका—अति लघु जुगनू के छल से निरादर करती हुई अपने सौभाग्य को जताने लगी—हे खद्योति ! तू निकुन्ज में वृथा रागयुक्त (लालिमायुक्त-पक्ष में अनुरागयुक्त) होकर अपनी कान्ति क्यों प्रकट कर रही है ? पर्वत पर अवस्थित कृष्णवर्ण मेघ के साथ (श्रीकृष्ण के साथ) चन्द्रकान्ति (चन्द्रावली) विद्युत् ही इस समय विलास के लिये उपयुक्त है ॥१६॥

अनुवाद—(असूया)—एकदिन श्रीकृष्ण के अनुरोध से एवं चन्द्रावली के कहने पर भाण्डीरवट-प्रान्त में शैव्या नृत्य कर रही थी। यह देख कर तुङ्गविद्या सहन न कर सकी। रास्ते में पद्मा को आते देखकर वह शैव्या की छलपूर्ण स्तुति द्वारा उसमें दोषारोपण करते हुए बोली—हे सखि पद्मे ! तुम्हारी सखी शैव्या भाण्डीर पर जो ताण्डव नृत्य कर रही थी, उसे देख कर किसको आश्चर्य नहीं हुआ है ? स्वभाव सुन्दरी क्षीण-कटि शैव्या यदि नृत्य-कला में शिक्षित होती तो वह देखने मात्र से ही सारे जगत् को मुग्ध कर लेती—(अर्थात् वह नृत्यकला में शिक्षित ही नहीं है) ॥१७॥

अनुवाद—(मात्सर्य) एक समय सखियों सहित श्रीराधा जी के साथ तथा चन्द्रावली के साथ श्रीश्याम सुन्दर ने वनविहार आरम्भ करने से पहले श्रीराधा जी को हार से और चन्द्रावली को माला से भूषित किया। श्रीराधा के कण्ठ में अमूल्य हार की शोभा देखकर और चन्द्रावली के सरलता-दोष को जताते हुए पद्मा चन्द्रावली से बोली—इस धूर्त्त श्रीकृष्ण ने बहुमूल्य हार से तो श्रीराधा के

अथ अमर्षः—
(१२) स्फुटद्भिरिव कोरकैरलघुभिश्च गुञ्जाफलैर्मयाद्य विरचय्य यन्मुरहाय विश्राणितम् ।
त्वयात्र सखि राधिकाश्रवसि वीक्ष्य तत्कुण्डलं मनः स्वमुदघाटि यत्तदतिलाघवायैव नः ।। १९ ।।

अथ गर्वितम्—
८—अहंकारोऽभिमानश्च दर्प उद्धसितं तथा । मद औद्धत्यमित्येष गर्वः षोढा निगद्यते ।। २० ।।
तत्र अहंकारः—९—अहंकारः पराक्षेपः स्वपक्षगुणवर्णनात् ।। २१ ।।
यथा—(१३) आकाशे रुचिलवमिन्द्रनीलशोभे सोमाभा जनयति तावदस्फुटश्रीः ।
नेत्राणां तिमिरहरा वरेण्यदीप्तिः सा यावन्नहि वृषभानुजाभ्युदेति ।। २२ ।।
अभिमानः—१०—अभिमानो निजप्रेमोत्कर्षाख्यानं तु भङ्गितः ।। २३ ।।

हृदय को भूषित किया है, और घटिया एक निकृष्ट माला से तुम्हारी वेणी को शोभित कर दिया है। हे मुग्धे (मूर्खे) ! तो भी तुम एक मुनि की भांति राग-द्वेष रहित होकर तथा मन में कुछ भेद न मानकर वन विहार में रत हो रही हो, निवृत्त नहीं हो सकती हो ।।१८।।

अनुवाद—(अमर्ष)—एक दिन चन्द्रावली ने अनेक रंग के पुष्प-कलियों तथा परिपक्व श्वेत-लाल गुञ्जाफलों से अपनी हस्त-शिल्प-विद्या की पराकाष्ठा से कुण्डल तैयार किये और श्रीकृष्ण को उन्हें उपहार रूपमें प्रदान किया। उन अति विचित्र कर्णभूषणोंको श्रीकृष्णने श्रीराधाजीके कानोंमें धारण करा दिया। यह देखकर पद्मा क्रोध पूर्वक सब के सामने हंसते हुए श्रीकृष्ण की भर्त्सना करने लगी। चन्द्रावली यह सब वृत्तान्त सुनकर मन में बहुत दुखी हुई और पद्मा का तिरस्कार करते हुए बोली—हे सखि ! प्रस्फुटित-कलिकाओं से एवं मोटे मोटे गोल-गोल गुञ्जाफलों से जो कुण्डल मैंने तैयार किये थे एवं उन्हें मैंने श्रीकृष्ण को दिया था, उन्हें श्रीराधा के कानोमें देखकर अपने मनके दुख को तुमने जिस प्रकार प्रकाशित किया है, उससे हमारी लाघवता (मानहानि) ही हुई है मुझे जरा भी सुख नहीं हुआ ।।१९।।

अनुवाद—(गर्व)—पृथक् पृथक् कार्य भेद से गर्व के छः मान कहे गये हैं—अहंकार, अभिमान, दर्प, उद्धसित, मद और औद्धत्य ।।२०।।

अनुवाद—(अहंकार का लक्षण एवं उदाहरण)—स्वपक्ष के गुण वर्णन करते हुए विपक्ष के प्रति आक्षेप करने को 'अहंकार' कहते हैं ।।२१।। यथा एक बार ललिताजी के सामने पद्मा स्वपक्ष (चन्द्रावली) के गुण गान करने लगी। ललिता जी उसे सहन न कर सकी और (अतिशयोक्ति अलंकार में) स्वपक्ष का गुणोत्कर्ष प्रकाशित करने लगी—इन्द्र नीलमणि तुल्य कृष्णवर्ण आकाश में जब तक ज्येष्ठ-मास की उत्तमकान्ति का तथा सबके नेत्रों के अन्धकार को नाश करने वाली सूर्य प्रभा का प्रतिफल नहीं होता, तब तक ही चन्द्रकला मन्द-मन्द शोभा विस्तार करती है (अर्थात् जब तक उत्तम कान्ति एवं नेत्ररसायना श्रीराधा जी श्रीकृष्ण के साथ नहीं रहती तब तक ही चन्द्रावली की मन्दशोभा विस्तार पाती है) ।।२२।।

अनुवाद—(अभिमान का लक्षण एवं उदाहरण)—भङ्गिक्रम से स्वपक्ष का उत्कर्ष वर्णन करना 'अभिमान' कहलाता है ।।२३।। यथा—(श्रीकृष्ण के सामने स्वपक्ष का उत्कर्ष वर्णन)—एकदिन पद्मा स्वरचित कृष्णलीला सम्बन्धी एक गीत चम्पकलता को सुनाने लगी। उसे सुनकर चम्पकलता

तत्र कृष्णे स्वपक्षप्रेमाख्यानं, यथा—

(१४) त्वं धीरधीः फणिह्रदे हरिझम्पगाथां निष्कम्पमेव यदियं गदितुं प्रवृत्ता।
तत्रानुषङ्गिकतयाप्युदिते कदम्बे वक्षः पिनष्टि रुदती तरला सखी मे ॥ २४ ॥

स्वपक्षे कृष्णप्रेमाख्यानं, यथा—

(१५) धन्यासि कृष्णकरकल्पितपत्रवल्लीरम्यालिका विहरसे मदमन्थराङ्गी।
हा वञ्चितास्मि कलिते ललितामुखेन्दौ जाड्यं स यात्यखिलशिल्पधुरंधरोऽपि ॥ २५ ॥

दर्पः—११—गर्वमाचक्षते दर्पं विहारोत्कर्षसूचकम् ॥ २६ ॥

यथा—(१६)विद्म पुण्यवतीशिखामणिमिह त्वामेह हर्म्ये यया नीयन्ते शरदिन्दुधामधवलाः स्वापोत्सवेन क्षपाः
कोऽयं नः फलति स्म कर्मविटपी वृन्दाटवीकंदरे श्यामः कोऽपि करी करोति हृदयोन्मादेन निद्राक्षयम् ॥

उद्घसितम्—१२—उपहासो विपक्षस्य साक्षादुद्घसितं भवेत् ॥ २८ ॥

क्षुब्धचित्त होकर कपट-स्तुति द्वारा पद्मा को तिरस्कृत कर श्रीकृष्ण विषयक स्वपक्ष (श्रीराधा) प्रेमातिशयता को प्रकाश करने लगी—हे सुन्दरि ! तुम तो वहुत स्थिर-बुद्धि दीखती हो, क्योंकि श्रीकृष्ण की कालियह्रद में कूद जाने की लीला का गांन करने में तुम्हारा हृदय जरा भी कम्पित नहीं हो रहा है। किन्तु आनुषंगिक रूप से भी यदि 'कदम्ब' शब्द का उच्चारण हो जाये तो मेरी सखी श्रीराधा अपने वक्ष पर कराघात करते हुए रोने लगती है ।।२४।।

अनुवाद—(स्वपक्ष के सामने श्रीकृष्णाख्यान वर्णन) यथा—एक दिन श्रीकृष्ण ने अपने हाथों से पद्मा के ललाट पर कस्तूरी-केसर द्वारा पत्रावली रचना की। पद्मा तो स्वभाव से ही अहंकारिणी है। वह श्रीराधा जी की सखियों में आकर अपने इस सौभाग्योत्कर्ष को जताने लगी। विशाखा जी उसे सहन न कर पद्मा की व्याजस्तुति करते हुए स्वपक्ष श्रीराधा के प्रति श्रीकृष्ण के प्रेमाधिक्य का वर्णन करने लगी—हे सखि ! तुम धन्य हो, क्योंकि श्रीकृष्ण के हस्त द्वारा रचित पत्रभंग से तुम्हारा ललाट अति सुन्दर हो रहा है। मैं समझती हूँ इसीलिये तुम सौभाग्य गर्व से मटक-मटक कर चल रही हो। हाय ! केवल हम ही वञ्चित हैं, देखो तो निखिल शिल्पकला-धुरन्धर होते हुए भी श्रीकृष्ण ललिता के मुख चन्द्र को देखते ही स्तब्ध रह जाते हैं—(ऐसी रमणीय मुख-शोभा है ललिता जी की) ।।२५।।

अनुवाद—(दर्प का लक्षण एवं उदाहरण)—विहार में उत्कर्ष सूचक जो गर्व है, उसे 'दर्प' कहते हैं ।।२६।। यथा—एक बार ललिता जी को तन्द्रालसवश घूर्णित नयना देखकर उपहास करते हुए पद्मा ने उससे उसका कारण पूछा। ललिता जी ने व्याजस्तुति द्वारा पद्मा का तिरस्कार करते हुए स्वपक्ष की श्रीकृष्णसंग-क्रीड़ा रूप उत्सुकता को प्रकट करते हुए कहा—'हे सखि ! हम तो तुम्हें ही पुण्यवती रमणियों की शिरोमणि मानती हैं, क्योंकि अपने भवन में शारदचन्द्र की किरणों में सारी चान्दनी-रात निद्रा-उत्सव में विता सकती हो, किन्तु हमारे तो किस कर्मवृक्ष का अनिर्वचनीय फल आकर उपस्थित हुआ है कि कोई एक श्याम हस्ती (श्रीकृष्ण) हृदय में उन्मत्त होकर नित्य वृन्दावन की गुहा में चला आता है और हमारी निद्रा भंग कर देता है ।।२७।।

अनुवाद—(उद्घसित का लक्षण एवं उदाहरण)—विपक्ष के प्रति साक्षात् उपहास करना, 'उद्घसित' कहलाता है ।।२८।। यथा—एक दिन पद्मा की प्रियसखी उसे संकेत कुञ्ज में लायी और वह

यथा—(१७)
नोच्चैर्निश्वसिहि प्रसीद परमे मुञ्च ग्रहं दुर्लभे ग्लानिं ते सखि वीक्ष्य हन्त कृपया मच्चित्तमुत्ताम्यति।
बद्धः पश्य विभङ्गुरेऽत्र ललिताबाग्वारागुराडम्बरे जानीते न किल स्वमेव सरले श्यामः कुरङ्गीपतिः २९
मदः—१३—सेवाद्युत्कर्षकृद्गर्वो मद इत्यभिधीयते ॥ ३० ॥

यथा—(१८)
जगति ललिते धन्या यूयं सुगन्धिभिरद्भुतै रविरविरतं याभिः पुष्पैरमीभिरुपास्यते।
बत विधिवशाज्जातं वन्यस्रजि व्यसनं तथा दलमपि न नः कात्यायन्यै यथा परिशिष्यते ॥ ३१ ॥
औद्धत्यम्—१४— स्पष्टं स्वोत्कृष्टताख्यानमौद्धत्यमिति कीर्त्यते ॥ ३२ ॥

यथा (१९)
कस्तावद्व्रजमण्डले स वलते गान्धर्विका स्पर्धतां सार्धं हन्त जनेन येन जगतीजंघालकीर्तिध्वजा।
कुल्यायाः कृपणावलीषु कृपया कामं द्रवच्चेतसो यस्याः प्रेरणया क्षणं भवति वः पद्मे निषेव्यो हरिः ॥३३
किं च—१५—श्लिष्टोक्तिश्च क्वचित्तासां निन्दागर्भोपजायते ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण को लाने के लिये गयी। दैवयोग से श्रीकृष्ण किसी अन्य नायिका से मिलित होकर उसके साथ कथोपकथन सुधा पान में विवश हो रहे थे। यह देखकर पद्मा की सखी विमनस्क होकर दीर्घश्वास छोड़ने लगी। उसे देखकर इन्दुलेखा जी ने उपहास करते हुए कहा—हे सखि! दीर्घश्वास मत त्याग कर, श्रीकृष्ण प्राप्ति का आग्रह भी त्याग करदे, क्योंकि उसे पाना बहुत दुर्लभ है। तुम्हारे मुख की ग्लानि देखकर दयावश मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है। हे सरले! ललिता जी की अति वक्र वाणीरूप जाल में श्याम रूप हरिण आबद्ध होकर आत्मविस्मृत हो रहा है ॥२९॥

अनुवाद—(मद का लक्षण एवं उदाहरण)—सेवादि के उत्कर्ष जनित गर्व को 'मद' कहते हैं॥ ३० ॥ यथा—एक दिन जब ललिता जी यमुनातटवर्ती कुञ्ज में पुष्प चयन कर रही थी तो पद्माने उससे पुष्प-चयन करने का करण पूछा। ललिता जी ने कहा—'सूर्यपूजा के लिये'। तब पद्मा छलपूर्वक स्वपक्ष द्वारा किये जाने वाली सेवा के आनन्दातिरेक को व्यक्त करते हुए बोली—हे ललिते! तुम पृथ्वी पर अति धन्य हो क्योंकि इन समस्त सुगन्धि पुष्पों द्वारा निरन्तर सूर्य पूजा कर पाती हो, किन्तु हाय! मेरी सखी चन्द्रावलीको तो वनमाला गूँथने का ऐसा व्यसन लग गया है कि कात्यायिनी-पूजाके लिये एक भी पत्र पुष्प नहीं बचता। (यहां श्रीकृष्ण सेवा के लिये पद्मा का मद प्रकाशित किया गया है) ॥३१॥

अनुवाद— (औद्धत्य का लक्षण एवं उदाहरण) स्पष्ट रूप से स्वपक्ष के उत्कर्ष स्थापन करने को 'औद्धत्य' कहते हैं ॥३२॥ यथा एक बार ललिता जी के सामने श्रीराधा पक्ष के साथ स्पर्द्धा करते हुए पद्मा स्वपक्ष के सौभाग्यों की बड़ाई करने लगी, तब ललिता जी ने क्षुब्धचित्त होकर स्वपक्ष की स्वाभाविक गुण-महिमा वर्णन कर उसकी बात को काट दिया—हे पद्मे! व्रजमण्डल में ऐसा कौन है जो भुवनव्यापी अति प्रभावशाली कीर्तिध्वजा शालिनी श्रीराधा के साथ स्पर्द्धा कर सके? मेरी-प्रियसखी महाकुल में उत्पन्न हुई है, इसलिये तुम जैसी दीन नारियों को देखकर उसका चित्त करुणा से द्रवीभूत हो जाता है। उसी की प्रेरणा से ही श्रीकृष्ण थोड़ी देर के लिये तुम लोगों की सेवा स्वीकार करते हैं ॥३३॥

अनुवाद—इन व्रजगोपियों के श्लिष्ट या द्विअर्थक वचन कभी निन्दासूचक होते हैं ॥३४॥ यथा—चन्द्रावली की एक सखी है सौदामिनी। किन्तु उसका रूप, वेश तथा क्रीड़ा अत्यन्त भद्दे हैं। यह

यथा—(२०)

गोविन्दाहितमण्डना विधुरतावाप्तिप्रसङ्गोज्झिता दक्षानल्पकला वयोघनरुचिं तन्वा मुहुस्तन्वती।
सर्वानुत्तमसाधुतापद कृतिर्भव्ये भवत्याः सखी नासौभाग्यभरात्कदापि विरतिं प्राप्नोति सौदामिनी ।।३५ ।।

यथा वा—(२१) समस्तजनलोचनोत्सवविनोदनिष्पादिनी विलक्षणगतिक्रियाविचलिताङ्गहारस्थितिः।
निरस्य हरितालजं रुचितरङ्गमात्मोर्जितैः सखी नटति ते रसस्खलितमत्र खेलावती ।। ३६ ।।

१६—यास्तु यूथाधिनाथाः स्युः साक्षान्नेर्ष्यन्ति ताः स्फुटम् । विपक्षाय स्वगाम्भीर्यमर्यादादिगुणोदयात् ३७

यथा वा—(२२)

विपक्षरमणीसखीं पिशुनितोरुगर्वंच्छटां विलोक्य किल मङ्गलाविरलहासफेनोज्ज्वलम् ।
ततान तमनाकुलं विनयनिर्झरं येन सा निजे तरसि मज्जिता सपदि लज्जिता विव्यथे ।। ३८ ।।

१७—विपक्षयूथनाथायाः पुरतः प्रकटं न हि । जल्पन्ति लघवः सेर्ष्यं प्रायशः प्रखरा अपि ।। ३९ ।।

अनुभव कर क्षुब्धा तुङ्गविद्या जी ने उसी की अन्तरंगा सखी भव्या को व्याजस्तुति सुनाते हुए सौदामिनी की निन्दा की—हे भव्ये ! तुम्हारी सखी सौदामिनी के विशाल सौभाग्यों की कोई सीमा नहीं, (निन्दा पक्ष में अभाग्यों की कोई सीमा नहीं) क्योंकि श्रीगोविन्द ने उसे अलंकार प्रदान किये हैं। इससे उसे दुख का तो सम्पर्क ही नहीं है। वह चतुर है और बहुत शिल्प विद्याओं की जानकार है। उसके शरीर पर नव यौवन झलक मार रहा है। उसकी प्रतिक्रिया ही उत्कृष्टता की परिचायक है। (उक्त-श्लोक में सब ही विदग्ध्यादि-परक द्वि-अर्थक शब्दों में सौदामिनी की निन्दा ही की गयी है) ।।३५।।

अनुवाद—(गुणादि-परक द्वि-अर्थक शब्दों का उदाहरण) यथा—एक बार यमुना तट पर श्रीकृष्ण के साथ रासोत्सव में शैव्या की सखी खेलावती ताण्डव नृत्य कर रही थी, जिसे देखकर ललिता जी ने स्तुति के छल से शैव्या की निन्दा की—हे शैव्ये ! तुम्हारी सखी खेलावती ने कैसा रसमय नृत्य किया ! (पक्षान्तर में जिस नृत्य में जरा भी रस नहीं था)। सबके नेत्रों में आनन्द उल्लास भर रहा था (सब का आनन्द नाश हो रहा था) ऐसा विचित्र नृत्य कर रही थी कि उसके गले का हार जरा भी नहीं हिल रहा था। उसकी देहकान्ति पिसी हुई हरिताल की कान्ति राशि का भी तिरस्कार कर रही थी। (इस प्रकार व्याज स्तुति द्वारा ललिता जी ने खेलावती की श्लिष्ट-शब्दों में निन्दा की है।) ।।३६।।

अनुवाद—(विपक्ष की सखियों के परस्पर छद्म, ईर्ष्यादि का उपर्युक्त प्रसंग में वर्णन किया गया है) किन्तु जो यूथेश्वरियां हैं, वे गम्भीरता एवं धैर्यादि गुणों से युक्त रहती हैं, अतः वे आमने-सामने स्पष्टरूप से विपक्ष की निन्दादि नहीं करती हैं ।।३७।।

अनुवाद—यथा—मंगला यूथेश्वरी के घर एक बार विपक्ष यूथेश्वरी की एक सखी आयी और श्लेषवाक्यों में स्वपक्ष के सौभाग्यादि का वर्णन करने लगी। किन्तु मंगला ने सुशीलता वश विनय एवं मधुर वचनों से उस सखी को निरुत्तर तथा संकुचित कर दिया। यह देखकर मंगला की एक प्रियसखी अपनी एक सखी से बोली—देखो, विपक्षयूथेश्वरी की सखी का महागर्व देखकर भी मंगला ने स्थिर चित्त से ऐसा विनय-प्रवाह प्रसारित किया कि उसके मुख पर मधुर-मन्द मुसकान छटा प्रकाशित होती रही। उस अपने मधुर-हास्य के स्रोत में उस सखी को स्नान ही करा दिया। विपक्ष-यूथेश्वरी की वह सखी स्वयं लज्जित हो उठी और फिर पश्चात्ताप भी करने लगी ।।३८।।

अनुवाद—सखियां प्रखरा होते हुए भी प्रायः विपक्ष की यूथेश्वरी के सामने ईर्ष्या-सूचक वाक्य प्रयोग नहीं करती हैं ।।३९।।

(२३) दिष्टया दुस्तरतो मदुक्तिनिगडान्मुक्तासि मुग्धे क्षणादभ्यर्णे वृषभानुजा विजयते यद्भानुजायास्तटे।
नातथ्यं प्रथयामि देव्यपि गिरां वाग्दूतकेलीषु मे निधूतप्रतिभोद्‌गमा भगवती लज्जार्णवे मज्जति ॥
१८—हरिप्रियजने भावा द्वेषाद्या नोचिता इति। ये व्याहरन्ति ते ज्ञेया अपूर्वरसिकाः क्षितौ ॥ ४१ ॥

यथा वा—

१९—संमोहनस्य कंदर्पवृन्देभ्योऽप्यघविद्विषः। मूर्तो नर्मप्रियसखः शृङ्गारो वर्तते व्रजे ॥ ४२ ॥
२०—क्षिपेन्मिथो विजातीयभावयोरेष पक्षयोः। ईर्ष्यादीन्स्वपरीवारान्योगे स्वप्रेष्ठतुष्टये।
अत एव हि विश्लेषे स्नेहस्तासां प्रकाशते ॥ ४३ ॥

यथा ललितमाधवे (३।३९)

(२४) सान्द्रैः सुन्दरि वृन्दशो हरिपरिष्वङ्गैरिदं मङ्गलं दृष्टं ते हतराधयाङ्गमनया दिष्टयाद्य चन्द्रावलि।
द्रागेनां निहितेन कण्ठमभितः शीर्णेन कंसद्विषः कर्णोत्तंससुगन्धिना निजभुजद्वन्द्वेन संधुक्षय ॥ ४४ ॥

अनुवाद—यथा—श्रीराधा जी ने विशाखा जी से कोई बात कही प्रसङ्गवश पद्मा ने स्वपक्ष की व्याजस्तुति द्वारा उस बात में निन्दा अनुभव की। किन्तु पद्मा क्रोध एवं औद्धत्य को गोपन करते हुए विशाखा जी से आदर पूर्वक बोली—हे मुग्धे ! तुम भाग्यवश समय के गुण से मेरे वाक्यों की दुस्तर शृंखला से छूट गयी हो। क्योंकि निकट ही यमुनातट पर श्रीराधा जी विराजमान हैं। मेरे वाक्य प्रभाव को तुम क्या जानती नहीं हो ? मैं बिल्कुल सत्य कहती हूँ कि मेरे वाक्य रूप द्यूत क्रीड़ा में स्वयं भगवती सरस्वती भी प्रतिभा-रहित होकर लज्जा सागर में डूब जाती है ॥४०॥

अनुवाद—(श्रीग्रन्थकार यह एक आशंका उठाते हैं कि कपट-ईर्ष्यादि साधक-भक्तों में ही जब दोष माने जाते हैं, तब साक्षात् कृष्ण-प्रेयसी व्रजगोपियों में इस प्रकार के कपट-ईर्ष्या-निन्दादि तो अति निन्दनीय मानी-जानी चाहिये ?—इसका उत्तर देते हुए श्रीग्रन्थकार कहते हैं कि श्रीकृष्ण प्रेयसियों में द्वेषादि प्रतिकूल भाव उदित नहीं या निन्दनीय हैं—ऐसा जो कहते हैं, उन्हें इस पृथ्वी पर अपूर्व रसिक जानना चाहिये—अर्थात् उन रसिकों के आगे 'अ' लगा हुआ समझना चाहिये—वे अ-रसिक हैं, रसका उन्हें ज्ञान ही नहीं है—ऐसा समझना चाहिये ॥४१॥

अनुवाद—कोटि कन्दर्पों के सम्मोहक श्रीकृष्ण के साथ शृंगार रस मूर्तविग्रह धारण कर उनके नर्म प्रियसखा स्वरूप में व्रज में विहार करता है। वही मूर्तिमान शृंगाररस ही अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की सन्तुष्टि के लिये सम्भोग-शृंगार के समय परस्पर विजातीय भावों में अपने परिवार ईर्ष्यादिक को प्रेरणा देता है (मात्सर्य, दम्भ, असूया, अमर्ष एवं गर्व आदि विजातीय भावों का परिवार है। इसे शृंगार रस ही उदित करता है) इसलिये विप्रलम्भ में (वियोग अवस्था में) प्रवास या परदेश में श्रीकृष्ण प्रेयसियों में स्नेह ही प्रकाशित होता है—(द्वेष नहीं) ॥४२-४३॥

अनुवाद—(श्रीललित माधव (३।३९) में कहा गया है) यथा—श्रीकृष्ण मथुरा जा चुके थे। एक दिन श्रीराधा जी कृष्ण-विरह में दिव्योन्माद दशा को प्राप्त हो रही थीं। उन्होंने गोवर्धन की स्फटिक-शिला में प्रतिबिम्बित अपनी मूर्ति को देखा, किन्तु उसे चन्द्रावली समझ कर कहने लगीं—हे सुन्दरि ! अनेकबार श्रीकृष्ण का गाढ़ आलिंगन प्राप्त करने वाला तुम्हारा मंगलमय शरीर मुझ दुर्भागा राधा को बड़े भाग्यवश देखने को मिला है। हे चन्द्रावलि ! श्रीकृष्ण के कर्णोत्पलों की सुगंधि को वहन करने वाली अपनी विशाल भुजाओं द्वारा अभी मेरे कण्ठ को आलिंगन कर मुझे प्राणदान करो ॥४४॥

२१—यूथेशायाः स्वपक्षादिभेदहेतुरथोच्यते । भावस्य सार्वथैवात्र साजात्ये स्यात्स्वपक्षता ॥ ४५ ॥
२२—मनागेतस्य वैजात्ये सुहृत्पक्षत्वमीरितम् । साजात्यस्य तथाल्पत्वे सति ज्ञेया तटस्थता ।
सर्वथा खलु वैजात्ये निश्चिता प्रतिपक्षता ॥ ४६ ॥
२३—मिथोभावस्य वैजात्ये न भावो रोचते मिथः । अरोचकतयैवायमक्षान्तिं जनयेत्पराम् ॥ ४७ ॥
यथा—(२५) या मध्यस्थपदेन संकुलतरा शुद्धा प्रकृत्या जडा वैदग्धीनलिनीनिमीलनपटुर्दोषान्तरोल्लासिनी आशायाः स्फुरणं हरेर्जनयितुं युक्तात्र चन्द्रावली सापि स्यादिति लोचयन् सखि जनः कः सोढुमीष्टे क्षितौ
(२६) षोडश्यास्त्वमुडोर्विमुञ्च सहसा नामापि वामाशये तस्या दुर्विनयैर्मुनेरपि मनः शान्तात्मनः कुप्यति । धिग्गोष्ठेन्द्रसुते समस्तगुणिनां मौलौ व्रजाभ्यर्चिते पादान्ते पतितेऽपि नैव कुरुते भ्रूक्षेपमप्यत्र या ॥ ४९ ॥

अनुवाद--यूथेश्वरियों के स्वपक्ष, सुहृत् पक्ष, तटस्थ पक्ष तथा विपक्षादिक के भेद का जो कारण है, उसे अब कहते हैं—भावों की हर प्रकार से सर्वांश में सजातीयता में स्वपक्षता होती है। भाव में अल्प विजातीयता रहने पर सुहृत् पक्षता होती है। सजातीयता की अल्पता में तटस्थता होती है, तथा भाव के सर्वांश में विजातीयता रहने पर विपक्षता या प्रतिपक्षता होती है ॥४५-४६॥

अनुवाद— विपक्ष भाव में असहिष्णुता का कारण यह है कि परस्पर भाव में सर्वथा विपरीतता होने से वह एक दूसरे को रुचिकर नहीं होता। यही अरोचकता-रूप कारण ही एक मात्र दुर्निवार असहिष्णुता उत्पन्न करता है ॥४७॥

अनुवाद—यथा— वृन्दा की संगिनी किसी वनदेवी ने श्रीराधा जी को कहा—हे राधे ! आपका एक मात्र उद्देश्य श्रीकृष्ण का सुख सम्पादन करना है, यदि वही सुख श्रीकृष्ण चन्द्रावली के संग में प्राप्त करते हैं, तो चन्द्रावली से द्वेष क्यों करती हो और खण्डिता होकर श्रीकृष्ण पर कुपित क्यों हो ?— तब श्रीराधा जी ने प्रेम तत्त्व का उपदेश देते हुए उसे कहा—चन्द्रावली (पक्षान्तर में बारहमासों में उदित होने वाली चन्द्र-श्रेणी) मध्यस्थित-पद से अर्थात् मेरे और श्रीकृष्ण के बीच बाधा बनकर सदा मालिन्यमय चिह्न से युक्त है। मध्यस्थपद के व्यवसाय से ही वह श्रीकृष्ण का अतिशय आदर करती है। (पक्षान्तर में चन्द्रमाओं के मध्य में कलंक का चिह्न स्पष्ट विद्यमान रहता है)। वह शुद्धा अर्थात् माधुर्य-अनुराग विशेष से रहित है, क्योंकि अनुराग या प्रेम शुद्ध नहीं है, बल्कि सर्प की भांति कुटिल गति युक्त है। (पक्षान्तर में चन्द्रावली शुभ है)। प्रकृति से वह जड़ है अर्थात् प्रीतम के प्रेमोचित व्यव-हार में वह बुद्धिरहित है (पक्ष-चान्दनी शीतला है-सब को दुख देती है)। वह वैदग्धी रूप नलिनी— कमलिनी को मुद्रित करने में चतुर है अर्थात् भ्रमर रूप श्रीकृष्ण की सुख प्रदाता उत्तम जातीय हम कमलनियों के साथ द्वेष रखने वाली है (पक्ष-चन्द्र श्रेणी कमल को मुद्रित कर देती है) वह रात्रि को ही उल्लसित होने वाली है किन्तु दिन में नहीं। (पक्ष में चन्द्रावली केवल रात्रि में उल्लसित होती है। अथवा 'पोषान्तरोल्लासिनी' दोषपूर्ण होते हुए भी अपने को गुणवान समझती है।) उसमें फिर श्रीकृष्ण की अभिलाषा पूर्ति की स्फूर्ति उदित होती है ! (पक्षान्तर-चन्द्रावली तो दिशाओं में स्फुरित होती है) तू विचार करके बता इस पृथ्वी तल पर ऐसा कौन व्यक्ति है जो उससे ईर्ष्या-द्वेष न करता होगा ? (श्री-कृष्ण पर खण्डितावस्था में इसलिये कुपित होती हूँ कि उन्हें यथार्थ प्रेम-वस्तु की पहिचान नहीं है) ॥४८॥

अनुवाद—यथा—श्रीकृष्णके मानिनी श्रीराधाजी के चरणोंमें पड़ने एवं अनेक अनुनय विनय करने पर भी उनका मान भङ्ग नहीं हुआ—यह बात पद्मा के मुख से सुनकर चन्द्रावली अति असहिष्णु हो उठी

२४—यत्र स्यान्निजभावस्य प्रायस्तुल्यप्रमाणता । पक्षः स एव मैत्राय विद्वेषाय च युज्यते ॥ ५० ॥
२५—नांशोऽप्यन्यत्र राधायाः प्रेमादिगुणसंपदाम् । रसेनैव विपक्षादौ मिथः साम्यमिवार्प्यते ॥ ५१ ॥
२६—भावस्यात्यन्तिकाधिक्ये साजात्यं सर्वथा द्वयोः । तथा तुल्यप्रमाणत्वमेवं प्रायः सुदुर्घटम् ॥ ५२ ॥
२७—स्याच्चेद्घुणाक्षरन्यायात्सुहृत्त्वेह संमता । रसस्वभावादत्रापि वैपक्ष्यमिति केचन ॥ ५३ ॥

इति श्रीहरिवल्लभा-प्रकरणम् ॥

अथ उद्दीपन विभाव-प्रकरणम्

अथ विभावेषूद्दीपनाः—
१—उद्दीपना विभावा हरेस्तदीयप्रियाणां च । कथिता गुणनामचरित्रमण्डनसंबन्धिनस्तटस्थाश्च ॥ १ ॥

और श्रीराधा जी का तिरस्कार करते हुए पद्मा से बोली—पद्मे ! इस प्रसंग की बात करना भी हमारे लिये अनुचित है।—हे वामाशये ? (हे बुद्धि भ्रष्टे !) उसका (श्रीराधा का) साक्षात् नाम तो दूर, सोलह नक्षत्रों का नाम भी तू मेरे आगे मत ले। उसके दुर्विनीत आचरण से तो शान्तात्मा मुनियों का मन भी क्रोध से भर उठता है। धिक्कार है उसे ! सर्वगुण शिरोमणि, सर्वव्रज जन वन्दनीय श्रीकृष्ण उसके चरणों में पड़ कर अनुनय-विनय करते रहे और उसने एक बार भी उनके प्रति कृपा कटाक्ष पात नहीं किया ? ॥४९॥

अनुवाद—अतः यह जानना चाहिये कि जिस पक्ष में अपने भाव की प्रायः तुल्य-प्रमाणता रहती है, वहां ही मित्रता और द्वेषरहितता सम्भवपर होती है ॥५०॥

अनुवाद—किन्तु श्रीराधा जी के प्रेमादि की असाधारण गुण सम्पदा का अंश भी अन्यत्र (चन्द्रावली प्रभृति में) नहीं है। केवल मात्र रस-सजातीयता में विपक्षादि (चन्द्रावली आदि) में परस्पर समतुल्य भावों का आरोप किया गया है। वस्तुतः समानता नहीं है ॥५१॥

अनुवाद—आत्यन्तिकाधिक्य में अर्थात् दो यूथेश्वरियों में सर्वथा समान सजातीय भाव तथा समान प्रमाणता अति असम्भव होती है ॥५२॥ कदाचित् घुणाक्षरन्याय से दो यूथेश्वरियों में सर्वथा भाव सजातीयता प्रकाशित हो उठे तो भी सुहृत्पक्षता ही स्वीकृत होती है, क्योंकि सदा के लिये एकत्र वासमूलक स्वपक्षत्व उस स्थान पर सम्भव पर नहीं हो सकता। साम्य-आभास होने पर भी कोई कोई शृंगार रसके स्वभाव वश विपक्षता प्रमाणित करते हैं, इस प्रकार सुहृत् पक्ष एवं स्वपक्ष लक्षणों से युक्त होने पर भी अपने से भिन्न अन्यत्र सर्वत्र ही विपक्षता ही समझनी चाहिये ॥५३॥

उद्दीपन-विभाव प्रकरण

अनुवाद—(उद्दीपन-विभाव—श्रीकृष्ण के और श्रीकृष्ण-प्रेयसीवृन्द के गुण, नाम, चरित्र, मण्डन, सम्बन्धी एवं तटस्थ—मधुररस के उद्दीपन विभाव कहे गये हैं ॥१॥

तत्र गुणाः—२—गुणास्त्रिधा मानसाः स्युर्वाचिकाः कायिकास्तथा ॥ २ ॥

तत्र मानसाः—३—गुणाः कृतज्ञताक्षान्तिकरुणाद्यास्तु मानसाः ॥ ३ ॥

यथा—(१) वशमल्पिकयापि सेवयामुं विहितेऽप्यागसि दुःसहे स्मितास्यम् ।
परदुःखलवेऽपि कातरं मे हरिमुद्वीक्ष्य मनस्तनोति तृष्णाम् ॥ ४ ॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—(विभाव दो प्रकार के हैं--आलम्बन तथा उद्दीपन। पूर्वोक्त प्रकरणों में (आश्रय तथा विषय) आलम्बन विभाव के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है। अब उद्दीपन-विभाव का निरूपण करते हैं। उद्दीपन-विभाव के सम्बन्ध में श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु (२।१।३०१-२) में विस्तार पूर्वक कहा जा चुका है। यहां भी फिर उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। जो वस्तुएं चित्त के भावों को उद्दीपित अर्थात् उत्कृष्ट-रूप से दीपित या उज्ज्वल करती हैं, उनको 'उद्दीपन-विभाव' कहा जाता है। इस प्रकरण में श्रीकृष्ण के चित्त के तथा उनकी प्रेयसी वृन्द के भावों को उद्दीपित करने वाले गुण नाम-चरित्रादिक का वर्णन करते हैं।—यहां एक और भी आलोचनीय विषय है कि श्रीपाद जीव गोस्वामी ने लोचनी टीका में कहा है—मधुर रस में श्रीकृष्ण विषयिणी रति का रसत्व ही प्रतिपाद्य है, कृष्ण-प्रेयसी विषयिणी रति का रसत्व प्रतिपाद्य नहीं है, जैसे दास्य-सख्य एवं वात्सल्य रस में श्रीकृष्ण-विषयिणी रति का रसत्व प्रतिपाद्य है, उन-उन भावों के परिकरों की रति का रसत्व प्रतिपाद्य नहीं है तद्रूप इसलिये श्रीकृष्ण के गुणादिका ही उद्दीपनत्व वाच्य है। तथापि कृष्ण-प्रेयसियों में उनका रूप-यौवनादि उद्दीपन होता है। उनके भाव में भावित भक्तों में भी श्रीकृष्ण प्रेयसियों के रूप-यौवनादि तद्रूप उद्दीपन रूप में स्फुरित होते हैं। इसलिये मूल श्लोक में हरिप्रियाओं के गुणनामादि का उल्लेख किया गया है।

श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ति ने अपनी आनन्दचन्द्रिका टीका में कहा है—श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण-प्रेयसीवृन्द एक दूसरेकी प्रीतिके आश्रय भी हैं एवं विषय भी। अतः श्रीकृष्णके नाम-गुणादि जैसे कृष्णप्रेय-सियों की कृष्ण-विषयिणी रति के उद्दीपन हैं, उसी प्रकार कृष्णप्रेयसियों के गुणादि भी श्रीकृष्ण की प्रेयसी-विषयिणी रति के उद्दीपन हैं। व्रजगोपियों के आनुगत्य में जो भक्त मधुर भाव का भजन करते हैं, वे स्वरूप-लक्षण में व्रजगोपियों के श्रीकृष्ण विषयक भावों का आस्वादन करते हैं और तटस्थ-लक्षण में श्रीकृष्ण के व्रजगोपी-विषयक भावों का आस्वादन करते रहते हैं।

दोनों के मतों का पार्थक्य यह है कि श्रीपाद जीवगोस्वामी मानते हैं कि श्रीकृष्ण के गुणादि तथा कृष्ण प्रेयसियों के गुणादि दोनों ही कृष्ण प्रेयसियों की कृष्ण विषयिणी रति के उद्दीपन हैं, क्योंकि गौड़ीय वैष्णवाचार्योंका प्रतिपाद्य है भक्तिरस,भक्तिसे श्रीकृष्ण विषयिणी रति ही अभिप्रेत है। और श्रीपाद चक्र-वर्ती का कहना है—श्रीकृष्ण के गुणादि व्रजगोपियोंकी श्रीकृष्ण विषयिणी रतिके उद्दीपन हैं और श्रीकृष्ण प्रेयसियों के गुणादि श्रीकृष्ण की व्रजगोपी-विषयिणी रति के उद्दीपन हैं।

अनुवाद— (गुण)—गुण तीन प्रकार के हैं—मानसिक, वाचिक एवं कायिक ॥२॥

अनुवाद—(मानसिक गुण)—कृतज्ञता, क्षान्ति (क्षमा) करुणादि 'मानसिक गुण' हैं ॥३॥ यथा—किसी व्रजगोपी के मन में श्रीकृष्ण के दर्शन-प्रभाव से जो अलौकिक गुण स्फुरित हो उठे, उन्हें एक दूसरी सखी को बताती है—हे सखि ! जो अति अल्प सेवा से वशीभूत हो जाते हैं (कृतज्ञता, दुःसह अपराध करने पर भी जो मन्द मुसकराते रहते हैं (क्षांति), एवं जो पराये लेशमात्र दुख को देखकर कातर

अथ वाचिकाः—४—वाचिकास्तु गुणाः प्रोक्ताः कर्णानन्दकतादयः ।। ५ ।।
यथा—(२) कर्णापहारिवर्णमश्रुतचरमाधुरीभिरभ्यस्ताम् । आलि रसालां माधववाचं नाचम्य तृप्यामि ।।
अथ कायिकाः—
५—ते वयो रूपलावण्ये सौन्दर्यमभिरूपता । माधुर्यं मार्दवाद्याश्च कायिकाः कथिता गुणाः ।। ७ ।।
तत्र वयः—
६—वयश्चतुर्विधं त्वत्र कथितं मधुरे रसे । वयः संधिस्तथा नव्यं व्यक्तं पूर्णमिति क्रमात् ।। ८ ।।
७—वयोमुखा गुणाः पूर्णमुक्ताः केशवसंश्रयाः । तेन तेऽत्र प्रवक्ष्यन्ते प्रायशस्तत्प्रियानुगाः ।। ९ ।।
तत्र वयः संधिः—८—बाल्ययौवनयोः संधिर्वयः संधिरितीर्यते ।। १० ।।
स कृष्णस्य, यथा—
(३) यान्ती श्यामलतां विमुच्य कपिशच्छायां स्मरक्ष्मापतेराज्ञालिपिवर्णपङ्क्तिपदवीमाप्नोति रोमावली
वाञ्छत्युच्छलितुं मनागभिनवां तारुण्यनीरच्छटां लब्ध्वा किंचिदधीरमक्षिशफरद्वन्द्वं च कंसद्विषः ।।११ ।।
तन्माधुर्यम्—
(४) दशार्धशरलुब्धकं चलमवेक्ष्य लक्ष्येच्छया विशन्तमिह सांप्रतं भवदपाङ्गशृङ्गोपरि ।
सदाश्रुनिकरोक्षिता व्रजमहेन्द्रवृन्दावने कुरङ्गनयनावली दरपरिप्लवत्वं गता ।। १२ ।।

(कारुण्य) हो उठते हैं, उन श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये मेरा मन अत्यन्त लालायित हो रहा है ।।४।।

अनुवाद—(वाचिक गुण) जिन वाक्यों से कानों को आनन्द-अतिशयता प्राप्त होती है, वे वाचिक गुण हैं ।।५।। यथा—श्रीकृष्ण प्रियनर्म सखा के साथ परिहास सूचक आलाप कर रहे थे । वहां निकटवर्ती कुञ्ज में एक व्रजगोपी छिपकर उन वचनों को सुन रही थी । वह अपनी सखी से बोली—हे सखि ! श्रीकृष्ण के आलाप वाक्यों के वर्ण (शब्द) दोनों कानों को अन्य विषयों से आकर्षण कर केवल अपनी तरफ ही तत्पर करने वाले हैं, ऐसे माधुर्य भरे वचन मैंने पहले कभी नहीं सुने । एवं उस वचनामृत को पान करके मैं परितृप्त भी नहीं हो पा रही हूँ ।।६।।

अनुवाद—(कायिक गुण)—वयस, रूप, लावण्य, सौन्दर्य अभिरूपता माधुर्य तथा मार्दव आदि 'कायिक गुण' कहे गये हैं ।।७।।

अनुवाद—(वयस) मधुररस में वयस चार प्रकार की कही गयी है—वयः सन्धि, नव्य, व्यक्त एवं पूर्ण ।।८।। श्रीकृष्ण के वयस-आदि कायिक गुण श्रीभक्तिरसामृत (२।१।३०८ से ३१२) में पहले कहे जा चुके हैं । अब श्रीकृष्ण प्रेयसियों के गुण प्रायः वर्णन करते हैं ।।९।।

अनुवाद—(वयः सन्धि)—बाल्य तथा यौवन की सन्धि अर्थात् प्रथम कैशोर अवस्था को 'वयः सन्धि' कहते हैं ।।१०।। यथा—श्रीकृष्ण की वयः सन्धि युक्त अङ्ग शोभा का दर्शन कर कोई एक व्रजगोपी अति उत्सुक होकर अपनी एक सखी से एकान्त में बोली—श्रीकृष्ण की रोमावलि भूरापन त्याग कर रही है, लगता है वह मदन-राजा के आज्ञालेख के अक्षरों की समता प्राप्त कर रही है । अभिनव यौवन के जल-सिंचन को प्राप्त कर अब उनके नेत्र रूप मीन भी उच्छलने की वाञ्छा करने लगे हैं ।।११।।

अनुवाद—(वयः सन्धि का माधुर्य)—प्रतिक्षण समुच्छलित सुषमा द्वारा श्रीकृष्ण के अलौकिक माधुर्य का अनुभव कर व्रजगोपियों के चित्त वशीभूत होते देख कर वृन्दा ने श्रीकृष्ण के प्रति कहा—हे व्रजमहेन्द्र ! आपके नेत्र-प्रान्त रूप पर्वत-शिखर का सन्धान करते हुए चञ्चल काम रूप व्याध प्रवेश करना चाहता है, यह देखकर अब वृन्दावन में हरिणियों (व्रजदेवियों) के नेत्र सर्वदा अश्रुधाराओं से भरे रहने लगे हैं एवं भय से चञ्चल हो रहे हैं ।।१२।।

तत्प्रियाणां यथा—(५)

नाद्यं किङ्किणिमाहरत्युपचयं ज्ञात्वा नितम्बो गुणी स्वस्य ध्वंसमवेत्य वष्टि बलिभिर्योगं ह्लसन्मध्यमम् ।
वक्षः साधुफलद्वयं विचिनुते राजोपहारक्षमं राधायास्तनुराज्यमञ्चति नवे क्षोणीपतौ यौवने ॥ १३ ॥

तन्माधुर्यम्—(६) आशास्ते पतितुं कटाक्षमधुपो मन्दं दृगिन्दीवरे
किंचिद्व्रीडबिसाङ्कुरं मृगयते चेतोमरालार्भकः ।
नर्मालापमधुच्छटाद्यवदनाम्भोजे तवोदीयते शङ्के सुन्दरि माधवोत्सवकरीं कांचिद्दशामञ्चसि ॥ १४ ॥

अथ नव्यम्—

६—दरोद्भिन्नस्तनं किंचिच्चलाक्षं मन्थरस्मितम् । मनागपि स्फुरद्भावं नव्यं यौवनमुच्यते ॥ १५ ॥

यथा—(७) उरः स्तोकोच्छूनं वचनमुदयद्वक्रिमलवं दरोद्घूर्णा दृष्टिर्जघनतटमीषद्घनतरम् ।
मनाग्व्यक्ता रोमावलिरपचितं किंचिदुदरं हरेः सेवौचित्यं तव सुदती ! विन्दति वयः॥ १६ ॥

तन्माधुर्यम्—

(८) वारं वारं विचरसि हरेरद्य विश्रामवेद्यामुद्भ्रान्तासि स्फुरति पवने तद्वपुर्गन्धभाजि ।
बाले ! नेत्रं विकिरसि मुहुर्नैचिकीनां पदव्यां भावाग्निस्ते स्फुटमिह मनोधाम्नि धूमायितोऽस्ति ॥ १७ ॥

अनुवाद—(कृष्ण-प्रेयसियों की वयः सन्धि) श्रीराधा जी की वयः सन्धि से उत्पन्न अङ्गों की रमणीयता का वृन्दा वर्णन करती है—नवयौवन रूप राजा ने श्रीराधा जी के देह रूप राज्य को प्राप्त कर लिया है, गुणी जन रूप (काञ्ची युक्त) नितम्ब-अपनी वृद्धिको जानकर आनन्द पूर्वक किंकिणी-नाद करने लगे हैं, क्षीण (निर्बल) कटिदेश अपने ध्वंस होने की सम्भावना में वलि-लोगों (त्रिवली) के साथ मिल जाने की इच्छा कर रहा है, वक्षस्थल के यौवनराज को उपहार देने के लिये योग्य दो उत्तम फल (उरोज) संजो लिये हैं ॥१३॥

अनुवाद—(श्रीराधा का वयः सन्धि-माधुर्य) यथा—श्रीराधा जी के वयः सन्धि-माधुर्य को देखकर आनन्द पूर्वक वृन्दा उन्हें कहती है—हे सुन्दरि ! आज तुम्हारे नेत्ररूप नील कमलों पर कटाक्षरूप मधुकर धीरे-धीरे पतित होना चाहता है, चित्तरूप राजहंस शावक भी किंचित् लज्जारूप मृणाल के अंकुर का अन्वेषण करने लगा है । और तुम्हारे मुखकमल से नर्म-आलापरूप मधुर द्युति छिटकने लगी है, लगता है तुमने माधव (वसन्त—श्रीकृष्ण) की आनन्दप्रद किसी अनिर्वाच्य दशा को प्राप्त किया है ॥१४॥

अनुवाद—(नव्य-यौवन)—जिस वयस में उरोज थोड़े ऊंचे उठ आते हैं, नेत्र किंचित् चञ्चल हो उठते हैं, मन्द मुसकान कभी-कभी बाहर आती है एवं चित्त का प्रथम विकार रूप भाव जरा सा स्फुरित होने लगता है, उसे 'नव यौवन' कहते हैं ॥१५॥ यथा—वृन्दाने श्रीराधा जी से कहा—हे सुमुखि ! अब तुम्हारा वक्षस्थल किंचित् उन्नत हो गया है, वचन थोड़े वक्र एवं नेत्र थोड़े घूर्णायमान लगते हैं, जघन देश थोड़ा स्थूल, रोमावली अल्प व्यक्त होने लगी है, तथा मध्यदेश किंचित् क्षीण दीखता है—तुम्हारी यह वयस श्रीहरि की सेवा-योग्यता प्राप्त कर रही है ॥१६॥

अनुवाद—(नवयौवन-माधुर्य) यथा—नवयौवन-प्राप्त एक गोपी को एक प्रौढ़ा गोपी ने कहा—हे सुन्दरि ! आज तुम वार-वार श्रीकृष्ण की विश्राम-वेदी पर जा रही हो, श्रीकृष्णांग-सुगन्धवाही पवन के स्पर्श से भ्रान्त हो रही हो, बार-बार उत्तम-उत्तम गौओं के पथ पर नेत्र निक्षेप कर रही हो, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि तुम्हारे मन-मन्दिर में भावाग्नि सुलगने लगी है ॥१७॥

अथ व्यक्तम्—
१०—वक्षः प्रव्यक्तवक्षोजं मध्यं च सुवलित्रयम् । उज्ज्वलानि तथाङ्गानि व्यक्ते स्फुरति यौवने ।। १८ ।।
यथा—(९) रथाङ्गमिथुनं नवं प्रकटयत्युरोजद्युतिर्व्यनक्ति युगलं दृशोः शफरवृत्तिमिन्द्रावलि ।
बिभर्ति च वलित्रयं तव तरङ्गभङ्गोद्यमं त्वमत्र सरसीकृता तरुणिमश्रिया राजसि ।। १९ ।।
तन्माधुर्यम्—(१०)
भ्राजन्ते वरदन्तिमौक्तिकगणा यस्योल्लिखद्भिर्नखैः क्षिप्ताः पुष्करमालयावृतरुचः कुञ्जेषु कुञ्जेष्वमी ।
शौटीर्याब्धिरुरोजपञ्जरतटे संवेशयन्त्या कथं स श्रीमान् हरिणेक्षणे हरिरभून्नेत्रेण बद्धस्त्वया ? ।। २० ।।

अथ पूर्णम्—
११—नितम्बो विपुलो मध्यं कृशमङ्गं वरद्युति । पीनौ कुचावूरुयुगं रम्भाभं पूर्णयौवने ।। २१ ।।
यथा—(११)
दृशोर्द्वन्द्वं वक्रां हरति शफरोल्लासलहरीमखण्डं तुण्डश्रीर्विधुमधुरिमाणं दमयति ।
कुचौ कुम्भभ्रान्तिं मुहुरविकलां कन्दलयतस्तवापूर्वं लीलावति वयसि पूर्णे वपुरभूत् ।। २२ ।।
तन्माधुर्यम्—(१२)
न वित्रस्ता का ते प्रति युवतिरासीन्मुखरुचा दधार स्तैमित्यं प्रणयघनवृष्टया तव न का ।
व्रजे शिष्या काभून्नहि तव कलायामिति हरेर्निकुञ्जस्वाराज्ये त्वमसि रसिके पट्टमहिषी ।। २३ ।।

अनुवाद—(व्यक्त-यौवन) जिस वयस में वक्षस्थल पर उरोजों का स्पष्ट उद्गम हो आता है, कटिदेश में सुन्दर त्रिवलिरेखा दीखने लगती है, और अंग-प्रत्यंग सब उज्ज्वल हो उठते हैं, उसे 'व्यक्त-यौवन' कहते हैं ।।१८।। यथा—नान्दिमुखी ने कहा—हे चन्द्रावलि ! तुम्हारे दोनों वक्षोजों की दीप्ति मानो नवीन चक्रवाकों को प्रकट कर रही है, तुम्हारे नेत्र मीनों की चञ्चलता प्रकाश कर रहे हैं, तुम्हारी त्रिवलि भी तरंग की भङ्गी धारण कर रही है, इस ब्रज में तुम तारुण्य सम्पदा से पूर्ण सरोवरके समान होकर विराज रही हो ।।१९।।

अनुवाद—(व्यक्त यौवन-माधुर्य) श्रीराधा जी के व्यक्त यौवन-माधुर्य को देखकर श्रीकृष्ण की क्षुब्धावस्था का अनुभव कर वृन्दा ने श्रीराधा जी से कहा—जो सिंह नखाघातों से हस्तीकुम्भ विदीर्ण करके इधर-उधर हतप्रभ मुक्तामालाओं को उड़ाते हुए कुञ्ज-कुञ्ज में क्षुब्ध होकर शोभित होता है, उस पराक्रम-सागर शोभायुक्त सिंह को कैसे तुमने एकमात्र नेत्रकटाक्ष रूप मथन-डोरी से बान्धकर उरोजरूप पिंजरे में बान्ध रखा है ? ।।२०।।

अनुवाद—(पूर्ण-यौवन) जिस वयस में रमणीवृन्द के नितम्ब विपुल हो जाते हैं, मध्यदेश क्षीण हो जाता है, सब अंग उत्तम कान्तियुक्त हो उठते हैं, वक्षोजद्वय स्थूल एवं उरुद्वय केला-स्तम्भ की भांति हो जाते हैं, उसे 'पूर्ण यौवन' कहते हैं ।।२१।। यथा—वृन्दा ने कहा—हे लीलावति ! तुम्हारे नेत्रों ने मीन की वक्र—चञ्चल उल्लास-लहरियों का हरण कर लिया है, तुम्हारा मुखसौन्दर्य अखण्ड चन्द्र की मधुरिमा को पराभूत कर रहा है, तुम्हारे वक्षोजद्वय बार-बार सुस्थिर कलशों का भ्रम उत्पादन कर रहे हैं । हे सुन्दरि ! पूर्ण-यौवन में तुम्हारा शरीर अपूर्व शोभा विस्तार कर रहा है ।।२२।।

अनुवाद—(पूर्ण-यौवन-माधुर्य)—श्रीराधा जी के पूर्णयौवन माधुर्य को देखकर वृन्दा ने सखियों की सभा में कहा—हे राधे ! तुम्हारे मुख-मण्डल की शोभा से कौन प्रतिपक्ष-युवति वित्रस्ता—(पराभूत)

१२—तारुण्यस्य नवत्वेऽपि कासांचिद्व्रजसुभ्रुवाम् । शोभापूर्तिविशेषेण पूर्णतेव प्रकाशते ॥ २४ ॥
अथ रूपम्—
१३—अङ्गान्यभूषितान्येव केनचिद्भूषणादिना। येन भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते ॥ २५ ॥
यथा दानकेलिकौमुद्याम्—(२२।७)—(१३)
त्रपते विलोक्य पद्मा ललिते राधां विनाप्यलंकारम् । तदलं मणिमयमण्डनमण्डलरचनाप्रयासेन ॥ २६ ॥
यथा वा विदग्धमाधवे—(७।४८)—(१४)
नीतं ते पुनरुक्ततां भ्रमरकैः कस्तूरिकापत्त्रकं नेत्राभ्यां विकलीकृतं कुवलयद्वन्द्वं च कर्णार्पितम् ।
हारश्च स्मितकान्तिभङ्गिभिरलं पिष्टानुपेषीकृतः किं राधे ! तव मण्डनेन नितरामङ्गं रसि द्योतिता ।
अथ लावण्यम्—
१४—मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोच्यते ॥ २८ ॥
यथा वा—(१५) जगदमलरुचीर्विचित्य राधे व्यधित विधिस्तव नूनमङ्गकानि ।
मणिमयमुकुरं कुरङ्गनेत्रे किरणगणेन विडम्बयन्ति यानि ॥ २९ ॥

नहीं हो रही है ? तुम्हारी वैदग्धी-कला जानकर कौन सी व्रजगोपी ने तुम्हारा शिष्यत्व स्वीकार नहीं किया है ? हे रसिके ! श्रीकृष्ण के निकुञ्ज रूप स्वर्गराज्य में तुम ही केवल पटरानी रूप से विराज कर रही हो ॥२३॥

अनुवाद—किसी किसी व्रजगोपी का (श्रीराधादि का) नवतारुण्य में भी शोभा-पूर्ति-वैशिष्ट्य से पूर्ववत् प्रकाश विद्यमान रहता है ॥२४॥

अनुवाद—(रूप) शरीर पर किसी भी भूषणादि के बिना सब अङ्ग भूषितवत दीखते हैं, उसे 'रूप' कहते हैं ॥२५॥ यथा—श्रीदानकेलिकौमुदी (२२।६) में कहा गया है—अलंकारों का भार वहन करने में श्रीराधा जी को असमर्थ जानकर विशाखा जी ने उसके सब अलंकार उतार दिये। श्रीराधांगों की साहजिक शोभा को देखकर वृन्दा बोली—हे विशाखे ! श्रीराधा जी के भूषण-रहित अङ्गों को देखकर जब लक्ष्मी लज्जित होती है, तब उनके शरीर पर मणिमय अलंकारों को धारण कराने का यत्न नहीं करना चाहिये ॥२६॥

श्रीविदग्ध माधव (७।४८) में यथा—सौभाग्य पूर्णिमा के दिन गौरीतीर्थ पर विहार करने वाले श्रीकृष्ण ने श्रीराधा जी का प्रसाधन करने के बाद कहा—हे राधे ! आप की कुटिल अलकावली ने ललाट पर कस्तूरी द्वारा रचित पत्रभङ्गी को व्यर्थ कर दिया है, दोनों नेत्रों ने कानों में पहरे आभरणों के नीलकमलों को विफल कर दिया है, तुम्हारी मृदु मधुर मुसक्यान-तरंग ने हार की शोभा को चूर-चूर कर दिया है। आपका श्रीअङ्ग ही जब बिना भूषण शोभा विस्तार कर रहा है, फिर वेश-भूषा के धारग करने का क्या प्रयोजन ? ॥२७॥

अनुवाद—(लावण्य) मुक्ताओं के बीच से जैसे निर्मल चमक बाहर प्रसारित होती है, उसी प्रकार अङ्गों से प्रतिक्षण अति स्वच्छ उदीयमान कान्ति को 'लावण्य' कहते हैं ॥२८॥ यथा—श्रीराधाजी के लावण्यका वर्णन करते हैं श्रीकृष्ण—हे राधे ! लगता है ब्रह्माने जगत्की यावतीय विमल-कान्तिको एकत्र कर तुम्हारे अङ्गों की रचना की है, क्योंकि हे मृगनयने ! तुम्हारे अङ्ग प्रत्यंग से निकली किरणें मणिमय दर्पण को भी तुच्छ कर रही हैं ॥२९॥

यथा वा—(१६) शृणु सखि ! तव कर्णे वर्णयाम्यत्र नीचैर्विरचय मुखचन्द्रं मा वृथागाद्विवर्णम् ।
इयमुरसि मुरारेरस्ति नान्या मृगाक्षी मरकतमुकुराभे बिम्बितासि त्वमेव ॥ ३० ॥

अथ सौन्दर्यम्—
१५—अङ्गप्रत्यङ्गकानां यः संनिवेशो यथोचितम् । सुश्लिष्टसंधिबन्धः स्यात्तत्सौन्दर्यमितीर्यते ॥ ३१ ॥
यथा—(१७) अखण्डेन्दोस्तुल्यं मुखमुरुकुचद्योतितमुरो भुजौ स्रस्तावंसे करपरिमितं मध्यमभितः ।
परिस्फारा श्रोणी कमलधिमभागूरुयुगलं तवापूर्वं राधे किमपि कमनीयं वपुरभूत् ॥ ३२ ॥

अथ अभिरूपता—
१६—यदात्मीयगुणोत्कर्षैर्वस्त्वन्यन्निकटस्थितम् । सारूप्यं नयति प्राज्ञैराभिरूप्यं तदुच्यते ॥ ३३ ॥
यथा—(१८) मग्ना शुभ्रे दशनकिरणे स्फाटिकीव स्फुरन्ती लग्ना शोणे करसरसिजे पद्मरागीव गौरी ।
गण्डोपान्ते कुवलयरुचा वैन्द्रनीलीव जाता सूते रत्नत्रयधियमसौ पश्य कृष्णस्य वंशी ॥ ३४ ॥

(श्रीकृष्ण का अङ्ग-लावण्य) यथा—श्रीराधा जी ने संकेत कुञ्ज में श्रीकृष्ण के अङ्गों में अपनी मूर्ति के प्रतिविम्ब को देखा और उसे एक दूसरी कामिनी जानकर वह क्षुब्ध हो उठीं। तब ललिताजी ने प्रवोध कराते हुए कहा—हे सखि ! मैं तुम्हारे कान में धीरेसे एक बात कहती हूँ, उसे सुनो (जोर से कहने पर श्रीकृष्ण उसे सुनकर हमारा उपहास करेंगे)—श्रीकृष्ण के सामने तुम वृथा मुख मत विगाड़ो श्रीकृष्ण का वक्षस्थल मरकत मणि रचित स्वच्छ दर्पण के समान है, उसमें तुम ही प्रतिबिम्बित हो रही हो यहां कोई दूसरी रमणी विद्यमान नहीं है ॥३०॥

अनुवाद– (सौन्दर्य) अङ्ग—प्रत्यङ्ग में (स्थूलता, कृशता वर्तुलता आदि को) यथोचित रूप में संन्निविष्ट होकर सन्धि-स्थानों की मांसल होकर जो सुडौलता है—उसे 'सौन्दर्य' कहते हैं ॥३१॥ यथा– श्रीराधा जो का सौन्दर्य-दर्शन कर श्रीकृष्ण ने कहा—हे राधे ! तुम्हारा मुख पूर्ण चन्द्र के समान उज्ज्वल है, वक्षस्थल पृथु कुचद्वय से सुशोभित है, स्कन्धों में सुदीर्घ भुजाएँ हैं, मध्य भाग (कटि) तो मुट्ठी में आ जायेगी (इतनी पतली है), नितम्ब अति विशाल हैं एवं जंघाएं ऊपर से नीचे क्रमशः पतली होती चली गयी हैं—इस प्रकार तुम्हारा शरीर एक अनिर्वचनीय कमनीयता—सौन्दर्य को प्राप्त कर रहा है ॥३२॥

अनुवाद—(अभिरूपता) जो अपने गुणोत्कर्ष से निकटवर्ती अन्य वस्तु को भी सारूप्य (अपने समान रूप) प्राप्ति कराता है, उसे 'अभिरूप' कहते हैं ॥३३॥ यथा—श्रीराधा जी ने श्रीकृष्ण के हाथ में लगी बंशी की वर्ण-वैचित्री को देखकर अपनी सखी गौरी से कहा—देख तो गौरि ! यह वंशी श्रीकृष्ण की शुभ्र दन्तपंक्ति से जब लगती है तो स्फटिक मणि की भांति स्फुरित होती है, लालरंग के करकमलों में आने पर वह पद्मराग मणिवत् शोभा प्राप्त करती है, जब यह नील कमल के वर्ण-विशिष्ट कृष्णगण्ड-स्थल के निकट मिलित होती है तो इन्द्र नीलमणि की शोभा विस्तार करती है, यह वंशी तीन रत्नों का भ्रम उत्पादन कर रही है, (श्रीकृष्ण के गुणोत्कर्ष या वर्णविशेष की निकटवर्ती होकर वंशी उनकी सारूपता-अभिरूपता प्राप्त कर रही है) ॥३४॥

(श्रीराधाजी अङ्गकान्ति की अभिरूपता) यथा—एक बार वृन्दा द्वारा कुमुद-कलिकागुच्छ उपहाररूप में प्राप्त कर श्रीराधा जी विराजमान थीं कि श्रीश्याम सुन्दर ने बलपूर्वक उसे छीन लिया और कौतुक वश उसे श्रीराधा जी के वक्षस्थल पर स्पर्श कराने लगे। श्रीराधा जी के अङ्गों का सम्पर्क

यथा वा—(१९)
वक्षोजे तव चम्पकच्छविमवष्टम्भोरुकुम्भोपमे राधे कोकनदश्रियं करतले सिन्दूरतः सुन्दरे।
द्रागिन्दिन्दिरबन्धुरेषु चिकुरेष्विन्दीवराभां वहन्नेकः कैरवकोरको वितनुते पुष्पत्रयीविभ्रमम् ॥ ३५ ॥

अथ माधुर्यम्—१७—रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोर्माधुर्यमुच्यते ॥

यथा—(२०) किमपि हृदयमभ्रश्यामलं धाम रुन्धे दृशमहह विलुण्ठत्याङ्गिकी कापि मुद्रा।
चटुलयति कुलस्त्रीधर्मचर्यां बकारेः सुमुखि नवविवर्तः कोऽप्यसौ माधुरीणाम् ॥ ३७ ॥

अथ मार्दवम्—
१८—मार्दवं कोमलस्यापि संस्पर्शासहतोच्यते। उत्तमं मध्यमं प्रोक्तं कनिष्ठं चेति तत्त्रिधा ॥ ३८ ॥

तत्र उत्तमम्—(२१) अभिनवनवमालिकामयं सा शयनवरं निशि राधिकाधिशिश्ये।
न कुसुमपटलं दरापि? जग्लौ तदनुभवात्तनुरेव सव्रणासीत् ॥ ३९ ॥

मध्यमं, यथा—(२२) चित्रं धनिष्ठे तनुवाससोऽपि चीनस्य पीनस्तनि संगमेन।
लिप्तेव लोहितचन्दनेन मूर्तिर्विदूना सखि लोहितासीत् ॥ ४० ॥

कनिष्ठं, यथा रससुधाकरे—(२३) आमोदमामोदनमादधानं विलीननीलालकचञ्चरीकम्।
क्षणेन पद्मामुखपद्ममासीत्त्विषा रवेः कोमलयापि ताम्रम् ॥ ४१ ॥

पाकर वह कुमुद-कलिका भी विविध रंगों को प्राप्त होने लगी। यह देखकर श्रीकृष्ण बोले—हे राधे! कैसा आश्चर्य! यह एक कैरव-कलिका तीन प्रकार के पुष्पों का विलास धारण कर रही है। स्वर्ण कलश तुल्य तुम्हारे वक्षोजों के निकट चम्पक-पुष्प की कान्ति, सिन्दूर से सुन्दर तुम्हारे करतलों के पास लालकमल की आभा तथा भ्रमर तुल्य अति श्यामवर्ण के तुम्हारे केशकलापों के निकट यह इन्दीवर की शोभा विस्तार करती है ॥३५॥

अनुवाद—(माधुर्य) शरीर के किसी एक अनिर्वचनीय रूप को 'माधुर्य' कहते हैं ॥३६॥ यथा—श्रीकृष्ण-माधुर्य में उन्मादिता एक व्रजगोपी अपनी सखी से कहती है—हे सुमुखि! श्रीकृष्ण की मेघ-श्यामल कान्ति मेरे हृदय को अवरुद्ध कर रही है, अहो! उसकी शारीरिक अवर्णीय भङ्गी मेरे नयनों को वरवश हरण कर रही है, अतएव श्रीकृष्ण के अनिर्वचनीय माधुर्य का यह प्रथम विवर्त्त या परिणाम विशेष कुलवती रमणियों के पातिव्रत्यादि धर्म की अस्थिरता ही विधान कर रहा है ॥३७॥

अनुवाद—(मार्दव) कोमल वस्तु के भी संस्पर्श में जो असहिष्णुता है, उसे 'मार्दव' कहते हैं। मार्दव उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ भेद से तीन प्रकार का है ॥३८॥ **उत्तम-मार्दव यथा**—विशाखा जी ने चित्राजी से कहा—हे सखि! गत रात्रि श्रीराधा अभिनव मल्लिका पुष्पों से निर्मित उत्कृष्ट शय्या पर सोयी। किन्तु कैसा आश्चर्य! शय्या के पुष्प तो किञ्चित् भी म्लान—कुम्हलाये नहीं किन्तु श्रीराधा के अङ्गों में पुष्पों के संस्पर्श से घाव हो गये हैं ॥३९॥

अनुवाद—(मध्यम-मार्दव) अति सूक्ष्म रेशमी साड़ी से भी क्षतांगी धनिष्ठा को वृन्दा ने कहा—हे सखि धनिष्ठे! बड़ा आश्चर्य है कि अति मृदुल सूक्ष्म वस्त्र के स्पर्श से भी तुम्हारा शरीर घायल होकर लालचन्दन की भांति हो रहा है ॥४०॥

(कनिष्ठ-मार्दव) यथा—रससुधाकरमें प्रातः कालीय सूर्य की किरणों से पद्मा के मुखका लाल रंग देखकर उसकी सखी एक दूसरी सखि के प्रति बोली—हे सखि! पद्मा का आनन्दप्रद मनोहर गन्धयुक्त

अथ नाम, यथा—

(२४) तटभुवि रविपुत्र्याः पश्य गौराङ्गि रङ्गी स्फुरति सखि कुरङ्गीमण्डले कृष्णसारः ।
इति भवदभिधानं शृण्वती सा मदुक्तौ सुतनुरतनुघूर्णापूरपूर्णा बभूव ।। ४२ ।।

अथ चरितम्—

१९—अनुभावाश्च लीला चेत्युच्यते चरितं द्विधा । अग्रेऽनुभावा वक्तव्या लीलेयं कथ्यतेऽधुना ।। ४३ ।।
२०—लीला स्याच्चारुविक्रीडा ताण्डवं वेणुवादनम् । गोदोहः पर्वतोद्धारो गोहूतिर्गमनादिका ।। ४४ ।।

तत्र चारुविक्रीडा—२१—रासकन्दुकखेलाद्या चारुक्रीडात्र कीर्तिता ।। ४५ ।।

तत्र रासः—(२५) तं विलासवति रासमण्डले पुण्डरीकनयनं सुराङ्गनाः ।
प्रेक्ष्य संभृतविहारविभ्रमं बभ्रमुर्मदनसंभ्रमोर्मिभिः ।। ४६ ।।

कन्दुकक्रीडा—(२६) अरुणरुचिमुदस्य क्षेपणीं कुञ्चिताग्रां सरभसमभिधावन्विभ्रमाद्दीर्घवेणिः ।
विरचयति मुकुन्दः कन्दुकान्दोलनृत्यद्विपुलनयनभङ्गीविभ्रमः कौतुकं नः ।। ४७ ।

मुखकमल नीली-नीली अलकों रूपी भ्रमरावली तथा स्वेद कणों से युक्त हो रहा है, किन्तु कैसा आश्चर्य कि उसका वर्ण हलकी सी सूर्य किरणों के स्पर्श से क्षणमात्र में लाल हो उठा है ।।४१।।

अनुवाद—(नाम) यथा—वृन्दाने श्रीकृष्ण के पास आकर कहा—हे कृष्ण ! मैंने श्रीराधा के पास जाकर यह कहा कि 'हे गौरांगि ! देखो, यमुना तट पर हरिणियों की मण्डली में कृष्णसार मृग-विहार कर रहा है ।' हे कृष्ण ! मेरे इस वाक्य में तुम्हारा 'कृष्ण' नाम सुनते ही सुतनु (सुन्दरी) श्री राधा अतनु—कामावर्त में परिपूर्ण रूप से विवश हो गयीं ।।४२।।

अनुवाद—(चरित)—अनुभाव तथा लीला भेद से चरित दो प्रकार का हैं । अनुभाव-विषय में आगे वर्णन करेंगे, अब लीला-सम्बन्धी चरित को कहते हैं ।।४३।। लीला का अभिप्राय है—चारु-विक्रीड़ा ताण्डव, वेणु-वादन, गो-दोहन, गोवर्धन-धारण, गौओं का आह्वान, तथा गमनादि ।।४४।।

अनुवाद—(चारु-विक्रीड़ा) रास-क्रीड़ा तथा कन्दुकक्रीड़ा (गेंद खेलना)—इन दोनों को 'चारु-विक्रीड़ा' कहा गया है ।।४५।। (रास) यथा—श्यामला ने श्रीराधा जी से कहा—हे विलासवति राधे ! रासमण्डल में सुरांगनाओं ने जब पद्मपलाश-लोचन श्रीकृष्ण को परमोत्सुकता के साथ सम्यक् प्रकार विलासादि करते देखा, तो वे मदनावेग से अतिशय भ्रान्त हो उठीं । (यहां इस प्रकार रास का वर्णन स्मृति सूचक होकर रति का उद्दीपन ही जानना चाहिये) ।।४६।।

अनुवाद—(कन्दुक क्रीड़ा)—भाण्डीर वट की छाया तले श्रीकृष्ण सखाओं के साथ गेंद खेल रहे थे । श्रीराधा जी उस क्रीड़ा को लताओं की ओट में छिपकर देख रही थीं, वह चित्रा के प्रति उस शोभा का वर्णन करते हुए बोलीं—हे सखि ! श्रीकृष्ण सिरे से संकुचित लाल वर्ण की क्षेपणी (बैट) को हाथ में लेकर जब इधर-उधर भाग रहे थे, तो उनकी दीर्घ वेणी भी तीव्र गति से झूम रही थी । गेंदे के पीछे इधर-उधर उनके नृत्यशील विशाल नेत्रों की विलास परिपाटी हमें आनन्द में सराबोर कर रही है ।।४७।।

अनुवाद—(ताण्डव)—श्रीकृष्ण की सखा मण्डली में नृत्य का दर्शन करके विशाखा जी को कहा—हे सखि ! आज यमुना-पुलिन में श्रीकृष्ण मोरपुच्छ धारण कर सखाओं द्वारा उच्चारित चर्चरीताल के

ताण्डवम्—(२७)
प्रचलप्रचलाककुण्डलोऽयं स्वसुहृन्मण्डलचर्चरीपरीतः । हरिरद्य नटन्पतङ्गपुत्रीतटरङ्गे मम रङ्गमातनोति

वेणुवादनं, यथा ललितमाधवे—(४ २७) (२८)
जङ्घाधस्तटसङ्गि दक्षिणपदं किंचिद्विभुग्नत्रिकं साचिस्तम्भितकंधरं सखि तिरः संचारिनेत्राञ्चलम् ।
वंशीं कुड्मलिते दधानमधरे लोलाङ्गुलीसंगतां रिङ्गद्भ्रूभ्रमरं वराङ्गि ! परमानन्दं पुरः स्वीकुरु ॥४९

गोदोहो, यथा पद्यावल्याम्—(२६२)—(२९)
अङ्गुष्ठाग्रिमयन्त्रिताङ्गुलिरसौ पादार्धनीरुद्धभूरापीनाञ्चलमार्द्रयन्निह पुरो द्वित्रैः पयोबिन्दुभिः ।
न्यग्जानुद्वयमध्ययन्त्रितघटीवक्रान्तरालस्खलद्धाराध्वानमनोहरं सखि पयो गां दोग्धि दामोदरः ॥ ५० ॥

पर्वतोद्धारः—(३०) उद्यम्य कन्दुकितमन्दरसोदराद्रिं सव्यं करं कटिमनुस्थगयन्नसव्यम् ।
स्मेराननश्चलदृगञ्चलचञ्चरीकश्चित्ताम्बुजं मम हरिश्चदुलीचकार ॥ ५१ ॥

आनुगत्य में मधुर नृत्य करते हुए मेरा आनन्द वर्धन कर रहे हैं ॥४८॥

अनुवाद—(वेणु-वादन) श्रीललितमाधव (४।२७) में, यथा—ललिता जी ने श्रीकृष्ण को वंशी बजाते हुए देखकर श्रीराधा जी से कहा—हे वरांगि ! देखो, श्रीकृष्ण वाम-जंघा का निचला भाग अपने दक्षिण चरण पर रखकर कटिको किञ्चित् टेढ़ा करके ग्रीवाको झुकाकर स्कन्ध पर टिकाये हुए हैं-अर्थात् ललित त्रिभंग हो रहे हैं । वह विद्युत् के समान चञ्चल नेत्रकटाक्षों को इधर-उधर तिरछी दृष्टि से संचालन कर रहे हैं । वंशी के छिद्रों पर चञ्चल अंगुलियों को चलाते हुए संकुचित अधर पर उन्होंने वंशी धारण कर रखी है । भ्रूकुटि नचा रहे हैं, हे सखि ! सामने उपस्थित परमानन्दघन मूर्ति श्रीकृष्ण को तुम अपने कटाक्षों के इंगित में स्वीकार करो ॥४९॥

अनुवाद—(गोदोहन) यथा पद्यावली (२६२) में—वन से लौटकर गोष्ठ में श्रीकृष्ण गोदोहन कर रहे हैं, उस शोभा को एक सखी दूसरी सखी के प्रति वर्णन कर रही है—हे सखि ! यह देख श्रीकृष्ण ने अपने आधे चरणों को भूमि से उठा रखा है (पंजों के बल बैठे हुए हैं) मस्तक को झुकाकर जानुओं में दोहन पात्र (टोकनी) को अच्छी प्रकार जमा लिया है, तर्जनी तथा अंगूठे के अग्रभाग द्वारा दूसरी अंगुलियों को सिकोड़ कर (मुट्ठी सी बांधकर) पहले दूध की दो-तीन बून्दों से थनों को धोकर पात्र में दूध दोहन कर रहे हैं, दूध धारा के पात्र में गिरने से कैसा मनोहर शब्द सुनायी दे रहा है ? ॥५०॥

अनुवाद—(गोवर्धन-धारण) गोवर्धन धारण के समय श्रीकृष्ण की माधुरी का अनुभवकर श्रीराधा जी विशाखा के प्रति कहती हैं—हे सखि ! श्रीकृष्ण ने मन्दराचल के समान गोवर्धन पर्वत को क्रीड़ा-कन्दुक (कुकुरमुत्ता) की भांति खेल-खेल में वायें हाथ पर धारण कर लिया और अपने दायें हाथ को कटि देश पर विन्यस्त कर रखा था । उनके मुख पर मन्द हास्य थी उनके भ्रमरों के समान चञ्चल नेत्रों ने मेरे चित्त-कमल को चञ्चल कर दिया था ॥५१॥

अनुवाद—(गो-आह्वान) वृन्दावन से गोष्ठ में आते समय श्रीकृष्ण अपनी गौओं को जिस प्रकार बुलाते हैं, उसे अनुभव कर श्रीराधा जी ललिता के प्रति कहती हैं—हे ललिते ! अहो ! दूरवर्ती अपनी गौओं को बुलाने के उद्देश्य से श्रीकृष्ण मुख से बार-बार जो 'ही-ही' ध्वनि करते हुए हे पिशङ्गि !

गोहूतिः—(३१)
पिशङ्गि मणिकस्तनि प्रणतशृङ्गि पिङ्गेक्षणे मृदङ्गमुखि धूमले शबलि हंसि वंशीप्रिये।
इति स्वसुरभीकुलं मुहुरुदीर्णहीहीध्वनिर्विदूरगतमाह्वयन् हरति हन्त चित्तं हरिः ॥ ५२॥

गमनम्—(३२) अनुपदमदमन्दान्दोलिदोर्गलश्रीः सुरगजगुरुगर्वस्तम्भिगम्भीरकेलिः।
सहचरि दरचञ्चच्चारुचूडारुचिर्मां मदयति गतिमुद्रामाधुरी माधवस्य ॥ ५३॥

अथ मण्डनम्—२२—चतुर्धा मण्डनं वासोभूषामाल्यानुलेपनैः ॥ ५४॥

तत्र वस्त्रं, यथा—(३३) अम्बरं चरितधैर्यसंवरं रम्यमम्बरमणिप्रभोज्ज्वलम्।
सुभ्रु किं नहि कटीरमण्डले पुण्डरीकनयनस्य पश्यसि ॥ ५५॥

यथा वा—(३४) अमलकमलरागरागमेतत्तव जयति स्फुटमद्भुतं दुकूलम्।
मम हृदि निजरागमत्र राधे दधदपि यद्द्विगुणं बभूव रक्तम् ॥ ५६॥

भूषा, यथा—(३५) प्रहरतु हरिणा कदम्बपुष्पं प्रियसखि शेखरितं यदङ्गजास्त्रम्।
बत कथममुनावतंसितोऽसौ मम हृदि विध्यति नीलकण्ठपक्षः ॥ ५७॥

मणिकस्तनी ! प्रणत शृङ्गि ! पिंगेक्षणे ! मृदङ्गमुखि ! धूमले ! शबलि ! हंसि ! हे वंशीप्रिये ! प्रभृति नामों का उच्चारण कर मेरा मन हर लेते हैं ॥५२॥

अनुवाद—(गमन) वन से लौटते समय श्रीकृष्ण की गमन-परिपाटी (चाल की माधुरी) का अनुभव कर आनन्दमग्ना श्रीराधा जी ने इन्दुलेखा से कहा—हे सहचरि ! प्रति पद की पटकन मदभरी होने से जिनकी दोनों भुजाएं मन्द-मन्द डोलायमान होकर तरंगों की शोभा धारण कर रही हैं, जिनकी गम्भीर गति- केलि इन्द्र के ऐरावत हाथी के महागर्व को स्तम्भित करने वाली है, एवं जिनकी चञ्चल मनोहर अलकावली शोभित हो रही है, उन श्रीमाधव की गति-मुद्रा माधुरी मुझे उन्मत्त (मुग्ध) कर रही है ॥५३॥

अनुवाद—(मण्डन) चार प्रकार का है—वस्त्र, भूषा, माल्य एवं अनुलेपन ॥५४॥ (वस्त्र) यथा—एक सखी रेशमी वस्त्र धारी श्रीकृष्ण को अतिशय आसक्ति पूर्वक देख रही थी, तो दूसरी ब्रज-देवी ने कहा—हे सुभ्रु ! श्रीकृष्ण कटि में सूर्यप्रभा की भांति उज्ज्वल तथा मनोहर पीत वस्त्र धारण कर मेरे धैर्य को हरण कर रहे हैं, उसे क्या तुम नहीं देख रही हो ? ॥५५॥

अनुवाद—(श्रीराधा जी का वस्त्र) श्रीकृष्ण ने कहा - हे राधे ! तुम्हारा यह विमल पद्मराग-मणिकांतियुक्त अद्भुत रेशमी वस्त्र जय युक्त हो। तुम्हारे इस वस्त्र ने मेरे हृदय में अपना राग (रक्तिमा, प्रीति) अर्पण करके भी दुगुनी रक्तिमा प्राप्त कर रखी है ॥५६॥

अनुवाद—(भूषा) वन से लौटते हुए श्रीश्याम सुन्दर की वेश-भूषा का दर्शन कर श्रीराधाजी ने विशाखा के प्रति कहा—हे सखि ! श्रीकृष्ण ने मस्तक पर मालारूप में जो कदम्ब पुष्प धारण कर रखा है, यह कामदेव के अस्त्र के समान है, भले ही मुझे इससे प्रहार करें, किन्तु इन्होंने जो मोरपुच्छ का मुकुट धारग कर रखा है, वह मेरे हृदय को क्यों पीड़ा दे रहा है ? (पक्षान्तर में—नीलकण्ठ महादेव जो कामदेव के शत्रु हैं, कामदेव अपना अस्त्र मारे, तो मारे, अपने शत्रु की सहायता से मुझे पीड़ा दे रहा है-यह कैसा आश्चर्य !) ॥५७॥

यथा वा—(३६) हारेण तारद्युतिना कपोलप्रङ्खोलिना कुण्डलयोर्युगेन।
उत्तुङ्गभासा कनकाङ्गदेन मां लालितेयं ललिता धिनोति ॥ ५८ ॥

माल्यानुलेपने, यथा रससुधाकरे—(३७)
आलोलैरनुमीयते मधुकरैः केशेषु माल्यग्रहः कान्तिः कापि कपोलयोः प्रथयते ताम्बूलमन्तर्गतम्।
अङ्गानामनुभूयते परिमलैरालेपनप्रक्रिया वेषः कोऽपि विदग्ध एष सुदृशः सूते सुखं चक्षुषोः ॥ ५९ ॥

यथा वा—(३८) अनङ्गरागाय बभूव सद्यस्तवाङ्गरागोऽपि किमङ्गनासु।
उद्दामभाराय तथा किमासीद्दामापि दामोदर तावकीनम् ॥ ६० ॥

अथ संबन्धिनः—२३—लग्नाः संनिहिताश्चेति द्विधा संबन्धिनो मताः ॥ ६१ ॥

तत्र लग्नाः—
२४—वंशीशृङ्गीरवौ गीतं सौरभ्यं भूषणक्वणः। पदाङ्काद्या विपञ्च्यादिनिक्वाणाः शिल्पकौशलम्।
इत्यादयोऽत्र कथिता लग्नाः संबन्धिनो बुधैः ॥ ६२ ॥

तत्र वंशीरवो, दानकेलिकौमुद्याम्—(३२।६)
(३६) वेणोरेष कलस्वनस्तरुलताव्याजृम्भणे दोहदं संध्यागर्जभरः पिकद्विजकुहूस्वाध्यायपारायणे।
अभीरेन्दुमुखीस्मरानलशिखोत्सेके सलीलानिलो राधाधैर्यधराधरेन्द्रदमने दम्भोलिरुन्मीलति ॥ ६३ ॥

अनुवाद—श्रीललिता जी की भूषण-शोभा देखकर सुबल के प्रति श्रीकृष्ण बोले—मुक्तादि संशुद्धि-जनित अर्थात् अत्युज्ज्वल कान्तिमय हार, जिसने धारण कर रखा है, कपोलों पर डोलायमान दोनों कुण्डल तथा अति उत्कृष्ट प्रभाशील स्वर्ण के बाजुबन्दों द्वारा जो अलंकृत हो रही है, वह ललिता मेरी प्रीति विधान कर रही है ।।५८।।

अनुवाद—(माल्य-अनुलेपन) रससुधाकर में यथा—विशाखा जी द्वारा सुसज्जित श्रीराधा जी को देखकर श्रीकृष्ण ने अपने प्रियनर्म सखा उज्ज्वल से कहा—श्रीराधा ने केश कलापों में जो माला धारण कर रखी है उस पर महाचञ्चल भ्रमर संचरण कर रहे हैं, कपोलों की अनिर्वचनीय कान्ति ही उसके मुख में ताम्बूल की सूचना दे रही है, उसके अङ्गों की परिमल से ही यह ज्ञात हो रहा है कि कर्पूर-कस्तूरी द्वारा उसका अङ्गराग हुआ है—श्रीराधा का यह विदग्ध वेश मुझे अनिर्वचनीय सुख प्रदान कर रहा है ।।५९।।

अनुवाद—(श्रीकृष्ण का माल्यानुलेपन-उद्दीपनत्व) श्रीकृष्ण की अंगराग जनित शोभा का दर्शन कर ब्रज किशोरियों में वैवश्य का अनुभव कर वृन्दा ने नर्म-छल से कहा—हे दामोदर ! अब जो तुमने अङ्गों पर अङ्गराग किया है, वह क्या अङ्गनाओं के अनङ्गराग के (मदनावेश के) लिये किया है ? तुम ने यह पुष्पमाला भी क्या उनके निरर्गल भाव-विधान के लिये धारण कर रखी है ? ।।६०।।

अनुवाद—(सम्बन्धी) लग्ना और सन्निहित भेदसे सम्बन्धी दो प्रकार के हैं ।।६१।। यथा (लग्ना) वंशीरव एवं शृंगी रव, गीत, सौरभ्य, भूषण-शब्द, चरणचिह्न, वीणा-रव तथा शिल्प-कौशल-इत्यादिक को रसवेत्ताजन 'लग्ना' कहते हैं ।।६२।।

अनुवाद—(वंशी-रव) श्रीदानकेलिकौमुदी (३२) में यथा—श्रीगोवर्धन स्थित नीलमण्डप में श्री-कृष्ण के वेणु-रागामृत का दान कर श्रीराधादि आनन्दमग्न हो रही थीं, तब वृन्दा वेणु के गुण वर्णन करते हुए बोली—श्रीकृष्ण की वेणु की मधुर तान तरुलतादि को प्रफुल्लित-प्रस्फुटित करने में दोहद—

यथा वा रससुधाकरे—(४०)

माधवो मधुरमाधवीलतामण्डपे पटुरटन्मधुव्रते । संजगौ श्रवणचारु गोपिकामानमीनबडिशेन वेणुना ६४ ॥

२५—कृष्णवक्त्रेन्दुनिष्ठ्यूतं मुरलीनिनदामृतम् । उद्दीपनानां सर्वेषां मध्ये प्रवरमीर्यते ॥ ६५ ॥

शृङ्गीरवः—

कंसारातेः पिबतु मुरली तस्य सद्वंशजन्मा सा वक्त्रेन्दुं स्फुटमकुटिला पञ्चमोद्गारगुर्वी ।
आस्वाद्यामुं त्वमपि विषमाभङ्गुराङ्गारकाली तुङ्गं शृङ्गि ध्वनसि यदिदं तत्तु दुःखाकरोति ॥ ६६ ॥

अथ गीतम्—(४२) मानानलं मे शमयन्प्रसिद्धं गनामृतं वर्षति कृष्णमेघः ।
मा क्रुध्य वात्यासि सखि प्रसीद दूरे नयामुं निजविभ्रमेण ॥ ६७ ॥

आनन्द वर्द्धनकारी औषध विशेष है, कोकिल रूप ब्राह्मणों के स्वाध्याय रूप वेद-पाठ को स्थगित करने में सन्ध्या-गर्जन अर्थात् सन्ध्या के समय मेघ गर्जना के समान है। (किसी दिन यदि सन्ध्या के समय मेघ गरजे तो दूसरे दिन ब्राह्मण-बालक वेद पाठ नहीं करते हैं) व्रज सुन्दरियों की कामानल-शिखा को वर्द्धन करने में वह तान झञ्जावात के समान है और श्रीराधा के धैर्य्यरूप पर्वत को चूर-चूर करने में वज्र के समान प्रकाशित होती है ॥६३॥

अनुवाद—रससुधाकर में यथा—व्रजसुन्दरियों को आकर्षण के लिये श्रीकृष्ण के वेणु बजाने पर वृन्दा उल्लास पूर्वक कहती है—मधुकरों से अति गुंजारित मधुर माधवीलता मण्डप में श्रीकृष्ण ने जब वेणु द्वारा कर्णरसायन संगीत आरम्भ किया तो गोपिकाओं का मान रूप मीन मानो बड़िश (काँटे) से विद्ध हो गया—मान भंग हो गया ॥६४॥

अनुवाद—अब तक जितने उद्दीपन यहां तक वर्णन किये गये हैं, उन सब में श्रीकृष्णके मुखचन्द्र से निसृत मुरली-ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है ॥६५॥

अनुवाद—(शृङ्गीरव) यमुना तीर पर जब श्रीश्याम सुन्दर गौओं को एकत्रित करने के लिये शृङ्गी बजाते हैं, तो उसे सुनकर श्रीराधा जी अधिरूढ़ महाभाव दशावेश में शृङ्गी के प्रति ईर्ष्या करते हुए कहती हैं—हे शृंगि ! सद्वंश में उत्पन्न, अति सरल—सीधी एवं पञ्चमस्वर में आलाप करनेवाली श्रेष्ठ मुरली उन श्रीकृष्णचन्द्र का अधरामृत पान करे तो कुछ आश्चर्यजनक नहीं, किन्तु तुम तो अति विषय—टेढ़ी हो तथा कोयले की भांति काले रंग की हो, तुम्हें जब वे मुख पर धारण कर बजाते हैं तो सबको ही दुख होता है ॥६६॥

अनुवाद—(गीत) मृदुस्वभावा किसी एक गोपी का मान शमन के लिये श्रीकृष्ण उसके घर आये और मधुर स्वर में गान करने लगे। तब उसकी एक सखी कुपित हो उठी। तब मृदुस्वभावा सखी ने उसे कहा—हे सखि ! यह कृष्णरूप मेघ हमारी मान रूप अग्नि को बुझाने के लिये मानरूप जल—अमृत बरसा रहा है। तू मेरे प्रति क्रोध क्यों कर रही हो ? तू अपनी असाधारण वाक्यरूप आंधी से उसे दूर हटादे—यदि तुम में समर्थ है तो ॥६७॥

अनुवाद—(सौरभ्य) वृन्दावन में ललिता जी के साथ पुष्प चयन करते समय अनेक दूर से श्रीकृष्ण के अङ्गों की सौरभ आघ्राण करते हुए श्रीराधा जी बोलीं—हे सखि ! यह किसके अङ्गों की परिमल-तरंग आकर मेरी देह-लतायें पुलकावली रूप कलिकाओं को प्रस्फुटित कर रही हैं ? अहो !

सौरभ्यं—(४३) मिलति परिमलोर्मिः कस्य रोमश्रियासौ मम तनुलतिकायां कुर्वती कुड्मलानि।
सखि विदितामिहाग्रे माधवः प्रादुरासीद् भुवि सुरभितया यः ख्यातिमङ्गीकरोति ६८॥

यथा वा—(४४) मदयति हृदयं किमप्यकाण्डे मम यदिदं नवसौरभं वरीयः।
तदिह कुसुमसंहाय राधा शिखरितटे शिखरद्विजा विवेश॥ ६९॥

भूषणक्वणः—(४५) कलहंसनादमिह हंसगामिनो निशमय्य हंसदुहितुस्तटान्तरे।
तव नूपुरध्वनिधिया परिप्लवा कलसीं न वेद शिरसश्च्युतापि॥ ७०॥

यथा वा ललितमाधवे—(१।५१)—
(४६) मधुरिमलहरीभिः स्तम्भयत्यम्बरे या स्मरमदसरसानां सारसानां रुतानि।
इयमुदयति राधा किंकिणीझङ्कृतिर्मे हृदि परिणमयन्ती विक्रियाडम्बराणि॥ ७१॥

पदाङ्काद्या, यथा दानकेलिकौमुद्याम्—(१३।४)
(४७) पदततिभिरलंकृतोज्ज्वलेयं ध्वजकुलिशाङ्कुशपङ्कजाङ्किताभिः।
नखरलुठितङ्भला वनाली किमपि धिनोति धुनोति चान्तरं मे॥ ७२॥

समझ गयी, सामने माधव (बसन्त-श्रीकृष्ण) आ रहा है। इस जगत् में वही तो 'सुरभिशाली' नाम से विख्यात हैं॥६८॥

अनुवाद—(श्रीराधांग-सौरभ)—श्रीकृष्ण गोवर्धनतट में विहार करते हुए सखाओं से बोले—यह नवीन-श्रेष्ठ सौरभ आकर जो अचानक मेरे हृदय को आन्दोलित कर रही है, लगता है कि पुष्प-चयन करने के लिये माणिक्य-दन्ती (मुक्ताओं के समान दन्तपंक्ति वाली) श्रीराधाने गोवर्धन तट प्रान्तमें प्रवेश किया है॥६९॥

अनुवाद—(भूषण-शब्द) विशाखा जी ने श्रीश्यामसुन्दर के पास आकर कहा—आज हंस-गामिनी श्रीराधा यमुना तट पर हंसों की मधुर ध्वनि को आपके नूपुरों की ध्वनि जानकर ऐसी अस्थिर हो उठी कि उसे अपने सिर से कलशी के गिर जाने की भी सुध न रही॥७०॥

अनुवाद—(श्रीललित माधव (१।५१) में श्रीराधा-भूषण ध्वनि का उद्दीपनत्व) यथा—वृन्दावन से गोष्ठ में लौटते समय जब श्रीराधा जी सखियों सहित श्रीश्याम सुन्दर के दर्शन करने आयीं तो उनकी किंकिणी की ध्वनि सुनकर वे कहने लगे—माधुर्य-लहरियों से जिसने आकाशमें उड़ते हुए एवं कामोन्मत्त सारस पक्षियों की कलध्वनि को भी पराभूत कर दिया है, श्रीराधा की वह किंकिणी-झंकार मेरे हृदय में विकार पैदा कर रही है॥७१॥

अनुवाद—(पदाङ्कादि) श्रीदानकेलिकौमुदी (१३) में, यथा—सखियों सहित श्रीराधा जी सद्य घृत यज्ञ के लिये लेकर दानघाटी की ओर जा रही थीं कि श्रीकृष्ण के चरण-चिह्न दर्शन कर विस्मय-पूर्वक ललिताजी से बोलीं—यह वनराज ध्वज, वज्र, अंकुश एवं पद्मादि चरण-चिह्नों से अलंकृत होकर प्रकाशित हो रहा है, इसके पुष्पगुच्छ भी श्रीकृष्ण के द्वारा स्पृष्ट हुए हैं। इसलिये यह वन-श्रेणी मेरे मन को आनन्द प्रदान कर रही है और वनमाली-श्रीकृष्ण के दर्शन-अभाव में व्यथा भी दे रही है॥७२॥

अनुवाद—(वीणा-ध्वनि) श्रीललितमाधव (१।३६)में यथा—वनसे लौटते समय दर्शनहित समागता श्यामला के वीणा की ध्वनि सुनकर श्रीकृष्ण अपने सखा मधुमंगल से बोले—हे सखे! काम-क्रीड़ा

विपञ्चीनिक्वाणो, यथा ललितमाधवे—(१।३६)—(४८)
स्मरकेलिनाट्यनान्दीं शब्दब्रह्मश्रियं मुहुर्दुहती। वहति मुदं मम महतीमिह महिता श्यामलामहती ॥७३॥

शिल्पकौशलं, यथा—
(४९) वरकुसुमनिवेशप्रक्रियासौष्ठवेन प्रकटितहरिशिल्पा पट्टसूत्रोज्ज्वलश्रीः।
हृदि विनिहितकम्पा निर्मिमीते स्रगेषा निशितशरपरीतस्मारणीतूरशङ्काम् ॥ ७४॥

अथ संनिहिताः—
२६—निर्माल्याद्याः संनिहिता बर्हगुञ्जाद्रिधातवः। नैचिकीनां समुदयो लगुडीवेणुशृङ्गिकाः॥ ७५॥
२७—तत्प्रेष्ठदृष्टिर्गोधूलिर्वृन्दारण्यं तदाश्रिताः। गोवर्धनो रविसुता तथा रासस्थलादयः॥ ७६॥

तत्र निर्माल्याद्या यथा विदग्धमाधवे—(२।४२)—
(५०) अङ्गोत्तीर्णविलेपनं सखि! समाकृष्टिक्रियायां मणिर्मन्त्रो हन्त मुहुर्वशीकृतिविधौ नामास्य वंशीपतेः
निर्माल्यस्रगियं महौषधिरिह स्वान्तस्य संमोहने नासां कस्तिसृणां गृणाति परमाचिन्त्यां प्रभावावलीम् ॥

नाटक के मंगलाचरण रूप में बारंबार वेदपाठ शोभा को धारण करते हुए श्यामला के वीणा की अति उत्तम ध्वनि मेरे मन को अतिशय आनन्दित कर रही है ॥७३॥

अनुवाद—(शिल्प-कौशल) श्रीश्याममुन्दर ने अपने हाथों से एक माला बनाकर वृन्दाके द्वारा श्रीराधा जी को भिजवा दी। उसे प्राप्त कर भावाविष्ट श्रीराधा जी बोलीं—अति उत्तम पुष्पों के विन्यास की सुन्दर शैली को देख कर लगता है यह माला श्रीकृष्ण के शिल्प-कौशल को प्रकटित कर रही है। रेशमी सूत्र में गुंथी होने से इसकी शोभा और भी उज्ज्वल हो रही है। यह मेरे हृदय पें कम्प पैदा कर रही है, इसलिये यह मुझे तीक्ष्ण वाणों से भरे काम-तुणीर का भ्रम जगा रही है ॥७४॥

अनुवाद—(संनिहित—सम्वन्धित वस्तुएं) निर्माल्यादि, मोर पुच्छ, गुञ्जा, गिरिधातु (गेरु हरतालादि) श्रेष्ठ गौएं, लकुटि, वेणु, शृंगी, श्रीकृष्ण के प्रियजनों का दर्शन, गोधूलि, वृन्दावन-आश्रित—पक्षी-मृगकुञ्जादि, गोवर्धन, यमुना तथा रासस्थलि आदि को 'संनिहित' कहा जाता है ॥७५-७६॥

अनुवाद—(निर्माल्यादि) श्रीविदग्ध-माधव (२।४२) में यथा—पूर्वरागावस्था में श्रीकृष्ण के पास श्रीराधा जी ने विशाखा जी के हाथ कामलेख—पत्र भेजा। श्रीकृष्ण ने श्रीराधा जी के प्रति कृत्रिम (बनावटी) उदासीनता प्रकट की। श्रीविशाखा जी द्वारा इस संवाद को सत्य मान कर श्रीराधा जी मूर्च्छित हो गयीं। तब विशाखा जी ने श्रीकृष्णाङ्ग सम्पर्कित रंगण माला को श्रीराधा जी को सुंघाया, जिससे उन्हें चेतना आ गयी। श्रीराधा जी के द्वारा अपनी चेतना का कारण पूछने पर विशाखा जी ने श्रीकृष्ण की निर्माल्य उन्हें अर्पण करते हुए कहा—हे सखि! श्रीकृष्ण के अङ्गों से उतरा चन्दनादि रमणियों को आकर्षण करने में मणिस्वरूप है और वंशीधारी का नाम 'श्रीकृष्ण' उनको वश करने में वशीकरण मन्त्र के समान है तथा उनकी यह निर्माल्य—प्रसादी माला युवतियों के चित्त सम्मोहन हो जाने पर महौषधि तुल्य है। हे राधे! मणि, मंत्र और महौषधि—इन तीनों के परम अचिन्त्य प्रभाव को कौन नहीं जानता? ॥७७॥

अनुवाद—(श्रीललितमाधव (६।२६) में यथा—द्वारका के अन्तःपुर में सत्यभामा रूप में श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण के पीताम्बर दर्शन से क्षुब्धा देखकर रुक्मिणी रूपा चन्द्रावली विस्मित होकर

यथा वा ललितमाधवे – (६।२६)—(५१)
दुकूलेऽस्मिन्कार्तस्वरमहसि विस्तारितदृशो वपुः किं ते फुल्लैर्वहति तुलनां नीपकुसुमैः ?
त्रुटन्तीभिः किं वा स्फटिकमणिमालाभिरुपमां लभन्तेऽमो क्षामोदरि नयनयोस्तोयपृषताः ? ॥ ७८ ॥

अथ बर्हगुञ्जे यथा विदग्धमाधवे(२।१५) (५२)
यग्रे प्रेक्ष्य शिखण्डखण्डमचिरादुत्कम्पमालम्बते गुञ्जानां तु विलोकनान्मुहुरसौ सास्रं परिक्रोशति ।
नो जाने जनयन्नपूर्वनटनक्रीडाचमत्कारितां बालायाः किल चित्तभूमिमविशत्कोऽयं नवीनग्रहः ॥ ७९ ॥

अद्रिधातुर्यथा—(५३) आभीरवृन्दाधिपनन्दनस्य कलेवरालंकरणोज्ज्वलश्रीः ।
क्षिप्तेन्द्रगोपांशुरपांशुलोऽयं तनोति रागं मम धातुरागः ॥ ८० ॥

नैचिकीसमुदयो, यथा—(५४)
संध्याद्योते विलसति गताः प्रेक्ष्य गोष्ठप्रकोष्ठे हम्बारम्भोन्मुखरितमुखीर्नैचिकीस्त्वद्विहीनाः ।
अन्तश्चिन्ताचुलुकितमतिर्यादवेन्द्राद्य मन्दा कष्टं चन्द्रावलिरिह कथं प्राणबंधं करोति ॥ ८१ ॥

लगुड़ी, यथा—(५५) विष्टभ्य यां भुवि पुरः शिखरार्पितेन विन्यस्तचारुचिबुकेन करद्वयेन ।
दीव्यन्हरिर्गिरितटे मुदमादधान्नः सा हन्त यष्टिरधुना हृदयं पिनष्टि ॥ ८२ ॥

नववृन्दा को भेज कर उस क्षोभ का कारण पूछती है—हे कृशोदरि ! स्वर्णवर्ण इस पीताम्बर को देखकर तुम्हारे नेत्र विस्फारित हो उठे हैं, प्रफुल्लित कदम्ब-कुसुम की भांति तुम्हारे शरीर पर पुलकावली छा गयी है, तथा टूटी हुई स्फटिक मणिमाला के दानों की भांति तुम्हारे नेत्रों से अश्रुविन्दु बिखरे जा रहे हैं, ऐसा क्यों ? ।।७८।।

अनुवाद—(मोरपुच्छ एवं गुञ्जा) श्रीविदग्ध-माधव (२।१५) में यथा—पूर्वराग-दशा में श्री-कृष्ण-मिलन जनित उन्माद-चेष्टा देखकर भूतावेश की शंका करते हुए मुखरा (श्रीराधा की नानी) पौर्णमासी के प्रति दुखित होकर कहती है—यह राधा सामने मोरपुच्छ खण्ड को देखते ही बहुत काँपने लग जाती है, गुञ्जा माला को देखकर बार-बार अश्रुप्रवाहित करते हुए फूट-फूट कर रोने लगती है। किस नये-ग्रह ने इस बालिका के चित्त में प्रवेश कर लिया है, उसे मैं नहीं जान पा रही हूँ ! राधा की चेष्टाओं द्वारा ही उस नवीन ग्रह का अनुमान हो रहा है। क्योंकि यह हाथ-पांव फेंकते हुए ऐसी अदृष्ट पूर्व (पहले कभी न देखी) नृत्य-लीला करती है कि सबके चित्त चमत्कृत हो उठते हैं ।।७९।।

अनुवाद—(पर्वत धातु आदि) विशाखा जी के साथ गोवर्धन तट पर श्रीराधा जी पुष्पचयन करते हुए गिरि-धातु देख कर भावाविष्ट होकर कहती हैं—व्रजेन्द्रनन्दन के श्रीअङ्गों पर भूषणोचित सौन्दर्यधारी तथा वर्षाकालीन लाल-रंग के इन्द्रगोप कीट की कान्ति को भी तिरस्कृत करने वाली यह उज्ज्वल धातु राग श्रीकृष्ण में मेरी आसक्ति उत्पन्न कर रहा है ।।८०।।

अनुवाद—(गो-समूह) श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर किसी पथिक द्वारा पद्मा ने चन्द्रावली की विरह-कथा उन्हें इस प्रकार कहला भेजी—हे यादवेन्द्र ! सन्ध्या समय वन से गोष्ठ में आने पर गौएं आप को यहां न देखकर 'हम्बा-हम्बा' शब्द निरन्तर करती हैं, हाय ! आपके विरह में फिर व्याकुला चिन्तामग्न लुप्तबुद्धि दुर्भागिनी चन्द्रावली इस व्रज में कैसे जीवन धारण करे ? ।।८१।।

अनुवाद—(लकुटि) श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद श्रीकृष्ण की लकुटी को देखकर एक विरह-कातरा व्रजगोपी विलाप करते हुए कहती है—अहो ! श्रीकृष्ण खेलते-खेलते जिस लकुटी को पृथ्वी

वेणुर्यथा—
(५६) हृदि न्यस्ता वंशी त्वदधरसुधाभागिति मया दुरन्तं विश्लेषज्वरगरलमस्याः शमयितुम् ।
वितेने सा तूर्णं शतगुणमिदं यादवपते विरक्तो यत्रेशस्तमिह नहि वा कः प्रहरति ।। ८३ ।।

शृङ्गिका, यथा—
(५७) वलितं विलोचनाग्रे शबलं धूलिभिरिदं बलावरज । बलवत्कुवलयनयनास्तव गवलं कवलयत्यद्य ८४

तत्प्रेष्ठदृष्टिर्यथा—(५८) सखि मृगमदलेखया विशाखा हृदि मकरीरपि राधिका लिखन्ती ।
सुबलमवकलय्य घूर्णिताग्रे पुलकवती वनमालिनं लिलेख ।। ८५ ।।

यथा वा ललितमाधवे—(६।४३)—
(५९) निखिलसुहृदामर्थारम्भे विलम्बितचेतसो मसृणितशिखो यः प्राप्तोऽभून्मनाङ् मृदुतामिव ।
स खलु ललितासान्द्रस्नेहप्रसङ्गघनीभवन् पुनरपि बलादिन्धे राधावियोगमयः शिखी ।। ८६ ।।

पर टेक कर उसके ऊपर के सिरे पर अपने दोनों हाथ विन्यस्त कर देते थे, फिर उन पर अपनी मनोहर चिबुक रखकर इस गोवर्धन तट पर विराजमान हो हमें आनन्द प्रदान करते थे, वह लकुटी आज हृदय को पीस रही है ।।८२।।

अनुवाद—(वेणु)—श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद श्रीराधा जी ने श्रीकृष्ण की वेणु का स्पर्श किया तब उसकी जो विरह-कातर दशा हो उठी, उसे एक पथिक के द्वारा ललिता जी ने श्रीकृष्ण को कहला भेजा—हे मथुरानाथ ! श्रीराधा के दुरन्त विरहज्वर की विष को नाश करने के लिये तुम्हारे अधरामृत को पान करने वाली वंशीको उसके हृदय पर रखा, किन्तु हाय ! वह विरह ज्वर कम तो क्या हुआ, सौगुणा अधिक वर्द्धित हो उठा, जिसके प्रति पति विरक्त हो जाये, उस पर कौन नहीं प्रहार करता ? ।।८४।।

अनुवाद—(शृङ्गिका) व्रज से लौट कर व्रजगोपियों की वार्त्ता श्रीउद्धव से इस प्रकार निवेदन की—हे कृष्ण ! तुम्हारी धूलि-धूसरित शृंगी कमलनयनी व्रजगोपियों के नेत्रों में स्फुरित होकर—चुभती है, उन्हें अब भी अतिशय दुख दे रही है ।।८४।।

अनुवाद—(कृष्णप्रियजन-दर्शन) श्रीराधा जी एकदिन विशाखा का पत्र-भङ्गी द्वारा शृंगार कर रही थीं, कि सामने उन्होंने सुबल को देखा, उसे देखते ही उनकी जो अनिर्वचनीय विलक्षण दशा हुई, उसे शशिमुखी अपनी सखी इन्दुलेखा को कौतूहल पूर्वक सुना रही है—हे सखि ! विशाखा के वक्षस्थल पर आज श्रीराधा कस्तूरी से पत्र-भङ्गी रचना कर रही थी, किन्तु सुबल को सामने देखते ही उसकी देह पुलकित हो उठी और नेत्रों में घूर्णा अ. जाने से उसने कृष्ण-मूर्ति ही उसके वक्षस्थल पर अंकित कर दी ।।८५।।

अनुवाद—श्रीललित माधव (६।४३) में ललिता को देखकर श्रीकृष्ण का उद्दीपन इस प्रकार वर्णित है—जाम्बवान के घर में ललिता को देखकर श्रीकृष्ण श्रीराधा-विरह से व्याकुल हो उठे एवं द्वारका में लौट कर मधुमंगल से अश्रुपूर्ण नेत्रों से विलाप करते हुए बोले—श्रीवसुदेव एवं उग्रसेनादि के प्रयोजन-साधक के लिये—जरासन्ध के उपद्रव को नाश करने का मेरे चित्त में आवेश था, उससे ही राधा विरहाग्नि की लौ मानों कुछ शिथिल हो गयी थी किन्तु हे सखे ! अब फिर ललिता के स्नेह (तैल) को प्रकृष्ट संग पाकर वह अग्निशिखा फिर तीव्र हो उठी है । अब उस अग्नि के प्रशमन का कोई उपाय या प्रतिकार भी नहीं है, बल्कि उसका ताप और अधिक जलाये जा रहा है ।।८६।।

गोधूलिर्यथा उद्धवसंदेशे—(३८)—

(९०) आ प्रत्यूषादपि सुमनसां वीथिभिर्ग्रथ्यमाना धत्ते नासौ सखि कथमहो वैजयन्ती समाप्तिम् ।
धिन्वन् गोपीनयनशिखिनो व्योमकक्षां जगाहे सोऽयं मुग्धे निविडधवलाधूलिचक्राम्बुवाहः ।। ८७ ।।

वृन्दारण्यं, यथा तत्रैव—(८३)

(९१) आशापाशैः सखि नवनवैः कुर्वती प्राणबन्धं जात्या भीरुः कति पुनरहं वासराणि क्षयिष्ये ।
एते वृन्दावनविटपिनः स्मारयन्तो विलासानुत्फुल्लास्तान्मम किल बलान्मर्म निर्मूलयन्ति ।।८८ ।।

तदाश्रिताः—

२८—तदाश्रिताः खगा भृङ्गाः मृगाः कुञ्जा लतास्तथा । तुलसी कर्णिकारश्च कदम्बाद्याश्च कीर्तिताः ।।

तत्र खगा यथा ललितमाधवे—(१०।१६)—(९२)

कस्तान्पश्यन्भवदुपहृतस्निग्धपिच्छावतंसान् कंसाराते न खलु शिखिनः खिद्यते गोष्ठवासी ।
उन्मीलन्तं नवजलधरं नीलमद्यापि मत्वा ये त्वामन्तर्मुदितमयस्तन्वते ताण्डवानि ।। ९० ।।

अनुवाद—(गो-धूलि) श्रीउद्धव सन्देश (३८) में यथा—श्रीकृष्ण गोचारण के लिये वृन्दावन गये एवं एक व्रजदेवी अपने पूर्ण शिल्प-कौशल से प्रातः से अपराह्न तक उनके लिये वैजयन्ती के बनाने में आविष्ट चित्त हो रही थी । उसे समय की कुछ सुध-बुध न थी, तो उसकी-एक प्रिय सखी ने बहुत दूर से गोधूलि को देखकर श्रीकृष्ण के आगमन को जानते हुए उसे तिरस्कार करते हुए कहा —हे सखि ! प्रातः काल से पुष्पों द्वारा वैजयन्ती बनाना तुमने आरम्भ किया, किन्तु अब तक तू उसे पूरा बना नहीं पायी है, हे मूर्खे ! तू माला के ग्रन्थन-आवेश में समय-अतिक्रम को तो नहीं जान पायी है, किन्तु यह देख, गौओं की चरण धूलि का मेघ गोपियों के नेत्ररूपी मयूर-समूह को सन्तुष्ट करता हुआ आकाशमण्डल में छा गया है ।।८७।।

अनुवाद—(वृन्दावन) श्रीउद्धव सन्देश (८३) में यथा—विरह विधुरा श्रीराधा जी को जब ललिता जी सान्त्वना दे रही थीं, तो वह बोलीं—हे ललिते ! मैं तो स्वभाव से भीरु-कोमल हूँ, आज-कल करते-करते नित्य नवीन आशा पाशों से प्राणों को बान्ध कर मैं कितने दिन काट पाऊंगी ? वृन्दावन के ये उत्फुल्ल-वृक्ष मुझे पूर्वानुभूत विलासों का स्मरण कराकर बरवश मेरे हृदय के अन्तस्तल को निर्मूल कर रहे हैं ।।८८।।

अनुवाद—(वृन्दावनाश्रित खग-मृगादि) पक्षी, भ्रमर, मृग, कुञ्ज, लता, तुलसी, कर्णिकार (वन-चम्पक-वृक्ष अथवा पुष्प) तथा कदम्ब आदि वृन्दावनाश्रित कहे गये हैं ।।८९।।

अनुवाद—(खग) श्रीललित माधव (१०।१६) में यथा—श्रीव्रजराजादि के साथ द्वारका में आकर पौर्णमासीने श्रीकृष्णसे कहा—हे कंसारि ! वृन्दावनके जो मोरगण अपने स्निग्ध-पुच्छ तुम्हारे मुकुटके लिये आपको उपहार रूप में देते थे, वे अब आकाश में छाये हुए नव मेघों को देखकर आनन्दित हो नृत्य करते हैं, उनको देखकर भला कौन ब्रजवासी है जो दुखित न होता होगा ? । ९०।।

अनुवाद—(भ्रमर) माथुर-विरह कातरा एक व्रजगोपी भ्रमरों की गुञ्जार को सुनकर विलाप करती हुई बोली—इस वृन्दावन में जो भ्रमरगण पहले वीणा के पञ्चमस्वर से भी अधिक मनोहर ध्वनि में गुंजार करते थे, वे अब प्राणनाथ के विरह में वज्रपात की कठोर ध्वनि से भी विकराल ध्वनि करते

भृङ्गा, यथा—(६३) वृन्दावने श्रवसि ये निनदं विपञ्चीनिष्ठ्यूतपञ्चममनोहरमाहरन्तः ।
ये षट्पदाः कुलिशघट्टनघोरमेतं दैवे विरोधिनि भवन्ति न के विपक्षाः ।। ६१ ।।

मृगा, यथा तत्रैव—(३ ३५)—
(६४) हरि हरि भवतीभिः स्वान्तहारी हरिण्यो हरिरिह किमपाङ्गातिथ्यसङ्गी व्यधायि ।
यदनुरणितवंशीकाकलीभिर्मुखेभ्यः सुखतृणकवला वः सामिलीढाः स्खलन्ति ।। ६२ ।।

कुञ्जाः, यथा उद्धवसंदेशे—(१२५)—
(६५) लब्धान्दोलः प्रणयरभसादेष ताम्रोष्ठि नम्रः प्रम्लायन्तीं किमपि भवतीं याचते नन्दसूनुः ।
प्रेमोद्दामप्रमदपदवीसाक्षिणी शैलकक्षे द्रष्टव्या ते कथमपि न सा माधवीकुञ्जलेखा । ६३ ।।

लतादिर्यथा—
(६६) तुलसि ! विलससि त्वं मल्लि जातासि फुल्ला स्थलकमलिनि भृङ्गैः संगताङ्गी विभासि ।
कथयत बत सख्यः क्षिप्रमस्मासु कस्मिन् वसति कपटकन्दः कन्दरे नन्दसूनुः ।। ६४ ।।

कर्णिकारो, यथा ललितमाधवे—(७।१५)—
(६७) रासात्तिरोहिततनुः सखि यस्य पुष्पैश्चूडां चकार चिकुरे मम पिच्छचूडः ।
कूले कलिन्ददुहितुर्धृतकन्दलोऽयं मां दन्दहीति स मुहुर्नवकर्णिकारः । ६५ ।।
कदम्बो, यथा—(६८) सखि रोपितो द्विपत्त्रः शतपत्त्राक्षेण यो व्रजद्वारि ।
सोऽयं कदम्बडिम्भः फुल्लो वल्लभवधूस्तुदति ।। ६६ ।।

हैं, हाय ! दैव के प्रतिकूल होने पर कौन नहीं शत्रु बन जाता ? ।।६१।।

अनुवाद—(मृगगण) श्रीललितमाधव (३।३५) में, यथा—माथुर-विरह-कातरा श्रीराधा जी दिव्योन्माद की उद्घूर्णावस्था में हरिणियों से श्रीकृष्णका समाचार पूछती हैं—हरि ! हरि !! हे हरिणि गण—जिनकी वंशी ध्वनि की मनोहर तान में तुम्हारे मुख से सुखद नवीन तृण अर्द्धचर्वित होकर भूमि पर गिर जाया करते थे, क्या तुमने मनोहारी उस श्रीहरि को नेत्रों से देखा है ? ।।६२।।

अनुवाद—(कुञ्ज)—श्रीउद्धव सन्देश (१२५) में, यथा—श्रीकृष्ण ने श्रीराधा जी को सन्देश भेजा—हे अरुणाधरे ! यह नन्द-नन्दन (मैं) आपको प्रेम पूर्वक अतिशय अधीर होकर नम्रभाव से विरह व्याकुला आप को एक प्रार्थना करता है—कि आप कभी भी गोवर्धन प्रान्त में जाकर प्रेमराशि आनन्द परम्परा की साक्षी उस माधवी कुञ्ज का दर्शन मत करना ।।६३।।

अनुवाद—(लतादि) माथुर-विरह में दिव्योन्मादिनी श्रीराधा जो तुलसी आदि को अपनी सखी मान कर श्रीकृष्ण की वार्त्ता पूछती हैं—हे तुलसि ! तुम को आनन्दित देखती हूँ और हे मल्लिका ! तुम तो प्रफुल्लित हो रही हो। हे स्थलकमलिनि ! तुम तो भंवरोंके साथ लीला कर रही हो, हे सखिगण ! कपटी-शिरोमणि श्रीकृष्ण किस गुहा में जा छिपे हैं ? मुझे शीघ्र वताओ ।।६४।।

अनुवाद—(कर्णिका) श्रीललित माधव (७।१५) में यथा—नव वृन्दावन में पूर्वानुभूत कर्णिका का वृक्ष देखकर व्याकुल-चित्त श्रीराधा जी पूर्व-विलास का वर्णन कर विलाप करती हैं—हे सखि ! मोर पुच्छधारी ने रास स्थलि से अन्तर्धान होकर जिसके पुष्पों से मेरी वेणी गूंथी थी, वह कर्णिका का वृक्ष अब यमुनातट पर नवीन अंकुर धारण करते हुए मुझ को बार-बार सन्तप्त कर रहा है ।।६५।।

अनुवाद—(कदम्ब) माथुर-विरहिणी एक ब्रजगोपी अपनी सखी से कहती है—हे सखि ! कमल लोचन ने ब्रज के द्वार पर दो पत्र वाले जिस कदम्ब पौधे का रोपण किया था, वह अब बढ़कर प्रस्फुटित वृक्ष होकर ब्रजगोपियों को पीड़ा दे रहा है ।।६६।।

गोवर्धनो, यथा ललितमाधवे—(३।४२)

(६९) गोवर्धन त्वमिह गोकुलसज्ञिभूमौ तुङ्गैः शिरोभिरभिपत्य नभो विभासि।
तेनावलोक्य हरितः परितो वदाशु कुत्राद्य बल्लवमणिः खलु खेलतीति ॥ ९७ ॥

रविसुता, यथा पद्यावल्याम्—(३६८)—(७०)
मथुरापथिक ! मुरारेरुपगेयं द्वारि बल्लवीवचनम्। पुनरपि यमुनासलिले कालियगरलानलो ज्वलति ॥

रासस्थली, यथा—(७१)
गोष्ठादप्यवलोक्य मानशिखरोच्छ्रायश्रिया दूरतः सद्यः खेदिनि चित्तचत्वरतटे वंशीवटेनार्पिता।
कुर्वाणा हृतवृत्तिमिन्द्रियगणं सा यादवेन्द्राद्य ते कष्टं रासविहारभूर्विहरति प्राणैः कुरङ्गीदृशाम् ॥ ९९ ॥

अथ तटस्थाः—
२९—तटस्थाश्चन्द्रिका मेघविद्युतो माधवस्तथा। शरत्पूर्णसुधांशुश्च गन्धवाहखगादयः ॥ १०० ॥

तत्र चन्द्रिका, यथा रससुधाकरे—(७२) दुरासदे चन्द्रिकया सखीगणैर्लतालिकुञ्जे ललिता निगूहिता।
चकोरचञ्चुच्युतकौमुदीकणं कुतोऽपि दृष्ट्वा भजति स्म मूर्च्छनाम् ॥ १०१ ॥

अनुवाद—(गोवर्धन) श्रीललितमाधव (३।४२) में, यथा—विरहिणी श्रीराधा जी गोवर्धन से पूछ रही हैं—हे गोवर्धन ! तुम इस गोकुल-भूमि में अवस्थान करते हुए अति ऊंचे शिखरों द्वारा आकाश का चुम्बन कर शोभित हो रहे हो जरा तुम चारों ओर देखकर मुझे बताओ तो कि गोपीजन बल्लभ श्रीकृष्ण इस समय कहां खेल रहे हैं ? ॥९७॥

अनुवाद—(यमुना) श्रीपद्यावली (३।६८) में, यथा—विरहिणी श्रीराधा जी कृष्णकान्ति धारिणी यमुना को देखकर एक दिन जब अत्यन्त व्याकुल हो उठीं तो ललिता जी ने एक पथिक को कहा—हे मथुरा जाने वाले पथिक ! तुम श्रीकृष्णके द्वार पर जाकर हम गोपियोंके यही वचन सुना देना कि यमुना जल में फिर कालियनाग की विषज्वाला भड़क उठी है ॥९८॥

अनुवाद—(रासस्थलि)—श्रीउद्धव ने व्रज से लौट जा कर श्रीकृष्ण से कहा—हे यादवेन्द्र ! गोष्ठ से दूर से ही दीखने वाले अपनी शिखर शोभायुक्त वंशीवट ने तुम्हारे विरह ताप से सन्तप्त व्रजरमणियों के चित्त-आंगन में रासस्थलि अर्पण कर दी है। हाय ! इस समय तुम्हारी वह रास क्रीड़ा स्थलि ही मृगनयनी व्रजगोपियों के प्राणों के साथ क्रीड़ा कर रही है एवं उनके मन-इन्द्रियादि चेष्टारहित हो रहे हैं ॥९९॥

अनुवाद—(तटस्थ) चन्द्रिका (चान्दनी), मेघ, विद्युत्, बसन्त, शरत्, पूर्णचन्द्र, वायु और पक्षी-आदिक को 'तटस्थ'-उद्दीपन कहते हैं ॥१००॥

अनुवाद—(चन्द्रिका) श्रीरससुधाकर में, यथा—विप्रलब्धा दशा-प्राप्त ललिता जी चन्द्रिका की किरण देखते ही मोहग्रस्त हो गयी वृन्दा उसकी अवस्था को दुखपूर्वक पौर्णमासी से कहती है—सखियों ने ललिता जी को ऐसी लता निकुञ्ज में छिपा कर रखा, जहाँ चान्दनी का प्रवेश न था, किन्तु अचानक चकोर की चोंच से लता के किंचित् हट जाने पर चन्द्रिका की किरण को देखते ही वह मूर्च्छित हो गयीं ॥१०१॥

अनुवाद—(मेघ) रस सुधाकर में यथा—गोवर्धन के ऊपर इन्द्र धनुष एवं विद्युत् से चमकते हुए मेघ को मोरपुच्छ पीताम्बर धारी श्रीकृष्ण जानकर एक व्रजगोपी उधर भाग उठी। यह देखकर उसकी

मेघो, यथा रससुधाकरे—(७३)
वासः पीतं कुतुकिनि कुतः कुत्र बर्हं मदान्धे कंसारिर्वा क्व नु सखि मुधा संभ्रमान्मा प्रयाहि।
पश्योत्तुङ्गे क्षणरुचिघटालिङ्गितः शैलभृङ्गे नव्यः शाक्रं दधदुदयते कार्मुकं वार्मुगेषः॥ १०२॥
विद्युत्, यथा रससुधाकरे—(७४) वर्षासु तासु क्षणरुक्प्रकाशाद्गोपाङ्गना माधवमालिलिङ्ग।
विद्युच्च सा वीक्ष्य तदङ्गशोभां ह्रीणेव तूर्णं जलदं जगाहे॥ १०३॥

वसन्तो, यथा—(७५)
ऋतुहतकः सखि ! भुवने किमवतितीर्षुर्बभूवाद्य। मन्दादरमलिवृन्दं वृन्दावनकुन्दसंगमे यदभूत्॥ १०४॥

शरद्यथा—(७६)
कलहंसोज्ज्वलजल्पा प्रकटितवृन्दावनोरुमाधुर्या। धृतिमपहर्तुं सखि मे दूतीव हरेः शरन्मिलिता १०५॥
पूर्णसुधांशुर्यथा—(७७) राकासुधांशुरभवन्न तमांसि हर्तुं वृन्दाटवीजठरगाण्यधुनापि शक्तः।
राकासुधांशुमुखि तानि तवोन्नतानि हृत्कन्दरान्तरचराणि कथं जहार॥ १०६॥

एक सखी ने कहा—हे कौतुकिनि सखि ! कहां है पीताम्बर और कहां देखा है तुमने मोरपुच्छ ? हे मदान्धे ! श्रीकृष्ण को तू कहां देख कर वृथा भाग रही है ? तुम्हें नहीं दीख रहा है कि अति ऊंचे गोवर्धन के शिखर पर विद्युत् घटायुक्त इन्द्र धनुधारी नवीन मेघ छा रहा है ? ॥१०२॥

अनुवाद—(विद्युत्) यथा रस सुधाकर में—वर्षाकाल में विद्युत् के प्रकाशको देखकर क्रीड़ापरायणा एक गोपी ने श्रीकृष्ण को आलिगन कर लिया। श्यामाङ्ग एवं गौरांग मिलित सौन्दर्यावधि देहकान्ति के प्रकाश को देखकर मानो विद्युत् भी लज्जित हो गयी और झट उसने मेघ के अंक में अपने को छिपा लिया ॥१०३॥

अनुवाद—(वसन्त) वसन्त ऋतु में भ्रमरों की चेष्टाएं देखकर माथुर-विरहिणी एक गोपी अपनी सखी के प्रति बोली—हे सखि ! क्या अब वही सुखनाशक ऋतु (बसन्त) जगत् में अवतरित होने की इच्छा कर रहा है ? क्योंकि वृन्दावन के कुन्दपुष्पों द्वारा मधुकर समूह अनावृत हो रहा है ॥१०४॥

अनुवाद—(शरत्) शरत् ऋतु का आगमन जानकर उसके विक्रम से भयभीत होकर एक ब्रजगोपी अपनी सखी के प्रति बोली—हे सखि ! हमारे धैर्य्य को हरण करने के लिये यह शरत् क्या माधव की दूती बनकर आयी है ? वृन्दावन के महामाधुर्य को प्रकाशित करते हुए हसों की मधुर ध्वनि के बहाने यह श्रीकृष्ण के प्रेमगुण कथन कर रही है ॥१०५॥

अनुवाद—किसी मानिनी व्रजगोपी का मान सखियों की अनुनय-विनय करने पर भी नहीं छूटा। पूर्णचन्द्र के उदित होते ही उसका मान अपने आप शिथिल पड़ गया। फिर उसकी प्रियसखी ने परिहास करते हुए विस्मय पूर्वक पूछा—हे पूर्णचन्द्र मुखि ! रात्रि के आरम्भ में पूर्णचन्द्र उदित होकर अभी तो वृन्दावन के भीतर वर्ती अन्धकार को भली भांति हरण ही नहीं कर पाया है, किन्तु उसने तुम्हारी उसने हृदय-कन्दरा में छाये अतिगाढ़ मानरूप अन्धकार को कैसे नाश कर दिया है ? ॥१०६॥

अनुवाद—(गन्धवाह)—श्रीगीत गोविन्द (७।७) में यथा—कलहान्तरित-दशा-क्रान्त होकर असह्य विकलता में श्रीराधा जी मलय पवन की निन्दा, किन्तु विनीत प्रार्थना रूप में करती हैं—हे चन्दनवायु ! (सुशीतल-सुगन्धित !) हे दक्षिण ! (अति स्वच्छ-सरल), हे जगत् प्राण ! (जगत्-जीवों के

गन्धवाहो, यथा श्रीगीतगोविन्दे—(७७)—

(७८) मनोभवानन्दन चन्दनानिल प्रसीद रे दक्षिण मुञ्च वामताम् ।
क्षणं जगत्प्राण विधाय माधवं पुरो मम प्राणहरो भविष्यसि ॥ १०७ ॥

खगा, यथा—(७९) मानेन सार्धं पशुपालसुभ्रुवां मरालमाला चलिता घनागमे ।
कदम्बकुञ्जे विजिहीर्षया समं समागता नागरि चातकावली ॥ १०८ ॥

३०—आदिशब्दात्सखीस्नेह आत्मन्युद्दीपनो वरः ॥ १०९ ॥

यथा—(८०) हरिमवेक्ष्य पुरो गुरुतो भिया मुहुरभून्मुकुलन्नवविभ्रमः ।
ललितया विवृते निजसौहृदे चलदृगञ्चलमाधित राधि...॥ ११० ॥

इति-उद्दीपनविभाव-प्रकरणम् ॥

अथ अनुभाव-प्रकरणम्

१—अनुभावास्त्वलंकारास्तथैवोद्भास्वराभिधाः । वाचिकाश्चेति विद्वद्भिस्त्रिधामी परिकीर्तिताः ॥ १ ॥

जीवातु प्रेमास्पद !) मुझ पर प्रसन्न हो, कुटिलता का त्याग करो। (यदि तुम पूछो कि मुझ में कुटिलता कहां ? तो सुनो—) तुम मनोभवानन्दन—कामसम्वर्द्धन कारी हो। (मुझ वियोगिनी में काम सम्वर्धन तो मेरे प्राणों की हानि करेगा ? यदि कहो कि कामानन्दनत्व तो मेरा स्वाभाविक धर्म है, तो सुनो। अब तो तुम मुझ पर प्रसन्न होवो थोड़े समय के लिये माधव को मेरे पास रहने दो, फिर मेरे प्राण हरण कर लेना ॥१०७॥

अनुवाद—(खगादि) वर्षाकाल के प्रारम्भ में श्रीराधा जी अपनी प्रिय सखी के प्रति कहती हैं—हे नागरि ! वर्षा के समय में गोप सुन्दरियों के मान के साथ-साथ राजहंस भी भाग गये हैं, किन्तु कदम्ब कुञ्ज में विहार-वासना के साथ चातक श्रेणी आकर उपस्थित हो गयी है ॥१०८॥

अनुवाद—मूलकारिका में आदि-शब्द से अपने प्रति सखियों के स्नेह को भी श्रेष्ठ उद्दीपन समझना चाहिये ॥१०९॥ यथा—व्रजवीथी में कहीं श्रीकृष्ण को देखकर आनन्दित होते हुए भी श्रीराधा जी गुरुजनों के भय से उनके निकट न जा पायीं। किन्तु प्रियसखी ललिता जी के सौहार्दामृत का अनुभव कर निःसंकोच भाव से वह श्रीकृष्ण को देखती रहीं। यह बात नान्दीमुखी वृन्दा के प्रति कह रही हैं—श्रीकृष्ण को देखकर श्रीराधा जी गुरुजन के भय से बार-बार अपने नवीन-विलास को संकुचित कर रही हैं। ललिता जी की सहानुभूति प्रकाशित करने पर आश्वस्त होकर वह श्रीकृष्ण के प्रति सहज चञ्चल दृष्टि से देख रही हैं ॥११०॥

अनुभाव-प्रकरण

अनुवाद—अलंकार, उद्भास्वर तथा वाचिक—ये तीन प्रकार के अनुभाव रसवेत्ता विद्वानों ने वर्णन किये हैं ॥१॥

तत्र अलंकाराः—
२—यौवने सत्त्वजास्तासामलंकारास्तु विंशतिः। उदयन्त्यद्भुताः कान्ते सर्वथाभिनिवेशतः ।। २ ।।
३—भावो हावश्च हेला च प्रोक्तास्तत्र त्रयोऽङ्गजाः ।। ३ ।।
४—शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता। औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः ।। ४ ।।
५—लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिंचितम् मोट्टायितं कुट्टमितं विब्बोको ललितं तथा।
विकृतं चेति विज्ञेया दश तासां स्वभावजाः ।। ५ ।।

तत्र भावः—
६—प्रादुर्भावं व्रजत्येव रत्याख्ये भाव उज्ज्वले। निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया ।। ६ ।।
तथा ह्युक्तम्—
(१) चित्तस्याविकृतिः सत्त्वं विकृतेः कारणे सति। तत्राद्या विक्रिया भावो बीजस्यादिविकारवत् ।। ७ ।।

अनुवाद—यौवन में व्रजरमणियों के सत्वजात अर्थात् श्रीकृष्ण सम्बन्धी भावों के द्वारा आक्रान्त चित्त में पैदा होने वाले अलंकार (अनुभाव) बीस प्रकार के हैं। कान्त श्रीकृष्ण में सर्वप्रकार के अभिनिवेश के कारण वे सब अलंकार प्रकाशित होते रहते हैं ।।२।। उन बीसों में भाव, हाव तथा हेला—ये तीनों अङ्गज कहे जाते हैं। (वस्तुतः सत्त्वज होते हुए भी नेत्रान्त, भ्रु-ग्रीवा आदि अङ्गों में प्रकाशित होने से इन्हें अङ्गज कहा जाता है) ।।३।। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, उदारता, एवं धैर्य—ये सातों अयत्नज हैं अर्थात् वेश-भूषादि के अभाव में भी ये अपने-आप प्रकाशित होते हैं ।।४।। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, विब्बोक, ललित एवं विकृत ये दश स्वभावज हैं अर्थात् स्वाभाविक उत्पन्न होते हैं ।।५।।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—श्रील विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्य दर्पण में इनके अतिरिक्त आठ अलंकारों का वर्णन किया है, जो इस प्रकार हैं—मद, तपन, मौग्ध्य (मुग्धता), विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित तथा केलि। श्रीकविकर्णपूर ने भी अपने अलंकार कौस्तुभ में २८ अलंकार वर्णन किये हैं। मूल कारिका (सं० २६) में श्रीरूप गोस्वामी ने उक्त आठ में से मौग्ध्य और चकित को स्वीकार किया है, बाकी के ६ को स्वीकार न करने का कारण भी स्पष्ट किया है, द्रष्टव्य है।

अनुवाद—(भाव)—उज्ज्वलरस की सिद्धि के लिये रतिनामक अर्थात् मधुर रति या कान्ता-रति नामक भाव के प्रादुर्भूत होने पर निर्विकारात्मक चित्त में जो प्रथम विक्रिया उत्पन्न होती है, उसे 'भाव' कहते हैं ।।६।।

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—इस श्लोक में दो बार 'भाव' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रथमार्द्ध में जो भाव शब्द है वह साधारणतः रतिवाचक या प्रेम-वाचक है अथवा व्रजरमणियों के चित्त में रहने वाले पारिभाषिक भाव या महाभाव का वाचक है। और द्वितीयार्द्ध में जो 'भाव'-शब्द है, वह है भाव-नामक अलंकार-वाचक। पहला 'भाव' स्थायी भाव है और दूसरा भाव अनुभाव है।

श्रीजीवगोस्वामी ने कहा—व्रजसुन्दरिवृन्द श्रीकृष्ण की नित्यकान्ता हैं, अतः उनमें मधुरा रति नित्य ही वर्त्तमान है। प्रकट लीला में जन्म लीला के अनुरोध से उनके शरीर में बाल्य-पौगण्डादि दीखती है, फिर भी बाल्य-पौगण्डादि के समय उनमें कृष्णरति रहती है परन्तु वयोधर्मवश वह रति निद्रित अवस्था में रहती है। पौगण्ड के शेष में किञ्चित् जाग्रत होते हुए भी गम्भीरता एवं लज्जा के कारण

यथा—

(२) पितुर्गोष्ठे स्फीते कुसुमिनि पुरा खाण्डववने न ते दृष्ट्वा संक्रन्दनमपि मनः स्पन्दनमगात् ॥
पुरो वृन्दारण्ये विहरति मुकुन्दे सखि मुदा किमान्दोलादक्ष्णः श्रुतिकुमुदमिन्दीवरमभूत् ॥ ८ ॥

अथ हावः—

७—ग्रीवारेचकसंयुक्तो भ्रूनेत्रादिविकासकृत् । भावादीषत्प्रकाशो यः स हाव इति कथ्यते ॥ ९ ॥

ढकी रहती है । अतः उस समय उनका चित्त निर्विकार अर्थात् व्यञ्जना शून्य रहता है । ऐसे निर्विकार चित्त में प्रथम जो विकार उदित होता है, जिसे किसी प्रकार भी संवरण नहीं किया जा सकता और नेत्रादिभंगी द्वारा व्यंजित या प्रकाशित हो उठता है,उसे भाव-नामक अनुभाव कहते हैं । यह भाव-नामक अलंकार स्थायीभाव नहीं है व्यभिचारी भाव भी नहीं—यह अनुभाव है । भाव और अनुभाव का पार्थक्य यह है कि 'भाव' है मानसिक-विकार । और अनुभाव है मानसिक-विकार का परिचायक या उसका बोध कराने वाला । अतः अलंकार रूप भाव निर्विकार चित्त के प्रथम विकार का बोधक है। यहां एक बत और भी ध्यान देने योग्य है कि प्राकृत जगत् में प्राकृत रमणी भी मधुरा-रति की आश्रय-आलम्बन होती है । पौगण्ड एवं यौवन की सन्धि अवस्था में उसमें कामदेव का जब प्रवेश होता है तो उसमें क्षोभ पैदा होता है । उस क्षोभ का तात्पर्य होता है—स्वसुख या अपना सुख । किन्तु श्रीकृष्ण की नित्य सिद्धा रमणियां जो उनकी स्वरूपशक्ति का मूर्तविग्रह हैं, जब प्रकट लीला में पौगण्ड के अन्त में सन्धि अवस्था में उनके चित्त में जो कन्दर्प जनित प्रथम क्षोभ होता है, उसका तात्पर्य है श्रीकृष्ण सुख। वह श्रीकृष्ण को सुख देने के लिये अति उत्कण्ठित हो उठती हैं । वह क्षोम काम नाम से अभिहित होते हुए भी वास्तव कृष्ण प्रेम ही है । श्रीकृष्ण व्यतीत और किसी के दर्शन-मिलन द्वारा वह शमित नहीं होता वे एक मात्र श्रीकृष्ण के दर्शन-मिलन के लिये क्षुभित हो उठती हैं । पहले तो वे उसको गम्भीरता-लज्जावश दमन करती रहती हैं, जब वयःसन्धि अवस्थामें वह क्षोभ दुर्दमनीय हो उठता है,उस अवस्थामें उन के चित्त में जो प्रथम विकार उदित होता है, वही उनके नेत्रादिक के बाहरी विकार रूपमें अपने को प्रकट करता है—वह है भाव-नामक अलंकार ।

अनुवाद—विकार का कारण विद्यमान रहते हुए भी चित्त की जो निर्विकारता है, उसे 'सत्त्व' कहते हैं । इस सत्त्व का जो प्रथम विकार है, उसे 'भाव' कहते हैं । यह विकार बीज के प्रथम विकार के समान होता है ॥७॥

अनुवाद—(उदाहरण) यथा— तत्त्व को जानते हुए भी मनके रहस्य को प्रकाशित करने में चतुर कोई एक सखी मानों कुछ न जानती हो—ऐसा भाव प्रकट करते हुए अपनी यूथेश्वरी से पूछने लगी—सखि ! खाण्डव वन में प्रफुल्लपुष्पों से शोभित अपने पिता के गोष्ठ में तुमने पहले देवराज इन्द्र को देखा था, किन्तु तुम्हारा मन उस समय विचलित नहीं हुआ था—यह मैंने अपनी आंखों से देखा था । किन्तु अब (ससुर के घर आकर) सामने वृन्दावन में आनन्द पूर्वक विहार करने वाले श्रीकृष्ण के प्रति तुम अपने नेत्रों को क्यों आन्दोलित करती हो एवं तुम्हारा कर्णभूषण सफेद कमल से नीलकमल सदृश कैसे हो गया है ?—(यहां श्रीकृष्ण दर्शन से उत्पन्न प्रथम विकार—नेत्र चञ्चलता के उद्भव को दिखाया गया है ॥८॥

अनुवाद—(हाव)—जो ग्रीवादि को अधिक तिरछा करता है एवं भ्रूकुटी-नेत्रों की चञ्चलता को भाव की अपेक्षा अधिक प्रकाशित करता है, उसे 'हाव' कहते हैं ।।९।। यथा—श्यामा ने श्रीराधाजी से

यथा—(३)
साचिस्तम्भितकण्ठि कुड्भलवतीं नेत्रालिरभ्येति ते घूर्णन्कर्णलतां मनाग्विकसिता भ्रू वल्लरी नृत्यति।
अत्र प्रादुरभूत्तटे सुमनसामुल्लासकस्त्वत्पुरो गौराङ्गि प्रथमं वनप्रियवधूबन्धुः स्फुटं माधवः॥ १०॥

अथ हेला—हाव एव भवेद्धेला व्यक्तः शृङ्गारसूचकः॥ ११॥

यथा—(४) श्रुते वेणौ वक्षः स्फुरितकुचमाध्मातमपि ते तिरोविक्षिप्ताक्षं पुलकितकपोलं च वदनम्।
स्खलत्काञ्चि स्वेदार्गलितसिचयं चापि जघनं प्रमादं मा कार्षीः सखि चरति सव्ये गुरुजनः॥ १२॥

अथ अयत्नजा तत्र शोभा—९—सा शोभा रूपभोगाद्यैर्यत्स्यादङ्गविभूषणम्॥ १३॥

यथा—(५) धृत्वा रक्ताङ्गुलिकिसलयैर्नीपशाखां विशाखा निष्क्रामन्ती व्रततिभवनात्प्रातरुद्घूर्णिताक्षी।
वेणीमंसोपरि विलुठतीमर्धमुक्तां वहन्ती लग्ना स्वान्ते मम नहि बहिः सेयमद्याप्ययासीत्॥ १४॥

अथ कान्तिः—१०—शोभैव कान्तिराख्याता मन्मथाप्यायनोज्ज्वला॥ १५॥

यथा—(६) प्रकृतिमधुरमूर्तिर्बाढमत्राप्युदञ्चत्तरुणिमनवलक्ष्मीलेखयालिङ्गिताङ्गी।
वरमदनविहारैरद्य तत्राप्युदारा मदयति हृदयं मे रुन्धती राधिकेयम्॥ १६॥

कहा—हे गौरांगि! तुमने जो बायीं ओर अपनी ग्रीवा को तिरछा कर रखा है, उससे तुम्हारे नेत्र-भ्रमर घूमते-घूमते कानों तक जा रहे हैं, तुम्हारी भ्रुकुटि कुछ विकसित होकर नृत्य कर रही है। अतएव हे सखि! लगता है, इस यमुना तट पर सुमनों का आनन्ददाता, वृन्दावन विहारिणी रमणियों का बन्धु माधव (श्रीकृष्ण) तुम्हारे सामने पहली ही बार आया है। (पक्षान्तर में—सुमन समूह का उल्लासकारी कोकिलाओं का प्रिय बन्धु (वसन्त) तुम्हारे सामने पहली ही बार आया है) ॥१०॥

अनुवाद—(हेला)-हाव ही जब स्पष्टरूप से शृंगार-सूचक) (सम्भोगेच्छा-सूचक होता है, तब उसे 'हेला' कहते हैं ॥११॥ यथा—विशाखा जी ने श्रीराधा जी से कहा—हे सखि! वेणुध्वनि सुनते ही तुम्हारा स्फुरितकुचशोभित वक्ष (भ्रस्त्रार की भांति) नीचा-ऊंचा हो रहा है, विक्षिप्त वंकविलोकन एवं पुलकित कपोलों से तुम्हारा मुख मण्डल शोभायुक्त हो रहा है, तुम्हारी जंघाओं से नीवी स्खलित होकर भी स्वेदजल से तुम्हारा वस्त्र भीगकर अंग से चिपक गया है, अतएव हे सखि! तुम अधिक असावधान मत होवो, बायीं ओर गुरुजन विचरण कर रहे हैं ॥१२॥

अनुवाद—(शोभा)—रूप तथा सम्भोगादि द्वारा अंगों का विभूषित होना 'शोभा' कहलाता है ॥१३॥ यथा—किसी रजनी में लतामण्डप में विशाखा जी का श्रीकृष्ण से मिलन हुआ। प्रातः काल लतामण्डप से बाहर आने पर जो उनकी शोभा श्रीकृष्ण ने देखी, उसी का फिर किसी समय वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण सुवल से बोले—विशाखा प्रातः काल घूर्णित नयना होकर नवीन पल्लवों के समान अपनी लाल-लाल अंगुलियों से कदम्बशाखा को पकड़ कर लतामण्डप से बाहर आयी थीं उसके स्कन्धों पर अध-खुली वेणी पड़ी हुई थी। ऐसे रूप से विशाखा मेरे मन में अभी तक बसी हुई है। आज तक बाहिर नहीं निकल पायी है ॥१४॥

अनुवाद—(कान्ति) शोभा ही यदि मन्मथ की तृप्ति के कारण उज्ज्वल हो उठे, तो उसे 'कान्ति' कहते हैं ॥१५॥ यथा—श्रीराधा जी की सहज-रूप-माधुर्यादि शोभा द्वारा एवं लीला-कौशल द्वारा आक्रान्त चित्त श्रीकृष्ण सुवल के प्रति अपनी विवशता ज्ञापन करते हुए बोले—यह श्रीराधा स्वभावतः

अथ दीप्तिः—

११—कान्तिरेव वयोभोगदेशकालगुणादिभिः। उद्दीपितातिविस्तारं प्राप्ता चेद्दीप्तिरुच्यते॥ १७॥

यथा—(७) निमीलन्नेत्रश्रीरचटुलपटीराचलमरुन्निपीतस्वेदाम्बुस्त्रुटदमलहारोज्ज्वलकुचा।
निकुञ्जे क्षिप्ताङ्गी शशिकिरणकिर्मीरिततटे किशोरी सा तेने हरिमनसि राधा मनसिजम्॥

अथ माधुर्यम्—१२—माधुर्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु चारुता॥ १९॥

यथा—(८) असव्यं कंसारेर्भुजशिरसि धृत्वा पुलकिनं निजश्रोण्यां सव्यं करमनृजुविष्कम्भितपदा।
दधाना मूर्धानं लघुतरतिरः स्रंसिनमियं बभौ रासोत्तीर्णा मुहुरलसमूर्तिः शशिमुखी॥ २०॥

अथ प्रगल्भता—१३—निःशङ्कत्वं प्रयोगेषु बुधैरुक्ता प्रगल्भता॥ २१॥

यथा विदग्धमाधवे—(७।४०) (९) प्रातिकूल्यमिव यद्वितृण्वती राधिकारदनखार्पणोद्धुरा।
केलिकर्मणि गता प्रवीणतां तेन तुष्टिमतुलां हरिर्ययौ॥ २२॥

अथ औदार्यम्—१४—औदार्यं विनयं प्राहुः सर्वावस्थागतं बुधाः॥ २३॥

ही मधुरमूर्ति हैं, उस पर भी वह अत्यन्तरूप में समुदित तारुण्य लक्ष्मी की रेखाओं द्वारा सर्वांग में आलिंगित हो रही हैं, अधिकन्तु अब श्रेष्ठ मदन विहार में उदार हो रही हैं, ऐसी श्रीराधा जी मेरे हृदय को अवरुद्ध कर आनन्द प्रदान कर रही हैं॥१६॥

अनुवाद—(दीप्ति) वयस, उपभोग, देश, काल एवं गुणादि द्वारा कान्ति जब उद्दीप्त होकर विस्तार प्राप्त करती है, उस कान्ति को 'दीप्ति' कहा जाता है॥१७॥ यथा—श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा जी की विलास जनित श्रान्ति एवं आलस्य भरी शोभ -विशेष में श्रीकृष्ण का चित्त आकृष्ट हुआ देखकर श्रीरूप-मञ्जरी ने अपनी एक सखी को कहा—देख सखि ! (रात्रि भर जागने से) श्रीराधाजी के नेत्र निमीलित हो रहे हैं, तो भी नेत्र शोभा युक्त हैं, अचञ्चल मलयाचल की पवन ने उनके शरीर का सारा स्वेदजल पान कर लिया है, टूटे हुए विमल हार से उनके उरोजद्वय उज्ज्वल हो उठे हैं, ऐसी अवस्था में चन्द्र-किरणों से चित्रित निकुञ्ज में किशोरी श्रीराधा जी लेट रही हैं, उससे वह श्रीहरि के मन में मनसिज की वृद्धि कर रही हैं॥१८॥

अनुवाद—(माधुर्य) सर्वावस्था में चेष्टाओं की मनोहारिता का नाम 'माधुर्य' है॥१९॥ यथा—रासलीला की समाप्ति पर श्रीराधा जी के अवस्थान-माधुर्य को दूर से देखकर रतिमञ्जरी ने अपनी एक सखी से कहा—यह देख, चन्द्रवदनी श्रीराधाजी रासविहार से निवृत होकर वारम्वार विलासश्रम से अलसांगी होकर भी क्या अपूर्व शोभा धारण कर रही हैं ! उन्होंने श्रीकृष्ण के स्कन्ध पर अपना पुल-कित दक्षिण हाथ स्थापन कर रखा है और अपना बायां हाथ कटिदेश पर। उनके दोनों चरण टेढ़े होकर एक दूसरे का अवलम्बन लेकर शोभित हो रहे हैं। उनका मस्तक भी किञ्चित् झुक रहा है॥२०॥

अनुवाद—(प्रगल्भता)सम्भोगविषयमें जो निःशंकता है,उसे पंडितज 'प्रगल्भता' कहते हैं॥२१॥ यथा–श्रीविदग्धमाधव (७।४०)में-सौभाग्य पूर्णिमाके दिन गौरीतीर्थमें श्रीकृष्णके साथ मिलिता श्रीराधाजी का क्रीड़ा-कौशलादि कुञ्ज में देख कर ललिता जी उसे दिखाते हुए वृन्दा से बोलीं—केलिकर्म में नैपुण्य प्राप्तकर श्रीराधा जी ने उद्धत भाव से श्रीकृष्ण के अङ्गों का दंशन तथा नखों द्वारा आघात करके जो प्रतिकूलता सदृश आचरण किया है, उससे श्रीकृष्ण ने अतुलनीय तुष्टि ही लाभ की है॥२२॥

यथा विदग्धमाधवे—(४।१३)—

(१०) न्यविशत नयनान्ते कापि सारल्यनिष्ठा वचसि च विनयेन स्तोत्रभङ्गी न्यवात्सीत् ।
अजनि च मयि भूयान् संभ्रमस्तेन तस्या व्यवृणुत हृदि मन्युं सुष्ठु दाक्षिण्यमेव ॥ २४॥

यथा वा—

(११) कृतज्ञोऽपि प्रेमोज्ज्वलमतिरपि स्फारविनयोऽप्यभिज्ञानां चूडामणिरपि कृपानीरधिरपि ।
यदन्तः स्वच्छोऽपि स्मरति न हरिर्गोकुलभुवं ममैवेदं जन्मान्तरदुरितदुष्टद्रुमफलम् ॥ २५॥
अथ धैर्यम्—१५—स्थिरा चित्तोन्नतिर्या तु तद्धैर्यमिति कीर्त्यते ॥ २६॥

यथा ललितमाधवे—(७।७)—

(१२) औदासीन्यधुरापरीतहृदयः काठिन्यमालम्बतां कामं श्यामलसुन्दरो मयि सखि स्वैरी सहस्रं समाः ।
किंतु भ्रान्तिभरादपि क्षणमिदं तत्र प्रियेभ्यः प्रिये चेतो जन्मनि जन्मनि प्रणयितादास्यं न मे हास्यति ॥
अथ स्वभावजाः, तत्र लीला—१६—प्रियानुकरणं लीला रम्यैर्वेशक्रियाबिभिः ॥ २८॥

अनुवाद—(औदार्य) समस्त अवस्थाओं में विनय का प्रदर्शन ही 'औदार्य' कहलाता है ॥२३॥ यथा—श्रीविदग्ध माधव (४।१३) में—धीर स्वभावा चन्द्रावली के भीतरी भाव को सुबल के न समझ पाने पर श्रीकृष्ण उसे चन्द्रावली की चेष्टाओं का तथ्य समझाते हुए कहते हैं—चन्द्रावली के नेत्र कटाक्षों में सरलता की सीमा है, उसके वचनों में विनय सहित स्तुति-परिपाटी समायी हुई है। मेरे प्रति उसका विश्वासपूर्ण आदर भी है ॥२४॥

अनुवाद—प्रोषित भर्तृका श्रीराधा जी ने कहा—हे सखि ! श्रीकृष्ण भले ही कृतज्ञ हैं एवं उनकी बुद्धि भी प्रेमोज्ज्वला है, वे विनयी और अभिज्ञजनों के चूड़ामणि भी हैं, वे कृपा के सागर तथा निर्मल-चित्त भी हैं। तथापि वे जो मथुरा में बैठकर इस गोकुलभूमि को स्मरण नहीं कर रहे हैं यह मेरे ही जन्मान्तर के दुष्टपाप वृक्ष का फल है, और कुछ नहीं। (यहां श्रीकृष्ण के दोष को न देखकर उनके गुणकीर्तन द्वारा श्रीराधा जी की उदारता को प्रकाशित किया गया है) ॥२५॥

अनुवाद—(धैर्य्य)—चित्त-वृत्तियों की वृद्धिशील अवस्था में जो स्थिरता है, उसे 'धैर्य्य' कहते हैं ॥२६॥ श्रीललित-माधव (७।७) में यथा—नववृन्दा के सामने श्रीराधा जी के मन की परीक्षा कराने के लिये वकुला ने सर्वत्र श्रीकृष्ण की उदासीनता दिखायी और श्रीकृष्ण की निष्ठुरता बखान करने लगी तब श्रीराधा ने कहा—हे सखि ! श्रीश्यामसुन्दर उदासीनता पूर्णचित्त होकर सहस्र वर्ष तक भी यदि मेरे प्रति यथेच्छभाव से कठोरता पोषण करें तो करें। किन्तु मेरे सब प्रियजनों में सर्वाधिक प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रति मेरा चित्त जन्म-जन्म में एक क्षण भर के लिये भी प्रेममयी दासी योग्य उनकी सेवा का त्याग नहीं कर सकता ॥२७॥

अनुवाद—(स्वभावज-अलंकारों में लीला)—रमणीय वेश तथा क्रियादि के द्वारा प्रियव्यक्ति के अनुकरण को 'लीला' कहते हैं ॥२८॥ श्रीविष्णु पुराण में, यथा—रासस्थलि से अचानक श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर व्रज रमणीगण उन्हें ढूँढते-ढूँढते उनकी लीलाओंका अनुकरण करने लगी थीं। एक सखी तन्मय होकर अपने को श्रीकृष्ण मानने लगी, मानों उसके सामने कालिय नाग है तो उससे बोली—'हे दुष्ट कालिय ! ठहर जा, मैं कृष्ण हूँ'। ऐसा कहकर वह अपने दायें हाथ को बायें हाथ पर ठोकने

यथा विष्णुपुराणे—

(१३) दुष्टकालिय तिष्ठात्र कृष्णोऽहमिति चापरा। बाहुमास्फोटच कृष्णस्य लीलासर्वस्वमाददे ॥ २९ ॥

यथा वा छन्दोमञ्जर्याम्—(१४) मृगमदकृतचर्चा पीतकौशेयवासा रुचिरशिखिशिखण्डा बद्धधम्मिल्लपाशा
अनृजुनिहितमंसे वंशमुत्क्वाणयन्ती कृतमधुरिपुवेशा मालिनी पातु राधा ॥ ३० ॥

अथ विलासः—

१७—गतिस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्। तात्कालिकं तु वैशिष्टचं विलासः प्रियसंगजम् ॥ ३१ ॥

यथा—(१५) रुणत्सि पुरतः स्फुरत्यघहरे कथं नासिकाशिखाग्रथितमौक्तिकोन्नमनकैतवेन स्मितम्।
निरास्थदचिरं सुधाकिरणकौमुदीमाधुरीं मनागपि तवोद्गता मधुरदन्ति दन्तद्युतिः ॥ ३२ ॥

यथा वा—(१६) अध्यासीनममुं कदम्बनिकटे क्रीडाकुटीरस्थली-
माभीरेन्द्रकुमारमत्र रभसादालोकयन्त्याः पुरः।
दिग्धा दुग्धसमुद्रमुग्धलहरी लावण्यनिस्यन्दिभिः कालिन्दी तव दृक्तरङ्गितभरैस्तन्वङ्गि ! गङ्गायते ॥ ३३

लगी। कालियदमन के समय श्रीकृष्ण ने जो-जो किया था, ठीक उसी प्रकार वह सबका अनुकरण करने लगी। (इस अनुकरण में व्रजगोपियों का अपनी इच्छा से कोई प्रयास न था—तन्मयतावश वे लीलानुकरण करने लगी थीं ॥२९॥

अनुवाद—(छन्द-मञ्जरी में) यथा—श्रीराधा जी ने कस्तूरी द्वारा अपने सब अंगों पर लेप लगा लिया, पीताम्बर को कटि में बान्ध लिया, केशों में मनोहर मोरपुच्छ खुर्स लिया एवं स्कन्ध को झुका कर अधर पर वंशी रख कर उसे उच्चस्वर से बजाने लगीं। ग्रन्थकार कहते हैं—अहो ! ऐसी श्रीराधा जी विश्व का पालन करें ॥३०॥

अनुवाद—(विलास)—गति, स्थान, आसनादि तथा मुख एवं नेत्रों की क्रियादि का प्रियसंग-जनित तात्कालिक (प्रियसंग के समय) जो वैशिष्टच है, उसे 'विलास' कहते हैं ॥३१॥ यथा—अभिसार कराकर श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण के पास ले आने पर श्रीराधा जी उनका दर्शन करते ही वाम्य प्रकाश करने लगीं, तब वीरा देवी ने कहा—हे मधुरदंति ! सामने स्फूर्तिशील श्रीकृष्ण के दर्शन कर तुम्हारी जो मुसकराहट उदित हो रही है, उसे तुम नासाग्रभाग में लटकते मुक्ता को उछाल कर क्यों छिपा रही हो ! दन्तकान्ति की किंचित् चमकती द्युति द्वारा तुम चन्द्र को कौमुदी-माधुरी का विनाश क्यों कर रही हो ? ॥३२॥

अनुवाद—(उपर्युक्त उदाहरण में हास्यद्वारा श्रीराधाजी की मुख-क्रिया का वैशिष्टच दिखाकर अब उनकी नेत्र क्रिया का वैशिष्टच दिखाते हैं)·—यमुना तीरस्थ कदम्बवृक्ष के नीचे निकुञ्ज में श्रीकृष्ण स्वच्छन्दतापूर्ण बैठे हैं। उनके दर्शन कर श्रीराधा का विलास प्रकाशित हो उठा। यह देखकर परिहास युक्त मन्द मुसकराते हुए वृन्दा देवी ने श्रीराधाजी से कहा—हे क्षीणांगि ! कदम्बवृक्ष के निकट इस क्रीड़ा कुटीर स्थली में श्रीगोपेन्द्रनन्दन बैठे हैं। आनन्द पूर्वक तुम उनके दर्शन करो। तुम्हारे नेत्रों की जिस दृष्टि तरंग से क्षीरसमुद्र की मनोहर लावण्य तरंग प्रवाहित हो रही है, उस नयन-तरंग के प्रभाव से कालिन्दी भी गंगा की भांति शुभता को प्राप्त हो रही है ॥३३॥

अनुवाद—(विच्छित्ति) जो वेश रचना अल्प होकर भी देहकान्तिकी पुष्टि साधित करती है, उसे 'विच्छित्ति' कहते हैं ॥३४॥ यथा—वृन्दा ने नान्दीमुखी से कहा—हे देवि ! श्रीराधा जी ने श्रीकृष्ण के

अथ विच्छित्तिः—१८—आकल्पकल्पनाल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥ ३४ ॥

यथा--(१७)
माकन्दपत्त्रेण मुकुन्दचेतः प्रमोदिना मारुतकम्पितेन । रक्तेन कर्णाभरणीकृतेन राधामुखाम्भोरुहमुल्ललास
यथा वा हरिवंशे—(१८) एकेनामलपत्त्रेण कण्ठसूत्रावलम्बिना । रराज बर्हिपत्त्रेण मन्दमारुतकम्पिना ३६
१६—सखीयत्नादिव धृतिर्मण्डनानां प्रियागसि । सेर्ष्यावज्ञा वरस्त्रीभिर्विच्छित्तिरिति केचन ॥ ३७ ॥

यथा—(१६)
मुद्रां गाढतरां विधाय निहिते दूरीकुरुष्वाङ्गदे ग्रन्थिं न्यस्य कठोरमर्पितमितः कण्ठान्मणिं भ्रंशय ।
मुग्धे कृष्णभुजङ्गदृष्टिकलया दुर्वारया दूषिते रत्नालंकरणे मनागपि मनस्तृष्णां न पुष्णाति मे ॥ ३८ ॥

अथ विभ्रमः—
२०—वल्लभप्राप्तिवेलायां मदनावेशसंभ्रमात् । विभ्रमो हारमाल्यादिभूषास्थानविपर्ययः ॥ ३९ ॥

चित्त के प्रमोदकारी एक नवीन आम्र पल्लव से अपने कान को भूषित किया है । वह जब वायुद्वारा थोड़ा कंपित होता है, तो उनके वदन कमल की मनोहारिता वर्द्धित हो उठती है ॥३५॥ श्रीहरिवंश में, यथा—श्रीवैशम्पायन ने व्रजविहारी श्रीकृष्ण की छटा का वर्णन करते हुए कहा है—कैसा आश्चर्य ! लतासूत्र में ग्रथित एवं श्रीकृष्ण के कण्ठ में आमले के पत्तों सहित शोभायमान केवल एक मोरपुच्छ है, जो मन्द पवन से कंपित होने पर श्रीकृष्ण की कितनी शोभा बढ़ा रहा है—अर्थात् अतिशय शोभा वृद्धि कर रहा है ॥३६॥

अनुवाद—(श्रीरूपगोस्वामी विच्छित्ति के सम्बन्ध में अपना मत प्रकाश करने के बाद निम्नलिखित वाक्यों में मतान्तर का उल्लेख करते हैं)—कोई-कोई कहते हैं कि प्रियव्यक्ति का कुछ अपराध होने पर सखियों के प्रयत्न से ईर्ष्या एवं अवज्ञा से भरी वरांगना का जो मण्डन या अलंकार धारण करना है, वह 'विच्छित्ति' है ॥३७॥ यथा—श्रीकृष्ण के किसी आचरण से मानवती होकर श्रीराधा जी अपनी प्रियसखी श्रीविशाखा से बोलीं—सखि ! देखो ये दोनों मेरे अङ्गद—बाजूबन्द कसकर बन्धे हुए हैं, मैं इन्हें हटा नहीं पा रही हूँ, तुम इन्हें खोलकर हटा दो । यह मणिमय हार भी कण्ठ को जोर से कस रहा है, इसकी गांठ खोलकर इसे कण्ठ से दूर कर दो । (यदि तुम कहो कि दोष तो श्रीकृष्ण ने किया है, इन अलंकारों का क्या दोष है जो इन्हें उतारना चाह रही हो ?—तो विशाखे ! सुन) तू अति मुग्धा है—तुम्हें जरा भी ज्ञान नहीं है, कृष्णभुजंग (काले सर्प) की दुर्वार विषदृष्टि से ये सब अलंकार दूषित हो गये हैं । इसलिए ये सब रत्नालंकार मेरे मन की तृष्णाको जराभी नहीं बुझा रहे हैं—शीघ्र उतार दो इन्हें ॥३८॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—यहां अलंकार या भूषण अल्प या एक आध नहीं है । श्रीराधा जी उन सब को उतारना चाह रही हैं । किन्तु सखीजन उन्हें नहीं हटा रही हैं । इस अवस्था में उनके चित्त की ईर्ष्या और अवज्ञा के कारण न चाहते हुए अलंकार धारण करने पर भी जो शोभा छिटक रही है, वह केवल मात्र अलंकारों की शोभा नहीं है । परन्तु यह उनकी शोभा से कहीं अधिक है—यही समधिक शोभा ही (दूसरों के मत में) 'विच्छित्ति' है ।

अनुवाद—(विभ्रम)—प्रियतम के साथ मिलनेके समय मदनावेश-जनित आवेग या त्वरा में हारमालादि का अयथा—(दूसरे-दूसरे) स्थानों में धारण करनेको 'विभ्रम' कहते हैं ॥३९॥ श्रीविदग्धमाधव (४।२१) में, यथा—श्रीकृष्ण ने सुबल को श्रीराधा जी को संकेत कुञ्ज में लाने के लिये भेजा । कुञ्ज

यथा विदग्धमाधवे—(४।२१)—

(२०) धम्मिल्लोपरि नीलरत्नरचितो हारस्त्वयारोपितो विन्यस्तः कुचकुम्भयोः कुवलयश्रेणीकृतो गर्भकः । अङ्गे चर्चितमञ्जनं विनिहिता कस्तूरिका नेत्रयोः कंसारेरभिसारसंभ्रमभरान्मन्ये जगद्विस्मृतम् ॥ ४० ॥

यथा वा श्रीदशमे—'(१०।२९।७)—

(२१) लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने । व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः

२१—अधीनस्यापि सेवायां कान्तस्यानभिनन्दनम् । विभ्रमो वामतोद्रेकात्स्यादित्याख्याति कश्चन ॥४२॥

यथा—(२२)

त्वं गोविन्द मयासि किं नु कबरीबन्धार्थमभ्यर्थितः क्लेशेनालमबद्ध एव चिकुरस्तोमो मुदं दोग्धि मे । वक्त्रस्यापि न मार्जनं कुरु घनं घर्माम्बु मे रोचते नैवोत्तंसय मालतीमम शिरः खेदं भरेणाप्स्यति ॥ ४३ ॥

अथ किलकिञ्चितम्—

२२—गर्वाभिलाषरुदितस्मितासूयाभयक्रुधाम् संकरीकरणं हर्षादुच्यते किलकिञ्चितम् ॥ ४४ ॥

यथा—(२३) मया जातोल्लासं प्रियसहचरीलोचनपथे बलान्न्यस्ते राधाकुचमुकुलयोः पाणिकमले ।
उदञ्चद्भ्रूभेदं सपुलकमवष्टम्भि वलितं स्मराम्यन्तस्तस्याः स्मितरुदितकान्तद्युति मुखम् ॥४५॥

में श्रीकृष्ण की अवस्थिति जानकर कुञ्जाभिसारिणी श्रीराधा जी ने उल्लास में भूषणों को अयथा स्थानों में धारण कर लिया। यह देखकर हंसते हुए ललिताजी ने कहा—प्रियसखि ! आज तुम ने केशों के जूड़ा पर नीलरत्न-रचित हार धारण कर रखा है(जो कण्ठमें धारण करना चाहिये)उरोज पर कमलों से रचित (केशमाला) धारण कर ली है, अङ्गों पर अञ्जन का लेप और नेत्रों में कस्तूरी—इस भूषण-विपर्य्यय को देखकर लगता है श्रीकृष्ण के निकट अभिसार के अति आवेश में तुम जगत् को भी भूल गयी हो ॥४०॥ श्रीभागवत (१०।२९।७) में भी, यथा—श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि सुनकर—कोई गोपी अंगों में अंगराग लेपन करते-करते, कोई शरीर का मार्जन करते-करते, कोई नेत्रों में अञ्जन लगाते-लगाते और अन्य कोई गोपियां वस्त्र-भूषणों को उचित स्थानों पर धारण न करके श्रीकृष्ण के पास भागी आयीं ॥४१॥

अनुवाद—(श्रीरूपगोस्वामी विभ्रम के सम्बन्ध में दूसरे मत का भी उल्लेख करते हैं)—कोई-कोई कहते हैं कि वामता के उद्रेक में अपने अधीन सेवा-तत्पर कान्त के प्रति जो अनादर या सेवाग्रहण करने में आपत्ति है, उसे 'विभ्रम' कहते हैं ॥४२॥ यथा—विलासान्त में श्रीराधा जी स्वाधीनभर्तृका की अवस्था को प्राप्त हुई। विलास में उनके केश कलाप खुल गये, मुखमण्डल पर स्वेद छा रहा था। इस अवस्था में श्रीकृष्ण उनकी समयोचित सेवा करने को उद्यत हुए, किन्तु प्रणयोत्थ वामता भाव के उदय होने से श्रीराधाजी उन्हें निषेध करने लगीं। जब वे उनकी वेणी गूंथने लगे तो श्रीराधा जी ने कहा—हे गोविन्द ! मैंने आपको क्या मेरी वेनी गूथने को कहा है ? क्यों वृथा कष्ट उठा रहे हो ? रहने दो मुझे खुले केश ही आनन्द दे रहे हैं। जब श्रीकृष्ण उनके वदन से स्वेद पोंछने लगे, तो वह बोलीं—मेरे मुख को फिर मत पोंछना, स्वेद जल मुझे अच्छा लगता है। जब श्रीकृष्ण उनके मस्तक पर मालती माला धारण कराने लगे तो वह बोलीं—मेरे मस्तक पर माला मत लादो, मुझ से इसका भारी भार नहीं उठाया जा सकता ॥४३॥

अनुवाद—(किलकिञ्चित) हर्ष के कारण गर्व, अभिलाष, रोदन, हास्य, असूया, भय तथा क्रोध-इन सातों के एक ही समय मिलित होने को 'किलकिञ्चित' कहते हैं ॥४४॥ यथा—एक समय श्री-विशाखा के सामने श्रीकृष्ण ने बलपूर्वक श्रीराधा जी के वक्षोजयुगल का स्पर्श किया, उनमें जो विलास

यथा वा दानकेलिकौमुद्याम्—(२४)
अन्तः स्मेरतयोज्ज्वला जलकणव्याकीर्णपक्ष्माङ्कुरा किंचित्पाटलिताञ्चला रसिकतोत्सिक्ता पुरः कुञ्चती रुद्धायाः पथि माधवेन मधुरव्याभुग्नतारोत्तरा राधायाः किलकिंचितस्तबकिनी दृष्टिः श्रियं वः क्रियात् ॥

अथ मोट्टायितम्—
२३—कान्तस्मरणवार्तादौ हृदि तद्भावभावतः। प्राकट्यमभिलाषस्य मोट्टायितमुदीर्यते॥ ४७॥

यथा—(२६)
न ब्रूते वलमबीजमालिभिरलं पृष्टापि पाली यदा चातुर्येण तदग्रतस्तव कथा ताभिस्तदा प्रस्तुता।
त्वां पीताम्बरजृम्भमाणवदनाम्भोजा क्षणं शृण्वती विम्बोष्ठी पुलकं विडम्बितवती फुल्लां कदम्बश्रियम् ॥

अथ कुट्टमितम्—
२४—स्तनाधरादिग्रहणे हृत्प्रीतावपि संभ्रमात्। बहिः क्रोधो व्यथितवत्प्रोक्तं कुट्टमितं बुधैः॥ ४९॥

माधुर्य स्फुरित हो उठा, उसे स्मरण करके श्रीकृष्ण ने सुबल से कहा—अहो ! आनन्द पूर्वक मैंने प्रियसखी विशाखा के सामने श्रीराधा के कुचमुकुलों को बलपूर्वक अपने दोनों हस्तकमलों से पकड़ा तो श्रीराधा के मुख पर जो भाव उदित हुआ, उसे मैं स्मरण कर रहा हूँ। उस समय उसका अद्भुत भ्रूभंगी—प्रकाश, पुलक सहित स्तब्धता का आविर्भाव, किञ्चित् तिरछी अवस्थिति से हास्य और रोदन के मिश्रण से उनके मुख की एक अपूर्व मनोहर शोभा खिल उठी।।४५।।

श्रीदानकेलि कौमुदो (१) में यथा—एक समय रसिक शेखर नन्दनन्दन गोवर्धन के ऊपर नील-मण्डप में बैठे थे। श्रीराधा जी दही-माखन बेचने के लिये उस रास्ते से निकलीं। उन्हें देखते ही श्रीकृष्ण की रसास्वादन-पिपासा बढ़ उठी। उन्होंने आकर उनका पथ रोक लिया। उस समय श्रीराधाजी के नयन किलकिञ्चितभावरूप पुष्पगुच्छों से शोभित हो उठे। श्रीरूपगोस्वामी दानकेलिकौमुदी के मगलाचरण में सव के प्रति आशीर्वाद करते हुए कहते हैं—श्रीराधा जी के तत्कालीन वह नेत्र युगल सब की परमार्थ-सम्पत्ति की वृद्धि करें जो मन की हंसन से उज्ज्वल हैं, जिसमें दोनों पलकें जलकणों से सिक्त हो रही हैं, नेत्र प्रान्त थोड़े-थोड़े पाटल (गुलाबी) वर्ण के हो रहे हैं, जो रसिकता की उत्कण्ठा से पूर्ण है, जिनका अग्रभाग थोड़ा कुंचित हो रहा है, तिरछी पुतलियां शोभा दे रही हैं। पथ में श्रीकृष्ण द्वारा अवरुद्धा श्रीराधाजी के वे नयन आप सब का मंगल विधान करें। ४६।।

अनुवाद—(मोट्टायित) कान्त के स्मरण में तथा उसकी वार्तादि श्रवण करने में अपने हृदय में अवस्थित कान्त-विषयक स्थायी भाव की भावना में चित्त में जो अभिलाष का उदय होता है, उसे 'मोट्टायित' कहते हैं।।४७।। यथा—यूथेश्वरी पाली में श्रीकृष्ण के प्रति पूर्वराग उदित हो उठा, किन्तु श्रीकृष्ण को वह प्राप्त न कर पा रही थी। इसलिये उसके मन में अत्यन्त दुख था, किन्तु उसे वह अपनी सखी को भी बता न सकती थी। उसके हृदय को जानलेने वाली सखियों ने अद्भुत चतुरता से पाली के सामने श्रीकृष्ण की चर्चा चलायी। उस समय पाली की जो अवस्था हुई उसका वर्णन वृन्दा ने श्रीकृष्ण के प्रति इस प्रकार किया—हे पीताम्बर ! सखियों द्वारा बार-बार पूछने पर भी पाली ने जब अपने मन का दुख प्रकाश नहीं किया, तब सखियों ने चतुराई से उसके सामने आपकी प्रशंसाभरी-चर्चा चलायी। तब कुछ प्रफुल्लित मुख होकर उसे क्षणकाल सुनते-सुनते बिम्बोष्ठी पाली ऐसी पुलकावली से फूल उठी कि प्रफुल्लित कदम्ब भी लज्जित हो रहा था।।४८।।

यथा—(२६)
करौद्धत्यं हन्त स्थगय कबरी मे विघटते दुकूलं च न्यञ्चत्यघहर तवास्तां विहसितम् ।
किमारब्धः कुर्तु त्वमनवसरे निर्दय मदात् पताम्येषा पादे वितर शयितुं मे क्षणमपि ॥ ५० ॥

यथा वा—(२७) न भ्रूलतां कुटिलय क्षिप नैव हस्तं वक्त्रं च कण्टकितगण्डमिदं न रुन्धि ।
प्रीणातु सुन्दरि तवाधरबन्धुजीवे पीत्वा मधूनि मधुरे मधुसूदनोऽसौ ॥ ५१ ॥

अथ विव्वोकः—२५—इष्टेऽपि गर्वमानाभ्यां विव्वोकः स्यादनादरः ॥ ५२ ॥

अत्र गर्वेण, यथा—(२८) प्रियोक्तिलक्षेण विपक्षसंनिधौ स्वीकारितां पश्य शिखण्डमौलिना ।
श्यामातिवामा हृदयंगमामपि स्रजं दराघ्राय निरास हेलया ॥ ५३ ॥

यथा वा—(२९) स्फुरत्यग्रे तिष्ठन् सखि तव मुखक्षिप्तनयनः प्रतीक्षां कृत्वारं भवदवसरस्याघदमनः ।
दृशोरुच्चैर्गाम्भीर्यग्रथितगुरुहेलागहनया हसन्तीव क्षीबे त्वमिह वनमालां रचयसि ॥५४ ॥

अनुवाद—(कुट्टमित) नायक द्वारा स्तनयुगल एवं अधरादि ग्रहण करने पर नायिका के हृदय में तो प्रीति उदात्त होती है, फिर भी सम्भ्रमवश दुखिता की भांति बाहर जो क्रोध प्रकाश किया जाता है, पण्डित गण उसे 'कुट्टमित' कहते हैं ।।४६।। यथा—कुञ्ज भवन में विलासोद्यत श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा जी ने कहा—हे कृष्ण ! तुम अपने हाथों की उद्धता को वन्द करो, उनकी चञ्चलता से मेरी वेणी अस्त-व्यस्त-हुई जा रही है, मेरा वस्त्र भी स्खलित हो गया है । तुम अब अपना परिहास बन्द करो, अरे निर्दय मत्ततावश असमय में तुम यह क्या करने लगे हो ? मैं तुम्हारे चरण पकड़ती हूँ, मुझे क्षण भर सोने दो ।।५०।। द्वितीय उदाहरण, यथा—श्रीविशाखा के साथ श्रीराधा जी क्रीड़ा कुञ्ज में आयीं, श्रीकृष्ण के साथ मिलित होने पर प्रेम की स्वाभाविक कुटिलतावश श्रीराधा जी श्रीकृष्ण को अधर सुधा पान करने में जब वाधा डालने लगीं तो विशाखा जी ने कहा--राधे ! भ्रुकुटि तिरछी मत करो, श्रीकृष्ण के हाथ को दूर मत फेंको, पुलकित गण्ड विशिष्ट इस वदन को तुम क्यों हटा रही हो ? हे सुन्दरि ! इस मधु-सूदन (भ्रमर) को अपने अधररूप मधुर वान्धुली पुष्प का मधु प्रीतिपूर्वक पान करने दो ।।५१।।

अनुवाव— (विव्वोक)—गर्व तथा मान के कारण अपनी अभीष्ट वस्तु के प्रति जो अनादर है, उसे 'विव्वोक' कहते हैं ।।५२।। (गर्वसे), यथा –श्रीकृष्ण ने श्यामा की विपक्षा सखियों के सामने भी अत्यन्त आग्रह पूर्वक उसे एक माला दी । किन्तु श्यामा ने उस माला को भूमि पर फेंक दिया । यह देख कर वृन्दा ने आश्चर्य पूर्वक नान्दीमुखी को कहा—यह देख, विपक्षा रमणियों के सामने भी मोर पुच्छ-धारी श्रीकृष्ण ने अनेकानेक मधुर वचन कहकर जो माला श्यामा को दी थी, उसके लिये अति मर्म स्पर्शिनी होते हुए भी, अत्यन्त वामा श्यामा ने जरा सा सूँघ कर उसे दूर फेंक दिया ।।५३।। (द्वितीय उदाहरण), यथा—सूर्यपूजा के छल से सूर्य मन्दिर के प्रांगण में जाकर श्रीराधा वनमाला की रचना कर रही थीं । उनको कृपा दृष्टि की प्रतीक्षा में श्रीकृष्ण खड़े थे, उनको देखकर भी श्रीराधा ने स्वाभाविक गर्ववश उनके प्रति ध्यान नहीं दिया । यह देखकर आक्षेप करते हुए ललिता जी ने श्रीराधा जी के प्रति कहा—हे सखि ! तुम्हारी दृष्टिपात के अवसर की प्रतीक्षा में तुम्हारी ओर सतृष्ण नयन लगाये हुए तुम्हारे सामने ही अघारि श्रीकृष्ण खड़े हैं, किन्तु हे मत्ते ! तुम महा गम्भीरतामय अतिशय अवज्ञा व्यञ्जक नैनों में मानो हास्य प्रकाश करते हुए वन माला बनाती जा रही हो ।।५४।।

मानेन, यथा—(३०) हरिणा सखि चाटुमण्डलीं क्रियमाणामवमन्य मन्युतः।
न वृथाद्य सुशिक्षितामपि स्वयमध्यापय गौरि शारिकाम् ॥ ५५ ॥

अथ ललितम्—
२६—विन्यासभङ्गिरङ्गानां भ्रूविलासमनोहरा। सुकुमारा भवेद्यत्र ललितं तदुदीरितम् ॥ ५६ ॥
यथा—(३१)
सभ्रूभङ्गमनङ्गबाणजननीरालोकयन्ती लताः सोल्लासं पदपङ्कजे दिशि दिशि प्रेङ्खोलयन्त्युज्ज्वला।
गन्धाकृष्टधियः करेण मृदुना व्याधुन्वती षट्पदान् राधा नन्दति कुञ्जकन्दरतटे वृन्दावनश्रीरिव ॥५७॥

अथ विकृतम्—
२७—ह्रीमानेर्ष्यादिभिर्यत्र नोच्यते स्वविवक्षितम्। व्यज्यते चेष्टयैवेदं विकृतं तद्विदुर्बुधाः ॥ ५८ ॥
तत्र ह्रिया, यथा—(३२)
निशमय्य मुकुन्द मन्मुखाद्भवदभ्यर्थितमत्र सुन्दरी। न गिराभिननन्द किंतु सा पुलकेनैव कपोलशोभिना ॥

अनुवाद—(मानसे) यथा—गौरी मानवती हो रही थी, श्रीकृष्ण ने उसे मनाने के लिये बहुविध अनुनय-विनय की। किन्तु गौरी श्रीकृष्ण का अनादर करते हुए अपनी सुशिक्षित शारिकाको शिक्षा-पाठ पढ़ाती रही। यह देखकर उसकी किसी एक सखी ने कहा—हे सखि ! गौरि ? क्रोध वश श्रीकृष्ण के विनीतवाक्यों के प्रति अवज्ञा करके सुशिक्षित शारिका को भी आज तू वृथा मत पढ़ा ॥५५॥

अनुवाद—(ललित) जिस चेष्टा-विशेष से अंगों की विन्यास भङ्गी, भ्रूविलास की मनोहारिता तथा सुकुमारता प्रकाशित होती है। उसे 'ललित' कहते हैं ॥५६॥ यथा—श्रीराधा जी को भूषित करने के लिये पुष्प चयन करते हुए—श्रीकृष्ण ने दूर से श्रीराधा जी को देखा। श्रीराधा जी निकुञ्ज प्रांगण में पुष्पित लताओं की शोभा देखते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थीं, उस समय की उनकी शोभा का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—वृन्दावन की लक्ष्मी की भांति ही श्रीराधा कुञ्ज भवन के निकट आनन्द पूर्वक विचरण कर रही है, मृदुमधुर मुसकान से उसका मुखमण्डल उज्ज्वल हो रहा है, वह कामवाण रूप पुष्पों की उत्पादिका लता श्रेणी का भ्रूभङ्गी से दर्शन कर रही है। आनन्द के अतिशय उल्लास में हर दिशा को धीरे-धीरे चरणकमलों को संचालित कर रही है, और उसकी अंग सौरभ में आकृष्ट होकर जो समस्त मधुकर उनके अंगों पर मण्डरा रहे हैं, उनको अपने कोमल हस्तकमलों से दूर हटा रही है ॥५७॥

अनुवाद—(विकृत)—जहां लज्जा, मान तथा ईर्ष्यादि वश अभिलषित विषय प्रकाश न किया जाये, परन्तु चेष्टा द्वारा ही उसे व्यक्त किया जाये, पंडित जन उसे 'विकृत' कहते हैं ॥५८॥ (लज्जावश) यथा—श्रीकृष्ण विषय में जातानुरागा श्रीराधा जी लज्जावश किसी के सामने अपनी अभिलाषा को प्रकाश न कर रही थीं, श्रीकृष्ण में भी उसका अनुराग उत्पन्न हो चुका था। श्रीकृष्ण ने श्रीराधा जी के पास एक दूती को भेजा, किन्तु श्रीराधा जी ने उसे भी कुछ न बताया। किन्तु दूती से श्रीकृष्ण के अभिप्राय को जानकर, चाहे मुख से श्रीराधा जी कुछ न बोलीं, उनके शरीर पर जो चेष्टा उजागर हो उठी, उसे देखकर दूती ने श्रीराधा जी की सम्मति को जान लिया। श्रीकृष्ण के पास लौटकर उसने कहा हे मुकुन्द ! मेरे मुख से तुम्हारी प्रार्थना को सुनकर उस सुन्दरी राधा ने यद्यपि वाणी द्वारा कुछ भी अनुमोदन नहीं जताया, तथापि उसने कपोलों पर शोभा विस्तारी पुलक द्वारा अभिनन्द जनाया

यथा वा—(३३)

न परपुरुषे दृष्टिक्षेपो वराक्षि तवोचितस्त्वमसि कुलजा साध्वी वक्त्रं प्रसीद विवर्तय ।
इति पथि मया नर्मण्युक्ते हरेर्नववीक्षणे सदयमुदयत्कार्पण्यं मामवैक्षत राधिका ॥ ६० ॥

मानेन, यथा—(३४)

मय्यासक्तवति प्रसाधनविधौ विस्मृत्य चन्द्रग्रहं तद्विज्ञप्तिसमुत्सुकापि विजहौ मौनं न सा मानिनी ।
किंतु श्यामलरत्नसंपुटदलेनावृत्य किंचिन्मुखं सत्या स्मारयति स्म विस्मृतमसौ मामोपरागीं श्रियम् ६१ ॥

ईर्ष्यया, यथा—(३५) वितर तस्करि मे मुरलीं हृतामिति मदुद्धरजल्पविवृत्तया ।
भ्रुकुटिभङ्गुरमर्कसुतातटे सपदि राधिययाहमुदीक्षितः ॥ ६२ ॥

है ॥५९॥ (द्वितीय उदाहरण) यथा—सखियों के साथ पथ में चलते-चलते पूर्वरागवती श्रीराधा ने कुछ दूरी पर अवस्थित श्रीकृष्ण को जब देखा तो विशाखा जी ने उसके हृदय को जान लिया। नर्मपरिहास करते हुए विशाखा जी ने श्रीराधा जी को जो कुछ कहा तथा विशाखा की बात सुनकर श्रीराधा जी ने जो कुछ किया, उसे ललिता जी के प्रति सुनाते हुए विशाखा जी ने कहा—सखि ललिते ! मैंने आज श्रीराधा जी को कहा था कि हे वरांगि ! तुम सद्कुल की कन्या हो और परम साध्वी हो। परपुरुष की ओर तुम्हारा दृष्टिपात करना उचित नहीं है। मेरे प्रति प्रसन्न होकर तुम अपना मुख मेरी ओर फेरो श्रीहरि प्रथम दर्शन काल में पथ में नर्म वचनों में यह बात मैंने श्रीराधा को कही, जिससे मेरी दया उजागर हो सके। इस प्रकार कातर नयनों से श्रीराधा जी ने मेरी ओर देखा। (कातर नयनों से यही व्यंजित हो रहा था कि विशाखे ! एकवार मात्र श्रीकृष्ण दर्शन करने का तुम मुझे आदेश दो, नहीं तो मेरा जीवित रहना सम्भव नहीं ॥६०॥

अनुवाद—(मानवश) यथा—एक समय द्वारका में सत्यभामा मानवती हो उठी। श्रीकृष्ण उसे मनाने में इतने व्यस्त हो गये कि उन्हें यह भी स्मरण न रहा कि आज चन्द्रग्रहण है। चन्द्रग्रहण आरम्भ हो गया, तो भी श्रीकृष्ण को उसका कुछ पता न लगा। तब सत्यभामा ने मान को त्याग न करते हुए, मुख से कुछ न बोलकर चेष्टा द्वारा श्रीकृष्ण को जताया कि चन्द्रग्रहण-आरम्भ हो रहा है। सत्यभामा की इस अपूर्व चेष्टा की बात उद्धवजी के प्रति श्रीकृष्ण ने इस प्रकार बतायी—सखे ! चन्द्रग्रहण की बात भूलकर मैं मानवती सत्यभामा को मनाने में ही आविष्ट हो रहा था। चन्द्रग्रहण का मुझे स्मरण कराने को उत्सुक होकर भी सत्यभामा मुझे मुख से कुछ न बोली। फिर भी श्यामवर्ण के एक रत्नसम्पुट के दल से अपने मुख को कुछ आवृत करके चन्द्रग्रहण की बात मुझे स्मरण करा दी। (यहां सत्यभामा ने मुखाच्छादन-चेष्टा द्वारा ही चन्द्रग्रहण की स्मृति कराते हुए श्रीकृष्ण को बताया कि इस समय आपका यहां रहना उचित नहीं। बाहर जा कर ग्रहण समयोचित दान-स्नानादि करिये ॥६१॥ **ईर्ष्यावश, यथा—** श्रीकृष्ण ने मधुमंगल से कहा—सखे ! श्रीराधा यमुनातट पर पुष्पचयन कर रही थी। उसे देखकर मैं ने कहा—हे चोरनि ! तुमने मेरी मुरली चुराली है, उसे अभी लौटा दो, मेरे ऐसे प्रगलभवचन को सुन कर श्रीराधा नें तत्क्षण मुख फेर लिया और यमुनातट पर भ्रुकुटी चढ़े कुटिल नेत्रों से मेरी ओर देखने लगी। (यहां श्रीराधा जी चोर शब्द सुनने से श्रीकृष्ण के प्रति क्रोधित हो उठीं एवं ईर्ष्यावश मुखसे कुछ नहीं बोलीं—यही उन्होंने भ्रुकुटि चेष्टा से प्रकाशित किया है) ॥६२॥

रूपकृपा-तरंगिणी-टीका—'मोट्टायित' तथा 'विकृत' नामक अलंकारों का भेद ध्यान देने योग्य हैं—मोट्टायित में प्रियसम्बन्धी कथादि के सुननेसे चित्त में अभिलाष की अभिव्यक्ति होती है। वह किसी

२८—अलंकारा निगदिता विंशतिर्गात्रचित्तजाः। अमी यथोचितं ज्ञेया माधवेऽपि मनीषिभिः ॥ ६३ ॥
२९—केश्चिदन्येऽप्यलंकाराः प्रोक्ता नात्र मयोदिताः। मुनेरसंमतत्वेन किंतु द्वितयमुच्यते ॥
मौग्ध्यं च किंचितं चेति किंचिन्माधुर्यपोषणात् ॥ ६४ ॥
तत्र मौग्ध्यम्—३०—ज्ञातस्याप्यज्ञवत्पृच्छा प्रियाग्रे मौग्ध्यमीरितम् ॥ ६५ ॥
यथा मुक्ताचरिते—(३६)
कास्ता लताः क्व वा सन्ति केन वा किल रोपिताः। कृष्ण मत्कङ्कणन्यस्तं यासां मुक्ताफलं फलम् ॥६६ ॥
चकितम्—३१—प्रियाग्रे चकितं भीतेरस्थानेऽपि भयं महत् ॥ ६७ ॥
यथा—(३७)
रक्ष रक्ष मुहुरेष भीषणो धावति श्रवणचम्पकं मम। इत्युदीर्य मधुपाद्विशङ्किता सस्वजे हरिणलोचना हरिम्
अथोद्भास्वराः ३२—उद्भासते स्वधाम्नीति प्रोक्ता उद्भास्वरा बुधैः ॥ ६९ ॥

प्रकार की चेष्टा द्वारा नहीं होती, अपने आप हुआ करती है। किन्तु विकृत में कोई अभिलाष व्यक्त नहीं होती, व्यक्त होता है वक्तव्य विषय, वह भी कथन द्वारा नहीं, चेष्टा द्वारा हुआ करता है। यहाँ तक 'भाव' से लेकर 'विकृत' तक बीस अलंकारों का उल्लेख किया गया है।

अनुवाद—श्रीग्रन्थकार कहते हैं—यहां शरीर में तथा चित्त में होने वाले बीस अलंकारों का वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण के शरीर में भी यथोचित भावसे उल्लिखित गात्रज अलंकारों का उद्भव हो सकता है।—ऐसा मनीषियों ने कहा है ॥६३॥ और कोई-कोई पंडित उपर्युक्त बीस अलंकारों के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का वर्णन करते हैं, किन्तु भरतमुनि के असम्मत होने से मैंने इन सबका विवरण नहीं दिया है। किन्तु किञ्चित् माधुर्यपोषक होने से उनमें 'मौग्ध्य' तथा 'चकित' ये दो अलंकार यहां ग्रहण किये गये हैं ॥६४॥

अनुवाद—(मौग्ध्य) प्रियव्यक्ति के निकट ज्ञातवस्तु के सम्बन्ध में अज्ञ की भांति जो जिज्ञासा है, उसे 'मौग्ध्य' कहते हैं ॥६५॥ मुक्ताचरित में, यथा—सत्यभामा ने श्रीकृष्णसे पूछा—हे कृष्ण ! मेरे कंकण में लगे मुक्ताफल की भांति जिन में फल लगे हुए मैं देख रही हूँ, उन सब लताओं का क्या नाम है ? वे किस स्थान पर हैं ? उनका रोपण किसने किया है ? ॥६६॥

अनुवाद—(चकित)—प्रियतम के सामने भयरहित स्थान पर जो महाभय होना है, उसका नाम 'चकित' है ॥६७॥ यथा—एक प्रेमवती नायिका श्रीकृष्ण के साथ विचरण कर रही थी, उसके मुख-सौरभ में आकृष्ट होकर एक भ्रमर वार-वार उसके मुख पर पतित हो रहा था। वह नायिका मानो महा भयभीत होकर श्रीकृष्णसे बोली—रक्षा करो,यह भयंकर मधुकर मेरे कानमें लगे चम्पकके प्रति वार-बार जोर से भागा आ रहा है।—ऐसा कहकर मधुकर से भयभीत होकर उस मृगनयनी ने श्रीहरि को आलिंगन कर लिया। यहां तक कान्तारति के विशेष अनुभावों का विवरण दिया गया है ॥६८॥

उद्भास्वर

अब कान्तारति के विशेष उद्भास्वर अनुभावों का वर्णन करते हैं—

अनुवाद—रति-विशिष्ट भक्तों के शरीर में जो विशेष भाव से प्रकाशित हो, पण्डितजन उसे 'उद्भास्वर' कहते हैं ॥६९॥ नीवि-स्खलन, उत्तरीय-स्खलन, धम्मिल (जूड़ा) स्खलन, गात्र-मोटन, जृम्भा, नासिका-प्रफुल्लता, विश्वास-त्यागादि 'उद्भास्वर अनुभाव' हैं। (श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने

३३—नीव्युत्तरीयधम्मिल्लस्रंसनं गात्रमोटनम् । जृम्भा घ्राणस्य फुल्लत्वं निश्वासाद्याश्च ते मताः ॥७०॥
तत्र नीविस्रंसनं, यथा विदग्धमाधवे (७।४१)—(३८)
नैरञ्जन्यमुपेयतुः परिगलन्मोदाश्रुणी लोचने स्वेदोद्भूतविलेपनं किल कुचद्वन्द्वं जहौ रागिताम् ।
योगौत्सुक्यमगादुरः स्फुरदिति प्रेक्ष्योदयं संगिनां राधे नीविरियं तव श्लथगुणा शङ्के मुमुक्षां दधे ॥ ७१ ॥
उत्तरीयस्रंसनं, यथा—
(३९) तव हृदि मम रागात्कोऽपि रागो गरिष्ठः स्फुरति तदपसृत्य व्यक्तमेतं करोमि ।
इति खलु हृदयात्ते राधिके रोधकारि च्युतमिव पुरतो मे मञ्जुमाञ्जिष्ठवासः ॥ ७२ ॥
धम्मिल्लस्रंसनं, यथा—(४०)
स्फुरति मुरद्विषि पुरतो दुरात्मनामपि विमुक्तिदे गौरि । नाद्भुतमिदं यदीयुः संयमिनस्ते कचा मुक्तिम् ॥
गात्रमोटनं, यथा—(४१) व्रजाङ्गने बल्लवपुङ्गवस्य पुरः कुरङ्गीनयना सलीलम् ।
अभ्यङ्गभङ्गं किल कुर्वतीयमनङ्गभङ्गं तरसा व्यतानीत् । ७४ ॥

'आदि'—शब्द से विलुंठित होना, गीत, आक्रोश, लोक-अनपेक्षिता, घूर्णा तथा हिचकी को ग्रहण किया है) ॥७०॥

अनुवाद—(नीविस्खलन) श्रीविदग्ध माधव (७।४१) में, यथा—गौरीतीर्थ में विहारोपरान्त वृन्दा ने श्रीश्रीराधा कृष्ण को निकट देखा । उसने श्रीराधा जी को धीरे से कहा—हे राधे ! निरन्तर आनन्द-अश्रु बहाते-बहाते तुम्हारे नेत्र निरञ्जनता (कज्जलहीनता, पक्षान्तर में निरुपाधिता) को प्राप्त हो गये हैं, तुम्हारे वक्षोज भी स्वेदजल से अभिषिक्त होकर कुंकुम-लेप रहित हो गये हैं, उन्होंने रागिता (लालिमा, पक्षान्तर में विषयासक्ति) त्याग दी है, वक्षस्थल काँपते-काँपते श्रीकृष्ण के साथ योगोत्सुकता (मिलन विषयक उत्कण्ठा, पक्षान्तर में अष्टांग योग का आग्रह) प्राप्त कर रहा है । इस प्रकार अपने संगी (साक्षी) नेत्रादि की अवस्था देखकर तुम्हारी नीवी भी श्लथगुणा (गांठ ढीली तोड़ करके, पक्षान्तर में सत्त्वादि तीनों गुणों का वन्धन काटकर) मुमुक्षता (स्खलनेच्छा पक्षान्तर में संसार-मोक्षेच्छा) मानों अंगीकार कर रही है ॥७१॥

अनुवाद—(उत्तरीय-स्खलन) यथा—श्रीकृष्ण के दर्शन करते समय श्रीराधा जी का उत्तरीय वस्त्र (ओढ़नी) स्खलित हो गयी । यह देखकर श्रीकृष्ण ने कौतुक से उस वस्त्र के अभिप्राय की उत्प्रेक्षा पूर्वक मुसकराते हुए कहा—मेरे लालवस्त्र से भी अधिक राग (प्रेम) तुम्हारे हृदय में स्फुरित हो रहा है, इसलिये मैं तुम्हारे वक्षस्थल से दूर होकर उस राग (प्रेम) को व्यक्त करुंगा, क्योंकि यदि मैं तुम्हारे वक्षस्थल-हृदय को ढके रहूँगा, तो वह प्रेम व्यक्त नहीं हो पायेगा इसी अभिप्रायसे मैं समझता हूँ हे राधे ! तुम्हारे वक्षस्थल से यह राग को आवृत करने वाला मनोहर मंजिष्ठा-रंजित वस्त्र मेरे सामने स्खलित हो पड़ा है ॥७२॥

अनुवाद—(जूड़ा-स्खलन) यथा—श्रीराधा जी की वेणी खुलरही थी, तव वृन्दा ने परिहास करते हुए कहा—हे गौरि ! इन्द्रियों को वशीभूत करने वाले होकर भी दुष्टस्वभाव वाले लोगों को मुक्ति देने वाले श्रीकृष्ण सामने विराजमान हैं, फिर तुम्हारे बन्धनमुक्त केश यदि मुक्त—(खुल) जावें तो आश्चर्य क्या है ? ॥७३।

अनुवाद—(गात्र-मोटन) यथा—श्रीकृष्ण वन से आकर अपने गोष्ठ-आंगन में गोदोहन के लिये बैठे थे, उनका दर्शन कर कोई एक व्रजगोपी गात्र-मोटन करने(अंगड़ाई-लेने)लगी । यह देखकर नान्दी-

जृम्भा, यथा—
(४२) पुष्पैरवेत्य विशिखैर्मवतीमसाध्यां साध्वीमधीत्य मदनः किल जृम्भणास्त्रम् ।
चन्द्रावलि प्रसभमेव वशीचकार यद्गोष्ठसीमनि मुहुः सखि जृम्भसेऽद्य ।। ७५ ।।
घ्राणफुल्लत्वं, यथा—(४३)—रचितशिखरशोभारम्भमम्भोरुहाक्षी श्वसितपवनदोलान्दोलिना मौक्तिकेन ।
पुटयुगमतिफुल्लं बिभ्रती नासिकायां मम मनसि विलग्ना दर्शनादेव राधा ७६
३४—यद्यप्येते विशेषाः स्युर्मोट्टायितविलासयोः । शोभाविशेषपोषित्वात्तथापि पृथगीरिताः ।। ७७ ।।
अथ वाचिकाः—
३५—आलापश्च विलापश्च संलापश्च प्रलापकः । अनुलापोऽपलापश्च संदेशश्चातिदेशकः ।। ७८ ।।
३६—अपदेशोपदेशौ च निर्देशो व्यपदेशकः । कीर्तिता वचनारम्भा द्वादशामी मनीषिभिः ।। ७९ ।।
तत्रालापः—३७—चाटुप्रियोक्तिरालापः ।। ८० ।।
यथा श्रीदशमे—(१०।२९।४०)—
(४४) का स्त्र्यङ्ग ! ते कलपदामृतवेणुगीतसंमोहितार्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ।। ८१ ।।

मुखी ने कहा—गोष्ठ-चबूतरे पर गोपवर श्रीकृष्ण के सामने इस मृगनयनी ने लीलावश अंग मोटन किया, किन्तु फिर भी उससे शीघ्र अनङ्गभंग ही (कामतरंगमाला ही) वर्धित हो उठी ।।७४।।

अनुवाद—(जृम्भा), यथा—श्रीकृष्ण को देखकर चन्द्रावली गोष्ठ में बार-बार जम्हाई ले रही थी, तो श्रीकृष्ण ने कहा—हे चन्द्रावलि ! तुम साध्वी को कामदेव ने अपने पुष्पवाणों से वशीभूत न हुआ देखकर निश्चय ही जृम्भा—अस्त्र छोड़कर तुम्हें वरवश वशीभूत कर लिया है, यदि ऐसा न होता तो इस गोष्ठ में तुम बार-बार जम्हाई क्यों ले रही होतीं ? ।।७५।।

अनुवाद—(नासिका-प्रफुल्लता), यथा—श्रीकृष्ण वन से गोष्ठ में प्रवेश कर रहे हैं । उनके दर्शन से श्रीराधा जी में अनेक प्रकार की चेष्टा-माधुरी उच्छलित हो रही है । उसे देखकर आकृष्ट-चित्त श्रीकृष्ण विवशता पूर्वक सुबल को कहते हैं—हे सखे ! यह कमलनयनी श्रीराधा दर्शनमात्र से ही मेरे मन में विशेष भाव से रम गयी है । इसकी नासिका प्रफुल्लित हो रही है । उसके अग्र भाग में लटकता हुआ मुक्ता परम शोभा पा रहा है एवं वह निश्वास-वायुरूप झूला में आन्दोलित हो रहा है ।।७६।।

अनुवाद—यद्यपि परवर्ती सब उद्भास्वर पूर्वोक्त मोट्टायित नामक एवं विलास नामक अलंकारों के ही प्रकाश-विशेष हैं (उनसे पृथक् नहीं) तथापि शोभा-विशेष के होने से इनका यहां पृथक् भाव से उल्लेख किया जाता है । (वे उद्भास्वर अलंकार की ही वैचित्री विशेष हैं । विशेष भाव से प्रकाशित होने से इन्हें 'उद्भास्वर' कहा जाता है) ।।७७।।

अनुवाद—(वाचिक-उद्भास्वर) आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, उपलाप, सन्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश एवं व्यपदेश—इन बारहों को मनीषिगण 'वाचिक-उद्भास्वर' कहते हैं, क्योंकि वचन या वाक्य से उनका आरम्भ होता है ।।७८-७९।।

अनुवाद—(आलाप)—विनय-सूचक प्रियउक्ति का नाम 'आलाप' है ।।८०।। श्रीमद्भागवत (१०-२९।४०) में, यथा—व्रजगोपियों ने श्रीकृष्ण से कहा—हे अंग (अतिप्रिय गोविन्द !) त्रिभुवन में ऐसी कौन सी रमणी है, जो आपके वेणु की अमृतसमान सुमधुर एवं मन्द ध्वनि को सुनकर सम्मोहित होकर

यथा वा विदग्धमाधवे—(?)

(४५) कठोरा भव मृद्वी वा प्राणास्त्वमसि राधिके। अस्ति नान्या चकोरस्य चन्द्रलेखां विना गतिः ८२ ॥

अथ विलापः—३८—विलापो दुःखजं वचः ॥ ८३ ॥

यथा श्रीदशमे—(१०।४७।४७)—

(४६) परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला। तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ८४ ॥

संलापः—३९—उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं संलाप इति कीर्त्यते ॥ ८५ ॥

यथा पद्यावल्याम्—(२६९)—(४७) उत्तिष्ठारात्तरौ मे तरुणि मम तरोः शक्तिरारोहणे का
साक्षादाख्यामि मुग्धे तरणिमिह रवेराख्यया का रतिर्मे।
वार्तेयं नौप्रसङ्गे कथमपि भविता नावयोः सङ्गमार्था वार्तापीतिस्मितास्यं जितगिरमजितं राधयाराधयामि

प्रलापः—४०—व्यर्थालापः प्रलापः स्यात् ॥ ८७ ॥

आर्यपथ से विचलित न होगी ? आपका इस त्रिभुवन-वासियों के सौन्दर्यसार-स्वरूप सर्वविलक्षण रूप का दर्शन करके गौएं, पक्षी, वृक्ष एवं हरिण तक भी पुलकित हो उठते हैं। (यहां नायक के प्रति नायिका की चाटुप्रियोक्ति है। नायिका के प्रति नायक की चाटुप्रियोक्ति का रसावह उदाहरण निम्न-लिखित श्लोक में कहते हैं) ॥८१॥

अनुवाद—श्रीविदग्धमाधव (?) में श्रीकृष्ण ने कहा—हे राधिके ! तुम मेरे प्रति कठोर होओ या मृद्वी, तुम ही किन्तु मेरे प्राण हो, क्योंकि चन्द्र को छोड़कर चकोर की और गति नहीं है ॥८२॥

अनुवाद—(विलाप)—दुख जनित वाक्य का नाम 'विलाप' है ॥८३॥ श्रीभागवत (१०।४७।४७) में, यथा—जब श्रीउद्धव जी मथुरा से श्रीकृष्ण के दूत वन कर व्रज में आये तो व्रजगोपियों ने कहा—उद्धव ! हम जानती हैं कि अब श्रीकृष्ण से मिलने की हमारी कोई सम्भावना नहीं है, परन्तु फिर भी उनके मिलने की आशा हमें व्याकुल कर रही है। कामाचरिणी पिंगला ने भी कहा था कि निराशा में ही परम सुख है। यद्यपि यह सब हम जानती हैं, तथापि श्रीकृष्ण-मिलन की आशा हमारे पक्ष में अपरिहार्य है। (पिंगला की आशा श्रीकृष्ण-विषयक न थी—अन्य पुरुष के विषय में थी, वह त्याग की जा सकी, किन्तु श्रीकृष्ण विषयिणी आशा का किसी प्रकार भी त्याग नहीं किया जा सकता) ॥८४॥

अनुवाद—(संलाप)—उक्ति—प्रति-उक्तिमय वाक्य को 'संलाप' कहते हैं ॥८५॥ श्रीपद्यावली (२६९) में, यथा—नौका-विहार के लिये गोवर्धन की मानस-गंगा में श्रीकृष्ण एक नाविक बन कर नौका लिये खड़े थे। उन्होंने श्रीराधा जी को नौका में बैठने के लिये बुलाया। इस प्रसङ्ग में उनकी उक्ति-प्रत्यु-क्तियां इस श्लोक में वर्णन की गयी हैं। श्रीकृष्ण—'हे तरुणी ! तुम आओ, मेरी इस (तरौ) नौका में आरोहण करो।' श्रीराधाजी—(तरौ) वृक्ष पर आरोहण करने की शक्ति मुझ में कहाँ है ? श्रीकृष्ण—'अयि मुग्धे ! तरु (वृक्ष) नहीं, स्पष्ट करके कहता हूँ, इस तरणि में आरोहण करो। श्रीराधा जी—'तरणि (सूर्य) में मेरी कैसी प्रीति ?' श्रीकृष्ण—मैं कह रहा हूँ नौ (नौका)-प्रसङ्ग में। श्रीराधा—'(नौ) हम दोनों के प्रसङ्ग (सङ्गम) की कोई बात तो थी नहीं।'—श्लोक-कवि कहते हैं, श्रीराधा जी की वाक्यभङ्गीसे पराजित होकर अजित श्रीकृष्ण मुसकरा दिये। मैं ऐसे हास्यमुख श्रीकृष्णकी आराधना करता हूँ ॥८६॥

अनुवाद—(प्रलाप)—व्यर्थ आलाप का नाम 'प्रलाप' है ॥८७॥ यथा—श्रीललिता के प्रति श्री-कृष्ण का अतिशय प्रियव्यवहार देखकर एक गोपी असहिष्णु होकर विकार ग्रस्ता हो उठी और श्रीकृष्ण

यथा—(४८) करोति नादं मुरली रली रली व्रजाङ्गनाहृन्मथनं थनं थनम् ।
ततो विघूना भजते जते जते हरे भवन्तं ललिता लिता लिता ।। ८८ ।।

अनुलापः—४१—अनुलापो मुहुर्वचः ।। ८९ ।।

यथा—(४९) कृष्णः कृष्णो नहि नहि तापिच्छोऽयं वेणुर्वेणुर्नहि नहि भृङ्गोद्घोषः ।
गुञ्जा गुञ्जा नहि नहि बन्धूकाली नेत्रे नेत्रे नहि नहि पद्मद्वन्द्वम् ।। ९० ।।

अपलापः—४२—अपलापस्तु पूर्वोक्तस्यान्यथा योजनं भवेत् ।। ९१ ।।

यथा—(५०) फुल्लोज्ज्वलवनमालं कामयते का न माधवं प्रमदा ।
हरये स्पृहयसि राधे नहि नहि वैरिणि वसन्ताय ।। ९२ ।

संदेशः—४३—संदेशस्तु प्रोषितस्य स्ववार्ताप्रेषणं भवेत् ।। ९३ ।।

यथा—(५१)
व्याहर मथुरानाथे मम संदेशप्रहेलिकां पान्थ । विकला कृता कुहूभिर्लभते चन्द्रावली क्व लयम् ।। ९४ ।

से बोली—हे कृष्ण ! मैं समझ गयी हूँ, तुम्हारी मुरली 'रली-रली' ब्रजांगनाओं के हृदय-मथन 'थन-थन' शब्द प्रकाश करती है । उसीसे ललिता 'लिता-लिता' व्यथित चित्त होकर तुम्हारा भजन 'जन-जन' कर रही है । (यहां 'मुरली' कहते हुए जो 'रली-रली' 'हृन्मथन' कहने में 'थन-थन' ललिता कहने में 'लिता-लिता' और 'भजते' कहने में 'जते-जते' शब्द कहे गये हैं—रली-रली, थन-थन लिता-लिता और जते-जते—ये शब्द व्यर्थ एवं निरर्थक हैं—ऐसे शब्दों के प्रयोग को 'प्रलाप' कहा जाता है ।।८८।।

अनुवाद—(अनुलाप)—एक ही वाक्य के बार-बार कहने को 'अनुलाप' कहते हैं ।।८९।। यथा—वन्धुकपुष्प तथा स्थलकमल—इन दोनों के साथ मिलित एक तमालवृक्ष को देखकर हर्ष एवं उत्सुकता से श्रीराधाजी उसे दिखाते हुए ललिता जी से बोली—ललिते ! ये दोनों क्या नेत्र हैं नेत्र ? ना, ना ये दोनों हैं पद्म पद्म सखि ! ये क्या गुञ्जा हैं गुञ्जा ?—ना ना, वह बन्धुकपुष्प हैं । यह क्या वेणु है, वेणु ? ना, ना, वह तो भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं । यह क्या कृष्ण हैं कृष्ण ? ना ना, यह तो तमाल है । (प्रायः एक ही शब्द का इस वाक्य में जो दो बार प्रयोग हुआ है, उसे 'अनुलाप' कहते हैं) ।।९०।।

अनुवाद—(आलाप)—अपने कहे हुए पहले वाक्य के दूसरे अर्थ लगाने का नाम 'अपलाप' है ।।९१।। यथा—कलहान्तरिता श्रीराधा जी विशाखा के साथ अकेली बैठी हैं । किन्तु श्रीकृष्ण के साथ मिलन की अतिशय उत्कण्ठावश बोलीं—सखि ! फुल्ल, उज्ज्वल वनमाला शोभित माधव को कौन प्रमदा नहीं चाहती है(अकस्मात् ललिताजी वहां आ पहुंची और श्रीराधाजी की बातको सुनकर बोली)—राधे ! तुम क्या फिर भी श्रीकृष्ण की वाञ्छा कर रही हो ? (तब श्रीराधा अपने पूर्वोक्त माधव शब्द का दूसरा अर्थ लगाते हुए बोलीं)—हे बैरिणि ! ना-ना, कृष्ण की नहीं, श्रीकृष्ण की नहीं । मैं तो वसन्त की बात कह रही थो । (—वसन्त पक्ष में फुल्ल एवं उज्ज्वल वन श्रेणी से शोभित होना अर्थ है और श्रीकृष्ण के पक्ष में प्रफुल्ल-उज्ज्वल वनमाला से शोभित होना अर्थ होता है) ।।९२।।

अनुवाद—(संदेश)—परदेश में गये हुए कान्त के पास अपनी वार्त्ता के भेजने को 'सन्देश' कहते हैं ।।९३।। यथा—श्रीकृष्ण मथुरा में विराजमान थे । मथुरा जाने वाले एक पथिक को चन्द्रावली की सखी पद्मा ने कहा—हे पथिक ! तुम मथुरा नाथ के पास जाकर मेरी यह सन्देश-प्रहेलिका कहना—कुछ समूह द्वारा (अमावस्या द्वारा, पक्ष में कोकिलों को कुहू-ध्वनि द्वारा) चन्द्र-श्रेणी, पक्षान्तर में चन्द्रावली सखी) विकला (कलाहीन, पक्ष में व्याकुला) होते-होते कहां लय हो जाये ? ।।९४।।

अतिदेशः—४४—सोऽतिदेशस्तदुक्तानि मदुक्तानीति यद्वचः ॥ ९५ ॥

यथा—(५२)—वृथा कृथास्त्वं विचिकित्सितानि मा गोकुलाधीश्वरनन्दनात्र ।
गान्धर्विकाया गिरमन्तरस्थां वीणेव गीतिं ललिता व्यनक्ति ॥ ९६ ॥

अथ अपदेशः—४५—अन्यार्थकथनं यत्तु सोऽपदेश इतीरितः ॥ ९७ ॥

यथा—(५३)
धत्ते विक्षतमुज्ज्वलं पृथुफलद्वन्द्वं नवा दाडिमी भृङ्गेन व्रणितं मधूनि पिबता ताम्रं च पुष्पद्वयम् ।
इत्याकर्ण्य सखीगणं गुरुजनालोके किल श्यामला चेलेन स्तनयोर्युगं व्यवदधे दन्तच्छदौ पाणिना ॥ ९८ ॥

उपदेशः—४६—यत्तु शिक्षार्थवचनमुपदेशः स उच्यते ॥ ९९ ॥

यथा छन्दोमञ्जर्याम्—(५४) मुग्धे ! यौवनलक्ष्मीर्विद्युद्विभ्रमलोला त्रैलोक्याद्भुतरूपो गोविन्दोऽतिदुरापः
तद्वृन्दावनकुञ्जे गुञ्जद्भृङ्गसनाथे श्रीनाथेन समेता स्वच्छन्दं कुरु केलिम् ॥ १०० ॥

अनुवाद—(अतिदेश)—'वे जो कहते हैं, वही मैं कहती हूँ'—इस प्रकार के वाक्य को 'अतिदेश' कहते हैं ॥९५॥ यथा—एक समय श्रीराधा मानवती हो गयीं। श्रीकृष्ण के द्वारा अनेक अनुनय-विनय करने पर भी उनका मान भंग नहीं हुआ। यह देखकर ललिता जी ने कहा—'कृष्ण ! क्यों तुम यहां श्रीराधा की अनुनय-विनय कर रहे हो यहां से चले जाओ। ललिता जी के ऐसे कठोर वचन सुनकर भी श्रीकृष्ण श्रीराधा जी के मुख से कुछ सुनने के लिये वहां खड़े रहे। तब वृन्दा ने कहा—हे व्रजेन्द्रनन्दन ! ललिता जी के इन वाक्यों में तुम वृथा ही संशय कर रहे हो। श्रीराधा के हृदय के वाक्य ही ललिताजी वीणा की भांति बाहर व्यक्त कर रही हैं। (यहां जो बात ललिता जी कह रही हैं, वही बात श्रीराधा जी के हृदय की बात होने से यह वाक्य 'अतिदेश' है ॥९६॥

अनुवाद—(अपदेश)—वक्तव्य विषय के अन्य प्रकार के अर्थ की कल्पना करने को 'अपदेश' कहते हैं ॥९७॥ यथा – श्रीकृष्ण सहित विलास के बाद श्यामला का अधर दन्तक्षत एवं वक्षोजद्वय नख-क्षत हो गये थे, किन्तु उसे आवेश के कारण इस बात का अनुसन्धान ही न था, वह गुरुजन के सामने स्वच्छन्द विचर रही थी, तब उसकी एक सखीने जो कुछ कहा एवं श्यामला ने जो किया। उसका वर्णन इस श्लोक में अपदेशरूप में उद्धृत किया गया है—यह नवीना दाड़िमी (अनार वृक्ष) शुकचोंच द्वारा विक्षत उज्ज्वल तथा स्थूल दो फल धारण कर रही हैं। मधुपानरत भ्रमर के द्वारा क्षतचिह्न-चिह्नित लालरंग के दो पुष्प भी धारण कर रही है। सखी की इस बात को सुनकर श्यामला ने गुरुजन के सामने अपने वक्ष को आंचल द्वारा ढक दिया और हाथ से अधरोष्ठ को आवृत कर दिया। यहां प्रकृत अर्थ का अन्य कल्पित अर्थ ग्रहण किया गया ॥९८॥

अनुवाद—(उपदेश)—जो वाक्य शिक्षा के लिये कहा जाता है, उसे 'उपदेश' कहते हैं ॥९९॥ छन्दमञ्जरी में, यथा—श्रीराधा जी मानवती हो उठीं। उन्हें श्रीकृष्ण के साथ मिलित कराने के उद्-देश्य से एक सखी ने कहा—हे मुग्धे ! यौवन सम्पद विद्युत की चमक की भांति अति चञ्चल—अस्थिर है, त्रिभुवन में अद्भुतरूपशली श्रीकृष्ण भी अति दुर्लभ हैं। अतः मधुकरगुञ्जित वृन्दावन-कुञ्ज में श्रीनाथ से मिलित होकर स्वच्छन्दता पूर्वक केलि करो ॥१००॥

निर्देशः—४७—निर्देशस्तु भवेत्सोऽयमहमित्यादिभाषणम् ॥ १०१ ॥

यथा—(५५) सेयं मे भगिनी राधा ललितेयं च मे सखी । विशाखेयमहं कृष्ण तिस्रः पुष्पार्थमागताः १०२

व्यपदेशः—४८—व्याजेनात्माभिलाषोक्तिर्व्यपदेश इतीर्यते ॥ १०३ ॥

यथा—(५६)

विलसन्नवकस्तवका काम्यवने पश्य मालती मिलति । कथमिव चुम्बसि तुम्बीमथवा भ्रमरोऽसि किं ब्रूमः

४९—अनुभावा भवन्त्येते रसे सर्वत्र वाचिकाः । माधुर्याधिक्यपोषित्वादिह व परिकीर्तिताः ॥ १०५ ॥

इत्यनुभावा-प्रकरणम्

अथ सात्त्विका-प्रकरणम्

तत्र स्तम्भः—स हर्षाद्यथा दानकेलिकौमुद्याम्—(३६)

(१) अभ्युक्ष्य निष्कं पतयालुना मुहुः स्वेदेन निष्कम्पतया व्यवस्थिता ।
पञ्चालिकाकुञ्चितलोचना कथं पञ्चालिकाधर्ममवाप राधिका ॥ १ ॥

अनुवाद—(निर्देश)—'वही यह मैं हूँ'—इत्यादि रूप से भाषण को 'निर्देश' कहते हैं ॥१०१॥ यथा—श्रीवृन्दावन में सखियों के साथ श्रीराधा जी को पुष्प चयन करते हुए देखकर श्रीकृष्ण ने पूछा—तुम कौन हो ? और यहाँ क्या करने आयी हो ? तब विशाखा जी ने कहा—हे कृष्ण ! यह मेरी बहन वही श्रीराधा है । यह मेरी सखी ललिता है और यह मैं विशाखा हूँ । हम तीनों यहां पुष्पचयन करने के लिये आयी हूँ ॥१०२॥

अनुवाद—(व्यपदेश) छल पूर्वक अपनी अभिलाष को प्रकाश करना 'व्यपदेश' कहलाता है ॥१०३॥ यथा—मालती नाम की एक गोपी की किसी सखी ने विपक्ष की गोपी के प्रति श्रीकृष्ण को रतिलालस देखकर सामने आये एक मधुकर को सम्बोधन करते हुए कहा—हे मधुप ! यह देख, काम्यवन में नवगुच्छों से भूषिता मालती कैसी शोभा पा रही है, तुम कैसे तुम्बी को चुम्बन कर रहे हो ? तुम तो भ्रमर हो, तुम्हें और मैं क्या कहूँ ? तुम्हारा तो स्वभाव ही ऐसा है ॥१०५॥

अनुवाद—उपर्युक्त वाचिक अनुभावों की शान्त, प्रीत, आदि सब रसों में सम्भावना रहती है । किन्तु मधुररस में अधिक माधुर्य-पोषक होने से यहां—मधुररस प्रसङ्ग में इनका उल्लेख किया गया है ॥१०६॥

सात्त्विक-प्रकरण

सत्त्व से उत्पन्न भाव को सात्त्विक-भाव कहा जाता है । किन्तु यह सत्त्व नहीं है । श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (२।३) में इस विषय में विस्तार पूर्वक कहा जा चुका है—यहां इतना फिर उल्लेखनीय है कि सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय । ये समस्त सात्त्विक भाव भी अनेक कारणों से उदित होते हैं—अब क्रमशः इनके कारणों को सोदाहरण निरूपण करते हैं—

भयाद्यथा—(२)
घनस्तनितचक्रेण चकितेयं घनस्तनी। बभूव हरिमालिङ्ग्य निश्चलाङ्गी व्रजाङ्गना॥ २॥
दिग्धोऽयम्।

आश्चर्याद्यथा—(३) तव मधुरिमसम्पदं विलक्ष्य त्रिजगदलक्ष्यतुलां मुकुन्द राधा।
कलय हृदि वलवच्चमत्क्रियासौ समजनि निर्निमिषा च निश्चला च॥ ३॥

विषादाद्यथा—(४) विलम्बमम्भोरुहलोचनस्य विलोक्य संभावितविप्रलम्भा।
संकेतगेहस्य नितान्तमङ्के चित्रायिता तत्र बभूव चित्रा॥ ४॥

अमर्षाद्यथा—(५) माधवस्य परिवर्तितगोत्रां श्यामला निशि गिरं निशमय्य।
देवयोषिदिव निर्निमिषाक्षी छायया च रहिता क्षणमासीत्॥ ५॥

अथ स्वेदः—स हर्षाद्यथा श्रीविष्णुपुराणे—
(६) गोपीकपोलसंश्लेषमभिपत्य हरेर्भुजौ। पुलकोद्गमशस्याय स्वेदाम्बुघनतां गतौ॥ ६॥

अनुवाद—स्तम्भ—(हर्षजात-स्तम्भ)—श्रीदानकेलिकौमुदी (३६) में, यथा—दानघाटी में जब श्रीकृष्ण ने दानछल से श्रीराधा जी को रोका, तो वह श्रीकृष्ण-दर्शन कर हर्षातिरेक से स्तब्ध हो उठीं। अवसर पाकर बाद में श्रीकृष्णने मधुमंगल से पूछा—हे सखे ! आज श्रीराधा जी बार-बार अपने स्वेदजल से पदक को अभिषिक्त करते हुए निश्चलभाव से अवस्थान कर रही थीं। पान्च सखियों के साथ रहने पर भी वह लज्जा से कुटिल नेत्रा होकर साक्षात् पुतली की भांति स्तब्ध क्यों हो गयीं ? ॥१॥

अनुवाद—(भयोत्पन्न-स्तम्भ), यथा—श्रीराधाजी प्रणय के कारण निर्हेतुक मान ठान रही थीं। श्रीकृष्ण पास खड़े उन्हें मना रहे थे कि इतने में मेघ की गर्जना हो उठी। तब क्या हुआ, उसे नान्दी-मुखी पौर्णमासी से कह रही हैं—घनस्तनी श्रीराधा सुन्दरी मेघ की गर्जना से भयभीत हो उठी और श्रीकृष्ण को आलिगन करते हुए निश्चल हो गयी। (संचारी भावोत्थ होने से यह स्तम्भ दिग्ध माना जाता है) ॥२॥

अनुवाद—(आश्चर्य-जनित स्तम्भ), यथा—श्रीराधा जी को दिखाते हुए मधुमंगल ने श्रीकृष्ण से कहा—यह देख, मुकुन्द ! त्रिभुवन में तुलना रहित तुम्हारी माधुर्य-सम्पत् को देख कर इस श्रीराधा के हृदय में महा चमत्कारी क्रिया उत्पन्न हो रही है। इसलिये इसकी पलकें नहीं पड़ रही हैं, इसके सब अंग निश्चल हो गये हैं ॥३॥

अनुवाद—(विषाद-जात स्तम्भ), यथा—श्रीकृष्ण-मिलन के लिये चित्राजी संकेत-कुञ्ज में गयी, किन्तु किसी कारणवश श्रीकृष्णको आनेमें देर हो गयी विप्रलम्भकी आशंका करते हुए चित्रा स्तम्भ-भाव को प्राप्त हो गयी। यही बात चित्राकी एक सखी अपनी एक सखीको बता रही है—आज कमलनयन श्रीकृष्णके आने में विलम्ब देखकर विप्रलम्भकी आंशका वश संकेत कुञ्जके ठीक द्वार देश पर ही चित्रा चित्र की भांति लिखी (स्तम्भित) रही आयी ॥४॥

अनुवाद—(अमर्षजात स्तम्भ), यथा—श्यामला की सखी ने श्रीराधा जी के प्रति कहा—प्रिय सखि ! आज रजनी में श्यामला के साथ श्रीकृष्ण विहार कर रहे थे, अचानक उनके मुख से अन्य गोपी (पाली) का नाम 'हे प्रिय पालि !' इस प्रकार निकल पड़ा। यह सुनते मात्र ही श्यामला रोष में भरकर अपलक-नयनी हो गयी एवं छाया-शून्य देवनारी की भांति वह निर्निमेष रही आयी ॥५॥

यथा वा—ध्रुवमुज्ज्वलचन्द्रकान्तयष्ट्या विधिना माधवनिर्मितास्ति राधा।
यदुदञ्चति तावकास्यचन्द्रे द्रवतां स्वेदभरच्छलाद्विभर्ति॥ ७॥

भयाद्यथा—(८) मा भूर्विशाखे तरला विदूरतः पतिस्तवासौ निबिडा लताकुटी।
मया प्रयत्नेन कृताः कपोलयोः स्वेदोदबिन्दुर्मकरीर्विलुम्पति॥ ८॥

क्रोधाद्यथा—(९) खिन्नापि गोत्रस्खलनेन पाली शालीनभावं छलतो व्यतानीत्।
तथापि तस्याः पटमार्द्रयन्ती स्वेदाम्बुवृष्टिः क्रुधमाचचक्षे॥ ९॥

अथ रोमाञ्चः—स आश्चर्याद्यथा—(१०) चुम्बन्तमालोक्य चमूरुचक्षुषां चमूरमूषां युगपन्मुरद्विषम्।
व्योमाङ्गणे (ने) तत्र सुराङ्गनावली रोमाञ्चिता विस्तृतदृष्टिराबभौ॥ १०॥

हर्षाद्यथा श्रीदशमे—(१०।३२।८)—
(११) तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च। पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता॥ ११॥

अनुवाद—(स्वेद—हर्षजनित स्वेद)—श्रीविष्णुपुराणमें, यथा—श्रीरासक्रीड़ा प्रसङ्ग में श्रीपराशर जी ने श्रीमैत्रेय से कहा—श्रीहरि की दोनों भुजाओं ने गोपियों के कपोलों का जब आलिंगन किया, तो उनके कपोलरूपी भूमिपर पुलकरूप शस्य (धान) उत्पन्न करने के लिये स्वेदजल रूप मेघता को वे प्राप्त हो गयीं—अर्थात् उन भुजाओं में स्वेद बहने लगा॥६॥ (द्वितीय उदाहरण), यथा—श्रीराधा जी वृन्दा के साथ क्रीड़ाकुञ्ज में आयीं। श्रीकृष्ण-दर्शन करते ही उनके सारे शरीर पर स्वेद बहने लगा। यह देखकर वृन्दा ने श्रीकृष्ण के प्रति कहा—हे माधव! लगता है विधाता ने उज्ज्वल चन्द्रकान्तमणि यष्टि (शिला) द्वारा श्रीराधा की रचना की है, क्योंकि तुम्हारे मुखचन्द्र के उदय होते ही यह अतिशय स्वेदजल से द्रवत्व को प्राप्त हो रही हैं—भीगी जा रही हैं॥७॥

अनुवाद—(भयजनित स्वेद), यथा—एकबार विशाखा जी निभृत-निकुञ्ज में श्रीकृष्ण के साथ मिलित हो रही थीं। दैवयोग से उसने सुना कि उस का पतिमन्य व्यक्ति उधर आ रहा है। तब भयसे विशाखा जी स्वेद में सराबोर हो उठी। तब श्रीकृष्ण ने उससे कहा—हे विशाखे! अस्थिर मत होवो, तुम्हारा पति बहुत दूर है। यह कुञ्जकुटीर भी अति घनी है, (निकट आने पर भी वह तुम को नहीं देख सकेगा अतः भय मत करो। मैंने अति यत्न से तुम्हारे कपोलों पर जो मकरी-पत्र की रचना की थी, वह तुम्हारे स्वेदजल से धुली जा रही है॥८॥

अनुवाद—(क्रोधजनित स्वेद), यथा—श्रीकृष्ण जब पाली गोपी से विहार कर रहे थे, अचानक उनके मुख से 'हे श्यामले!' ऐसा उच्चारण हो गया, तब पाली की जो अवस्था हुई उसे नान्दीमुखी पौर्णमासी के प्रति कह रही है—हे देवि! गोत्र-स्खलन होने से अर्थात् पाली नाम के परिवर्त्त में श्यामला का नाम उच्चारण करने से यद्यपि पाली ने छलपूर्वक अपनी शालीनता को बनाये रखा, तथापि उसका स्वेदजल उसके वस्त्रों को भिगोते हुए उसके क्रोधभाव को प्रकाशित करने लगा॥९॥

अनुवाद—(रोमाञ्च)—आश्चर्य जनित रोमाञ्च, यथा—रासमहोत्सवमें एक ही समय प्रति व्रज-गोपी के साथ विहार-परायण श्रीकृष्ण को देखकर विमानचारिणी सुरललनाएं विस्मित होकर रोमांचित हो उठीं—उसी का वर्णन इस श्लोक में किया गया है—एक ही समय असंख्य मृगनैनी व्रजगोपियों को श्रीकृष्ण चुम्बन कर रहे हैं, यह देखकर आकाश में देवांगनायें नेत्र विस्फारित करके रोमांचित-देह हो उठीं॥१०॥

अथवा रुक्मिण्याः स्वयंवरे—(१२) रोमाणि सर्वाण्यपि बालभावात्प्रियश्रियं द्रष्टुमिवोत्सुकानि।
तस्यास्तदा कोरकिताङ्गयष्टेरुद्ग्रीविकादानमिवान्वभूवन् ॥ १२ ॥

भयाद्यथा—(१३) परिमलचटुले द्विरेफवृन्दे मुखमभिधावति कम्पिताङ्गयष्टिः।
विपुलपुलकपालिरद्य पाली हरिमधरीकृतह्रीधुरालिलिङ्ग ॥ १३ ॥

अथ स्वरभङ्गः—स विषादाद्यथा श्रीगीतगोविन्दे—(६।२)
(१४) विपुलपुलकपालिः स्फीतसीत्कारमन्तर्जनितजडिमकाकुव्याकुलं व्याहरन्ती।
तव कितव विधायामन्दकन्दर्पचिन्तां रसजलनिधिमग्ना ध्यानलग्ना मृगाक्षी ॥ १४ ॥

विस्मयाद्यथा—(१५) गुरुसंभ्रमस्तिमितकण्ठया मया करसंज्ञयापि बहुधावबोधिता।
न पुरस्त्वमत्र हरिवेणुवादने पुलकान् विलोकितवती लतास्वपि ॥ १५ ॥

अनुवाद—(हर्ष-जनित रोमाञ्च) श्रीभागवत (१०।३२।८) में, यथा—शारदीय रासोत्सव में अन्तर्हित होने के बाद जब श्रीकृष्ण पुनः अचानक गोपियों के बीच आविर्भूत हुए, तो किसी एक ब्रज-गोपी ने अपने नेत्रों द्वारा उन्हें हृदय में ले जाकर नेत्र बन्द कर लिये, एवं उन्हें आलिंगन करके योगियों की भांति पुलकित शरीर होकर आनन्द-सागर में डूब गयी ॥११॥ अथवा, रुक्मिणी-स्वयंवर में यथा—ब्राह्मण के मुख से श्रीकृष्ण के आने का समाचार सुनकर श्रीरुक्मिणी जी के रोमांचित होने का वर्णन करते हैं श्रीपाद ईश्वर पुरी—इस समय प्रियतम के सौन्दर्य-दर्शन की आकांक्षा में उत्सुका होकर श्री-रुक्मिणी देवी का देह मानो कण्टकि की भांति हो उठा और उस समय उसके रोमसमूह मानो बालकोंकी भांति ग्रीवा उठाकर प्रियतम को देखने लगे—अर्थात् उनके रोंगटे खड़े हो गये ॥१२॥

अनुवाद—(भयजनित रोमांच), यथा—कुञ्जग्रह में पाली मानिनी हो उठीं, किन्तु जब भ्रमर उसके मुखसौरभ में आकृष्ट होकर उसके मुख पर पतित होने लगे तो वह भयभीत हो उठी। उसकी अवस्था का वर्णन करती है एक सखी अपनी एक सखी के प्रति—सौरभ-चञ्चल मधुकरगण पाली के मुख की ओर भागने लगे, वह भयवश काँपने लगी और उसके शरीर में विपुल पुलकावली हो उठी। उसने लज्जा को धिक्कार करते हुए श्रीकृष्ण का आलिंगन कर लिया ॥१३॥

अनुवाद—(स्वरभङ्ग)—विषाद-जनित स्वरभंग, श्रीगीतगोविन्द (६।२) में, यथा—श्रीराधा जी की विरह व्याकुल दशा देखकर उनकी सखी ने श्रीकृष्ण के पास जाकर कहा—हे शठ! मृगनयनी श्रीराधा तुम्हारे महाकाम-जनित क्लेश को स्मरण करते हुए ध्यानमग्न होकर विषसागर में निमग्न हो रही है। उसके शरीर पर विपुल पुलकावली है, मुख से घोर हुंकार-ध्वनि निकल रही है, आप जो श्रीराधा के विरह में व्याकुल हो रहे हैं, उस दुखको वह स्मरण करके स्तब्ध सी हो रही है और उसका स्वर-भंग हो जाने से व्याकुलता के कारण वह अत्यन्त धीरे और अस्पष्ट बोल पा रही है ॥१४॥

अनुवाद—(विस्मय जनित स्वर-भङ्ग), यथा—श्रीराधा जी ने देखा कि श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि से लताएँ पुलकित हो उठी हैं तब वह चित्त में अति विस्मित होकर ललिता सखी से बोलीं—सखि! अभिसार के आवेग में बड़ी भारी हड़बड़ाहट में मेरा कण्ठ स्तब्ध हो गया था, मैं बोल न पा रही थी, फिर भी मैंने तुम्हें बार-बार हाथ के संकेत से जनाया, किन्तु तुम सामने के निकुञ्ज भवन की लताओं को न देख पायी, जो श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि से पुलकित हो रही थीं ॥१५॥

अमर्षाद्यथा—(१६) प्रेयस्यः परमाद्भुताः कति न मे दीव्यन्ति गोष्ठान्तरे
तासां नोज्ज्वलनर्मभङ्गिभिरपि प्राप्तोऽस्मि तुष्टिं तथा।
द्वित्रैरद्य मुहुस्तरङ्गदधरप्रस्तार्धवर्णैर्यथा राधायाः सखि रोषगद्गदपदैराक्षेपवाग्बिन्दुभिः॥ १६॥

हर्षाद्यथा रुक्मिणीस्यंवरे—(१७) पश्येम तं भूय इति ब्रुवाणां सखीं वचोभिः किल सा ततर्ज।
न प्रीतिकर्णेजपतां गतानि विदांबभूव स्वरवैकृतानि॥ १७॥

भीतेर्यथा—(१८) प्रथमसंगमनर्मणि साध्वसस्खलितयापि गिरा सखि राधिका।
नवसुधाह्लदिनीं मदिरेक्षणा श्रुतितटे मम कांचिदवीवहत्॥ १८॥

अथ वेपथुः—स त्रासेन यथा—(१९) केशवो युवतिवेशभागयं बालिशः किल पतिस्तवाग्रतः।
राधिके तदपि मूर्तिरद्य ते किं प्रवातकदलीतुलां बधे॥ १९॥

अनुवाद—(अमर्षजात-स्वरभङ्ग), यथा—श्रीराधा जी की अनुपस्थिति में श्रीकृष्ण नें विशाखा जी से कहा—हे विशाखे ! इस गोष्ठ में कितनी-कितनी मेरी परमाद्भुत प्रेयसियां विलास नहीं कर रही हैं ? उनके उज्ज्वल नर्म वचनों के प्रयोग से भी मैं उतना सन्तुष्ट नहीं होता हूँ, जैसा कि आज श्री राधा के रोषभरे दो तीन तिरस्कार सूचक वाक्य-विन्दुओं से तृप्त हुआ हूँ, वे वाक्य चाहे अस्पष्ट थे, तो भी तरङ्गों की भांति चंचलता को धारण कर उसके कम्पायमान अधरों से ही निसृत हो रहे थे॥१६॥

अनुवाद—(हर्ष-जनित स्वर-भङ्ग) रुक्मिणी-स्वयम्वर में, यथा—सखी सहित श्रीरुक्मिणी ने कुण्डनपुर में आये श्रीकृष्ण के पहले निर्जन स्थान पर दर्शन किये। पुनः दर्शन के लिये उत्कण्ठिता होते हुए भी रुक्मिणी जी ने अपनी सखी को फिर उधर जाने से रोका, किन्तु उसके हर्षजनित स्वरभङ्ग ने ही उसके भीतरी आनन्द को प्रकटित कर दिया—श्रीपाद ईश्वर पुरी इसी प्रसंग को कहते हैं—सखी ने कहा—सखि ! चल एकवार फिर श्रीकृष्ण के दर्शन करें—यह वचन सुनते ही रुक्मिणी जो अपनी सखी की तर्जना करने लगीं, किन्तु उसके कण्ठ का स्वरभङ्ग कृष्ण-प्रीति को सूचित कर रहा था–यह वह न जान पायी॥१७॥

अनुवाद—(भयजनित स्वरभङ्ग), यथा—श्रीराधा जी से प्रथम मिलन समय श्रीकृष्ण ने उसके सम्भ्रमजात जिस गद्गद वाक्यामृत का पान किया, उस सम्बन्धमें वह विशाखाजी को एकान्तमें बता रहे हैं—हे विशाखे ! प्रथम संगमसमय में खञ्जन नैनी श्रीराधा जी ने परिहास एवं सम्भ्रममिश्रित जिन स्खलित (गद्गद) वचनों का उच्चारण किया, उन्होंने मेरे श्रवण-प्रांगण में मानो एक अनिर्वचनीय सुधा नदी को प्रवाहित कर दिया॥१८॥

अनुवाद—(कम्प)—भयजनित कम्प, यथा—एकदिन जटिला ने श्रीराधा को घर से बाहर जाने को मना कर दिया। चतुरशिरोमणि श्रीकृष्ण एक रमणी का वेश बनाकर श्रीराधा के पास आ पहुँचे। दैवयोग से अभिमन्यु श्रीराधा का (पतिमन्य पति) भी उसी समय वहां आ गया। उसे देखते ही श्रीराधा जी भय से काँपने लगीं। पास बैठी विशाखा ने श्रीराधा से कहा—हे राधे ! श्रीकृष्ण तो नारी वेश में यहां आये हैं, फिर तुम्हारा पति तो मूर्ख है, फिर भी तुम पवन वेग से झूमते केला वृक्ष की भांति क्यों काँप रही हो ?॥१९॥

अनुवाद—(हर्षजनित कम्प), यथा—श्रीराधा जी एवं ललिता जी वृन्दावन में पुष्पचयन कर रही थीं कि सामने श्रीकृष्ण आ उपस्थित हुए। दर्शनानन्द से श्रीराधा जी अतिशय काँपने लग गयीं।

हर्षेण यथा—(२०)
बल्लवराजकुमारे मिलिते पुरतः किमात्तकम्पासि । तव पेशलास्मि पार्श्वे ललितेयं परिहरातङ्कम् ॥२० ॥
अमर्षेण यथा—(२१)
यदि कुपितासि न पद्मे किं तमुरुत्कम्पते प्रसभम् । विचलति कुतो निवाते दीपशिखा निर्भरस्निग्धा २१ ॥
अथ वैवर्ण्यम्—तद्विषादाद्यथा—

(२२) मधुरिमभरैर्मुक्तस्यालं कलङ्कितकुङ्कुमैर्द्विरदरदनश्येतीमाभां चिराय वितन्वतः ।
विधुरपि तुलामाप्तस्तस्या मुखस्य बकीरिपो ! वद परमतः सारङ्गाक्ष्याः किमस्ति विडम्बनम् ॥२२

रोषाद्यथा—(२३) विलसति किल वृन्दारण्यलीलाविहारे कथय कथमकाण्डे ताम्रवक्त्रासि वृत्ता ।
प्रसरदुदयरागग्रस्तपूर्णेन्दुबिम्बा किमिव सखि निशीथे शारदी जायते द्यौः ? ॥ २३ ॥

भीतेर्यथा—(२४)—क्रीडन्त्यास्तटभुवि माधवेन सार्धं तत्रारात्पतिमवलोक्य विक्लवायाः ।
राधायास्तनुमनु कालिमा तथासीत्तेनेयं किमपि यथा न पर्यचायि ॥ २४ ॥

तब ललिता जी ने आश्वस्त करते हुए कहा—हे सखि ! ब्रजेन्द्रनन्दन को सामने आया देख कर तुम कांप क्यों रही हो ? यह चतुर ललिता तो तुम्हारे पास ही खड़ी है, तुम किसी प्रकार का भय मत करो ॥२०॥

अनुवाद—(अमर्षजात कम्प), यथा—एकबार श्रीकृष्ण ने पद्मा को ललिता नामसे पुकारा। पद्मा उसे सहन न कर क्रोध में क्षुब्ध हो उठी। किन्तु बाहर प्रकाश नहीं किया। तब श्रीकृष्ण ने विनयपूर्वक उसे कहा—हे पद्मे ! तुम यदि कुपित नहीं हो रही हो, तो तुम्हारा शरीर एकदम क्यों कांप रहा है ? जिस स्थान पर वायु ही न हो, वहां तैल-घी की जलती दीपशिखा कभी काँपती है क्या ? और यदि तुम अतिशय प्रेमवती हो तो भी तुम्हारा शरीर क्यों काँप रहा है ? ॥२१॥

अनुवाद—(वैवर्ण्य) विषाद-जात वैवर्ण्य, यथा—चन्द्रावली पद्मा के साथ केलिकुंज में श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा कर रही है। विप्रलब्धा अवस्था को प्राप्त कर उसके शरीर का रंग सफेद (फीका) पड़ गया। श्रीकृष्ण के आने पर पद्मा उनका तिरस्कार करते हुए बोली—हे वकीरिपो ! पूतना-शत्रो ! (बाल्यावस्था से ही स्त्रीवध करने में निर्दयी !) मृगनयनी इस चन्द्रावली को और अधिक क्या वंचना हो सकती है कि उसका मुख इस समय चन्द्र के समान सफेद पड़ गया है ? अहो ! उसका मुख पहले तो केसर-विनिन्दी महासुषमा मण्डित माधुर्य पूर्ण था, अब तो वह माधुर्य हीन होकर बहुत काल से हाथीदन्त ही भांति सफेद पड़ गया है ॥२२॥

अनुवाद—(रोषजनित वैवर्ण्य), यथा—श्रीकृष्ण के वक्षस्थल में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर श्रीराधा जी उसे अन्य रमणी मानकर अचानक मानिनी हो उठीं, तब श्रीकृष्ण ने कहा—हे राधे ! वृन्दावन में लीला-विनोद विहार करते करते हठात् तुम्हारा वदन लाल कैसे हो उठा है ? बोलो तो, आधीरात में क्या कभी कभी शरद कालीन पूर्ण चन्द्रमण्डल ललिमा धारण करता है ? ॥२३॥

अनुवाद—(भयजनित वैवर्ण्य), यथा—यमुनापुलिन प्रदेश में श्रीराधा जी श्रीकृष्ण के साथ विहार कर रही थी, उन्होंने देखा कि उनका पतिमन्य अभिमन्यु उधर आ रहा है। उसको देखते ही श्रीराधा जी का शरीर भय से विवर्ण हो गया। यह देखकर विस्मित चित्त होकर वृन्दाने आकर पौर्ण-

अथाश्रु—तद्धर्षाद्यथा गीतगोविन्दे—(११।८)—
(२५) अतिक्रम्यापाङ्गं श्रवणपथपर्यन्तगमनप्रयासेनेवाक्ष्णोस्तरलतरतारं पतितयोः ।
तदानीं राधायाः प्रियतमसमालोकसमये पपात स्वेदाम्भः प्रसर इव हर्षाश्रुनिकरः ।। २५ ।।
१—फुल्लगण्डं सरोमाञ्चं बाष्पमानन्दजं मतम् ।। २६ ।।
रोषाद्यथा—(२६) प्रातर्मुरद्विषमुरः स्फुरदन्यनारीपत्त्राङ्कुरप्रकरलक्षणमीक्षमाणा ।
अप्रोच्य किंचिदपि कुञ्चितदृष्टिरेषा रोषाश्रुबिन्दुभरमिन्दुमुखी मुमोच ।। २७ ।।
यथा वा बिल्वमङ्गले—(२७) राधेऽपराधेन विनैव कस्मादस्यासु वाचः पुरुषा रुषा ते ।

मासी से कहा—हे देवि ! श्रीराधा श्रीकृष्ण के साथ यमुनातट पर विहार कर रही थी । दूर से उसने अभिमन्यु को देखा । भारी भयभीत होने से उसका शरीर ऐसा काला पड़ गया कि अभिमन्यु उसे जरा भी पहिचान न सका ।।२४।।

अनुवाद—(अश्रु) हर्षजनित-अश्रु श्रीगीतगोविन्द (११।८) में यथा—क्रीड़ाकुञ्ज में प्रियतम श्रीकृष्ण का दर्शन कर श्रीराधा जी परम आनन्दित हो उठीं । उनके नेत्रों की पुतलियां अतिशय चञ्चल हो उठीं कि वह नेत्रकोणों का अतिक्रम कर कानों तक जाने लगीं । लगता है इस परिश्रम से प्रचुर स्वेद प्रवाह की भांति उनके दोनों नेत्रों से आनन्दाश्रुओं की धाराएं बरसने लगीं ।।२५।।

अनुवाद—दोनों कपोलों का विकसित हो उठना तथा पुलक के साथ अश्रुओं का प्रवाहित होना ही आनन्दजात अश्रुओं का परिचायक है ।।२६।।

रूपकृपातरंगिणी-टीका—नासिका से स्राव होना भी एक सात्त्विक-विकार है, जो अश्रु का अंग विशेष माना गया है । श्रीपादजीवगोस्वामी ने कहा है कि कृष्णदर्शन जनित आनन्द में जो अतिशय अश्रुओं का प्रवाह है, वह निंदनीय है, क्योंकि उससे श्रीकृष्ण-दर्शन में बाधा पड़ती है । श्रीरुक्मिणी देवी ने अति आनन्द-अश्रुओं की विघ्नजनका कहकर निन्दा की थी । कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी प्रीति में श्रीकृष्ण का आनन्द विधान करना ही मुख्य प्रयोजन है । श्रीकृष्ण के आनन्द में ही भक्तों का आनन्द होना प्रेम का धर्म है । श्रीकृष्ण भी भक्तचित्त-विनोदकारी हैं । अतः भक्तों के आनन्द में वे भी आनन्द लाभ करते हैं । भक्तों का आनन्द श्रीकृष्णानन्द का पोषक होता है । श्रीकृष्ण सेवा के फल से भक्तों के चित्त में प्रीति के स्वरूपगत धर्म के कारण अपने-आप जो आनन्द उदित होता है, उसे भी वास्तविक भक्त नहीं चाहते, क्योंकि अपने आनन्द की वासना रहने से कृष्णप्रेम निरुपाधिक नहीं रहता । फिर भी भक्त उसका इसलिये अभिनन्दन करते हैं कि वह श्रीकृष्ण के आनन्द का पोषक होता है । किन्तु जहां आनन्दजनित इतना प्रचुर अश्रु प्रवाह उदित हो कि सेवा में बाधा-विघ्न उपस्थित हो, वह आनन्दाश्रु प्रवाह भक्तों द्वारा अभिनन्दनीय नहीं है ।

यहां यह भी ध्यान-योग्य बात है कि हर प्रकारके अश्रु-कम्पादिक सात्त्विक-भाव नहीं माने जाते । लौकिक जगत् में दुख, क्रोध, अतिशय भय, शीत आदि से अश्रु-कम्प होने लगते हैं—वे समस्त सात्त्विक भाव नहीं, क्योंकि सत्त्व अर्थात् श्रीकृष्ण सम्बन्धी भावों द्वारा आक्रान्त चित्त से जो उद्भूत होते हैं, वही एक मात्र सात्त्विक-भाव कहे जाते हैं ।

अनुवाद—(रोषजनित अश्रु), यथा श्रीकृष्ण ने रात्रि-मिलन का वचन देकर भी इन्दुमुखी की वंचना कर दी । प्रातः काल श्रीकृष्ण को अन्यरमणी के रतिचिह्नों से युक्त देखकर उसे महादुख हुआ वह अति क्रोध में भरकर अश्रुविमोचन करने लगी, उसी बात को एक सखी दूसरी सखी को बता रही

अहो कथं ते कुचयोः प्रथन्ते हारानुकारास्तरलाश्रुधाराः ॥ २८ ॥

२—शिरःकम्पि सनिश्वासं स्फुरदोष्ठकपोलकम् । कटाक्षभ्रु कुटीवक्त्रं स्त्रीणामीर्ष्योत्थरोदनम् ॥ २९ ॥

विषादाद्यथा—पद्यावल्याम्—(३४९) (२८) मलिनं नयनाम्बुधारया मुखचन्द्रं करभोरु मा कुरु ।
करुणावरुणालयो हरिस्त्वयि भूयः करुणां विधास्यति ॥३० ॥

अथ प्रलयः—स सुखेन यथा—(२९)
जङ्घे स्थावरतां गते परिहृतस्पन्दा द्वयी नेत्रयोः कण्ठः कुण्ठितनिस्वनो विघटितश्वासा च नासापुटी ।
राधायाः परमप्रमोदसुधया धौतं पुरो माधवे साक्षात्कारमिते मनोऽपि मुनिवन्मन्ये समाधिं दधे ॥ ३१ ॥

दुःखेन यथा—ललितमाधवे—(३।५१) (३०)
दंशः कंसनृपस्य वक्षसि रुषा कृष्णोरगेणार्प्यतां दूरे गोष्ठतडागजीवनमितो येनापजह्रे हरिः ।
हा धिक् कः शरणं भवेन्मृदि लुठद्गात्रीयमन्तः क्लमादाभीरीशफरीततिः शिथिलितश्वासोर्मिरामीलति ॥

है—हे सखि ! प्रातः श्रीकृष्ण के वक्षपर अन्य नायिका द्वारा रचित मृगमद की पत्र भङ्गी को देखकर वह इन्दुमुखी मुख से तो कुछ न बोली । उसने श्रीकृष्ण की ओर तिरछी दृष्टि से देखा और रोषाश्रु प्रवाहित करने लगी ॥२७॥ अथवा विल्वमंगलमें भी कहा गया है—यथा—निकुञ्ज में विहार करते-करते श्रीराधा जी मानिनी हो गयीं । उसका कारण श्रीकृष्ण कुछ निश्चय न कर सके । उन्होंने पूछा—हे प्रियतमे ! बिना अपराध क्यों क्रुद्ध होकर मुझ से कठोर वचन कह रही हो ? अहो ! आपके उरोजों पर मुक्ताहार की भांति शुभ्र अश्रुधारा ही क्यों बरस रही हैं ? ॥२८॥

अनुवाद—स्त्रियाँ जब ईर्ष्या से रोने लगती हैं तो उनका सिर काँपने लगता है, वे निश्वास त्याग करने लगती हैं, उनके होठ और कपोल काँपने लगते हैं कटाक्ष तथा भ्रुकुटि तिरछी पड़ जाती है । २९॥

अनुवाद—(विषाद-जनित अश्रु) श्रीपद्यावली (३४९) में, यथा—श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर श्रीराधा जी विरह-व्याकुल होकर रोने लगीं, तो विशाखा जी ने आश्वासन देते हुए कहा—हे कर भोरु राधे ! नेत्रों के कज्जल-मिश्रित अश्रुओं से अपने मुखचन्द्र को मलिन मत करो, करुणा-सागर श्री हरि फिर तुम पर कृपा करेंगे ॥३०॥

अनुवाद—(प्रलय या चेष्टा एवं ज्ञान-शून्यता)—सुखजात-प्रलय यथा—श्रीराधा जी श्रीकृष्ण-दर्शन करते ही परमोत्कण्ठिता हो उठी एवं उनके मन-इन्द्रिय आनन्दातिरेक से ज्ञान-शून्य होते देखकर ललिता जी ने विशाखा जी से कहा—श्रीकृष्ण को देखते ही श्रीराधा की जङ्घाए स्थावरता—वृक्ष के समान हो गयीं, दोनों नेत्र ठहर गये, बोलना बन्द हो गया एवं नासिका से श्वासों का आना-जाना रुक गया । और अधिक क्या कहूँ, उसका मन भी परमानन्द सुधा से धुलकर मानों मुनियों की भांति लय-प्राप्त—वाह्यज्ञान शून्य हो गया ॥३१॥

अनुवाद—(दुखजात-प्रलय) श्रीललितमाधव (३।५१) में, यथा—माथुरविरह काल में श्रीराधा जी की दिव्योन्माद ग्रस्त अवस्था को देखकर पौर्णमासी ने कंस को शाप देते हुए कहा—अरे उस कंस राजा के वक्ष को कृष्णसर्प काट जाये । उस कंस ने व्रजरूप सरोवर से जल (जीवन) रूप श्रीकृष्ण का अपहरण कर लिया है । हाय ! धिक्कार ! इस अवस्था में किसकी शरण लें, कौन हमारी रक्षा करेगा ?

अथैषु धूमायिताः—(३१) सुराङ्गने सखि मधुरापुराङ्गने(णे) पुरः पुरातनपुरुषस्य वीक्षया ।
तवाक्षिणी जलकणसाक्षिणो कुतः कथं पुनः पुलकि च गण्डमण्डलम् ।। ३३ ।।

ज्वलिताः—(३२) सखि स्तब्धीभावं भजति नितरामूरुयुगलं तनूजाली हर्षं युगमपि तवाक्ष्णोः सरसताम् ।
तदुन्नीतं धन्ये रहसि करपङ्केरुहतलं प्रपन्नस्ते दिष्टया नलिनमुखि नीलो निधिरभूत् ।।३४ ।।

अथ दीप्ताः—यथा विदग्धमाधवे—(१।३६)—(३३)
क्षोणिं पङ्किलयन्ति पङ्कजरुचोरक्ष्णोः पयोबिन्दवः श्वासास्ताण्डवयन्ति पाण्डुवदने दूरादुरोजांशुकम् ।
मूर्तिं दन्तुरयन्ति संततममी रोमाञ्चपुञ्जाश्च ते मन्ये माधवमाधुरीश्रवणयोरभ्याशमभ्यायसौ ।। ३५ ।।

उद्दीप्ताः—(३४)
स्नाता नेत्रजनिर्झरेण दधती स्वेदाम्बुमुक्तावलिं रोमाञ्चोत्करकञ्चुकेन निचिता श्रीखण्डपाण्डुद्युतिः ।
खञ्जन्मञ्जुलभारती सवयसा युक्ता स्फुरन्तीत्यसौ सज्जा ते नवसंगमाय ललिता स्तम्भाश्रिता वर्तते ३६

यह गोपीरूप मीन समुदाय जल (जीवन) श्रीकृष्ण के विना महा वेदना में श्वास रहित होकर भूमिपर पछाड़ खा-खा कर दशम-दशा (मृत्यु) को प्राप्त होने जा रहा है ।।३२।।

अनुवाद—(धूमायित-सात्त्विक भाव)—[सात्त्विक भावों की वैचित्री वश उनके चार प्रकार कहे गये हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त—इन सबका लक्षण एवं विस्तृत विवरण श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धु (द्वितीय लहरी) में दिया जा चुका है । अतः यहां केवल उनके उदाहरणों का उल्लेख किया जा रहा है]—श्रीकृष्ण-दर्शनानन्द में विमानचारी सुरांगनाओं में अल्प सात्त्विक विकार को देखकर किसी सिद्ध वरांगना ने पूछा—हे देवि ! इस मथुरा-प्रांगण में पुराण पुरुष श्रीनारायण का दर्शन करके तुम्हारे में इस प्रकार का भावोदय कैसे हो उठा है ? तुम्हारे अश्रुपूर्ण नेत्र और पुलकित गण्डद्वय इसकी साक्षी दे रहे हैं । श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (२।३।७१ श्लोक) द्रष्टव्य है ।।३३।।

अनुवाद—(ज्वलित) श्रीकृष्ण-सङ्गजात आनन्द के कारण धन्या गोपी में सात्त्विक-विकारों को देखकर वृन्दा ने कहा—हे सखि धन्ये ! तुम्हारे ऊरु अतिशय स्तब्ध हो रहे हैं, रोमों में हर्ष तथा नेत्रों में अश्रु दीख रहे हैं । अतः लगता है कि तुमने निर्जन स्थान पर इन्द्रनीलमणि (श्रीकृष्ण) को प्राप्त किया है। इसलिये हे कमलमुखि ! तुम्हारे भाग्य अति महान हैं ।। (भ०र०सि० २।३।७३) ।।३४।।

अनुवाद—(दीप्त) श्रीविदग्ध माधव (१।३६) में यथा—पूर्व रागदशा में श्रीराधा जी ने जब श्री श्रीकृष्ण नाम एवं वंशीध्वनि सुनी तो उनमें परम व्याकुलता के साथ सात्त्विक विकार उदित हो उठे । उसका कारण जानते हुए भी विशाखा जी ने पूछा—हे सखि ! तुम्हारा मुखमण्डल पीला पड़ गया है, कमलकांति नेत्रों से अविरत अश्रु प्रवाहित होकर पृथ्वी को पंकिल कर रहे हैं, दूसरे तुम्हारे श्वास से तुम्हारा वक्षोज-वस्त्र नृत्य कर रहा है, पुलकावली तुम्हारे शरीर को नीचे-ऊपर कर रही है । इसलिये लगता है कि माधव-माधुरी या वसन्तमाधुर्य (श्रीकृष्ण रूप-गुणमहिमा) तुम्हारे कानों के निकट आ रही है । (भ. र. सि. २।३।७६) ।।३५।।

अनुवाद—(अदीप्त), यथा—संकेत कुञ्ज में अभिसार करके ललिता जी श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा में अति उत्कण्ठित हो रहीं हैं । उनकी एक सखी श्रीकृष्ण के पास जाकर ललिता जी की दशा का वर्णन करती है—हे कृष्ण ! तुम्हारे नव सङ्गम के लिये ललिता सजधज कर बैठी है उसने अश्रुप्रवाह में स्नान कर स्वेदजलकणों की मुक्तामाला धारण कर रही है । पुलकरूपी कंचुलि से अपने अंग आवृत कर रखे

३—उद्दीप्तानां भिदा एव सूद्दीप्ताः सन्ति कुत्रचित् । सात्त्विकाः परमोत्कर्षकोटिमत्रैव बिभ्रति ॥३७
यथा—(३५)
स्वेदैर्दर्शितदुर्दिना विदधती वाष्पाम्बुभिर्निस्तृषो वत्सीरङ्गरुहालिभिर्मुकुलिनीफुल्लाभिरामूलतः ।
श्रुत्वा ते मुरलीं तथाभवदियं राधा यथाराध्यते मुग्धैर्माधव भारतीप्रतिकृतिभ्रान्त्याद्य विद्यार्थिभिः ३८ ॥

इति सात्त्विका-प्रकरणम् ॥

हैं, चन्दन के समान पीत वर्ण युक्त मुख निसृता आधी-आधी वाणी रूप सखी को साथ लेकर एक स्तम्भ की भांति स्तब्ध—निश्चल हो रही है ॥ (भ. र. सि. २।३।८०) ॥३६॥

अनुवाद—उद्दीप्त सात्त्विक भाव का भेद विशेष है सुद्दीप्त सात्त्विक । उद्दीप्त-भाव ही कहीं-कहीं (महाभावस्वरूपिणी व्रजगोपियों में ही) जाकर सुद्दीप्त हो जाते हैं । सुद्दीप्तभाव परमोत्कर्ष की चरम अवधि प्राप्त कर शोभित होते हैं ॥ (भ. र. सि. २।३।८१) ॥३७॥ यथा—श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि सुनकर श्रीराधा जी के सुद्दीप्त सात्त्विक भावों से आक्रान्त होने के कारण जो दशा हुई उसे देखकर एक दूती शीघ्रता से श्रीकृष्ण के पास जाकर कहने लगी—हे माधव ! महा आश्चर्य है कि तुम्हारी मुरली ध्वनि सुनते ही आज श्रीराधा जी की ऐसी दशा हो गयी है कि विद्यार्थीगण उसको सरस्वती की प्रतिमा जान कर पूजने लगे हैं । श्रीराधा जी के स्तम्भ एवं वैवर्ण्य की अधिकता का अनुभव करके भी वे वास्तविकता का निश्चय नहीं कर पाये । अहो ! श्रीराधा के प्रचुर स्वेद जल के उद्गम ने तो वर्षाकाल का रूप धारण कर लिया है, अश्रुजलधारा के निर्झर को पान करके गोवत्सों की पिपासा शान्त हो गयी है पाँवसे मस्तक पर्यन्त रोमाञ्च से वह मानों मुकलान्वित हो उठी है । अतएव शीघ्र ही उसके पास चल कर उसे सान्त्वना दो, नहीं तो महानर्थ घटित हो जायेगा ॥३८॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—सात्त्विक भावों की चरमविकाशमय वैचित्री जहां सम्यक् रूप से उद्दीप्त हो उठती है एवं पराकाष्ठा को प्राप्त करती है, उसे सूद्दीप्तसात्त्विक कहा जाता है । महाभाव में अर्थात् व्रजगोपियों की कृष्ण रति में ही समस्त सात्त्विक भाव सुद्दीप्त रूप में प्रकाशित होते हैं, अन्यत्र कहीं भी नहीं । कृष्णकान्ता व्रजसुन्दरियों को छोड़कर और किसी में भी महाभाव नहीं है । श्रीकृष्ण के और भी किसी परिकर में महाभाव नहीं है । व्रजसुन्दरियों में महाभाव रहते हुए, उनमें सुद्दीप्त सात्त्विक भावों की सम्भावना रहते हुए भी केवल श्रीराधा जी में ही सुद्दीप्त महाभाव प्रकटित होते हैं, और किसी व्रजसुन्दरी में भी नहीं ।

अधिरूढ़ महाभाव में सात्त्विक भाव एक अनिर्वचनीय विशिष्टता प्राप्त करते हुए भी सूद्दीप्त नहीं होते, वह सुद्दीप्त होते हैं मोहनाख्य-महाभाव में । (अधिरूढ़, मोहनाख्य, मादनाख्य महाभाव आदि का विवरण परवर्ती स्थायी भाव प्रकरण में द्रष्टव्य है) । मोहनाख्य महाभाव एकमात्र श्रीराधा जी में ही रहता है । अन्यत्र कहीं-कहीं जो सात्त्विक भाव प्रतीत होते हैं, वास्तव में वे सात्त्विक नहीं होते, वरं सात्त्विक—आभास ही होते हैं, इस विषय में भी श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (२।३।८६) में विस्तार पूर्वक उल्लेख किया जा चुका है ।

अथ व्यभिचारि-प्रकरणम्

१—निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिंशद्भावा ये परिकीर्तिताः। औग्र्यालस्ये विना तेऽत्र विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥ १ ॥
२—सख्यादिषु निजप्रेमाप्यत्र संचारितां व्रजेत् ॥ २ ॥
३—साक्षादङ्गतया नेष्टाः किंत्वत्र मरणादयः। वर्ध्यमानास्तु युक्त्यामी गुणतामुपचिन्वते ॥ ३ ॥

तत्र निर्वेदः—स महार्त्या यथा विदग्धमाधवे—(२।४१)—(१)
यस्योत्सङ्गसुखाशया शिथिलिता गुर्वी गुरुभ्यस्त्रपा प्राणेभ्योऽपि सुहृत्तमाः सखि तया(था)यूयं परिक्लेशिताः
धर्मः सोऽपि महान् मया न गणितः साध्वीभिरध्यासितो धिग् धैर्यं तदुपेक्षितापि यदहं जीवामि पापीयसी

विप्रयोगेण यथोद्धवसंदेशे (८२)—(२)
न क्षोदीयानपि सखि ! मम प्रेमगन्धो मुकुन्दे क्रन्दन्तीं मां निजसुभगताख्यापनाय प्रतीहि।
खेलद्वंशीवलयिनमनालोक्य तं वक्त्रबिम्बं ध्वस्तालम्बा यदहमहह प्राणकीटं बिभर्मि ॥ ५ ॥

व्यभिचारि-प्रकरण

अनुवाद—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (२।४।१-६) में जिन निर्वेदादि तेतीस भावों का वर्णन किया जा चुका है, इस मधुररस में उग्रता और आलस्य -इन दो भावों को छोड़कर और सबको व्यभिचारिभाव रूप में जानना चाहिये ॥१॥ सखिगण, दूतीगण तथा प्रियनर्म सखाओं के प्रति श्रीकृष्ण-बल्लभाओं का जो प्रेम है, वह भी इस मधुर रस में व्यभिचारिता को प्राप्त करता है ॥२॥ इसमें मरणादि (उग्रता और आलस्य) साक्षात् अंग न होने से वांछित नहीं है। प्रत्युक्त युक्ति से कहने पर उत्कर्ष वृद्धिकारक हैं और गौणभाव से रसपोषक हैं ॥३॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—विशेष रूप से स्थायी भावों के अभिमुख—सामने गमनकारी होने से इसे व्यभिचारी भाव कहा गया है। स्थायीभाव से इसका उद्‌भव होता है, उसे यह वर्द्धित भी करता है और शेषकाल में उसमें ही लीन हो जाता है। स्थायीभाव के अतिरिक्त व्यभिचारी भाव का किसी से सम्बन्ध नहीं है। व्यभिचारी भावको संचारी भाव भी कहते हैं क्योंकि यह स्थायी भाव या कृष्णरति की गति को सञ्चारित करता है। अब उनका क्रमशः उदाहरणों सहित उल्लेख करते हैं—

अनुवाद—(निर्वेद अर्थात् आत्मधिक्कार या अवमानना यह महा आर्ति से उत्पन्न होता है—श्रीविदग्धमाधव (२।४१) में, यथा—पूर्व रागवती श्रीराधा जी ने अपनी एक सखी के हाथ श्रीकृष्ण को पत्र भिजवाया। सखी के लौटने पर उसके मुख को मलिन देखकर श्रीराधा जी ने अनुमान किया कि श्रीकृष्ण ने उनकी उपेक्षा कर दी है। तब उस महादुख से उनमें निर्वेदभाव का उदय हो उठा। वह सखी से इस प्रकार कहने लगीं—हे सखि ! जिनके अङ्क में अवस्थान करने के सुख की आशा में मैंने गुरुजनों की भारी लज्जा को त्याग किया, प्राणों से भी अधिक प्रिय तुम सखियों को भी बहुत कष्ट भोग कराया तथा, साध्वीनारियों द्वारा आचरित महा पतिव्रत धर्म की मैंने कुछ परवा नहीं की उन श्रीकृष्ण के द्वारा उपेक्षित होने पर भी मैं पापिन जीवित हूँ, धिक्कार है मेरे इस धैर्य्य को ॥४॥

अनुवाद—(विप्रयोग या वियोग-जात निर्वेद) श्रीउद्धव सन्देश (८२) में, यथा—श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर उनके असह्य विरह में श्रीराधा जी के नेत्रों से अनवरत अश्रु बह रहे थे। ललिता जी जब उन्हें सान्त्वना देने लगीं तो श्रीराधा जी ने उसे कहा—हे ललिते ! श्रीकृष्ण के प्रति मेरी

ईर्ष्यया यथा—(३)

नात्मानमाक्षिप त्वं म्लायद्वदना गभीरगरिमाणम् । सखि नान्तरं क्षितौ कश्चन्द्रावलितारयोर्वेत्ति ॥ ६ ॥

अथ विषादः—स इष्टानवाप्तितो यथा विदग्धमाधवे (२।५६)

(४) पीतं न वागमृतमद्य हरेशङ्कं न्यस्तं मयास्य वदने न दृगञ्चलं च ।
रम्ये चिरादवसरे सखि लब्धमात्रे हा दुर्विधिर्विरुरुधे जरतीच्छलेन ॥ ७ ॥

यथा वा श्रीदशमे—(१०।२१।७)—

(५) अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ ८ ॥

प्रारब्धकार्यसिद्धिर्यथा श्रीगीतगोविन्दे—(२।१)—

(६) गणयति गुणग्रामं भामं भ्रमादपि नेहते वहति च परीतोषं दोषं विमुञ्चति दूरतः ।
युवतिषु बलत्तृष्णे कृष्णे विहारिणि मां विना पुनरपि मनो वामं कामं करोति करोमि किम् ॥ ९ ॥

किञ्चितमात्र प्रेमगन्ध भी नहीं है, तो भी जो मैं निरन्तर उनके लिये रो रही हूँ, यह केवल मेरा अपने सौभाग्य का ज्ञापन करना मात्र है—(कि मैं उनकी परम प्रेमिनि हूँ) तू मेरा विश्वास कर। अहह ! कैसे दुख की बात है कि विविध मूर्च्छनादि स्वरों में आलाप कारिणी वंशी युक्त श्रीकृष्ण के मुख-मण्डल का दर्शन न पाकर भी, असहाय होकर भी मैं अपने इस प्राण-पतङ्ग को धारण कर रही हूँ ॥५॥

अनुवाद—(ईर्ष्या-जनित निर्वेद), यथा—सर्वत्र श्रीराधा जी के सौभाग्यों की प्रशंसा देख-सुन कर चन्द्रावली अपने को धिक्कार करने लगी। तब उस की सखी पद्मा ने कहा—हे सखि ! तुम गम्भीर गौरवशालिनी हो, मलिनमुख होकर तुम अपनी और निन्दा मत करो। जगत् में यह कौन नहीं जानता कि चन्द्रावली (चन्द्र श्रेणी) और तारका (एक तारे) में अनेक पार्थक्य है—अर्थात् सब जानते हैं कि तुम अनेक चन्द्रों के समान हो और श्रीराधा एक (विशाखा) तारा के समान है ॥६॥

अनुवाद—(विषाद—इष्टवस्तु की अप्राप्ति में विषाद) श्रीविदग्धमाधव (२।५६) में, यथा—पूर्वरागवती श्रीराधा जी ने प्रस्कन्दनतीर्थ पर श्रीकृष्ण के दर्शन किये, परन्तु अचानक उसी समय जटिला वहां आ पहुँची। श्रीकृष्ण-प्राप्ति न होने पर दुखी होकर श्रीराधा जी ने विशाखा जी से कहा—हे सखि ! निशंक चित्त होकर आज मैं श्रीकृष्ण का वाक्यामृत पान न कर पायी, उनके मुखकमल पर दृष्टिपात भी न कर पायी, कितने दिनों के बाद ऐसा सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ किन्तु दुष्ट विधाता ने जटिला के छल से वहां आकर विघ्न डाल दिया ॥७॥ श्रीमद्भागवत (१०।२१।७) में भी श्रीव्रज-गोपियों ने कहा है—हे सखिगण ! नेत्र रखने वाले व्यक्तियों के नेत्रों की एकमात्र यही सार्थकता है कि वे सखाओं के साथ गौवों के पीछे पीछे बन में प्रवेश करने वाले श्रीव्रजेश के दोनों पुत्रों श्रीकृष्ण-वलराम में, जो (श्रीकृष्ण) पीछे चल रहा है, जिसके मुखारविन्द पर वंशी शोभित हो रही है, जो आपके प्रेम-जनों के प्रति नित्य कटाक्ष करते हुए जाता है, उस मुखकमल का जो नेत्रों द्वारा आदर पूर्वक नित्य दर्शन करते हैं इससे बढ़कर नेत्रों की सार्थकता और हम नहीं जानती हैं ॥८॥

अनुवाद—(प्रारब्ध कार्य असिद्धि-जनित विषाद) श्रीगीत गोविन्द (२।१) में, यथा—श्रीकृष्ण के व्यवहार से मान धारण की इच्छा करते हुए भी श्रीराधा जी श्रीकृष्ण के रासलीलोचित गुणों को स्मरण करके मानका निर्वाह न कर पायीं अतः खेदपूर्वक वह ललिताजी से बोलीं—हे सखि ! महातृष्ण श्रीकृष्ण मेरा त्याग करके अन्यान्य विपक्षी रमणियों के साथ-विहार कर रहे हैं, तथापि मेरा कुटिल मन उनकी

विपत्तितो यथा ललितमाधवे—(३।२६)—(७)
निपीता न स्वैरं श्रुतिपुटिकया नर्मभणितिर्न दृष्टा निःशङ्कं सुमुखि मुखपङ्करुहरुचः।
हरेर्वक्षः पीठं न किल घनमालिङ्गितमभूदिति ध्यायं ध्यायं स्फुटति लुठदन्तर्मम मनः॥ १०॥

अपराधाद्यथा—(८)
हरेर्वचसि सूनृते न निहिता श्रुतिर्वा मया तथा दृगपि नार्पिता प्रणतिभाजि तस्मिन्पुरः।
हितोक्तिरपि धिक्कृता प्रियसखी मुहुस्तेन मे ज्वलत्यहह मुर्मुरज्वलनजालरुद्धं मनः॥ ११॥

अथ दैन्यम्—तद्दुःखेन यथा बिल्वमङ्गले—
(९) अयि मुरलि मुकुन्दस्मेरवक्त्रारविन्दश्वसनरसरसज्ञे तां नमस्कृत्य याचे।
मधुरमधरबिम्बं प्राप्तवत्यां भवत्यां कथय रहसि कर्णे मद्दशां नन्दसूनोः॥ १२॥

यथा वा श्रीदशमे—(१०।२९।३८)—
(१०) तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥ १३॥

कामना कर रहा है। मेरा मन उनके गुणों की ही गणना करता है, किन्तु भूलकर भी उन पर क्रोध नहीं करता। श्रीकृष्ण के दोषों को दूर से त्याग कर, उसमें ही सन्तोष प्राप्त करता है। अब तू बता मैं क्या करूं ? ॥९॥

अनुवाद—(विपत्ति-जनक विषद) श्रीललित माधव (३।२६) में, यथा—प्रोषित भर्त्तृका श्रीराधा जी विलाप करते-करते कहती हैं—हे सुमुखि ! मैं श्रीकृष्ण के नर्म-वाक्य कानों से इच्छानुरूप भाव से नहीं सुन पायी हूँ, उनके मुखकमल की छटा को भी निःशंक चित्त से नहीं देख पायी हूँ, उनके विशाल वक्षस्थल को निविड़भाव से आलिगन नहीं कर सकी—इन सब विषयों की चिन्ता करते-करते मेरा हृदय भीतर ही भीतर पछाड़ें खाकर विदीर्ण हुआ जा रहा है ॥१०॥

अनुवाद—(अपराध-जनित विषाद) कलहान्तरिता श्रीराधा जी अपने अपराध को स्मरण कर करके विलाप करते हुए कहती हैं—हाय ! हाय !! कठोरचित्त मैंने श्रीकृष्ण के सत्य तथा प्रिय वचनों के प्रति कान ही नहीं दिये, वे जब मेरे आगे प्रणत हो रहे थे, तब मैंने उनके प्रति आँख उठाकर भी न देखा। अपनी हितकारी वाणीरूपा प्रिय सखी का भी मैंने बार-बार तिरस्कार कर दिया। अहह ! इस समय मेरा मन तुषानल से घिर कर बार-बार जल रहा है ॥११॥

अनुवाद—(दैन्य—दुखजनितदैन्य) श्रीविल्वमंगल में, यथा—व्रजगोपी-भाव में विभावित-चित्त होकर श्रीविल्व मंगल श्रीकृष्ण की मुरली से कहते हैं—हे मुरलि ! तुम श्रीमुकुन्द के मुखारविन्द के फुत्काररस की (अधर-रस) की रसज्ञा हो, इसलिये तुम को प्रणाम करते हुए मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि जब तुम श्रीकृष्ण के मधुर अधर विम्ब को प्राप्त करो तब मेरी इस दशा को (उनके दर्शनाभाव में मेरी असह्य दुखावस्था को) उनके कान में कह देना ॥१२॥ श्रीभागवत (१०।२९।३८) में, यथा—श्री-रासरजनी में श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि सुनकर समस्त व्रजगोपियां उनके पास भागी गयीं। श्रीकृष्ण के उदासीनता दिखाने पर वे दुख सागर में जा पड़ीं। और श्रीकृष्ण के प्रति कहने लगीं—हे दुखनाशन ! हमारे प्रति तुम प्रसन्न होवो। हम आपकी सेवा द्वारा आपकी प्रीति विधान की आशा से घरबार त्याग कर आपके चरणों में उपस्थित हुई हैं, हे पुरुषकुल शिरोभूषण ! आप की अति सुन्दर मन्दमुस्कानयुक्त

त्रासेन यथा—(११) अपि करधूतिभिर्मयापनुन्नो मुखमयमञ्चति चञ्चलो द्विरेफः।
अघदमन मयि प्रसीद वन्दे कुरु करुणामवरुन्धि दुष्टमेनम्॥ १४॥

अपराधेन यथा—(१२)—
आलि तथ्यमपराद्धमेव ते दुष्टमानफणिदष्टया मया। पिच्छमौलिरघुनानुनीयतां मामकीनमनवेक्ष्य दूषणम्

अथ ग्लानिः—सा श्रमेण यथा—
(१३) व्यात्युक्षीमघमथनेन पङ्कजाक्षी कुर्वाणा किमपि सखीषु सस्मितासु।
क्षामाङ्गी मणिवलयं स्खलत्करान्तात्कालिन्दीपयसि रुरोध नाद्य राधा॥ १६॥

विलोकन देखकर हमारे चित्त में आपकी प्रेम सेवा निमित्त तीव्र लालसा जाग उठी है। उस लालसा-ज्वाला में हमारा चित्त जला जा रहा है (आप प्रसन्न होकर हमें अपनी दासीरूप में स्वीकार कर हमारा दुख नाश करो।।१३।।

अनुवाद—(त्रास-जनित दैन्य) श्रीराधा जी वन में श्रीकृष्ण के साथ विहार कर रहीं हैं, उनके श्रीमुखकमल की सुगन्ध में आकृष्ट होकर एक भ्रमर बार-बार उनके मुख पर पतित होना चाह रहा है। श्रीराधा जी भयभीत होकर दीनतापूर्वक श्रीकृष्ण से कहती हैं—हे अघनाशन! यह चञ्चल भ्रमर मेरे हाथों से दूर होकर बार-बार मेरे मुख की ओर आ रहा है। मेरे रोकने पर किसी प्रकार नहीं रुक रहा है। अतः आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ, आप कृपा कर इस भ्रमर को दूर भगा दो।।१४।।

अनुवाद—(अपराध-जनित दैन्य)—एक बार श्रीराधाजी मानिनी हो उठीं। श्रीकृष्ण द्वारा उनके चरण पकड़ने पर भी उनका मान भंग नहीं हुआ। तब विशाखाजी ने कहा—सखि राधे! श्रीकृष्ण तुम्हें कोटि प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं, एक बार उनसे अपराध बन गया और इसीलिये वे तुम्हारे चरण में प्रणत हो रहे हैं, अब क्षमा करो। श्रीविशाखा के वचन सुनकर श्रीराधा जी ने उसे कहा—अयि दुष्ट बुद्धि विशाखे! चली जा तू मेरे सामने से। यह सुनकर श्रीकृष्ण विफलमनोरथ होकर वहां से चले गये। कुछ देर बाद श्रीराधा जी विशाखा की अनुनय-विनय करने लगीं कि तुम जाकर प्रियतम को मेरे पास ले आओ। विशाखा जी ने कहा—राधे! जब वे तुम्हारे चरण पकड़ कर क्षमा याचना कर रहे थे तब तू अपने हठ पर अड़ी रही। मैंने तुम्हारी कितनी अनुनय-विनय की, तुमने मुझे भी तिरस्कृत कर भगा दिया। अब फिर तुम मेरे पास क्यों चली आयी हो?—तब श्रीराधा जी विशाखा जी से बोलीं—हे सखि! वास्तव में मुझ से अपराध बन गया है, किन्तु उस समय दुष्ट मान—सर्प ने मुझे दंशन कर रखा था, (जिससे मैंने न उनकी प्रार्थना पर ध्यान दिया और न तुम्हारी हितकारी वाणी पर) मुझ से अपराध हुआ, अब मेरा अपराध तुम क्षमा करो, मेरे दोष पर दृष्टि मत दो। तुम जाकर मोरमुकुटधारी श्रीकृष्ण की अनुनय-विनय करो, जिससे वे मेरे प्रति प्रसन्न हों।।१५।।

अनुवाद—(ग्लानि—श्रमजनित ग्लानि) यथा—वृन्दा देवी ने पौर्णमासी से कहा—देवि! यमुना जलमें सखीगण के साथ श्रीकृष्ण जलकेलि कर रहे थे, किन्तु कोई भी सखी श्रीकृष्ण को पराजित न कर सकी। यह देख कर कमलनयनी श्रीराधा जी सखियों का तिरस्कार कर श्रीकृष्ण के साथ स्वयं जलकेलि में प्रवृत्त हो उठीं। वह भी जब श्रीकृष्ण को पराजित न कर पा रही थीं, तो सब सखियां हंसने लगीं। जल सेंचन-जनित श्रम के कारण श्रीराधा जी को ऐसी ग्लानि प्राप्त हुई कि उनको अपने शरीर की सुध-बुध न रही। उनकी कलाई से मणि कंकण यमुना में गिरने लगा, वह उसे भी पकड़ने को समर्थ न हो पायीं।।१६।।

आधिना यथा हंसदूते—(९५)

(१४) प्रतीकारारम्भश्लथमतिभिरुद्यत्परिणतेर्विमुक्ताया व्यक्तस्मरकदनभाजः परिजनैः।
अमुञ्चन्ती सङ्गं कुवलयदृशः केवलमसौ बलादद्य प्राणानवति भवदाशासहचरी ॥ १७ ॥

रतेन यथा श्रीगीतगोविन्दे—(?) (१५)

माराङ्के रतिकेलिसंकुलरणारम्भे तया साहसप्रायं कान्तजयाय किंचिदुपरि प्रारम्भि यत्संभ्रमात्।
निस्पन्दा जघनस्थली शिथिलिता दोर्वल्लिरुत्कम्पितं वक्षो मीलितमक्षि पौरुषरसः स्त्रीणां कुतः सिध्यति ?

अथ श्रमः—सोऽध्वनो यथा पद्यावल्याम्—(२११) (१६)

द्वित्रैः केलिसरोरुहं त्रिचतुरैर्धम्मिल्लमल्लीस्रजं कण्ठान्मौक्तिकमालिका तदनु च त्यक्त्वा पदैः पञ्चषैः।
कृष्णप्रेमविघूर्णितान्तरतया दूराभिसारातुरा तन्वङ्गी निरुपायमध्वनि परं श्रोणीभरं निन्दति ॥ १९ ॥

नृत्याद्यथा—(१७) शिथिलगतिविलासास्तत्र हल्लीशरङ्गे हरिभुजपरिघाग्रन्यस्तहस्तारविन्दाः।
श्रमलुलितललाटश्लिष्टलीलालकान्ताः प्रतिपदमनवद्याः सिष्विदुर्वेदिमध्याः ॥ २० ॥

अनुवाद—(आधि-जनित ग्लानि) श्रीहंसदूत (९५) में, यथा—माथुर-विरह के कारण आधि अर्थात् मनपीड़ा से श्रीराधा जी की अति शोचनीय अवस्था देखकर ललिता जी ने एक राजहंस को मथुरा श्रीकृष्णके पास भेजा यह सन्देश देकर—कमलनयना श्रीराधाजी प्रकट-मदन पीड़ासे (आपकी सेवा द्वारा प्रीति विधान की तीव्र लालसा-पीड़ा से) अति शोचनीय दशा को प्राप्त हो रही है। उसकी जीवन रक्षा विषय में हताश होकर सखियों ने प्रतिकार की समस्त चेष्टाएं छोड़ दी हैं। किन्तु हे कृष्ण ! आपके लौट आने की आशा ही उसकी एकमात्र सहचरी बनकर किसी प्रकार उसके प्राणों की रक्षा कर रही है ॥१७॥

अनुवाद—(रतिजनित-ग्लानि) श्रीगीतगोविन्द (?) में, यथा—श्रीकृष्ण के साथ रति-क्रीड़ा विशेष में श्रीराधा जी अति श्रमित एवं निरुत्साह होकर ग्लानि युक्त हो उठीं, कविवर श्रीजयदेव कहते हैं—युद्धारम्भ में वीरपुरुषों के शरीर जैसे क्षतप्रहारों से भूषित हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीयुगल किशोर का शरीर भी भूषित हो उठा। कन्दर्पयुद्ध के उपक्रम में ही श्रीराधा जी (पुरुषायित भाव से) कान्त को जय करने के लिये उनके वक्षोपरि रहकर अधिक साहस एवं आवेग से चेष्टा करने लगीं, उससे उनका नितम्ब देश स्तब्ध हो गया, भुजाएं शिथिल हो गयीं, उनका वक्षस्थल काँपने लगा और नेत्र मुद्रित हो गये। इसमें आश्चर्य की वात कुछ नहीं है, क्योंकि पुरुषों के वीररस में क्या स्त्रीगण पूरी उतर सकती हैं ? अर्थात् रमणी श्रीराधा जी पुरुषोचित कार्य न कर सकीं और ग्लानियुक्त हो उठीं ॥१८॥

अनुवाद—(श्रम—पथ-भ्रमण-जनित श्रम) श्रीपद्यावली (२११) में, यथा दूती ने श्रीकृष्ण के प्रति जाकर कहा—हे माधव ! आज श्रीराधा जी अभिसार के लिये आ रही थीं, किन्तु दो-तीन पद चलते ही वह थक गयीं और हाथ से क्रीड़ा कमल फेंक दिया। और तीन-चार पद चलने पर मल्ली की माला को, जिससे उन्होंने केश बांध रखे थे, फेंक दिया। फिर पाँच-छः पद चलने के बाद कण्ठ से मुक्तामाला को खोल कर फेंक दिया। हे कृष्ण ! वह परस्पर प्रेम के कारण विघूर्णित चित्त होकर इतनी दूर वर्ती स्थान पर अभिसार करने में श्रम वश कातर हो गयीं हैं। जिसे दूर नहीं किया जा सकता, वह अपने नितम्बभार की ही निन्दा कर रही हैं ॥१९॥

रत्याद्यथा—(१८) अहह भुजयोर्द्वन्द्वं मन्दं बभूव विशाखिके समजनि घनस्वेदं चेदं युगं तव गण्डयोः।
धृतमधुरिमस्फूर्तिर्मूर्तिस्तथापि वरानने प्रमदसुधयाक्रान्तं स्वान्तं मम प्रणयत्यसौ २१ ॥

अथ मदः—स मधुपानजो यथा—(१९) या ह्रिया हरिपुरो मुखमुद्रां भङ्क्तुमध्यवससौ न कदापि।
सा पपाठ चटुलं मधु पीत्वा शारिकेव पशुपालकिशोरी ॥ २२ ॥

अथ गर्वः—स सौभाग्येन यथा—

(२०) मुञ्चन्मित्रकदम्बसंगमभजन्नप्युत्सुकाः प्रेयसीरेष द्वारि हरिस्त्वदाननतटीन्यस्तेक्षणस्तिष्ठति।
यूथीभिर्मकराकृति स्मितमुखी त्वं कुर्वती कुण्डलं गण्डोद्यत्पुलका हृशोऽपि न किल क्षीबे क्षिपस्यञ्चलम् २३

रूपेण यथा—(२१) चन्द्रावलीवदनचन्द्रमरीचिपुञ्जं कः स्तोतुमप्यतिपटुः क्षमते क्षमायाम्।
येनाद्य पिच्छमुकुटोऽपि निकेतवाटीपर्यन्तकाननकुटीरचरः कृतोऽयम् ॥ २४ ॥

यथा वा विदग्धमाधवे—(७।२७)—(२२)

सहचरि वृषभानुजया प्रादुर्भावे वरस्त्विषोपगते। चन्द्रावलीशतान्यपि भवन्ति निर्धूतकान्तीनि ॥ २५ ॥

अनुवाद—(नृत्य जनित श्रम), यथा—वृन्दादेवी ने पौर्णमासी को कहा—हल्लीशरंग में (रास-नृत्यादि में) प्रशासनीय क्षीणकटि व्रजयुवतियों का गतिविलास स्खलित होगया है, नृत्यश्रम से क्लान्त होकर वे श्रीहरि के स्कन्ध देश पर हस्तकमल विन्यस्त करके विश्राम कर रही हैं। श्रमवश प्रतिपद पर स्वेद बिन्दुओं से उनकी अलकावली का अग्रभाग भीगकर उनके मस्तकों पर संश्लिष्ट हो (चिपक) रहा है ॥२०॥

अनुवाद—(रति-जनित श्रम), यथा—केलिकुंज में विशाखा जी के साथ विलासान्त उसकी शोभा का श्रीकृष्ण वर्णन करते हैं—अहो! विशाखे! तुम्हारी ये दोनों भुजाएं थक गयी हैं, तुम्हारे कपोलों पर स्वेद छा गया है, तथापि हे वरानने! तुम्हारी यह माधुर्यमयी मूर्ति मेरे मन को आनन्दामृत से अभिषिक्त कर रही है ॥२१॥

अनुवाद—(मद—मधुपान-जनित मद), यथा—निकुंज में श्रीकृष्ण सहित विलास-परा किसी व्रजगोपी के मधु पानज विकार को देखकर निकुंज के बाहर एक सखी ने दूसरी सखी से कहा—सखि! कैसा आश्चर्य है कि पहले जो श्रीकृष्ण के सामने कभी मुँह तक नहीं खोलती थी, इस समय वही गोप-किशोरी मधुपान करके शारिका की भांति सुन्दर पाठ कर रही है ॥२२॥

अनुवाद—(गर्व-सौभाग्य-जनित गर्व), यथा—श्रीकृष्ण एक बार अपनी इच्छा से श्रीराधा जी की कुञ्ज पर चले गये। किन्तु अति सौभाग्य के गर्व में भरकर श्रीराधा जी ने उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। यह देखकर विशाखाजी ने श्रीराधा जी के प्रति कहा—हे सखि! सखाओं का संग त्याग कर, अपने साथ मिलने के लिये उत्सुका चन्द्रावली आदि प्रेयसियों का अनादर करके यह श्रीकृष्ण तुम्हारे द्वार पर आकर तुम्हारे मुख की ओर टकटकी लगाकर खड़े हुए हैं और तुम हास्य युक्त मुख मण्डल पर कपोल फुलाकर यूथिका कुसुम द्वारा मकराकृति कुण्डल रचना में ही तन्मय हो रही हो! उनके प्रति एक बार कटाक्ष निक्षेप भी नहीं कर रही हो? ॥२३॥

अनुवाद—(रूप-जनित गर्व)—चन्द्रावली के अतिशय सौन्दर्य से गर्वीली होकर पद्मा विपक्षी सखियों के सामने चन्द्रावली के मुख की प्रशंसा करते हुए बोली—इस पृथ्वीतल पर ऐसा कौन चतुर है, जो चन्द्रावली के मुखचन्द्र की चन्द्रिका का बखान कर सके? क्योंकि उस मुखचन्द्र की शोभा के पीछे आजकल मोरमुकुटधारी श्रीकृष्ण मेरी सखी चन्द्रावली के घर के निकटवर्ती कानन कुटीर में आता-

गुणेन यथा—(२३)
रमयन्तु तावदमलैर्ध्वनिभिर्गोपीकपोतिकाः कृष्णम् । इह ललिता कलकण्ठी कलं न यावत्प्रपञ्चयति २६
सर्वोत्तमाश्रयेण यथा श्रीविष्णुपुराणे—
(२४) जानामि ते पतिं शक्रं जानामि त्रिदशेश्वरम् । पारिजातं तथाप्येनं मानुषी हारयामि ते ॥ २७॥
इष्टलाभेन यथा—
(२५) नम्रा न भवतु वंशी मुकुन्दवक्त्रेन्दुमाधुरीरसिका । त्वं दुर्लभतद्गन्धा लगुडि वृथा स्तब्धतां वहसि।
यथा वा श्रीदशमे—(१०।८३।२९)—
(२६) उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विड् गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः ।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारेरंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ॥ २९ ॥

जाता रहता है ।।२४।। श्रीविदग्धमाधव नाटक (७।२७) में भी कहा गया है – सौभाग्य-पूर्णिमा के अवसर पर संकर्षण कुण्ड के पास श्रीकृष्ण के साथ सखियों सहित चन्द्रावली मिलित हुई । उस समय श्रीकृष्ण को ढूण्ढ़ते हुए ललिता जी भी वहां आ पहुंची । पद्मा तथा शैब्या के सामने स्पर्द्धावश धैर्य्यरहित होकर श्रीराधा का उत्कर्ष स्थापन करते हुए ललिता जो नें कहा—सखि पद्मे ! ज्येष्ठमास के सूर्य की तीव्र किरणें जैसे शत-शत चन्द्रमाओं की कान्ति को निष्प्रभ कर देती हैं, उसी प्रकार वार्षभानवी (श्री राधा) के आविर्भाव होने पर शत-शत चन्द्रावलियों की कान्ति मलिन पड़ जाती है ।।१५।।

अनुवाद—(गुण-जात गर्व), यथा—एक समय श्रीकृष्ण को सुखी करने के लिये सखियों में गीत-गान करने का प्रस्ताव निश्चित हुआ । सखीगण अपने अपने पक्ष की सखी के गान की प्रशंसा करने लगीं । तब तुंगविद्या यह सहन न कर सकी और गर्व में भर कर बोली—इस व्रज में गोपीरूप कपोतिकाएं (कबूतरियां) तब तक ही अपनी सुस्वर ध्वनि से श्रीकृष्णको सुखदान करती हैं, जब तक कलकण्ठ ललिता जी अपनी अतिशय मधुर ध्वनि प्रसारित नहीं करती ।।२६।।

अनुवाद—(सर्वोत्तम-आश्रय जनित गर्व)—श्रीविष्णु पुराण में, यथा—भौमासुर-वधके बाद श्रीकृष्ण सत्यभामा जी के साथ इन्द्र-भवन में गये । सत्यभामा जी ने इन्द्राणी शची से एक पारिजात पुष्प मांगा । तब शची ने कहा—कि आप तो मानुषी हो, पारिजात पाने की उपयुक्त आप नहीं हैं । यह सुनकर श्रीकृष्ण बोले—सत्यभामा ! पारिजात वृक्ष को ही यहां से ले चलता हूँ, तुम्हारे आंगन में लगा दूंगा । तब सत्यभामा जी ने गर्व में भरकर शची से कहा—मैं जानती हूँ कि तुम्हारा पति इन्द्र है, और यह भी जानती हूँ कि तुम्हारा पति त्रिदशेश्वर (देवताओं का राजा) है, तथापि मैं मानुषी होकर भी तुम्हारे पारिजात वृक्ष को लेकर जा रही हूँ, (करना हो, सो करलो) ।।२७।।

अनुवाद—(इष्टलाभ जनित गर्व) यथा—श्रीराधा जी ने ईर्ष्या वश गर्व की उत्प्रेक्षा करते हुए लकुटि से कहा—अरी लकुटि ! श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र का माधुर्य रसास्वादन करने वाली मुरली किसी के सामने नहीं झुकती, न झुकेगी, किन्तु तुम तो उस वदनचन्द्र की गन्ध भी प्राप्त नहीं करती हो, (सदा श्रीकृष्ण के हाथ में लगी रहती हो), तू फिर वृथा क्यों गर्व-भार उठाये फिरती है ?—(किस बात का गर्व है तुम्हें ?) ।।२८।। श्रीभागवत (१०।८३।२९) में इष्ट लाभ जनित गर्व का उदाहरण इस प्रकार है—सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण की रुक्मिणी आदि महिषियों के साथ द्रौपदी जी का उनके विवाहादि का विवरण पूछने पर लक्ष्मणा देवी ने कहा—स्वयंवर की राजसभा में श्रीकृष्ण कहां

अथ शङ्का सा चौर्येण यथा—

(२७) हरन्ती निद्राणे मधुभिदि करात्केलिमुरलीं लतोत्सङ्गे लीना घनतमसि राधा चकितधीः।
निशि ध्वान्ते शान्ते शरदमलचन्द्रद्युतिमुषामसौ निर्मातारं स्ववदनरुचां निन्दति विधिम् ॥ ३० ॥

अपराधाद्यथा ललितमाधवे—(२१४)

(२८) उत्ताम्यन्ती विरमति तमस्तोमसंपत्प्रपञ्चे न्यञ्चन्मूर्धा सरभसमसौ स्रस्तवेणीवृतांसा।
मन्दस्पन्दं दिशि दिशि दृशोर्द्वन्द्वमलपं क्षिपन्ती कुञ्जाद्गोष्ठं विशति चकिता वक्रमावृत्य पाली ३१

४—शङ्का तु प्रवरस्त्रीणां भीरुत्वाद्भयकृद्भवेत् ॥ ३२ ॥

परक्रौर्याद्यथा विदग्धमाधवे—(७।३८)

(२९) व्यक्तिं गते मम रहस्यविनोदवृत्ते रुष्टो लघिष्ठहृदयस्तरसाभिमन्युः।
राधां निरुध्य सदने विनिगूहते वा हा हन्त लम्भयति वा यदुराजधानीम् ॥ ३३ ॥

विराजमान हैं, यह देखने के लिये मैंने दीर्घकेश-कलापों से शोभित तथा कुण्डलों की कान्ति में मण्डित अपने कपोलों युक्त मुखमण्डल को ऊंचा उठाकर क्रम-क्रम से राजाओं को देखते हुए मृदुमन्द गति से चलते हुए स्निग्ध मुसकान से सुशोभित नेत्र कटाक्ष करते हुए श्रीकृष्ण चन्द्र के गले में अनुरागपूर्ण हृदय से स्वयंवर माला अर्पण की थी ॥२९॥

अनुवाद—(शङ्का—चौर्य-जनितशङ्का) यथा—केलि-निकुञ्ज तल्प पर श्रीकृष्ण निद्रित अवस्था में थे, श्रीराधा जी ने उनके हाथ से केलिमुरली अपहरण करली—चुराली। फिर शंकावश चञ्चल चित्त होकर घनो अन्धकारमय लताओं में जाकर छिप गयीं, श्रीराधा जी ने देखा कि उनकी मुखकान्ति से रात का अन्धकार दूर हो गया है, तब वह अपनी शारदीयविमलचन्द्रकान्ति विजयी मुखकान्ति के निर्माता विधाता की निन्दा करने लगीं—(ऐसी मेरी मुखकान्ति रचना की है कि मैं कहीं अन्धेरे में छिप भी नहीं सकती) ॥३०॥

अनुवाद—(अपराध-जनित शंका) श्रीललितमाधव (२१४) में, यथा—रात्रिकाल में कुञ्ज में श्रीकृष्ण के साथ विहार करके प्रातः काल पाली अपनी अपराध जनित शंका युक्त होकर अपने घर जा रही थी। वृन्दा ने एक सखी से कहा—देख, अन्धकारराशिरूप सम्पद के दूर होने पर यह पाली ग्लानि अनुभव करते करते मस्तक को झुकाये हुए शीघ्रता से अपनी वेणी के खुले केशों द्वारा अपने स्कन्धों को आवृत कर रही है, अलसाने नेत्रों को इधर-उधर थोड़ा-थोड़ा निक्षेप करते हुए कुञ्ज से ब्रज में प्रवेश कर रही है ॥३१॥

अनुवाद—वरांगनाएं स्वभावतः ही भीरु होती हैं अतः उनमें शंका रहती है, किन्तु पहले अल्प-भय ही शंका नाम से कहा जाता है। फिर वृद्धिप्राप्त शंका ही भयानक रस के स्थायी भाव भय में पर्यवसित हो जाती है ॥३२॥

अनुवाद—(दूसरे की क्रूरता जनित शंका) श्रीविदग्धमाधव (७।३८) में, यथा—श्रीराधा जी वन में श्रीकृष्ण के साथ विहार कर रही थीं, कि वहां जटिला आ पहुँची। ललिता जी ने सुबल को श्रीराधा-वेश में सजा दिया एवं वृन्दा को श्रीराधा की एक सखी रूप में। जटिला राधावेश धारी सुबल को अपनी पुत्रबधु राधा जानकर अपने घर लिये जा रही थी श्रीकृष्ण के पास से। तब जटिला की क्रूरता की आशंका करते हुए श्रीकृष्ण मन ही मन कहने लगे—अहो ! यदि मेरे रहस्यविनोद का वृत्तान्त प्रकाशित

अथ त्रासः—स तडित्ता यथा—(३०) स्फूर्जिते नभसि भीरुरुद्यतां विद्युतां द्युतिमवेक्ष्य कम्पिता।
सा हरेरुरसि चञ्चलेक्षणा चञ्चलेव जलदे न्यलीयत ॥ ३४ ॥

घोरसत्त्वेन यथा विदग्धमाधवे—(५।४४)
(३१) कर्णोत्तं सितरक्तपङ्कजजुषो भृङ्गीपतेर्झङ्क्रिया भ्रान्तेनाद्य दृगञ्चलेन दधती भृङ्गावलीविभ्रमम्।
त्रासान्दोलितदोर्लतान्तविचलच्चूडा झणत्कारिणी राधे व्याकुलतां गतापि भवती मोदं ममाध्यस्यति ॥ ३५
उग्रनिस्वनेन यथा—(३२) त्वमसि मम सखेति किंवदन्ती मुदिर चिराद्भवता व्यधायि तथ्या।
मृदुरसि रसितैर्निरस्यमानं यदुदितवेपथुरर्पिताद्य राधा ॥ ३६ ॥

अथावेगः— स प्रियदर्शनजो यथा ललितमाधवे—(२।११)
(३३) सहचरि निरातङ्कः कोऽयं युवा मुदिरद्युतिर्व्रजभुवि कुतः प्राप्तो माद्यन्मतङ्गजविभ्रमः।
अहह चटुलैरुत्सर्पद्भिर्दृगञ्चलतस्करैर्मम धृतिधनं चेतः कोषाद्विलुण्ठयतीह यः ॥ ३७ ॥

हो गया, तो हो सकता है कि अल्पबुद्धि अभिमन्यु श्रीराधा को घर में बन्द करके रखे, अथवा ऐसा भी हो सकता है कि मथुरा में ले जाकर उसे छिपा कर रखे, हाय ! अब मैं क्या करूं ? ॥३३॥

अनुवाद—(त्रास-विद्युत् जनित त्रास (क्षोभ) यथा—श्रीरूपमञ्जरी ने कुन्दवल्ली के प्रति कहा-भीरुस्वभावा श्रीराधा जी आकाश में मेघ गर्ज्जना एवं विद्युत् की चमक देखते ही काँपने लगीं। और विद्युत जैसे मेघ में विलीन हो जाती है, चञ्चल-नयना श्रीराधा जी भी उसी प्रकार श्रीकृष्ण के बक्ष-स्थल में विलीन हो गयीं ॥३४॥

अनुवाद—(भयानक-जन्तुजनित त्रास) श्रीविदग्ध-माधव (५।४४) में, यथा—श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण ने लालकमलों के कुण्डल बना कर कानों में धारण कराये। उनके मकरन्द पान लोभ से आये मधुकरों की गुञ्जार से श्रीराधा जी त्रस्त हो उठीं। तब श्रीकृस्ण हंसते हुए बोले—हे राधे ! तुम्हारे कानों में भूषित रक्तकमलों के कुण्डलों के मकरन्द को आस्वादन करने वाले भ्रमरों की झंकार सुनकर तुम जो घूर्णित अपाङ्ग निक्षेप कर शत-शत भ्रमरों के विलास का भ्रम उत्पन्न कर रही हो। त्रासित होकर इधर-उधर भुजाओं को चला रही हो, उनमें पहरे हुए कंकणों की झंकार कर रही हो। हे प्रिये ! व्याकुल होकर भी तुम मुझे आनन्द प्रदान कर रही हो ॥३५॥

अनुवाद—(उग्रशब्द जनित त्रास) यथा—निकुञ्ज मन्दिर में श्रीराधा जी प्रणय-स्वभाववश अचानक मानवती हो गयीं एवं चुप-चाप वहीं बैठी रहीं। इतने में आकाश में जोर से मेघ गर्ज्जना हो उठी। वे भयभीत होकर श्रीकृष्ण के वक्षस्थल से चिपट गयीं। श्रीकृष्ण ने अतिशय आनन्दित होकर कहा—हे मेघ ! लोग कहा करते हैं कि तुम मेरे सखा हो। बहुत समय के बाद आज तुमने उस किंवदन्ती को सत्य किया है। तुमने अपनी गर्ज्जना से श्रीराधा जी को मान भंग करते हुए उसे भयसे कम्पित कर मेरे वक्ष में अर्पण कर दिया है ॥३६॥

अनुवाद—(आवेग—प्रियदर्शन जनित आवेग) श्रीललितमाधव (२।११) में, यथा—श्रीकृष्ण के साथ मिलने की उत्कट उत्कण्ठा को जानकर कुन्दलता सूर्यपूजा के बहाने जटिला से आदेश लेकर उसे सूर्यपूजा स्थल पर ले आयी। वहां श्रीराधा जी ने एक ब्राह्मण-बालक को देखा। वास्तव में वह श्रीकृष्ण ही ब्राह्मण बालकरूप में वहां अवस्थित थे। श्रीराधा जी उन्हें पहिचान न सकीं फिर भी अनादि-सिद्ध प्रेमवश उन्हें प्रियदर्शन का आवेग उदय हो उठा उसी आवेगवश श्रीराधा जी ने कुन्दलता से

यथा वा तत्रैव—(६।३९)—

(३४) उपतरु ललितां तां प्रत्यभिज्ञाय सद्यः प्रकृतिमधुररूपां प्रेक्ष्य राधाकृतिं च।
मणिमपि परिचिन्वन् शङ्खचूडावतंसं मुहुरहमुदघूर्णं भूरिणा संभ्रमेण॥ ३८॥

प्रियश्रवणजो यथा ललितमाधवे—(१।२५)

(३५) धन्ये कज्जलमुक्तवामनयना पद्मे पदोढाङ्गदा सारङ्गि ध्वनदेकनूपुरधरा पालिस्खलन्मेखला।
गण्डोद्यत्तिलका लवङ्गि कमले नेत्रार्पितालक्तका मा धावोत्तरलं त्वमत्र मुरली दूरे कलं कूजति॥ ३९॥

अप्रियदर्शनजो यथा तत्रैव—(३।१८)

(३६) क्षणं विक्रोशन्ती विलुठति शताङ्गस्य पुरतः क्षणं बाष्पग्रस्तां किरति किल दृष्टिं हरिमुखे।
क्षणं रामस्याग्रे पतति दशनोत्तम्भिततृणा न राधे यं कं वा क्षिपति करुणाम्भोधिकुहरे॥ ४०॥

कहा—हे सुन्दरि! मेघकान्ति युक्त यह निशंक युवा कौन है? यह कहांसे इस व्रजभूमिमें आया है? इसका गतिविलास तो एक मत्त मतंग की गति के समान है। अहो! कैसा आश्चर्य है! यह अपने नेत्रकटाक्ष रूप चोर को भेज कर मेरे अन्तःकरण कोषागार को उलट-पुलट कर मेरे धैर्य को चुरा रहा है॥३७॥
वहां (६।३९) में दूसरे स्थान पर श्रीकृष्ण का आवेग, यथा—स्यमन्तक मणिको खोजते-खोजते जाम्बवन्त की गुफा में प्रविष्ट हुए, उन्होंने वहां ललिता को देखा तो आवेगपूर्ण हो उठे, द्वारका में आकर उस आवेग का वर्णन मधुमंगल के सामने करने लगे—हे सखे! वहां एक वृक्ष के पास मैंने ललिता को देखा, फिर मधुरस्वभावा श्रीराधा को देखा, तथा फिर शंखचूड़ के शिरोभूषण स्यमन्तक मणि को वहां देखकर मैं बड़े संभ्रम में बार-बार घूर्णित होने लगा॥३८॥

अनुवाद—(प्रिय-श्रवण जनित आवेग) श्रीललित माधव (१।२५) में, यथा—अपराह्न में श्रीकृष्ण वन से गोष्ठ में आ रहे हैं। दूर से उन्होंने मुरली-ध्वनि की। किन्तु श्रीकृष्ण दर्शन को परमोत्कण्ठित व्रजगोपियों ने उस वशीध्वनि को अति निकटवर्ती समझा और हड़बड़ाहट में उलटी-सीधी वेश-भूषा धारण कर बाहर जाने लगीं। तब उन्हें देखकर कुन्दलता ने कहा—धन्ये! तुम्हारे बायें नेत्र में कज्जल नहीं है। पद्मे! तुमने चरण में अंगद (बाजूबन्द) डाल रखा है? ओ सारंगि! तुमने एक ही नूपुर धारण किया है। पालि! तुम्हारी तो मेखला गिरी जा रही है। लवंगि! तुमने कपोल पर ही तिलक रचना कर ली है? कमले! तुमने नेत्रों में जावक (अलता) डाल रखा है? इतनी उतावली होकर मत भागो, मुरली तो अभी भी बहुत दूर बज रही है॥३९॥

अनुवाद—(अप्रिय-दर्शन जनित आवेग) श्रीललितमाधव (३।१८) में, यथा—मथुरा जाने के लिये श्रीकृष्ण जब रथ में बैठ गये, उनको देखकर श्रीराधा जी की जो चेष्टा प्रकाशित हो उठी, उसे वृन्दा देवी कह रही हैं—श्रीराधा जी कुछ देर चीत्कार करते हुए रथ के आगे पृथ्वी पर पछाड़ें खाती रहीं, फिर कुछ देर अपने अश्रुपूर्ण नेत्रों से श्रीकृष्ण के मुखकमल को देखती रहीं, फिर तृण बीच में धारण कर श्रीबलराम के आगे गिर पड़ी रहीं हाय! हाय!! श्रीराधा ने उस समय किसको शोकसागर में नहीं डाल दिया?॥४०॥

अनुवाद—(अप्रिय-श्रवण जनित आवेग) यथा—श्रीराम-कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिये अक्रूर व्रज में आया है। श्रीव्रजराज के आदेश से द्वारपाल ने रात को उच्चस्वर से सब नगरवासियों को सूचित कर दिया कि प्रातः काल हमें मथुरा जाना है। इस सूचना को सुनकर कुन्दलता नान्दीमुखी को कहती

अप्रियश्रवणजो यथा—

(३७) व्रजनरपतेरेष क्षत्ता करोति गिरा प्रगे नगरगतये घोरं घोषे घनां सखि घोषणाम् ।
श्रवणपदवीमारोहन्त्या यया कुलिशोग्रया रचितमचिरादाभीरीणां कुलं मुहुराकुलम् ।। ४१ ।।

एवमन्येऽप्यूह्याः । अथ उन्मादः—स प्रौढानन्दाद्यथा—

(३८) प्रसीद मदिराक्षि मां सखि मिलन्तमालिङ्गितुं निरुन्धि मुदिरद्युतिं नवयुवानमेनं पुरः ।
इति भ्रमरिकामपि प्रियसखीं भ्रमाद्याचते समीक्ष्य हरिमुन्मदप्रमदविह्वला बल्लवी ।। ४२ ।।

विरहाद्यथा—(३९)

क्वाप्यान्दोलितकुन्तला विलुठति क्वाप्यङ्गुलीभङ्गतस्त्वङ्गद्भ्रूर्दशनैर्विदश्य दशनान् कंसं शपत्युद्धुरा ।
कुत्राप्यद्य तमालमुत्तरलधीरालोक्य धावत्यलं राधा त्वद्विरहज्वरेण पृथुना दूना यदूनां पते ।। ४३ ।।

अथापस्मारः—यथा—

(४०) अङ्गक्षेपविधायिभिर्निबिडतोत्तुङ्गप्रलापैरलं गाढोद्वर्तिततारलोचनपुटैः फेनच्छटोद्गारिभिः ।
कृष्ण त्वद्विरहोत्थितैर्मम सखीमन्तर्विकारोर्मिभिर्ग्रस्तां प्रेक्ष्य वितर्कयन्ति गुरवः संप्रत्यपस्मारिणीम् ।। ४४ ।।

है—हे देवि ! व्रजराज के आदेश से कल प्रातःकाल मथुरा जाने की द्वारपाल जोर जोर से भयंकर घोषणा कर रहा है, किन्तु वज्र से भी कठोर इस घोषणा के कानों में जाते न जाते ही व्रजगोपियों को महा व्याकुल कर दिया है ।।४१।। (इसी प्रकार अन्य व्रजवासी भी महाव्याकुल हो उठे थे)।

अनुवाद—(उन्माद—महानन्द जनित उन्माद) यथा—एक व्रजसुन्दरी श्रीकृष्ण को मिलने के लिये परमोत्कण्ठित थी। अचानक एक समय उसने श्रीकृष्ण के अपने अति निकट में दर्शन किये। अतिशय आनन्द में वह विभ्रम-चित्त होकर जैसा आचरण करने लगी, दूर से देख कर वृन्दादेवी उसका वर्णन कर रही है—श्रीकृष्ण के दर्शन में मत्तता जनक आनन्द में वह विह्वल हो उठी और चित्त की विभ्रान्ति के कारण एक भ्रमरी को अपनी प्रियसखी मानकर उसे प्रार्थना करने लगी—हे मादिराक्षि ! तुम मुझ पर प्रसन्न होवो, मुझ को आलिंगन करनेके लिए मेरे सामने आये हुए इस नवमेघ-श्यामल नवयुक—श्रीकृष्ण को तुम रोको ।।४२।।

अनुवाद—(विरह जनित उन्माद) यथा—व्रज में श्रीराधादि की कृष्ण-विरह जात उन्माद दशा को श्रीउद्धव जी मथुरा में जाकर श्रीकृष्ण के प्रति कहते हैं—हे यदुपति ! तुम्हारे विरह-जनित तीव्र ज्वर में श्रीराधा जी व्याकुल होकर कहीं तो विस्रत केशों से पछाड़ें खाती रहती हैं, कहीं कभी भ्रकुटि चढ़ाकर क्रोध पूर्वक तर्जनी अंगुली को चलाते हुए, अपने दान्तों से अधर का दंशन करते हुए मर्यादा को त्यागकर कंस को गालियां देने लगती हैं, और कभी कहीं तमाल वृक्ष को देखने ही अस्थिर होकर बड़े वेग से उसकी ओर दौड़ पड़ती हैं ।।४३।।

अनुवाद—(अपस्मार—चित्त-विप्लव या अपस्मृति) (अपस्मार· मृगीरोग को कहते हैं, उसमें जो लक्षण रोगी में दीखते हैं, वही यहां—अपस्मृति में उदित हो उठते हैं)—किसी पथिक द्वारा ललिताजी ने श्रीकृष्ण के पास संवाद भिजवाया—हे कृष्ण ! तुम्हारे विरह में मेरी सखी श्रीराधा जी कभी तो अंगक्षेपण करने (हाथ-पांव पटकने) लगती हैं, कभी अति भावावेश में उच्च प्रलाप वचन उच्चारण करने लगती हैं, कभी उसके नेत्रों की पुतलियां उलट-पुलट जाती हैं, और कभी उसके मुख से झाग

अथ व्याधिः—स यथा रससुधाकरे—

(४१) शय्या पुष्पमयी परागमयतामङ्गार्पणादश्नुते ताम्यन्त्यन्तिकतालवृन्तनलिनीपत्राणि गात्रोष्मणा ।
न्यस्तं च स्तनमण्डले मलयजं शीर्णान्तरं लक्ष्यते क्वाथादाशु भवन्ति फेनिलमुखा मृषामृणालाङ्कुराः ४५

अथ मोहः—स हर्षाद्यथा विदग्धमाधवे—(२।६)

(४२) दरोन्मीलन्नीलोत्पलदलरुचस्तस्य निबिडाद्विरूढानां सद्यः करसरसिजस्पर्शकुतुकात् ।
बहन्ती क्षोभाणां निवहमिव नाज्ञासिषामिदं क्व वाहं का वाहं चकर किमहं वा सखि ! तदा ।।४६।।

यथा वा श्रीदशमे—(१०।२१।१२)—

(४३) कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविविक्तगीतम् ।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ।। ४७ ।।

बहने लगती है । उस की यह अन्तर्विकार दशा देखकर उसके गुरुजन (माता-पिता, सासादि) समझते हैं कि राधा को अपस्मार रोग हो गया है ।।४४।।

अनुवाद—(व्याधि) रससुधाकर में, यथा—श्रीकृष्ण-विरहज्वर में पीड़ित श्रीराधाजी की अवस्था का संवाद एक सखी ने मथुरा श्रीकृष्ण के प्रति इस प्रकार भिजवाया—हे कृष्ण ! तुम्हारे विरह में श्रीराधा जी को ऐसा सन्ताप ज्वर चढ़रहा है कि उसके अंगस्पर्श से पुष्पों की शय्या पुष्पधूलि में परिवर्तित हो जाती है—पुष्प ताप पाकर सूखकर चूर्ण बन जाते हैं, उसके अङ्गों के तापसे तालपत्र से बने व्यजन पर लगे कमल पुष्पपत्र कुम्हला जाते हैं, वक्षस्थल पर चन्दन लेप लगाने से तत्क्षण सूख जाता है और बीच-बीच में फट जाता हैं । यदि उसके ज्वर ताप को हलका करने के लिये उसे मृणालांकुर के भूषण रचकर धारण कराये जायें तो ताप से उनमें से झाग निकलने (उबलने) लगते हैं ।।४५।।

रूपक्कपातरंगिणी-टीका—ज्वरादि व्याधि बात-पित्त-कफ-इन दोषों के कुपित होने पर ज्वरादि व्याधि उत्पन्न होती है, कभी-कभी प्रियजन के विच्छेद से भी ज्वर चढ़ जाता है । यहां जिसे ज्वर या व्याधि नामका व्यभिचारि भाव कहा जा रहा है वह बात-पित्त-कफके विकार जनित ज्वर या व्याधि या रोग नहीं है । ज्वरादि रोग में जो लक्षण प्रकाश पाते हैं । कृष्णसम्वन्धीय विषय में भी भक्तों में वैसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं, वास्तव किसी रोगके विना ही वे प्रकाशित हो उठते हैं । भक्तों में इस प्रकार के विकारादि लक्षणों को ही व्यभिचारिभाव नामक व्याधि कहा गया है । प्रतिबिम्ब में जैसे वास्तव कोई वस्तु नहीं रहती, आकार मात्र ही रहता है, उसी प्रकार इस भाव में ज्वर-व्याधि का प्रतिबिम्व या प्रतिरूप मात्र रहता है । इस भाव में ज्वर न रहते हुए भी भक्तों के अंगों में प्रचण्ड ताप अनुभूत होता है । उसी प्रकार ही पूर्वोक्त अपस्मार, उन्मादादिक को भी समझना चाहिये ।

अनुवाद—(मोह—हर्षजनित मोह) श्रीविदग्धमाधव नाटक (२।६)में यथा—श्रीकृष्णके कृष्णनाम, उनकी वंशी ध्वनि सुनकर तथा उनके चित्र के दर्शन कर श्रीराधा जी क्षुब्ध एवं मोहित हो उठीं । यह सब जानते हुए भी श्रीललिता-विशाखा जी ने उनसे क्षोभका कारण पूछा तो श्रीराधाजी ने कहा—हे सखि ! ईषद-विकसित नीलकमल दल के समान कान्तिधारी उस दुर्लील श्रीकृष्णके करकमल के स्पर्श से मुझे ऐसा अखण्ड आनन्द प्राप्त हुआ कि उस समय क्षोभ-राशि वहन करते हुए मैं कहाँ हूँ, मैं कौन हूँ एवं वह मुझसे क्या कर रहा है—मुझे कुछ भी तो ज्ञान नहीं रहा ।।४६।। अथवा श्रीमद्भागवत (१०।२१।१२) में यथा—श्रीकृष्ण के त्रिभुवन मोहन सौन्दर्य का दर्शन करके तथा उनकी वेणु माधुरी सुनकर सुरांगनाओं की दशा देखकर व्रजगोपीवृन्द परस्पर कहती हैं—हे सखिगण ! अनुरागिणी रमणियों

विश्लेषाद्यथोद्धवसंदेशे—(११७)—

(४४) सा पल्यङ्के किसलयकुलैः कल्पिते तत्र सुप्ता सुप्ता नीरस्तबकितदृशां चक्रवालैः सखीनाम् ।
द्रष्टव्या ते कृशिमकलिता कण्ठनालोपकण्ठे स्पन्देनान्तर्वपुरनुमितप्राणसङ्गा वराङ्गी ॥ ४८ ॥

विषादाद्यथा श्रीदशमे—(१०।३५।१६-१७)—(४५)

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रनीरजाङ्कुशविचित्रललामैः । व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्यगतिरीरितवेणुः।

(४६) व्रजति तेन वयं सविलासवीक्षणार्पितमनोभववेगाः ।
कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन वसनं कबरं वा ॥ ५० ॥

अथ मृतिः ! ५—मृतेरध्यवसायोऽत्र वर्ण्यः साक्षादियं न हि ॥ ५१ ॥

यथोद्धवसंदेशे—(६९)—

(४७) यावद्व्यक्तिं न किल भजते गान्दिनेयानुबन्धस्तावन्नत्वा सुमुखि भवतीं किंचिदभ्यर्थयिष्ये ।
पुष्पैर्यस्या मुहुरकरवं कर्णपूरान्मुरारेः सेयं फुल्ला गृहपरिसरे मालती पालनीया ॥ ५२ ॥

के आनन्ददायक श्रीकृष्णके सौन्दर्यशाली रूप एवं शीलस्वभाव को देखकर एवं उनके द्वारा किये सुस्पष्ट वेणु-गीत को सुनकर विमानचारी देवांगनाएं अपने-अपने पतियों के साथ रहते हुए भी श्रीकृष्ण के मिलनके लिये अपना धीरज खो बैठती हैं। उनकी वेणु से कुसुम स्खलित हो रहे हैं और उनकी साड़ियां कटि देश से खिसक रही हैं—उन्हें यह भी पता नहीं रहता—इतनी मोहित हो जाती हैं ॥४७॥

अनुवाद—(विरह जात मोह) श्रीउद्धव सन्देश (११७) में यथा—श्रीउद्धव को व्रज भेजते समय श्रीकृष्ण उसे श्रीराधा जी का परिचय देते हुए कहते हैं—वह वरांगी श्रीराधा अश्रुपूर्ण नेत्रों पूर्ण होकर सखियों के मध्य नवीन पल्लवों द्वारा विरचित शीतल शय्या पर सो रही होंगी। वह अति कृश हो गयी हैं, तुम देखना, उसकी कण्ठ नाली के निकट कण्ठ में हलका सा स्पन्दन होने से उसके शरीर में प्राणों की अवस्थिति का अनुमान लग रहा होगा (उस स्पन्दन के विना ध्यान पूर्वक देखे उसका शरीर तुम निष्प्राण जानोगे) ॥४८॥

अनुवाद—(विषाद-जनित मोह) श्रीभागवत (१०।३५।१६-१७) में यथा—गो-गोपवृन्द के साथ श्रीकृष्ण को वन से गोष्ठ में आता देखकर कुछ एक व्रजगोपीजन कहती हैं, लज्जा-धैर्य्य-कुलकानादि त्याग कर सुबलादि सखाओं की भांति हम श्रीकृष्ण की सङ्गी न बन सकीं—इस प्रकार अनुताप करते हुए विषादग्रस्त होकर परस्पर कहती हैं—गजेन्द्र की भांति मन्थर गति से श्रीकृष्ण जब ध्वज, वज्र, अंकुश, कमलादि के विचित्र चिह्नों से भूषित अपने चरणकमलों से गोकुल-भूमि की गो-खुरों से उत्पन्न घावों की वेदना को प्रशमित करके वेणु बजाते हुए गमन करते हैं, उस समय उनकी विलास भरी दृष्टि से हमारे चित्त में जो मनोभाव उदित होता है, उसके प्रबल वेग से वृक्ष धर्म—स्थावरत्व को प्राप्त हो जाती हैं। इसलिये हम यह कुछ नहीं जान पातीं कि हमारे वस्त्र-(नीविबन्धन) और वेणी के बन्धन ढीले हो गये हैं ॥४९-५०॥

अनुवाद—(मृति अर्थात् मृत्यु) मधुररस में मरण के उद्यम मात्र ही वर्णनीय है, साक्षात् मृत्यु नहीं ॥ (इसमें अस्पष्ट-वाक्य, शरीर का वैवर्ण्य, मन्दश्वास तथा हिचकी आदि क्रियाएं प्रकाशित होती है) ॥५१॥ श्रीउद्धव सन्देश (६९) में, यथा—श्रीराधा जी ने ललिता जी से कहा—हे सुमुखि ! जब तक अक्रूर के (श्रीकृष्ण को मथुरा ले जाने के) आग्रह का निश्चित रूप व्यक्त नहीं होता, तब तक मैं तुम्हें

अथालस्यम्—६—साक्षादङ्गं न चालस्यं भङ्गया तेन निबध्यते ॥ ५३ ॥

यथा—(४८) निरवधि दधिपूर्णां गर्गरीं लोडयित्वा सखि कृततनुभङ्गं कुर्वती भूरि जृम्भाम् ।
भुवमनुपतिता ते पत्युरास्ते सवित्री विरचय तदशङ्कं त्वं हरेर्मूर्ध्नि चूडाम् ॥ ५४ ॥

अथ जाड्यम्—तदिष्टश्रुत्या यथा—(४९)

गोपुरे रुवति कृष्णनूपुरे निष्क्रमाय धृतसंभ्रमाप्यसौ । कीलितेव परिमीलितेक्षणा सीदति स्म सदने मनोरमा

अनिष्टश्रुत्या यथा ललितमाधवे—(३।१०)—

(५०) आलीव्यलीकवचनेन मुहुर्विहस्ता हस्तारविन्दविगलद्ग्रथितार्धमाल्या ।
हा हन्त हन्त किमपि प्रतिपन्नतन्त्रा चन्द्रावली किल दशान्तरमारुरोह ॥ ५६ ॥

नमस्कारपूर्वक यह एक प्रार्थना करती हूँ कि जिन पुष्पों से मैं श्रीकृष्ण कर्णभूषण बार-बार निर्माण करती थी, तुम उस प्रफुल्लित मालती लता की मेरे प्रांगण में मन्त्र पूर्वक रक्षा करती रहो (क्योंकि मेरा जीवन अब नहीं रहेगा) ॥५२॥

अनुवाद—(आलस्य)—श्रीकृष्णप्रेयसियों में कृष्णविषय में आलस्य की सम्भावना नहीं है, फिर भी व्यभिचारि प्रकरण में आलस्य साक्षात् अङ्ग न होने पर भी भङ्गीक्रम में इसे दिखाया गया है ॥५३॥ यथा—कुञ्ज में श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा जी विराजमान हैं, पद्मा को सिखायी हुई शारिका के मुख से श्रीराधा जी ने सुना कि जटिला उसी कुंज की ओर आ रही है। यह सुनकर श्रीराधा जी भयभीत हो उठीं इतने में गोष्ठ से आयी श्रीरूपमंजरी ने श्रीराधा जी को आश्वासन देते हुए कहा—हे सखि ! जटिला तो निरन्तर दधि भरे माट को मंथन करते-करते थक गयी और अंग-मोटन करते हुए जम्भाई लेते-लेते पृथ्वी पर लेटी हुई है। इसलिये तुम निशंक होकर श्रीकृष्ण के मस्तक पर चूड़ा रचना करो ॥५४॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—यहां जटिला में श्रमजनित आलस्य को ही दिखाया गया है। उसी व्यपदेश से श्रीराधा जी के स्थायीभाव की पुष्टि की बात ही भंगी से जतायी गयी है। श्रम पैदा करने वाले तथा श्रीकृष्ण से भिन्न सम्पर्क रखने वाली क्रिया-विशेष में आलस्य होता है, किन्तु कृष्णविषयक किसी भी अनुशीलन में कृष्ण भक्तों में आलस्य उत्पन्न नहीं हो सकता।

अनुवाद— (जड़ता, इष्ट-वस्तु जात जड़ता) यथा—श्रीकृष्ण गैया चराने के लिये घर से निकल रहे थे, उनके चरणनूपुरों की ध्वनि पुरद्वार पर सुनते ही मनोरमा-गोपी श्रीकृष्ण दर्शन के लिये घर से निकलने की चेष्टा करने लगी, किन्तु जड़ता भाव के उदय होने से बाहर न निकल सकी। उसकी सखी एक दूसरी सखी को मनोरमा की दशा बता रही है—हे सखि ! पुरद्वार पर श्रीकृष्ण के चरणनूपुर की ध्वनि सुनते ही इस मनोरमा ने अति शीघ्रता से बाहर निकलने की चेष्टा की, किन्तु अपने घर में ही मानो बन्धी सी रह गयी और (पूर्वदृष्ट श्रीकृष्ण के रूप-ध्यान में) उसकी पलक-लगना बन्द हो गया, वह वहीं ही खड़ी रह गयी ॥५५॥

अनुवाद—(अनिष्ट श्रवण जात जड़ता) श्रीललित माधव (३।१०) में, यथा—श्रीकृष्ण मथुरा जाने के लिये रथ पर आरूढ़ हो चुके थे। किन्तु चन्द्रावली उनके लिये माला-रचना में इतनी तन्मय हो रही थी कि उसे यह पता न लगा। तब पद्मा ने उसे बताया कि तू माला रचना में तन्मय हो रही है, श्रीकृष्ण तो रथ पर बैठ चुके हैं—सुनते ही उसकी जो जड़ता-भावमय दशा हुई, उसे पौर्णमासी खेद

इष्टेक्षणेन यथा विदग्धमाधवे—(३।२१)

(५१) अहो धन्या गोप्यः कलितनवनर्मोक्तिभिरलं विलासैरामोदं दधति मधुरैर्याः मधुभिदः ।
धिगस्तु स्वं भाग्यं यदिह मम राधा प्रियसखी पुरस्तस्मिन्प्राप्ते जडिमनिबिडाङ्गी विलुठति ॥ ५७॥

अनिष्टेक्षणेन यथा—(५२) राधा वनान्ते हरिणा विहारिणी प्रेक्ष्याभिमन्युं स्तिमिताभवत्तथा ।
क्रुद्धास्य तूर्णं भजतोऽपि संनिधिं यथा भवानीप्रतिमाभ्रमं दधे ॥ ५८॥

विरहेण यथा पद्यावल्याम्—(१८७)—

(५३) गृहीतं ताम्बूलं परिजनवचोभिर्न सुमुखी स्मरत्यन्तः शून्या मुरहर गतायामपि निशि ।
तथैवास्ते हस्तः कलितफणिवल्लीकिसलयस्तथैवास्यं तस्याः क्रमुकफलफालीपरिचितम् ॥ ५९॥

अथ व्रीडा सा नवीनसंगमेन यथा—

(५४) विधुमुखि भज शय्यां वर्तसे किं न तस्या मुहुरयमनुवर्ती याचते त्वां प्रसीद ।
इति चटुभिरनल्पैः सा मयाभ्यर्थ्यमाना व्यरुचदिह निकुञ्जश्रीरिव द्वारि राधा ॥ ६०॥

पूर्वक कह रही है—अहो ! पद्मा के मुख से उस अप्रिय एवं दुखद वचन को सुनते ही चन्द्रावली अति व्याकुल हो उठी। उसके हाथ से आधी ग्रथित माला भूमि पर गिर गयी, हाय ! हाय !! घूर्णावश उस की अनिर्वचनीय अवस्था हो गयी—वह जड़वत् रही आयी ॥५६॥

अनुवाद—(इष्टदर्शन जात जड़ता) श्रीविदग्धमाधव नाटक (३।२१) में, यथा—विशाखा जी के साथ अभिसार करके श्रीराधा जी संकेत कुन्ज में आ गयी हैं। श्रीकृष्ण के वहां दर्शनकर परमानन्द में जो उसकी दशा हुई उसे व्याज स्तुति से विशाखा जी कह रही हैं—अहो ! जो अपनी अतिशय प्रतिभा से नव-नव परिहास रस के सुमधुर विलास से मधुसूदन श्रीकृष्ण का आनन्द विधान करती हैं, वे सब गोपियां धन्य हैं। धिक्कार है हमारे भाग्यों को, जो मेरी प्रियसखी श्रीराधा श्रीकृष्ण को सम्मुख देखकर ही निविड़ जड़ता को प्राप्त कर भूमि पर लोट-पोट हो रही है ॥५७॥

अनुवाद—(अनिष्ट-दर्शन जात जड़ता) यथा—वृन्दाने पौर्णमासी को कहा—देवि ! श्रीराधा जी वन में श्रीकृष्ण के साथ विहार कर रही थीं, ऐसे समय में दूर से अभिमन्यु को क्रोध में आता देखकर श्रीराधा जी ऐसी स्तम्भता को प्राप्त हो गयीं कि अभिमन्यु उसके निकट आकर उसको भवानी की मूर्ति समझ कर भ्रम में पड़ गया ॥५८॥

अनुवाद—(विरह जात जड़ता) श्रीपद्यावली (१८७) में, यथा—घर से अभिसार करके श्रीराधा जी संकेत कुन्ज में आकर श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा में बैठी हैं, श्रीकृष्ण को वहां आया न देखकर वह विप्रलब्धा अवस्था को प्राप्त हो गयीं उस अवस्था को वृन्दा श्रीकृष्ण के प्रति कह रही हैं—हे मुरारि ! सखियों के अनुरोध से श्रीराधा जी ने ताम्बूल को मुख में ले तो लिया, किन्तु अन्यमनस्कता के कारण सुमुखी श्रीराधा उस ताम्बूल को भूल गयीं। अतः वह चबा ही नहीं रही थीं। सारी रात बीत जाने पर भी वह ताम्बूल अनचबा उनके मुख में रहा आया। सखियों ने उनके हाथ में कत्था-लौंग सुपारी आदि का चूर्ण भर कर ताम्बूल वीटिका भी दी थी, किन्तु वह भी समस्त रात्रि उसके हाथ में रही आयी। उनके मुख में सुपारी भी ज्यों की त्यों रही आयी। (सारी रात जड़ताभाव बना रहा) ॥५९॥

अनुवाद—(व्रीडा या लज्जा—नवीन संगम जात व्रीड़ा), यथा—श्रीकृष्णके साथ प्रथम-मिलन के साथ प्रथम-मिलन के लिये श्रीराधा जी अभिसार करके कुन्ज मंन्दिर में आयीं, किन्तु कुन्ज पर आकर श्रीकृष्ण को देखते ही लज्जा से नतमस्तक होकर रुक गयीं। श्रीकृष्ण के द्वारा अनेक अनुनय-विनय करते

अकार्येण यथा—

(५५)—पटुः किमपि भाग्यतस्त्वमसि पुत्रि वित्तार्जने यदेतमतुलं बलादपजहर्थ हारं हरेः ।
गभीरमिति शृण्वती गुरुजनादुपालम्भनं मणिस्रगवलोकनान्मुखमवाञ्चयन्मालती ॥ ६१ ॥

स्तवेन यथा—(५६)

संकुच न तथ्यवचसा जगन्ति तव कीर्तिकौमुदी मार्ष्टि । उरसि हरेरसि राधे यदक्षया कौमुदीचर्चा ६२ ॥

अवज्ञया यथा श्रीगीतगोविन्दे—(८।२)—

(५७) तवेदं पश्यन्त्याः प्रसरदनुरागं बहिरिव प्रियापादालक्तच्छुरितमरुणद्योतिहृदयम् ।
ममाद्य प्रख्यातप्रणयभरभङ्गेन कितव त्वादालोकः शोकादपि किमपि लज्जां जनयति ॥ ६३ ॥

पर भी उस कुञ्ज में अग्रसर न हुईं । इस अवस्था का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण ने सुबल से कहा—सखे ! मैंने श्रीराधा को इस प्रकार कहा—अयि ! चन्द्रमुखि ! शय्या ग्रहण करो, मुख नीचा करके क्यों खड़ी हो ? तुम्हारा यह अनुगत जन बार-बार प्रार्थना कर रहा है, तुम प्रसन्न होवो—हे सुबल ! इस प्रकार बहुत विनीत वचनों द्वारा प्रार्थित होकर भी श्रीराधा कुंज द्वार पर खड़ी रही । उस समय निकुञ्ज लक्ष्मी की भांति वह शोभा विस्तार कर रही थी ॥६०॥

अनुवाद—(अयोग्य-कार्य-जनित लज्जा), यथा—मालती नाम की गोपी श्रीकृष्ण के साथ कुञ्ज में रात्रि यापन करके प्रातः काल अपने घर आयी । उसकी नानी ने उसके गले में श्रीकृष्ण का कण्ठ हार देखा । श्रीकृष्ण ने उसे प्रेमपूर्वक यह हार दिया हो अथवा हो सकता है प्रातः काल अन्धेरे में उसने उस-हार को अपना समझ कर गले में धारण कर लिया हो । उस हार को देखकर क्रोधित होकर तिरस्कार करते हुए नानी ने मालती से कहा—हे पुत्रि ! ऐसा लगता है तुमने भाग्यवश धन पैदा करने में सुन्दर चतुराई प्राप्त करली है, क्योंकि श्रीकृष्ण का यह अतुलनोय हार तुम बलपूर्वक चुराकर ले आयी हो । अपने गुरुजन नानी से इस प्रकार गम्भीरतामय तिरस्कार सुनकर मालती ने अपने कण्ठ में उस हार को देखा और लज्जा से मस्तक झुकाकर खड़ी रह गयी ॥६१॥

अनुवाद—(स्तव जनित लज्जा), यथा—पौर्णमासी गार्गी को श्रीराधा जी महिमा सुना रही थी । इतने में श्रीराधा जी भी वहां आ गयीं एवं अपने उत्कर्ष को सुन कर संकुचित हो गयीं । तब वृन्दा ने कहा—हे राधे ! यथार्थ वाक्य सुनकर संकुचित क्यों हो रही हो ? तुम्हारी कीर्तिकौमुदी से तो सारा जगत् उज्ज्वल हो रहा है । क्योंकि हे सखि ! श्रीकृष्ण के विशाल वक्ष पर अक्षय कौमुदी-चर्चारूप में तुम ही विराज करती हो ॥६२॥

अनुवाद—(अवज्ञा जनित लज्जा) श्रीगीतगोविन्द (८।२) में, यथा—श्रीराधा जी खण्डिता की अवस्था को प्राप्त हो गयीं, श्रीकृष्ण ने उनके निकट आकर उन्हें प्रसन्न करने के लिये अनेक विध विनीत वचन कहे ! तब आक्षेप करते हुए श्रीराधा जी ने उनसे कहा—हे कितव । आज तुम्हारा दर्शन मुझे शोक से भी बढ़कर एक अनिर्वचनीय लज्जा उत्पन्न कर रहा है । ऐसा क्यों कह रही हूँ उसे सुनो—(तुम्हारी आज यह बिगड़ी हुई वेश-भूषा और अद्भुत रूपादि यह प्रमाणित कर रहा है कि) मेरे प्रति तुम्हारे प्रेम की अतिशयता विख्यात है, वह आज नहीं रही । क्योंकि मैं देख रही हूँ कि तुम्हारा वक्ष-स्थल तुम्हारी अभीष्ट प्रेयसी के चरण के आलक्तक से रंग की लाल कान्ति धारण कर रहा है । तुम्हारा यह अरुण हृदय साक्षि दे रहा है कि तुम्हारे हृदय में तुम्हारी अभीष्ट प्रेयसी का अनुराग विद्यमान है, वही हृदय के भीतर से बाहर प्रसारित हो रहा है ॥६३॥

अथावहित्था सा जैह्म्येन यथा श्रीजगन्नाथवल्लभे—
(५८) अमुष्याः प्रोन्मीलत्कमलमधुधारा इव गिरो निपीय क्षीबत्वं गत इव चलन्मौलिरधिकम् ।
उदञ्चत्कामोऽपि स्वहृदयकलागोपनपरो हरिः स्वैरं स्वैरं स्मितसुभगमूचे कथमयम् ? ।। ६४ ।।
जैह्म्यलज्जाभ्यां यथोद्धवसंदेशे—(५२)—
(५९) मा भूयस्त्वं वद रविसुतातीरधूर्तस्य वार्तां गन्तव्या मे न खलु तरले दूती सीमापि तस्य ।
विख्याताहं जगति कठिना यत्पिधत्ते मदङ्गं रोमाञ्चोऽयं सपदि पवनो हैमनस्तत्र हेतुः ।। ६५ ।।
दाक्षिण्येन यथा ललितमाधवे—(७।३८) (६०)
उद्धूता स्मितकौमुदी न मधुरा वक्त्रेन्दुबिम्बात्तया मृद्वीनां न निराकृता निजगिरां माधुर्यलक्ष्मीरपि ।
कोष्णैरद्य दुरावरैर्निजमनो गूढव्यथाशंसिभिः श्वासैरेव दरोद्धुतस्तनपटैस्तस्या रुषः कीर्तिताः ।। ६६ ।।

अनुवाद—(अवहित्था या गोपनका इच्छा रूप भाव,—कुटिलता जनित अवहित्था) श्रीजगन्नाथ-वल्लभ नाटक में, यथा—शशिमुखी नाम की सखी के हाथ पूर्वरागवती श्रीराधा जी ने काम-लेख भिजवाया । उसे पाकर श्रीकृष्ण ने हृदय में अत्यन्त आनन्द प्राप्त किया, फिर भी श्रीराधा जी की भावदृढ़ता की परीक्षा करने के लिये वाहर से उदासीनता प्रकाश की । किन्तु उनके अन्तर का भाव समझ कर वनदेवी मदनिका इस प्रकार वितर्क करती हैं—अहो ! विकसित कमल की मधुधारा के समान शशिमुखी के मुख से निकली वचनधारा का आस्वादन करके उन्मत्तप्रायः होकर श्रीकृष्ण सिर कँपा रहे हैं । उन की अतिशय तीव्र इच्छा प्रकाशित होने पर भी वे किन्तु अपने हृदय के भाव गोपन करने के लिये तत्पर होकर मन्द मुसकराते हुए क्यों ऐसी बात कह रहे थे ? (यहां मन्द मुसकान के आवरण में उदासीनता को गोपन किया गया है । उदासीनता कृत्रिम है । यदि सत्य होती तो मन्द मुसकराहट कैसी ? श्रीकृष्ण की कुटिलता जनित अवहित्था का उदाहरण है यह) ।।६४।।

अनुवाद—(जैह्म्य या कुटिलता एवं लज्जा-जनित अवहित्था)—श्रीउद्धव सन्देश(५२)में, यथा—श्रीकृष्ण द्वारा भेजे हुए श्रीउद्धव जब व्रज में गोपियों के पास आये, तो एक गोपी उनको कलहान्तरिता श्रीराधा के एक आचरण की बात बताने लगी । उसने कहा कि एकदिन श्रीकृष्ण ने श्रीराधा के पास एक दूती को भेजा था, दूती ने श्रीराधा के पास जाकर श्रीकृष्ण का अभिप्राय व्यक्त किय । यद्यपि श्री-राधाजी श्रीकृष्ण के साथ मिलने को अत्यन्त उत्सुक थीं, तथापि वह अपने मनके भावको गोपन करते हुए बोलीं—हे चञ्चले दूति ! फिर और उस यमुनातीर विहारी धूर्त्त (श्रीकृष्ण)बात मेरे निकट मत बोलना । मैं उस धूर्त्त की सीमावर्ती स्थल में भी नही जाऊंगी । मैं कठोर नामसे जगत में विख्यात हूँ तुम जो मेरे शरीर में रोमाञ्च देख रही हो, (वह उनके मिलन की उत्कण्ठा से नहीं हो रहा है) इसका कारण है शीतल वायु का स्पर्श ।।६५।।

अनुवाद—(दाक्षिण्य-जनित अवहित्था) श्रीललितमाधव (७।३८) में, यथा—द्वारका के नववृन्दावन में सत्यभामा की प्रतिमा से सम्भाषण करते हुए श्रीकृष्ण को प्रसन्न चित्त देखकर श्रीरुक्मिणी ने समझा कि श्रीकृष्ण का सत्यभामा से सङ्ग हुआ है, अतः वह मानवती हो उठती है, किन्तु इस रहस्य को मधुमंगल नहीं जान पाता । तब श्रीकृष्ण ने कहा—हे सखे ! यह चन्द्रावली क्रुद्धा—मानवती हो उठी है, किन्तु इसके वदन चन्द्र की मधुर हास्य चन्द्रिका नष्ट नहीं हुई है और न ही उसकी मधुरवाक्य माधुर्य सम्पत्ति दूर हुई है । किन्तु इस समय उसके मन की निगूढ़ व्यथा के प्रकाशक दुर्निवार ईषद् गरम निश्वास तथा उनकी चोली की कम्पन उसके रोषावेश को अभिव्यक्त कर रहे हैं ।।६६।।

ह्रिया यथा विदग्धमाधवे—(२।१६)

(६१) भजन्त्याः सव्रीडं कथमपि तदाडम्बरघटामपह्नोतुं यत्नादपि नवमदामोदमधुरा।
अधीरा कालिन्दीपुलिनकलभेन्द्रस्य विजयं सरोजाक्ष्याः साक्षाद्वदति हृदि कुञ्जे तनुवनी ॥ ६७ ॥

ह्रीभयाभ्यां यथा—(६२)

हृदये त्वदीयरागं माधव दधती शमीव सा दहनम्। अन्तर्ज्वलितापि बहिः सरसा स्फुरति क्षमागुणतः ॥

भयेन यथा—(६३) चन्द्रावली मन्दिरमण्डलानि पत्युः पुरस्ताच्चिरमाचरन्ती।
वंशीनिनादेन विरूढकम्पा निनिन्द धूर्ता घनगर्जितानि ॥ ६९ ॥

गौरवदाक्षिण्याभ्यां यथा—(६४) स्वकरग्रथितामवेक्ष्य मालां विलुठन्तीं प्रतिपक्षकेशपक्षे।
मलिनाप्यघमर्दनादरोर्मिस्थगिता चन्द्रमुखी बभूव तूष्णीम् ॥ ७० ॥

अनुवाद—(लज्जा-जनित अवहित्था) श्रीविदग्धमाधव (२।१६) में यथा—पूर्वरागवती श्रीराधा की श्रीकृष्ण प्राप्ति के लिये व्याकुलता को मुखरा ने समझा कि श्रीराधा किसी व्याधि में ग्रस्त हो रही है। मुखरा ने यही बात पौर्णमासी देवी को कही। वह श्रीराधा जी के पास आयी। तब श्रीराधा जी लज्जावश अपने भावों को गोपन करने की चेष्टा करने लगीं, परन्तु पौर्णमासी जान गयीं कि श्रीराधा की यह व्याधि श्रीकृष्ण सम्बन्धी है। वह मन में कहने लगीं—इस कमलनयना श्रीराधा के हृदय-कुञ्ज में कालिन्दी पुलिन विहारी श्रीकृष्ण रूप मातग ने प्रवेश कर लिया है—यही श्रीराधा का देह स्पष्ट रूप से सूचना दे रहा है। क्षुद्रवन में एक मतवाले हाथी के प्रवेश को क्या गोपन रखा जा सकता है ? उसकी मद-स्राव की सुगन्ध ही चारों दिशाओं को आमोदित कर देती है। उसकी गर्जना को कौन गोपन रख सकता है ? अतः श्रीराधा के शरीर में नवस्मर-विकारजनित मत्तता से उत्पन्न आनन्दोद्रेक माधुर्य दिखायी दे रहा है एवं बार-बार कम्प भी। वह लज्जावश समस्त भावों को गोपन करने की चेष्टा कर रही है, किन्तु श्रीकृष्ण का पराक्रम किसी प्रकार भी गोपन नहीं करने दे रहा है ॥६७॥

अनुवाद—(लज्जा एवं भयजनित अवहित्था) श्रीकृष्ण की एक अनुरागिणी लज्जा एवं भयवश अपने मनोभावों का प्रकाशित न कर पीड़ित हो रही थी। उसकी दूती ने जाकर श्रीकृष्ण से कहा—हे कृष्ण ! शमी (छेंकर) का वृक्ष जैसे भीतर में अग्निज्वाला वहन करते हुए भी पृथ्वी के गुण से बाहर पल्लवांकुरादि द्वारा सुन्दर बना रहता है, वैसे ही वह गोपी भी हृदय में तुम्हारे अनुराग को पोषण करती हुई भीतर-भीतर दग्ध होती हुई भी सहिष्णुता के गुण से सुन्दर प्रतीत हो रही है ॥६८॥

अनुवाद—(भय जनित अवहित्था) यथा—एकदिन चन्द्रावली गृहकार्य में व्यस्त थी एवं उस का पतिमन्य गोवर्धन भी घरमें विद्यमान था। अचानक श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि उसके कानमें पड़ी और उसमें कम्प होने लगा उसने जिस चतुरता से उसे गोपन किया, उसे वृन्दा ने कुन्दलता को बताते हुए कहा—चन्द्रावली पति के सामने घर को संवार रही थी, उसी समय श्रीकृष्ण-वंशी ध्वनि सुनकर उसका शरीर काम्पने लगा, वह धूर्ततावश उस समय गर्जना करने वाले मेघ की निन्दा करने लगी—'हाय ! यह मेघ ऐसा गर्ज रहा है कि मैं डर से काम्पने लगी हूँ' ॥६९॥

अनुवाद—(गौरव तथा सौजन्य जनित अवहित्था) यथा—वृन्दा से चन्द्रमुखी की एक सखी ने कहा—देख सखि ! तुम्हारी प्रियसखी चन्द्रमुखी ने अपने हाथों से जो माला ग्रथित कर श्रीकृष्ण को दी

अथ स्मृतिः—सा सदृशेक्षया यथा हंसदूते—(२३)—

(६५) तमालस्यालोकाद्‌गिरिपरिसरे सन्ति चपलाः पुलिन्द्यो गोविन्दस्मरणरभसोत्तप्तवपुषः ।
शनैः स्वेदं तासां क्षणमपनयन्यास्यति भवानवश्यं कालिन्दीसलिलशिशिरैः पक्षपवनैः ॥ ७१ ॥

दृढाभ्यासेन यथा—

(६६)ते पीयूषकिरां गिरां परिमलाः सा पिच्छचूडोज्ज्वला तास्तापिच्छमनोहरास्तनुरुचस्ते केलयः पेशलाः
तद्वक्त्रं शरदिन्दुनिन्दि नयने ते पुण्डरीकश्रिणी तस्येति क्षणमप्यविस्मरदिदं चेतो ममाघूर्णते ॥ ७२ ॥

अथ वितर्कः—स विमर्शाद्यथा विदग्धमाधव—(६।२९)

(६७) विघूर्णन्तः पौष्पं न मधु लिहतेऽमी मधुलिहः शुकोऽयं नादत्ते कलितजडिमा दाडिमफलम् ।
विवर्णा पर्णाग्रं चरति हरिणीयं न हरितं पथानेन स्वामी तदिभवरगामी ध्रुवमगात् ॥ ७३ ॥

थी, उसे विपक्ष की रमणी के केशजूड़ा में झूलते देखकर उसका हृदय अति दुख रहा है, तथापि श्रीकृष्ण के प्रति आदर रहने के कारण अथवा अपने प्रति श्रीकृष्ण का सम्मान जानकर वह चुप ही रह गयी है ॥७०॥

अनुवाद—(स्मृति—सदृशवस्तु दर्शन-जनित स्मृति) श्रीहंसदूत (२३) में, यथा—राजहंस को मथुरा भेजते समय ललिता जी ने कहा—हे राजहंस ! उस गिरिराज की तलहटी में इधर-उधर की भूमि में तमाल वृक्ष को देखकर कृष्ण-स्मृति पाकर व्याकुला एवं अतिशय कृष्ण विरह सन्तप्त अवस्था में बैठी तुम कई एक भीलनियों को देखोगे ! अतः तुम अपने यमुनाजल के समान सुशीतल पंखों से मन्द-मन्द वायुसंचार करते हुए दो-चार क्षण वहां रुककर उनके सन्ताप को अवश्य दूर करके जाना ॥७१॥

अनुवाद—(दृढ़ अभ्यास जनित स्मृति) यथा—सखियों से श्रीकृष्ण के रूप-गुण माधुर्य का वर्णन सुनकर अनुरागवती कोई रमणी दृढ़ता सहित श्रीकृष्ण का स्मरण करते करते ऐसी अवस्था को प्राप्त हो गयी कि चेष्टा बिना भी उसके चित्त में श्रीकृष्ण की स्फूर्ति होने लगी । अपनी उस अवस्था को वह अपनी एक सखी के प्रति कह रही है—श्रीकृष्ण की वह अमृतस्रावी वाक्य-परिमल, वह उज्ज्वल मोर-पुच्छ शोभित चूड़ा, वह मनोहर देहकान्ति, अति मधुर वह केलिकलाप, उनका वह वदनचन्द्र, उनकी वह पूर्णेन्दु विनिन्दि एवं श्वेतपद्म-सुषमाधारी नेत्रयुगल—मेरा यह चित्त श्रीकृष्णकी इन सब वस्तुओं को क्षणकाल भी नहीं भूलता, केवल घूर्णाग्रस्त ही रहा आता है ॥७२॥

अनुवाद—(वितर्क—विमर्शजनित वितर्क) श्रीविदग्धमाधव (६।२९) में यथा—वृन्दावन में श्रीश्री-राधाकृष्ण लुक-छिपी खेल कर रहे हैं । श्रीकृष्ण एक घोर अन्धकारमय कुन्ज में छिपगये हैं । श्रीराधा जी उन्हें ढूण्ढ़ते हुए एक स्थान पर भ्रमरादि की स्वाभाविक विरति को देखकर श्रीकृष्ण की अवस्थिति का वितर्क करती हैं ।—वह देखती हैं—भ्रमरगण वहां भ्रमण करते-करते पुष्प-मधु का आस्वादन नहीं कर रहे हैं, शुकपक्षी भी जड़वत् होकर बैठा है, दाड़िम फल को नहीं खा रहा है । हरिणी विवर्णा होकर हरे हरे तृणांकुर भक्षण नहीं कर रही है—लगता है निश्चय ही इस पथ से गजगतिगामी मेरा प्राणेश्वर गया है ॥७३॥

अनुवाद—(संशयजनित वितर्क) श्रीललितमाधव (३।४०) में, यथा—माथुर विरहमें दिव्योन्माद-ग्रस्ता श्रीराधा जी ने गोवर्धन के शिखर पर विद्युत् एवं इन्द्रधनुष युक्त मेघ को देखा । देखते ही मनमें लगाकि विद्युद् वर्ण गोपियों के साथ मोरपुच्छधारी श्रीकृष्ण विहार कर रहे हैं -मन-मन में वे बोलीं—

संशयाद्यथा ललितमाधवे—(३।४०)

(६८) विदूरे कंसारिर्मुकुटितशिखण्डावलिरसौ पुरा गौराङ्गीभिः कलितपरिरम्भो विलसति।
न कान्तोऽयं शङ्के सुरपतिधनुर्धाममधुरस्तडिल्लेखाहारी गिरिमवलम्बे जलधरः॥ ७४॥

अथ चिन्ता सा इष्टानवाप्त्या यथा पद्यावल्याम्—(२३८)—

(६९) आहारे विरतिः समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा नासाग्रे नयनं यदेतदपरं यच्चैकतानं मनः।
मौनं चेदमिदं च शून्यमखिलं यद्विश्वमाभाति ते तद्ब्रूयाः सखि योगिनी किमसि भोः किं वा वियोगिन्यसि

यथा वा विदग्धमाधवे—(३४)—(७०)

अक्ष्णोर्द्वन्द्वं प्रसरति दरोद्घूर्णतारं मुरारेः श्वासाः क्लृप्तां किल विचकिलैर्मालिकां प्लावयन्ति।
केयं धन्या वसति रमणी गोकुले क्षिप्रमेतां नीतस्तीव्रायमपि यया कामपि ध्याननिष्ठाम्॥ ७६॥

अनिष्टाप्त्या यथा—(७१) बाल्यस्योच्छिदुरतया यथा यथाङ्गे राधाया मधुरिमकौमुदी दिदीपे।
पद्माया मुखकमलं विशीर्णमन्तः संताम्यद्भ्रमरमिदं तथा तथासीत्॥ ७७॥

यथा वा—(७२) मा चन्द्रावलि मलिना भव राधायाः समीक्ष्य सौभाग्यम्।
ज्योतिर्विदोऽपि विद्युः कृष्णे किल बलवती तारा॥ ७८॥

अहो! यह तो निकट ही मोरपुच्छ शोभित मुकुटधारी श्रीकृष्ण गौरांगी रमणियों के द्वारा आलिंगित होकर विहार कर रहे हैं। (फिर विचार कर निश्चय करती हैं) ना, ना, यह तो मेरे प्राणकान्त नहीं हैं, यह तो इन्द्रधनु एवं मधुर विद्युतभूषित मेघ ही गोवर्धनगिरि-शिखर पर अवस्थान कर रहा है ॥७४॥

अनुवाद—(चिन्ता—अभिलषित वस्तु की अप्राप्ति-जनित चिन्ता) श्रीपद्यावली (२३८) में, यथा—श्रीराधाजी श्रीकृष्ण प्राप्ति के उपाय को सोच रही हैं। विशाखा जी यह जानकर भी उनसे पूछती हैं—हे सखि! तुम्हारी खाने-पीने में अरुचि देख रही हूँ, और भी समस्त विषय व्यापार में तुम्हारी अत्यन्त निवृत्ति को देखती हूँ, तुम्हारे नेत्र नासिका के अग्रभाग पर हर समय विन्यस्त रहते हैं, मन की भी एकतानता अनुभव करती हूँ,मौन रहती हो। यह सब देखकर मनमें लगता है कि यह सारा विश्व तुम्हें अब शून्य होकर प्रतीत हो रहा है। सखि! बोलो तो, क्या तुम सचमुच योगिनी बन गयी हो? किंवा वियोगिनी? ॥७५॥ श्रीविदग्धमाधव (३४) में श्रीकृष्ण की चिन्ता का वर्णन किया गया है—पौर्णमासी दूरसे श्रीकृष्ण को देखकर शंका करती है—श्रीकृष्ण के नेत्र घूर्णित से दीख रहे हैं, उसके दीर्घ निश्वासों से मल्लिका माला मुरझायी जा रही है, इस गोकुल में ऐसो महाभागा कौनसी रमणी है, जिसके गहरे ध्यान में यह श्रीकृष्ण भी अतिशय लीन हो रहा है?—(परन्तु इसमें कुछ सन्देह की बात नहीं है कि श्रीराधा ही इसका कारण है) ॥७६॥

अनुवाद—(अनभिलषित वस्तु प्राप्ति जनित चिन्ता—श्रीश्रीराधाकृष्ण के पक्ष में अनिष्ट की आशंका असंगत है, अतः यहां अनिष्ट-का अर्थ अनभिलषित ही संगत है), यथा—बाल्यावस्था के तिरोहित हो जाने पर श्रीराधा जी की अङ्ग माधुर्य-चन्द्रिका जैसे जैसे दीप्ति शील होकर बढ़ने लगी, ठीक वैसे वैसे पद्मा (चन्द्रावली की सखी) का मुखकमल भी भ्रमर के अन्तःकरण की ग्लानि उत्पन्न कर विदीर्ण होने लगा—अर्थात् श्रीराधा के सौन्दर्य-माधुर्य जो विपक्ष पद्मा का अनभिलषित है की वृद्धि की चिन्ता में पद्मा का मुखकमल मलिन होने लगा ॥७७॥ (श्रीराधासौन्दर्य-माधुर्य वृद्धि में चन्द्रावली की चिन्ता का उदाहरण यथा—चन्द्रावली ने अपनी इस चिन्ता को अर्थात् अब तो श्रीकृष्ण श्रीराधा के प्रति अधिक स्नेह पोषण करेंगे—इस बात को वृन्दा के सामने प्रकाशित किया। तब वृन्दा ने कहा—हे

अथ मतिः—सा यथा पद्यावल्याम्—(३३७)—

(७३) आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टुमामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु नागरो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥ ७९ ॥

यथा वा—(७४)

भवाम्बुजभवादयस्तव पदाम्बुजोपासनामुशन्ति सुरवन्दिताः किमुत मन्दपुण्या नृपाः ।
अतस्तव जगत्पते मधुरिमाम्बुधेर्मद्विधो न दास्यमिह वष्टि कः पुरुषरत्न कन्याजनः ॥ ८० ॥

अथ धृतिः—सा दुःखाभावेन यथा श्रीदशमे—(१०।३२।१३)—(७५)

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥ ८१ ॥

सखि चन्द्रावलि ! श्रीराधा का सौभाग्य देखकर मलिन चित्त मत होओ । ज्योतिषशास्त्र के पण्डित भी तो जानते हैं कि कृष्णपक्ष में (श्रीव्रजेन्द्रकुमार कृष्ण के पक्ष में) विशाखा-नाम्नि श्रीराधा ही समधिक प्रीतिदायिनी है ॥७८॥

अनुवाद—(मति) श्रीपद्यावली (३३७) में, यथा—माथुर विरह-व्याकुला श्रीराधा जी के मनकी परीक्षा के लिये एक सखी ने उन्हें श्रीकृष्ण-अनुराग को परित्याग कर देने का उपदेश दिया । तब श्री-राधाजी ने कहा— मैं श्रीकृष्ण-चरण में अनुरागवती हूँ । श्रीकृष्ण दृढ़ आलिंगन द्वारा मुझे आत्मसात् करें अथवा दर्शन तक न देकर मुझे मर्माहत (मृत्युतुल्य पीड़ा प्रदान) करें अथवा बहुवल्लभ वे जहां तहां विहार ही करते फिरें, मेरे प्राणनाथ वे ही हैं, और कोई दूसरा नहीं ॥७९॥—यह श्रीराधा-मति का उदाहरण है । दूसरा उदाहरण, ऐश्वर्यज्ञान प्रधाना श्रीरुक्मिणी जी का, यथा—श्रीरुक्मिणी जी ने ब्राह्मण को भेजकर श्रीकृष्ण को संवाद भेजा—हे पुरुषरत्न ! देवगणवन्दित शिव एवं ब्रह्मादिक जब आपके चरणों की उपासना करने की इच्छा करते रहते हैं, तब अल्पभाग्य चैद्य-जरासन्धादि की क्या गणना ? अतएव हे सर्वेश्वर ! माधुर्य सागर आपके चरणों की दास्यकामना मुझ जैसी कौन कुमारी न करेगी ? ॥८०॥

अनुवाद—(धृति—दुखाभावजनित-धृति) श्रीभागवत (१०।३२।१३) में, यथा—रासस्थलिसे अन्तर्हित होने के बाद जब श्रीकृष्ण पुनः रासस्थलि में व्रजगोपियों के मध्य अचानक आविर्भूत हुए तो उनके समस्त दुख दूर हो गये एवं उन्होंने धृति को लाभ किया—इसका वर्णन करते हैं श्रीशुकदेव मुनि—अपने अभीष्ट की चरम सीमा को प्राप्त कर श्रुतिगण ने जैसे पूर्णता प्राप्त की थी, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के दर्शन जनित परमानन्द में व्रजगोपियों का हृद्रोग—चित्त का समस्त दुख निवृत हो गया । तब उन्होंने अपने प्रियबन्धु श्रीकृष्ण के बैठने के लिये आसन की रचना की ॥८१॥

अनुवाद— उत्तमास्या अर्थात् उत्तमवस्तु की प्राप्तिजनित धृति, यथा—नित्यप्रति की भांति जब एक दिन श्रीराधा जी श्रीकृष्ण मिलन के अभिप्राय से सखियों सहित सूर्यपूजा को जा रही थीं, तो पद्मा ने विशाखा जी से पूछा—श्रीराधा किस अभीष्ट-सिद्धि के लिये नित्यप्रति देव पूजा करने जाती हैं ?—तब विशाखा जी ने कहा—पद्मे ! श्रीराधा जी की नव्या यौवन-मंजरी नित्य स्थिर तर है, उनका रूप सौन्दर्य भी समस्त परम सुन्दरी मृगनयनी रमणियों को विस्मित करने वाला है, उनके गुणसमूह भी ऐसे अद्भुत हैं कि त्रिभुवन में उसकी तुलना नहीं है । और अधिक क्या कहूँ, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण स्वाधीन

उत्तमाख्या यथा—(७६)

नव्या यौवनमञ्जरी स्थिरतरा रूपं च विस्मापनं सर्वाभीरमृगीदृशामिह गुणश्रेणी च लोकोत्तरा।
स्वाधीनः पुरुषोत्तमश्च नितरां त्यक्तान्यकान्तास्पृहो राधायाः किमपेक्षणीयमपरं पद्मे क्षितौ वर्तते ८२॥

अथ हर्षः—सोऽभीष्टेक्षणेन यथा श्रीदशमे—(१०।३२।३)—

(७७) तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः। उत्तस्थुर्युगपत्सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥ ८३॥

यथा वा ललितमाधवे—(१।५३)—

(७८) स एष किमु गोपिकाकुमुदिनीसुधादीधितिः स एष किमु गोकुलस्फुरितयौवराज्योत्सवः।
स एष किमु मन्मनः पिकविनोदपुष्पाकरः कृशोदरि दृशोर्द्वयीममृतवीचिभिः सिञ्चति॥ ८४॥

अभीष्टलाभेन यथा तत्रैव—(८।११)—(७९)

आलोके कमलेक्षणस्य सजलासारे दृशौ न क्षमे नाश्लेषे किल शक्तिभागतिपृथुस्तम्भा भुजावल्लरी।
वाणी गद्गदकुण्ठितोत्तरविधौ नेशा चिरोपस्थिते वृत्तिः कापि बभूव संगमनये विघ्नः कुरङ्गीदृशः॥ ८५॥

होते हुए भी श्रीराधा के वशीभूत होकर अन्य समस्त कान्ताओं की स्पृहा को सम्यक् प्रकार से परित्याग किये हुए हैं। सखि पद्मे! इसी से ही तुम समझ सकती हो कि जगत् में श्रीराधा की अपेक्षणीय और क्या वस्तु हो सकती है, जिसकी प्राप्ति के लिये वह किसी देवता की नित्य पूजा करेगी? केवल देवपूजा के बहाने वह श्रीकृष्ण से मिलने के लिये घर से बाहर निकलती हैं॥८२॥

अनुवाद—हर्ष, (अभीष्ट-दर्शन जनित हर्ष)—श्रीभागवत (१०।३२।३) में यथा—रासस्थलिमें पुनः प्रियतम श्रीकृष्ण को आविर्भूत हुआ पाकर अबला गोपीवृन्द, प्राण वायु के लौटने पर हस्त-पदादि अंगसमूह में जैसे चेतनता आ जाती है, उसी प्रकार हर्षित हो उठीं और वे प्रफुल्लित-नेत्र होकर एक साथ खड़ी हो गयीं॥८३॥ और जैसे श्रीललितमाधव (१।५३) में कहा गया है—सायंकाल में श्रीकृष्ण वन से गोष्ठ लौट रहे हैं। उन्हें देख कर अनुराग के स्वभाववश श्रीराधा सोचने लगीं—यह कौन है? ऐसी मूर्ति तो मैंने पहले कभी नहीं देखी। वह ललिताजी से पूछने लगीं—सखि! यह कौन है? ललिता जी ने मुख से जब यह सुना कि यह वही तुम्हारे प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण ही हैं तो श्रीराधा जी आनन्दोन्मत्त होकर बोलीं—अहो! यह क्या वही गोपिका-कुमुदिनियों का परमोल्लास वर्धक चन्द्र है? यह क्या मेरी मनरूप कोकिला का आनन्दोल्लास जनक वही वसन्त है? हे क्षीणकटि ललिते! यह वही है जो मेरे नयनों को अमृत तरंगों से परिसिंचित कर रहा है॥८४॥

अनुवाद—(अभीष्टलाभ जनित हर्ष) श्रीललितमाधव (८।११) में, यथा—समृद्धिमान सम्भोग के वाद श्रीराधा जी की आनन्द-विवशता को देखकर नववृन्दा कहती है—अनेक समय के वाद कमलनयन श्रीकृष्ण को पाकर अतिशय हर्ष में मृगनयनी श्रीराधा जी के नेत्र धारा से परिपूर्ण हो उठे इसलिये वह श्रीकृष्ण के दर्शन अच्छी प्रकार न कर सकीं। उनकी भुजलताएं ऐसी स्तम्भित हो गयीं कि वह श्रीकृष्ण को आलिंगन न कर पायीं, गद्गद् कण्ठ होकर वह मुँह से श्रीकृष्ण के प्रश्न का उत्तर भी न दे सकीं। इससे ज्ञात होता है कि अनेक काल पीछे कृष्ण-मिलन में समुचित दर्शनालिंगन संलापादिक में श्रीराधा के प्रेम की कोई एक अनिर्वचनीय वृत्ति ही विघ्नस्वरूप बन गयी॥८५॥

अनुवाद—औत्सुक्य—(अभीष्ट वस्तु दर्शन-स्पृहा जनित उत्सुकता) श्रीहंसदूत (३६) में, यथा—श्रीकृष्ण मथुरा की गलियों से होकर यज्ञशाला में सखाओं सहित जा रहे थे। एक रमणी वेश-भूषा

अथ औत्सुक्यम्—तदिष्टेक्षास्पृहया यथा हंसदूते—(३६)—

(८०) असव्यं बिभ्राणा पदमधृतलाक्षारसमसौ प्रयाताहं मुग्धे विरम मम वेशैः किमधुना।
अमन्दादाशङ्के सखि पुरपुरन्ध्रीकलकलादलिन्दाग्रे वृन्दावनकुसुमधन्वा विजयते ॥ ८६॥

इष्टातिस्पृहया यथा श्रीगीतगोविन्दे—(६।३)—(८१)
अङ्गेष्वाभरणं करोति बहुशः पत्त्रेऽपि संचारिणि प्राप्तं त्वां परिशङ्कते वितनुते शय्यां चिरं ध्यायति।
इत्याकल्पविकल्पतल्परचनासंकल्पलीलाशतव्यासक्तापि विना त्वया वरतनुर्नैषा निशां नेष्यति ॥ ८७॥

अथ औग्र्यम्—७—औग्र्यं न साक्षादङ्गं स्यात्तेन वृद्धादिषूच्यते ॥ ८८॥

यथा विदग्धमाधवे—(४।५०)
(८२) नवीनाग्रे नप्त्री चटुल नहि धर्मात्तव भयं न मे दृष्टिर्मध्ये दिनमपि जरत्याः पटुरियम्।
अलिन्दात्त्वं नन्दात्मज न यदि रे यासि तरसा ततोऽहं निर्दोषा पथि कियति हंहो मधुपुरी ॥ ८९॥

रचना में लग रही थी, तब उसकी एक सखी ने उससे कहा—अयि मूर्खे ! बस भी कर, अब इस वेश-रचना का ऐसा क्या प्रयोजन है ? मैं तो केवल बायें पांव में महावर लगाकर दायें पांव में विना महावर लगाये चल रही हूँ। सुन तो, मथुरा-वासिनी रमणियों की आनन्द कोलाहल-ध्वनि ! लगता है, वृन्दावन अप्राकृत मदन हमारी गली के सिरे पर आ पहुँचे हैं—(यदि जरा भी देर करेगी तो हम दोनों उनके दर्शन किये विना पछताती रह जायेंगी) ॥८६॥

अनुवाद—(प्रियदर्शन की अतिशय स्पृहा जनित उत्सुकता) श्रीगीतगोविन्द (६।३) में, यथा श्रीकृष्णके साथ मिलनके लिये उत्सुका श्रीराधाजी के आचरणका वर्णन करते हुए उनकी एक सखीने श्रीकृष्ण से आकर कहा—श्रीराधा जी हस्त-पादादि अङ्गों में अनेक प्रकार के आभरण धारण कर रही हैं, वृक्षके पत्तोंके हिलने की ध्वनि सुनकर वह ऐसा जानतीं हैं कि तुम आ गये, कभी तो वह शय्या सजाती हैं, और कभी आने पर आपके साथ होने वाले नर्म-विलासादि का ध्यान करने लगती हैं, इस प्रकार वरांगी श्रीराधा वेश-रचना, वितर्क, शय्या रचना कार्यमें तथा अपनी संकल्पित शत-शत लीलाओंमें विशेष रूपसे आसक्त होने पर भी आपके विना किसी भी प्रकार वह रात्रि यापन नहीं पायेंगी ॥८७॥

अनुवाद—औग्र्य (उग्रता) अर्थात् अपराध तथा दुर्वचनों से पैदा होने वाली चण्डता या क्रोध मधुरा-रति का साक्षात् अंग नहीं है, इसलिये उसे वृद्धादिक में कहा जाता है ॥८८॥ श्रीविदग्धमाधव (४।५०) में यथा—एकदिन श्रीराधा के मान भंग करने के लिये श्रीकृष्ण उनके पास पहुँचे। दैवयोग से श्रीराधाजी की नानी मुखरा वहां उपस्थित थी। श्रीकृष्ण को वहां देखकर वह बोली—श्रीकृष्ण ! यहां स्त्रियां बैठो हैं, तुम्हारा इनमें उपस्थित रहना संगत नहीं है, तुम यहांसे चले जाओ। किन्तु श्रीकृष्ण वहां रुके रहे। तब क्रोधमें भरकर मुखरा बोली—अरे चंचल ! सामने मेरी अति नवयुवति दोहित्री बैठी है, तुम्हें तो धर्म का भय नहीं है। मैं भी वृद्धा हूँ। मध्यह्न में भी मेरे नेत्र अच्छी प्रकार नहीं देख सकते हे नन्दकुमार ! तुम यदि इस आंगन से शीघ्र नहीं जाओगे तो फिर मेरा कोई दोष नहीं, किन्तु अहो ! मथुरा यहां से कितनी दूर है ?—अर्थात् मथुरा यहां से अधिक दूर नहीं है, मैं वहां जाकर कंस से कह कर तुम्हें शासित कराऊंगी) ॥८९॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—मुखरा हो या और कोई किसी भी व्रजवासी नरनारी में श्रीकृष्ण के प्रति असूया नहीं है। सबकी उनके प्रीति प्रति है। यहां मुखरा के वचन भी वास्तव क्रोध भरे नहीं,

अथ अमर्षः—सोऽधिक्षेपाद्यथा श्रीदशमे—(१०।६०।४४)—

(८३) तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडालभृत्याः ।
यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयायाद्युष्मत्कथा मृडविरिञ्चिसभासु गीता ॥ ९० ॥

अपमानाद्यथा विदग्धमाधवे—(४।३९)

(८४) बाले ! बल्लवय्य वतस्तनतटीदन्त्राधनेत्रादितः कामं श्यामशिलाविलासिहृदयाच्चेतः परावर्तय ।
विद्मः किं नहि यद्विकृष्य कुलजाः केलीभिरेष स्त्रियो धूर्तः संकुलयन् कलङ्कततिभिर्निःशङ्कमुन्मुञ्चति ९१॥

अथ असूया– सा सौभाग्येन यथा श्रीदशमे—(१०।३०।३२)—

(८५) इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम् । गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः ॥ ९२ ॥

क्रोधाभास युक्त हैं। फिर श्रीकृष्णकी प्रीतिके पोषक हैं। श्रीकृष्णको श्रीराधाके पास आया देखकर लोगोंमें उनका अपयश कहीं न फैल जाये, इसलिये वह श्रीकृष्ण को ऐसे वचन कह रही है। श्रीकृष्ण का उज्ज्वल यश ही उसका अभीष्ट है। यहां वृद्धा मुखरा की उग्रता दिखाकर मधुररस की पुष्टि दिखायी गयी है।

अनुवाद—(अमर्ष या असहिष्णुता, अधिक्षेप कुवचन या व्यंग जनित-अमर्ष) श्रीभागवत (१०।६०।४४) में, यथा—श्रीरुक्मिणी देवी के रोषमिश्रित वाक्यामृत का पान करने के लिये श्रीकृष्ण ने एकदिन उससे परिहास किया। उसको सहन न कर रुक्मिणी जी मूर्छित होकर गिर पड़ीं। कुछ सम्भल कर वह बोलीं—प्राणनाथ ! आप मुझे क्या कह रहे हैं कि मैं अन्यान्य राजाओं में से किसी का वरण कर लेती ? सुनिये, हे अच्युत ! हे शत्रुनाशन ! शिव-विरञ्चि सभामें गान की जाने वाली आपकी कीर्ति जिन नारियों के कानों में नहीं पड़ी हो, उन नारियों के गृह में गर्दभ, गो-कुत्ते-बिल्ली एवं सेवक के समान वे समस्त राजा उनके ही पति होने के योग्य हैं। (जिन्होंने आप की रूप-गुण की मधुर कथा सुनी है, वे राजा उस के पति होने योग्य नहीं हैं)—इस प्रकार श्रीकृष्ण के आक्षेप—परिहासमय वचनों से श्रीरुक्मिणी जी में अमर्ष उदित हो उठा ॥९०॥

अनुवाद—(अपमान-जनित अमर्ष) श्रीविदग्धमाधव (४।३९) में, यथा—श्रीकृष्ण चन्द्रावली के साथ रात्रि यापन करने के बाद प्रातःकाल सूर्यपूजा स्थल पर श्रीराधा जी से आ मिले। कपटपूर्णविनय अनुनय करके श्रीकृष्णने श्रीराधाजी को प्रसन्न कर लिया। अचानक वहां मधुमंगल आ पहुँचा और उस के चन्द्रावलीके साथ रात्रियापनकी बात कहतेही श्रीराधाजी सन्देह विस्मय तथा विषादमें डूब गयीं। तब ललिता जी ने भी श्रीकृष्ण-अंगों पर विलास-चिह्नों को देखकर उनकी भर्त्सना की और श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग को त्यागने का परामर्श देते हुए कहा—हे अज्ञे राधे ! तू इस श्रीकृष्ण से अपने मन को हटाले। देखती नहीं हो कि यह सदा ही गोपसुन्दरियों के वक्षस्थलों पर कुटिल दृष्टि से देखते हैं। इनका हृदय भी इनके रंग की भांति अति कठोर काले पत्थर के समान है। हम क्या जानती नहीं हैं कि यह धूर्त्त अपनी विविध प्रकार केलिद्वारा—वेणुनाद, नेत्रकटाक्ष आदि द्वारा कुलवती रमणियों को विशेष रूप से आकर्षण कर अपने पास बुला लेते हैं। फिर उनको कलंक के सागर में फेंककर निःसंकोच चित्त होकर उनका त्याग कर देते हैं। (यद्यपि यहां ललिता जी का अमर्ष दिखाया गया है—श्रीराधा का नहीं, तो भी श्रीराधाकी कृष्णरति का पोषक होने से इस उदाहरण की संगति मानी गयी है) ॥९१॥

अनुवाद—(असूया—सौभाग्य-जनित असूया) श्रीभागवत (१०।३०।३२) में, यथा—रासलीला-स्थलि से अन्तर्हित श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा जी भी जब चली गयीं तो व्रजगोपियों ने वन में ढुण्ढ़ते हुए

यथा वा तत्रैव—(१०।२१।९) (८६) गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्थः ॥९३॥

यथा वा—(८७)
कृष्णाधरमधुमुग्धे पिबसि सदेति त्वमुन्मदा मा भूः। मुरलीभुक्तविमुक्ते रज्यति भवलीव का तत्र ॥ ९४॥

गुणने यथा—(८८) त्वत्तोऽपि मुग्धे मधुरं सखो मे वन्यस्त्रजः स्रष्टुमसौ प्रवीणा।
नास्याः करौ सिञ्चति चेदुदीर्णा निरुद्ध्य दृष्टिं प्रणयाश्रुधारा ॥ ९५॥

अथ चापलम्—तद्रागेण यथा—
(८९) फुल्लासु गोकुलतडागभवासु केलिं निःशङ्कमाचर चिरं वरपद्मिनीषु।
मृद्वीमलब्धकुसुमां नलिनीं त्वमेनां मा कृष्णकुञ्जर करेण परिस्पृशाद्य ॥ ९६॥

यथा वा श्रीगीतगोविन्दे—(१।१२)
(९०) रासोल्लासभरेण विभ्रमभृतामाभीरवामभ्रुवामभ्यर्णे परिरभ्य निर्भरमुरः प्रेमान्धया राधया।
साधु त्वद्वदनं सुधामयमिति व्याहृत्य गीतस्तुतिव्याजादुद्भटचुम्बितः स्मितमनोहारी हरिः पातु वः ॥ ९७॥

कृष्ण पदचिह्नों के साथ जब श्रीराधा पद चिह्न भी देखे तो उनमें श्रीराधा-सौभाग्य को देखकर असूया उदित हो उठी—एक गोपी ने कहा—हे सखियो! यह देखो, कामपरायण श्रीकृष्ण ने यहां अपनी वधू को कन्धे पर उठा लिया है, इसलिये यहां राधाचिह्न नहीं दीखते और कृष्णपदचिह्न अधिकतर रेती में दब गये हैं (भार के कारण) ॥९२॥ और भी (भा० १०।२१।९) में यथा—वेणु के सौभाग्यों को देखकर गोपीजनमें असूया उदित हो उठी और उन्होंने परस्पर कहा—हे गोपियो! यह वेणु-पुष्प जातिका होकरभी पूर्वजन्म में न जाने इसने कौन सा साधन-भजन किया है कि हम गोपियों की निजी सम्पत्ति—श्रीदामोदर की अधर सुधा सम्पूर्णरूप से स्वच्छन्द होकर पान कर रहा है। इस वेणु को अपने रस (जल) से सींचनेवाली सरोवरियां भी कमलोंके मिससे रोमांचित हो रही हैं। और अपने वशमें भगवत्प्रेमी सन्तान को देखकर श्रेष्ठपुरुषों के समान वृक्ष भी इसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर आँखों से आनन्दाश्रु बहा रहे हैं ॥९३॥

अन्यत्र यथा—श्रीकृष्ण-चुम्बन से किसी गोपी के अधर को क्षत देखकर उसके सौभाग्यसे असहिष्णु होकर एक विपक्षा गोपी ने कहा—हे कृष्णाधर मधु-मुग्धे! सदा श्रीकृष्ण के अधरमधु को मैं पान करती हूँ—ऐसा मान कर तू ऐसी उन्मत्त मत हो, क्योंकि वह तो मुरली की झूंठन है। मुरली की झूठन में तुम्हारी जितनी आसक्ति है, वैसी और किसी की नहीं है ॥९४॥

अनुवाद—(दूसरे के गुणोत्कर्ष से उत्पन्न-असूया)—एक बार पद्माने अपने हाथ से श्रीकृष्ण के लिये वनमाला तैयार की और उसकी प्रशंसा करने लगी। यह देख कर विशाखा जी की एक सखी असहिष्णु हो उठी और बोली—अरी मुग्धे! (तुम मेरी सखी के गुण नहीं जानती हो) मेरी सखी जब वनमाला रचने लगती है तो प्रेमाश्रु धारा उसकी दृष्टि को ढक देती है और उसके दोनों हाथ भीग जाते हैं, यदि ऐसे न हो तो वह तुम्हारे से कहीं अधिक उत्कृष्ट वनमाला रचना कर सकती है ॥९५॥

अनुवाद—(चापल अर्थात् चित्त की लघुता—अनुराग जनित चापल), यथा—महारास के समय वनविहार लीला में कन्दर्प-विलासोत्सुक श्रीकृष्ण को निवारण करते हुए ललिता जी ने कहा—हे कृष्ण-कुञ्जर! गोकुलरूपी सरोवर में उत्पन्ना प्रफुल्लित श्रेष्ठ पद्मिनियों के साथ तुम निःशंकचित्त से चिरकाल तक केलि करो, इसमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु तुम आज इस (मैं) अलब्ध कुसुमा मृद्वी नलिनी को कर (शूण्ड) से स्पर्शमत करना ॥९६॥ श्रीगीतगोविन्द (२।१२) में, यथा—रासोल्लास पूर्ण प्रेमवती

द्वेषेण यथा—(९१) यातु वक्षसि हरेर्गुणसङ्गप्रोज्झिता लयमियं वनमाला ।
या कदाप्यखिलसौख्यपदं नः कण्ठमस्य कुटिला न जहाति ।। ९८ ।।

अथ निद्रा—सा क्लमेन यथा—(९२)

श्वासस्पन्दनबन्धुरोदरतलं पुष्पावलीस्रस्तरव्यञ्चन्मौक्तिकहारयष्टि कलयन् नीवीं मनागाकुलाम् ।
क्लान्तः केलिभराद्दुरोजकलसीमाभीरवामभ्रुवः कल्याणीमुपधाय सान्द्रपुलकामद्रौ निदद्रौ हरिः ।। ९९ ।।

व्रजसुन्दरीवृन्द में कृष्णप्रेमान्ध श्रीराधा जी ने श्रीकृष्ण के वक्षस्थल को दृढ़ रूप से आलिंगन करते हुए कहा—आपका मुखमण्डल अति सुन्दर है, सुधामय है—ऐसा कहकर श्रीराधा जी ने गीत-स्तुति के मिस से श्रीकृष्ण का गाढ़ता पूर्वक चुम्बन किया। श्रीराधा जी के ऐसे आचरण से श्रीकृष्ण का मुखमण्डल मृदुहास्य से सुशोभित हो उठा। श्रीजयदेव कविवर कहते हैं—ऐसे मनोहारी श्रीकृष्ण आपकी रक्षा करें ।।९७।।

रूपकृपातरंगिणी-टीका—पूर्वोक्त श्लोक में नायक श्रीकृष्ण का चापल (चञ्चलता) दिखायी गयी है और दूसरे श्लोक में नायिका श्रीराधा जी का चापल प्रदर्शित हुआ है। प्रथम श्लोकके मूलमें 'अलब्ध-कुसुमा' शब्द का प्रयोग किया है श्रीललिता जी ने अपने लिये। अलब्ध-कुसुमा शब्द का तात्पर्य उस नारी से होता है जो ऋतुमती-रजस्वला नहीं होती। यह बात केवल श्रीललिता जी के विषय में नहीं, अपितु समस्त व्रजगोपीगण जो नित्य श्रीकृष्ण के मिलित होती हैं, योगमाया के प्रभाव से वे कभी रज-दर्शन नहीं करती—ऋतुमती नहीं होती। अतः श्रीकृष्णकान्तागण (व्रजकान्तागण) कभी लब्ध-कुसुमा नहीं होती।

यौवन प्राप्त होने पर प्राकृत स्त्रियों में जब इन्द्रिय—सुखकी वासना जाग्रत होती है तब पंचभूता-त्मक प्राकृत देह में रजोदर्शन होता है, किन्तु व्रजकान्तागण श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति की मूर्त्त विग्रह या वृत्ति विशेष हैं। वे जीवतत्त्व नहीं हैं अतः न तो उनमें निजेन्द्रिय सुखकी भोगवासना जाग्रत होने की सम्भावना है न रजोदर्शन की। उनकी प्रेमवासना एकमात्र कृष्णैकतात्पर्यमयी है। अतः श्रीकृष्ण-मिलन-वासना उदित होने पर भी वह श्रीकृष्णसुख के निमित्त होती है। यह लालसा भी स्वरूपतः प्रेम है, काम नहीं। इस मौलिक-सिद्धान्त को व्रजगोपीजन एवं श्रीकृष्णमिलन प्रसङ्ग में सदा स्मरण रखना चाहिये।

अनुवाद—(द्वेषजनित चापल), यथा—श्रीकृष्ण के कण्ठ में सदा वनमाला को देखकर मादनाख्य-महाभावस्वरूपा श्रीराधाजी का मन चंचल हो उठता है। असहिष्णु होकर वह ललिताजी के प्रति कहती हैं—यह कुटिला वनमाला मेरे सर्व सुखनिधान श्यामसुन्दर के कण्ठ को कभी भी त्याग नहीं करती है। अतएव सत्त्वादिगुणरूप सूत्रबन्धन से मुक्त होकर श्रीकृष्ण के वक्ष में ही लय (विनाश) को प्राप्त हो जाये ।।९८।।

अनुवाद—(निद्रा—क्लान्ति-जात निद्रा), यथा—गोवर्धनोपरि निकुञ्ज में विलास-क्लान्त होकर श्रीकृष्ण श्रीराधा जी के अंक में निद्रित हैं—यह देखकर तुङ्गविद्या वृन्दा को कहती हैं—विला-सान्त में अतिशय क्लान्त हो (थक) कर श्रीकृष्ण अति पुलकांचिता श्रीराधा के वक्षोज-कलसों को उप-धान रूप में ग्रहण करके गोवर्धन पर सो रहे हैं, उनका उदर निश्वास वायु से थोड़ा-थोड़ा नतोन्नत हो रहा है। पुष्पों की शय्या पर उनका हार लटक रहा है एवं परिधान वस्त्र भी उनका थोड़ा शिथिल हो रहा है ।।९९।। श्रीहंसदूत (४७) में, यथा—ललिता जी ने कहा—हे राजहंस भ्राता! यहां (मथुरा में) केलिभवन के बाहर बरामदे में मरकतमणि निर्मित अति स्वच्छ एक विश्राम-स्तम्भ है, जिसका रात्रि में

यथा वा हंसदूते—(४७)

(९३) अलिन्दे कालिन्दीकमलसुरभौ कुञ्जवसतेर्वसन्तीं वासन्तीनवपरिमलोद्गारिचिकुराम्।
त्वदुत्सङ्गे निद्रासुखमुकुलिताक्षीं पुनरिमां कदाहं सेविष्ये किसलयकलापव्यजनिनी ॥ १०० ॥

अथ सुप्तिर्यथा—

(९४) पुरः पन्थानं मे त्यज यदमुना यामि यमुनामिति व्याचक्षाणा चचुकविरचत्कौस्तुभरुचिः।
हरेः सव्यं राधा भुजमुपदधत्यम्बुजमुखी दरीक्रोडे क्लान्ता निबिडमिह निद्राभरमगात् ॥ १०१ ॥

यथा वा—(९५)

गोष्ठाधीशसुतस्य गण्डमुकुरे स्वाप्नीभिरुल्लासितं लीलाभिः पुलकं विलोक्य चकिता निश्चिन्वती जागरम्
सा वेणोर्हरणोत्सवे धृतनवोत्कण्ठापि तल्पाञ्चले विस्रस्तं करतोऽपि नाध्यवससौ तं हर्तुं मेने (णं) क्षमा ॥

निद्रालु मोरवृन्द आकर आश्रय ग्रहण करते हैं तुम भी निःशंक होकर स्तम्भ पर विश्राम करते हुए यदुपति श्रीकृष्ण चन्द्र के मिलने के एकान्त अवसर की प्रतीक्षा करना (यहां राजहंस की क्लान्तिजनक निद्रा का उदाहरण दिया गया है जो मधुररस से सम्बन्धित है) ॥१००॥

अनुवाद—(सुप्ति या स्वप्न), यथा—रतिमञ्जरी पुष्पचयन कर आ रही थी कि रास्ते में उन्हें रूपमञ्जरी मिल गयी। रूपमञ्जरी ने उसे कहा—सखि ! एक अद्‌भुत बात सुनो। श्रीकृष्ण मेरे सामने का मार्ग छोड़कर चले जायें, क्योंकि इस पथ से यमुना जाऊंगी—श्रीराधा जी ऐसा बोल रही हैं, परन्तु वह कमलमुखी क्लान्ता होकर श्रीकृष्ण की वामभुजा को उपाधान बनाकर दरीकुञ्ज में गाढ़ निद्रा में सो रही हैं और उनका वक्षोजाग्रभाग कौस्तुभमणि की कान्ति से शोभित हो रहा है ॥१०१॥ अन्यत्र, यथा—क्रीड़ाकुञ्ज में विहारके अन्त में श्रीकृष्ण सो रहे हैं एवं श्रीराधा जी उनकी वंशीहरण की कौतुक-चेष्टा कर रही हैं—लताओं के बीच से यह देखकर वृन्दा कह रही है श्रीश्याम सुन्दर के गण्डरूप दर्पण में स्फुरित लीला के कारण रोमांच को देखकर श्रीराधा उन्हें जागता हुआ जान रही हैं। आनन्दित एवं नवोत्कण्ठा युक्त होते हुए भी श्रीराधा जो चकित होकर बैठी हैं। शय्या पर एवं किनारे पड़ी है वंशी श्रीकृष्ण के हाथ से गिर कर। किन्तु वह उसे हरण नहीं कर पा रही हैं—अर्थात् श्रीकृष्ण स्वप्न में किसी लीला को देख रहे हैं और उसके कारण उनके कपोलों पर रोमांच हो रहा है, श्रीराधा जी उन्हें जागता हुआ जान रहीं है, कृष्ण हाथ से वंशी गिर गयी है शय्या पर। परन्तु श्रीराधा जी उसे उठा नहीं पा रही हैं ॥१०२॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—सुप्ति निद्रा की ही एक विशेष अवस्था है। निद्रा में केवल श्रीकृष्ण विग्रह मात्र की स्फूर्ति होती है, किसी प्रकार की लीला स्फूर्ति निद्रा में नहीं होती। किन्तु सुप्ति या स्वप्न में लीलादि के सहित श्रीकृष्ण विग्रह की स्फूर्ति होती है। यह भी ध्यातव्य है कि चिन्ता तथा आलस्य के कारण चित्तके मीलन या मुंदनेका नाम 'निद्रा' है। ऐसी निद्रा तमोगुणके प्रभावसे पैदा होने वाली चित्त की एक वृत्ति विशेष है। प्राकृत जीवों में ऐसी निद्रा घटित होती है। किन्तु भजन प्रभाव से जिनके चित्त मायागुणों के स्पर्श से रहित हो चुके हैं उनमें तमोगुण का अभाव होता है। उनमें यह व्यभिचारी भावरूपा निद्रा होती है भगवत्-समाधि रूपा अर्थात् भगवान में तन्मयता रूपा। वह प्राकृत निद्रा नहीं हुआ करती।

अथ प्रबोधः—यथा—(९६) निद्राप्रमोदहरमप्युरुकण्ठनादं कण्ठीरवस्य शितिकण्ठपतत्त्रमौलिः।
तुष्टाव सत्वरविबुद्धपरिप्लवाक्षराधापयोधरगिरीन्द्रनिपीडिताङ्गः॥ १०३॥

सख्यां स्वस्नेहो यथा—(९७) शैलमूर्ध्नि हरिणा विहरन्ती रोमकुड्मलकरम्बितमूर्तिः।
राधिका सललितं ललितायाः पश्य मार्ष्टि लुलितालकमास्यम्॥ १०४॥

अथोत्पत्त्यादिदशाचतुष्टयम् - तत्रोत्पत्तिर्यथा—

(९८) मृदुरियमिति वादीर्मा त्वमस्याः कुडुङ्गे शशिमुखि तव सख्याः पौरुषं दृष्टमस्ति।
इति भवदुपकण्ठे मद्गिरा भुग्नदृष्टेः स्थपुटितवदनाया राधिकयाः स्मरामि॥ १०५॥

अत्रासूयोत्पत्तिः।

अथ संधिः—तत्र सरूपयोर्यथा—

(९९) चिराभीष्टप्रेक्षे दनुजदमने विन्दति दृशोः पदं पत्यौ चार्धस्फुटवचसि रक्तत्विषि रुषा।
इयं निस्पन्दाङ्गी निमिषकलनोन्मुक्तनयना बभूवावष्टम्भप्रतिकृतिरिवाम्भोजवदना॥ १०६॥

अत्रेष्टानिष्टेक्षणकृतयोर्जाडचयो संधिः।

अनुवाद—(प्रबोध अर्थात् अज्ञान मोह एवं निद्रा के नष्ट होने पर जो प्रबुद्धता या ज्ञान होता है) यथा—क्रीड़ा निकुञ्ज में श्रीयुगल किशोर शयन कर रहे थे। अचानक उस समय गिरि-गुहा में सिंह गर्जने लगा। श्रीराधा जी जाग पड़ीं और भय-चकित होकर जागे हुए श्रीकृष्ण को आलिंगन करने लगीं इसी घटना का कुन्दलता वर्णन कर रही है—आज गिरिकन्दरा में निद्रासुख को हरण करने वाली सिंह गर्जनकी श्रीकृष्ण स्तुति करने लगे, क्योंकि अति शीघ्र जागकर चञ्चल नयनी श्रीराधाजी ने अपने पयोधर रूप गिरिराज द्वारा श्रीकृष्ण का दृढ़ आलिंगन कर लिया ॥१०३॥

अनुवाद—(कृष्णप्रेयसियों का स्नेह) अर्थात् नायिकागण का सखी आदिक के प्रति अपना प्रेम भी सञ्चारीभाव होता है। यथा—गोवर्धन निकुञ्ज में श्रीकृष्ण के साथ ललिता जी ने विहार किया। उस का मुखमण्डल स्वेदपूरित हो उठा। तब श्रीराधाजी उसका मुख पोंछने लगीं। यह देखकर वृन्दा ने श्रीराधा जी की प्रशंसा करते हुए कुन्दलता से कहा—देख, गिरि-निकुञ्ज में श्रीकृष्ण सहित विहार करने के उपरान्त ललिता जी के पुलकित कलेवर को एवं उनके अस्त-व्यस्त हुए केशकलाप युक्त मुखमण्डल का मार्जन कर रही हैं ॥१०४॥

अनुवाद—(उत्पत्ति-आदि चार दशाएं) उत्पत्ति, यथा—एक बार श्रीकृष्ण ने प्रभात समय श्रीराधाजी की प्रियसखी शशिमुखी को श्रीराधा की रात्रिमें विलास सम्बन्धी चेष्टाको सुनाया, तो श्रीराधा जी में श्रीकृष्ण के प्रति असूया-भाव उत्पन्न हो उठा। फिर किसी अवसर पर शशिमुखी के मिलने पर श्रीकृष्ण उसी मधुर घटना को याद कर महानन्द में विह्वल हो उसे सुनाने लगी—हे शशिमुखि! श्रीराधा जी अतिकोमल हैं—यह बात फिर तुम मुझसे मत कहना क्योंकि मैंने कुञ्ज में तुम्हारी सखी की पुरुषाकार लीला-विशेष देखी है। यह बात तुम्हें कहने मात्रसे वह मेरे प्रति असूया प्रकाश करते हुए कुटिल मुख होकर तिरछी दृष्टि से देखने लगी थी। अब भी मैं उस श्रीराधा को स्मरण करता हूँ (यहां असूया की उत्पति कही गयी है) ॥१०५॥

अनुवाद—(भाव-सन्धि—दो स्वरूपों में) यथा—एकदिन प्रथम बार जब श्रीराधा जी श्रीकृष्ण का दर्शन कर रही थीं, उसी समय दैवयोग से उन्होंने अपने पतिमन्य को भी देखा। एक साथ इष्ट और अनिष्ट दोनों को प्राप्तकर श्रीराधा जी जड़तावश स्तब्ध हो गयीं। इस अवस्था में श्रीराधा जी को देख

अथ भिन्नयोः—तत्रैकहेतुजयोर्यथा ललितमाधवे—(६।३६) (१००)

शिखरिभरवितर्कतः प्रतप्तं समहमर्हनिशमीक्षया प्रियस्य ।
हृदयमिह समस्तवल्लवीनां युगपदपूर्वविधं द्विधा बभूव ।। १०७ ।।

अत्र विषादहर्षयोः ।

भिन्नहेतुजयोर्यथा—

(१०१) स्थवयति नवरागं माधवे राधिकायां गिरमथ ललितायाः सावहेलां प्रतीत्य ।
चलतरचणाग्रेणालिखन्ती धरित्रीं विधुतवदनपद्मा तत्र सिष्वेद पद्मा ।। १०८ ।।

अत्र चिन्तामर्षयोः ।

अथ शाबल्यम्—यथा विदग्धमाधवे—(५।७)—(१०२)

धन्यास्ता हरिणीदृशः स रमते याभिर्नवीनो युवा स्वैरं चापलमाकलय्य ललिता मां हन्त निन्दिष्यति ।
गोविन्दं परिरब्धुमिन्दुवदनं हा चित्तमुत्कण्ठते धिग्वामं विधिमस्तु येन गरलं मानाभिध निर्ममे ।। १०९ ।।

अत्र चापलशंकौत्सुक्यामर्षाणां शाबल्यम् ।

कर वृन्दा ने खेदपूर्वक कहा—अहो ! चिरअभीष्ट श्रीकृष्ण का दर्शन श्रीराधा जी को मिला किन्तु दैववश क्रोध से लाल हुआ अभिमन्यु वहां आकर अस्फुट वचन कहने लगा। उस समय श्रीराधा जी के नेत्र ठहर गये और वह निश्चल होकर सोने की प्रतिमा की भांति हो गयीं। (यहां इष्ट तथा अनिष्ट देखने के कारण जड़ता-भाव की सन्धि दिख.यी गयी है) ॥१०६॥

अनुवाद—(एक ही कारण से उत्पन्न दो भिन्न भावों की सन्धि) श्रीललितमाधव (६।३६) में, यथा—द्वारका के नववृन्दावन की कन्दरा में श्रीराधा जी ने चित्रित गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण के दर्शन किये उनकी उस समय भी वही पहली दशा हो उठी जो ब्रजमें गोवर्धनधारण को देखकर हुई थी। गोवर्धन पर्वत को धारण किये हुए श्रीकृष्ण को देखकर गोपियों का हृदय एक साथ विषाद और हर्ष से पूर्ण हो उठा था अतिभारी पर्वत का भार उठाये हुए श्रीकृष्ण को देखकर उन्हें सन्ताप और सातदिन पर्यन्त निरन्तर श्रीकृष्ण का दर्शन पाकर अति हर्ष भी हुआ। इस प्रकार एक ही समय गोपियों का हृदय दो भागों में विभक्त हो गया था। (यहां एक ही श्रीकृष्ण के लिये विषाद और हर्ष—दो सञ्चारीभावों की सन्धि दिखायी गयी है) ॥१०७॥

अनुवाद—(भिन्नहेतु के कारण दो भावों की सन्धि) यथा—श्रीराधा जी के प्रति श्रीकृष्ण अतिशय प्रेम करते हैं, ललिता जी के मुख से पद्माने उद्धत वचन भी सुने। तब पद्मा चिन्ता और अमर्ष भावों से आक्रान्त हो उठी। उसकी उस अवस्था का वृन्दा वर्णन कर रही है—श्रीराधा जी के प्रति श्रीकृष्ण का नवीन अनुराग बढ़ता हुआ देखकर तथा ललिता जी से अवज्ञासूचक वचन सुनकर पद्मा अति अस्थिर हो उठी। वह अपने चरणनख से भूमि कुरेदने लगी। उसका शरीर काम्पते हुए स्वेद से भीग गया। (यहां भिन्न दो कारणों से चिन्ता और अमर्ष दो भावों की सन्धि प्रदर्शित की गयी है) ॥१०८॥

अनुवाद—(भावशावल्य) श्रीविदग्धमाधव (५।७) में, यथा—कलहान्तरिता श्रीराधा जी एकान्त में बैठी-बैठी मन में सोचती हैं—अहो ! वह नवकिशोर श्रीकृष्ण जिन समस्त रमणियों के साथ विहार करते हैं, वे सब धन्य हैं, (यहां चापल-भाव है), फिर वह सोचती हैं—मेरे इस स्वेच्छापूर्वक आचरण-रूप चपलता की ललिता निन्दा करेगी (यहां चापल भाव के उपमर्दक शंका-भाव का उदय हो रहा है) फिर वह सोचती हैं—हाय ! हाय !! चन्द्रमुख श्रीगोविन्द को आलिंगन करने के लिये मेरा चित्त

अथ शान्तिः—यथा—(१०३)

आलीयुक्तिकुठारिकापटिमभिर्यो न प्रपेदे छिदां दूतीजल्पितनिर्झरेण च चिरं यः क्वापि नोच्चालितः।
वंशीनादमरुल्लवेण कमलाचेतस्तटीवेष्टनो मानाख्यः प्रबलोन्नतिस्तरुरयं स क्षिप्रमुन्मूल्यते॥ ११०॥

अत्र ईर्ष्याख्यभावस्य शान्तिः।

इति व्यभिचारि-प्रकरणम्

अथ स्थायिभाव-प्रकरणम्

१—स्थायिभावोऽत्र शृङ्गारे कथ्यते मधुरा रतिः॥ १॥

उत्कण्ठित हो रहा है,(यहां शकाका उपमर्दक औत्सुक्य-भाव उदित हो रहा है)। फिर वह सोचने लगी—हाय ! मेरे प्रति जो निर्दयी विधाता है, उसने विषरूप मान की सृष्टि कर दी है, उसे धिक्कार है। (यहां औत्सुक्य-भाव के उपमर्दक अमर्ष का उदय हो आया है)। यहां चापल, शंका, उत्सुकता एवं अमर्ष भावों का शाबल्य दिखाया गया है॥१०९॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—यहां सन्धि और शाबल्य के पार्थक्य को समझना चाहिये। सन्धि में भावों की केवल एक साथ अवस्थिति होती है किन्तु शाबल्य कहते हैं सञ्चारी-भावों के परस्पर संमर्दन को, अर्थात् शाबल्य में भावों का उत्तरोत्तर संमर्दन होता है। एक भाव दूसरे का मर्दन कर अपनी प्रधानता स्थापन करता है। जैसाकि उपर्युक्त उदाहरण में दिखाया गया है—पूर्वले एकभाव को दूसरा भाव मर्दन कर अपनी प्रधानता स्थापित करता है।

अनुवाद—(भाव-शान्ति)—उत्कट संचारी भाव के विलय का नाम 'शान्ति' है। यथा—एकबार कमला नाम्नि गोपी मानिनी हो उठी और किसी प्रकार भी श्रीकृष्ण उसका मान भंग करने में सफल न हुए। अन्त में उन्होंने अपनी वंशी बजायी, जिससे उसका मान शान्त हो गया। इसी प्रसंगका एक गोपी वर्णन करती है—कमला की चित्त रूपी नदी के तटको घेर कर जो मान रूपी अति उच्च वृक्ष खड़ा था, जिसको सखियों की युक्तिरूप तीक्ष्ण कुल्हाड़ियां न काट पा रही थीं, वह वंशी ध्वनि रूप सामान्य वायु के झोंके से जड़ से कटकर गिर गया। (यहां ईर्ष्या-भाव की शान्ति दिखायी गयी)॥११०॥

स्थायिभाव-प्रकरण

[श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में यह कहा जा चुका है कि विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव तथा व्यभिचारिभावों के मिलने पर स्थायीभाव रसरूप में परिणत होते हैं। जो भाव प्रतिकूल तथा अनुकूल सब प्रकार के भावों को वशीभूत करके उत्तम राजा की भांति विराजमान रहता है—उसे स्थायि-भाव कहते हैं। श्रीकृष्णविषया रति ही रसका स्थायि-भाव है ! विविध रसों के भिन्न-भिन्न स्थायी भाव हैं, जिन का उल्लेख श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में किया जा चुका है]—

अनुवाद—शृंगाररस या मधुररसमें स्थायि-भाव है मधुरा-रति॥१॥

सा यथा गोविन्दविलासे—(१) कालाहिवक्त्रविलसद्रसनाग्रजाग्रद्गोपीदृगञ्चलचमत्कृतिविद्धमर्मा।
शर्मादिशत्वरुणघूर्णितलोचनान्तसंचारचूर्णितसतीहृदयो मुकुन्दः ॥ २॥

यथा वा दानकेलिकौमुद्याम्—(३०)
(२) गोवर्धनं गिरिमुपेत्य कटाक्षबाणान् कर्णस्फुरन्मणिशिलोपरि संक्ष्णुवाना।
का भ्रूधनुर्धुवनसूचितलुञ्चनेयं व्यग्रीकरोत्यहह मामपि संभ्रमेण॥ ३॥

२—अभियोगाद्विषयतः संबन्धादभिमानतः। सा तदीयविशेषेभ्य उपमातः स्वभावतः।
रतिराविर्भवेदेषामुत्तमत्वं यथोत्तरम् ॥ ४॥

तत्र अभियोगः—अभियोगो भवेद्भावव्यक्तिः स्वेन परेण च॥ ५॥

तत्र स्वेनाभियोगाद्यथा—(३) मदधरविलुठद्विलोचान्तं मृदुललतानवपल्लवं दशन्तम्।
सखि हरिमवलोक्य भानुजायास्तटविपिने स्फुटदन्तरास्मि जाता॥ ६॥

अनुवाद—श्रीगोविन्दविलास ग्रन्थ के आदि में मंगलाचरण में कहा गया है—कालरूप सर्पके मुख में विलास करने वाली जिह्वा के अग्रभाग की भांति सदा जाग्रत गोपीवृन्द के नेत्रान्त से उत्थित चमत्कार द्वारा जिन का मर्म विद्ध हुआ है तथा स्वभावतः ही लालिमा और घूर्णित कटाक्ष-प्रक्षेपण से जो साध्वीगण के मन को भी सम्यक् प्रकार से चूर-चूर करते हैं, वही श्रीमुकुन्द सबका मंगल विधान करें। (कृष्ण-प्रीति या प्रियता पारस्परिक वस्तु है—श्रीभगवान् से भक्त प्रीति करते हैं और भक्त के प्रति श्रीभगवान् प्रीति पोषण करते हैं। यहां मधुररति में श्रीब्रजगोपीवृन्द श्रीगोविन्द के प्रति उनका दर्शन करते ही कटाक्ष करती हैं और श्रीमुकुन्द भी साध्वी गोपीवृन्द के प्रति कटाक्ष प्रक्षेप कर उनके मनको मर्दित करते रहते हैं) ॥२॥ श्रीदानकेलिकौमुदी (३०) में, यथा—दानघाटी पर सखाओं सहित बैठे श्री कृष्ण ने जब श्रीराधा जी को सखियों के साथ दधि-माखन ले जाते हुए देखा तो वे नान्दीमुखी से पूछने लगे—इस गोवर्धन पर्वत पर आकर कटाक्षरूप बाणों को अपने कानों में शोभित कुण्डलों में जटित रत्न रूप पाषाण पर शाणित करके (बाणों की धार लगा करके) यह कौन रमणी है, जो भ्रुकुटि कमान को कम्पायमानकर मुझ जैसे गम्भीर व्यक्ति के धैर्य को चुराते हुए अति व्याकुल करके जा रही है ? ॥३॥

अनुवाद—(रति के प्रादुर्भाव के कारण) अभियोग, विषय, सम्बन्ध अभिमान, प्रियतम की सम्बंधित वस्तुएं, उपमा और स्वभाव—इन सात उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कारणों को पाकर रति आविर्भूत होती है ॥४॥

अनुवाद—(अभियोग) —अपने द्वारा या दूसरे के द्वारा अपने भाव का जो प्रकाश करना है, उसे 'अभियोग' कहते हैं ॥५॥

अनुवाद—(अपनेद्वारा भाव-प्रकाशरूप अभियोग) यथा—एक समय श्रीराधा जी को अत्यन्त व्याकुल देखकर विशाखा जी ने उनसे उसका कारण पूछा, तो श्रीराधा जी ने कहा—हे सखि विशाखे ! यमुनातटवर्ती वन में आज मैंने श्रीकृष्ण को देखा। मैंने यह देखा कि वह मेरे अधर के प्रति अपने नेत्रांचल का संचालन करते-करते एक नवीन लता के नव पल्लव को दंशन करने लगे। उसी समय से मेरा हृदय चञ्चल हो रहा है। (यहां श्रीकृष्ण ने अपने आप नवलता-पल्लव तुल्य श्रीराधा के अधर को दंशन करनेकी अपनी अभिलाषा को व्यक्त किया है, इस श्रीकृष्ण द्वारा स्वाभियोगसे श्रीराधाजी की नित्य कृष्णरति उदित हो उठी और वे चंचल हो उठीं) इस अभियोग को आंगिक या चाक्षुष कहा जाता है ॥६॥ अब श्रीराधा जी कृत स्वाभियोग का उदाहरण देखिये—एकवार श्रीराधा जी ने यमुनातट पर

यथा वा—(४) कुवलयविपिनान्यसौ सृजन्ती दिशि दिशि लोचनचापलाच्चलाक्षी।
हरति तरणिजातटे पुरः का सुबल बलान्मम चित्तचञ्चरीकम्॥ ७॥

परेणाभियोगाद्यथा—(५) त्वदीयमापीय गतावलम्बा संवादमाध्वीकमतीव साध्वी।
आघूर्णमाना व्रजराजसूनो नीवीं स्खलन्तीं न विदांचकार॥ ८॥

अथ विषयाः—४—शब्दस्पर्शादयः पञ्च विषयाः किल विश्रुताः॥ ९॥

तत्र शब्दाद्यथा विदग्धमाधवे—(१।३४)—
(६) नादः कदम्बविटपान्तरतो विसर्पन् को नाम कर्णपदवीमविशन्न जाने।
हा हा कुलीनगृहिणीगणगर्हणीयां येनाद्य कामपि दशां सखि लम्भितास्मि॥ १०॥

यथा वा तत्रैव—(२।९)—(७)
एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्ना सकृद्वीक्षणात्कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिः श्रेयसी॥ ११॥

श्रीकृष्ण के दर्शन किये। अत्यन्त उल्लासवती होकर नेत्रों के विभ्रम-विशेष को वह व्यक्त करने लगीं। यह देखकर सुबल सखा से श्रीकृष्ण ने पूछा—सखे सुबल! चारों दिशाओं में देखने के कारण जिसके नेत्र चञ्चल हो रहे हैं एवं जो यमुनातट पर मानों इन्दीवर वन को आविर्भूत कर मेरे चित्त मधुकर को बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षण कर रही है, वह चंचलनयनी रमणी कौन है?। (यहां श्रीराधा जी ने स्वाभियोग प्रकाशित कर श्रीकृष्ण को चंचल कर दिया)॥७॥

अनुवाद—(दूसरे द्वारा कृत अभियोग) यथा—श्रीकृष्ण के अनुरोध से उनकी एक दूती प्रेमपत्र लेकर श्रीराधा जी के पास आयी। श्रीराधा जी का अनुमोदन पाकर वह दूती श्रीकृष्ण के पास आकर बोली—हे व्रजराज नन्दन! वह परम साध्वी श्रीराधा तुम्हारे संवादरूप मधु को कर्णपुट से पान करते ही अधीर हो उठी, और ऐसी घूर्णित हो उठी कि उनकी नीवी जो स्खलित हो गयी वह यह भी न जान सकी। (दूती द्वारा श्रीकृष्ण के मनोभाव को जानकर श्रीराधा जी की रति उच्छ्वसित हो उठी है इस उदाहरण में)॥८॥

अनुवाद—(विषय) शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—इन पांचों को 'विषय' कहा जाता है॥९॥

अनुवाद—(शब्दादि-विषय) श्रीविदग्धमाधव (१।३४) में, यथा—श्रीराधा जी को विवश-दशा में देखकर जब ललिता जी ने उसका कारण पूछा तो वह बोली—हे सखि! कदम्ब वृक्ष की शाखाओं में से प्रसारित होता हुआ कैसा एक अश्रुतपूर्व शब्द (वेणुनाद) मेरे कानों में प्रवेश कर गया है, उसे मैं नहीं जानती। हाय! हाय! उस शब्द को सुनकर कुलवती रमणियों की किसी एक अनिर्वचनीय दशा को मैं प्राप्त हो रही हूँ॥१०॥ (केवल श्रीकृष्ण कृत शब्द सुनने से ही नहीं, दूसरों द्वारा उच्चारित 'कृष्ण'-शब्द सुनने पर भी रति उदित हो उठती है श्रीराधा जी में) श्रीविदग्धमाधव (२।९) में, यथा—एकसखी द्वारा व्याकुलता का कारण पूछने पर श्रीराधा जी ने कहा—सखि! एक व्यक्ति का 'कृष्ण' नामाक्षर सुनते ही मेरी मति विलुप्त हो गयी, एक दूसरे व्यक्ति की मधुर वंशीध्वनि ने मेरे हृदय में, अतिशय आनन्द प्रवाह संचारित कर दिया है। फिर विशाखा के हाथों में स्निग्ध-मेघ कान्ति युक्त व्यक्ति के चित्रपट को देखने मात्र से वह मेरे हृदय में संलग्न हो रहा है। हाय! धिक्कार है मुझे!! (पर-पुरुष में रति होना अति निन्दनीय है, यहां तो) मेरी तीन-तीन पर पुरुषों में रति उदित हो रही है, मेरे लिये तो मर जाना ही श्रेयस्कर है॥११॥

स्पर्शाद्यथा—

(८) व्रजं मुष्टिग्राह्ये तमसि निगिरत्यङ्गमिह मे सखि स्पर्शं दैवाद्यदवधि परं कस्यचिदगात् ।
गृहीता जागर्या तदवधि सदैवाङ्गजगणैः सशङ्कैर्या पश्य क्षणमपि न साद्याप्युपरता ॥ १२ ॥

रूपाद्यथा हंसदूते—(७७)—

(९) कृताकृष्टिक्रीडं किमपि तव रूपं मम सखी सकृद्दृष्ट्वा दूरादहितहितबोधोज्झितमतिः ।
हताशेयं प्रेमानलमनुविशन्ती सरभसं पतङ्गीवात्मानं मुरहर मुहुर्दाहितवती ॥ १३ ॥

रसाद्यथा—(१०) पुलकयति यदङ्गं सेवते गात्रभङ्गं वहति हृदि तरङ्गं सद्य एवाद्य मुग्धा ।
तदघदमनवक्त्रोद्गीर्णताम्बूलमल्पं स्फुटमविदितमास्ये न्यस्तमस्यास्त्वयालि ॥ १४ ॥

अनुवाद—(स्पर्श से रति का आविर्भाव) किसी अन्य गांव से व्रज में आयी हुई नववधू ने अपनी सखी से पूछा—सखि ! यह व्रजनगर घोर अन्धकारमय है—लता-वृक्षों से समाच्छन्न है। इसमें निकलते हुए दैवयोग से मेरा किसी पुरुष के साथ अंग स्पर्श हो गया है। उसी समय से मेरे रोमसमूह शंकित होकर सर्वदा खड़े हो रहे हैं, देख तो सखि ! अभी तक वे क्षणकाल के लिये भी निवृत्त नहीं हो रहे हैं। (यहां श्रीकृष्ण के अङ्ग स्पर्श होने पर उस नववधू में कृष्णरति का उद्‌गम दिखाया गया है) ॥१२॥

अनुवाद—(रूपदर्शन से रति आविर्भाव) श्रीहंसदूत (७७) में, यथा—श्रीललिताजी ने हंसदूत के द्वारा मथुरा से विराजित श्रीकृष्ण को संवाद भेजा – हे मुरारि ! एक अनिर्वचनीय आकर्षण करना ही जिसकी क्रिया है, आपके उस रूप का दूरसे ही एक बार दर्शनकर मेरी सखी (श्रीराधा) हिताहितज्ञान-रहित होकर पड़ी है। पतंगी जैसे अग्नि के सुन्दररूप को देखकर आनन्द पूर्वक उसमें कूदने लगती है और ताप अनुभव कर फिर दूर हो जाती है। बार-बार ऐसा करके अन्त में उस अग्नि में जल ही मरती है, उसी प्रकार मेरी सखी राधा तुम्हारी प्रेमाग्नि में प्रवेश करती है, फिर बाहर आती है, अर्थात् तुम्हारी आसक्ति त्याग करती है, फिर न चाहते हुए भी तुममें आसक्त हो उठती है, इस प्रकार अपने को वह जला रही है, कैसी हताशा है ? ॥१३॥

अनुवाद—(रसास्वादन से रति-आविर्भाव), यथा—किसी गोपसुन्दरी ने श्रीकृष्ण के प्रति अपनी यूथेश्वरी की रति जगाने के लिये उससे छिपाकर श्रीकृष्ण का चर्वित ताम्बूल यूथेश्वरी के ताम्बूल में रखकर खिला दिया। ताम्बूल को खाते ही उस यूथेश्वरी में सात्त्विक-विकार उदित हो उठे। तब दूसरी सखी, जो जानती थी कि इस सखी ने यूथेश्वरी को कृष्ण-चर्वित ताम्बूल गुप्त भाव से खिलाया है। उससे बोली—हे अलि ! तुम्हारे द्वारा दिये हुए ताम्बूल का आस्वादन करते ही आज तुम्हारी इस मुग्धा यूथेश्वरी के अंगों में जो पुलकावली, आलस्य एवं हृदय में अनुराग-तरंगें उठती दीख रही हैं, मनमें आता है कि तुमने निश्चय ही अघारि श्रीकृष्ण के चर्वित ताम्बूल का कुछ अंश उसको ताम्बूल में खिला दिया है। (अनजाने में भी श्रीकृष्ण-चर्वित ताम्बूल का रसास्वादन करने पर उस यूथेश्वरी में कृष्णरति का उदय प्रदर्शित किया गया है) ॥१४॥

अनुवाद—(गन्ध-घ्राण से रति-उदय) यथा—किसी व्रजगोपी ने अपनी एक सखी को श्रीकृष्ण की उतरी हुई वैजयन्ती माला की एक लड़ी प्रदान की। वह नहीं जानती थी कि यह माला-लड़ी श्रीकृष्ण प्रसादी है। उस माला को सूंघते ही पहले तो वह बेसुध हो गयी, फिर चेतना प्राप्त कर विस्मित हो उठी। अपनी सखी से पूछने लगी—सखि ! जिस वृक्ष के पुष्पों से यह अनुपम वैजयन्ती माला ग्रथित है,

गन्धाद्यथा—(११)

विभ्राजन्ते क्व सखि सुखिनः शाखिनो मोहनास्ते येषां पुष्पैरियमनुपमा वैजयन्ती कृतास्ति।
पश्याकृष्टभ्रमरपटला यातयामापि कामं या भूयोभिर्मम परिमलैः स्तम्भयत्यद्य चेतः॥ १५॥

५—लोकोत्तरपदार्थानां प्रभावः कोऽप्यनर्गलः। रतिं तद्विषयं चासौ भासयेत्तूर्णमेकदा॥ १६॥

अथ संबन्धः—६—संबन्धः कुलरूपादिसामग्रीगौरवं भवेत्॥ १७॥

ततो यथा—(१२)

वीर्यं कन्दुकिताद्रिरूपमखिलक्ष्मामण्डीमण्डनं जन्माभीरपुरन्दरस्य भवने पारेपरार्धं गुणाः।
लीला कापि जगच्चमत्कृतिकरीत्येतस्य लोकोत्तरा वृत्तिर्वेणुधरस्य दुर्मुखि धृतिं कस्याः क्षणं रक्षति ?

अथ अभिमानः—

७—सन्तु भूरीणि रम्याणि प्रार्थ्यं स्यादिदमेव मे। इति यो निर्णयो धीरैरभिमानः स उच्यते॥ १९॥

वह सर्व परमानन्दमय मनोहर वृक्ष कहां लगा हुआ है ? कैसा आश्चर्य ! माला बासी होते हुए भी इस की सुगन्ध में सब मधुकर खिंचे हुए चले आ रहे हैं, एवं मेरा चित्त बार-बार स्तम्भित हुआ जा रहा है॥१५॥

अनुवाद—(प्रश्न उठता है—यह बिना जानेकि शब्द-रूप-रसादि किसके हैं श्रीकृष्ण में ही रतिका उदय कैसे माना जा सकता है ?—इसके उत्तर में श्रीग्रन्थकार कहते हैं)—लोकोत्तर अर्थात् महाचमत्कारकारी अप्राकृत वस्तुओं का एक ऐसा अनिर्वचनीय अबाधित प्रभाव है कि जो एक ही समय में एवं अति शीघ्र ही रति को प्रकाशित कर देता है और रति के विषय—(श्रीकृष्ण) को भी प्रकाशित कर देता है॥१६॥

अनुवाद—(सम्बन्ध) कुल, रूप, सौन्दर्य माधुर्य, वैदग्ध्य, गाम्भीर्य्य, शौर्य्य, वीर्य्य सौशील्यादि अनन्त कल्याण-गुणों के अतिशय समावेश को 'सम्बन्ध' कहा जाता है॥१७॥ (कुलादि गौरव से रति का उदय), यथा—एक व्रजगोपी की श्रीकृष्ण-- प्रेम-परीक्षा करने के लिये उसकी एक सखी ने उसे कहा—सखि ! तुम एक कुलांगना हो, पर-पुरुष श्रीकृष्ण में रति करना तुम्हारे लिये संगत नहीं है। तब उस व्रजगोपी ने उसे कहा—अयि निष्ठुर भाषिणि ! (जो तेरे मुँह पर आता है, बिना सोचे बक देती है) देख, जिसके वीर्य ने गोवर्धन जैसे पर्वत को गेंद के समान बना दिया, जिसका रूप निखिल पृथ्वी मण्डल का भूषणस्वरूप है, जिसका जन्म गोपेन्द्र नन्द भवन में हुआ है, जिसकी अनिर्वचनीय गुणराशि अनन्त है, जिसकी अनिर्वचनीय लीलाएं समस्त जगत्को चमत्कृत कर रही हैं, उस वंशीधर लोकोत्तर-चरित्र श्रीकृष्ण के आगे कोई रमणी क्षणकाल के लिये भी धैर्य्य की रक्षा कर सकती है ? (यहां श्रीकृष्ण के रूप-गुणादि को रति-आविर्भाव का कारण दिखाया गया है)॥१८।

अनुवाद—(अभिमान)—अच्छी-अच्छी अनेक वस्तु हैं, रही आवें, किन्तु मेरी तो यही अभीष्ट वस्तु है—इस प्रकार के निश्चय करने को पंडितजन 'अभिमान' कहते हैं। (गाढ़ चिरकालीन ममता का अभ्यास ही अभिमान का स्वरूप है। अथवा, ममतास्पद वस्तु में जो एक अनन्य ममतामय संकल्प-विशेष है, उसका नाम 'अभिमान' है)॥१९॥ (अभिमान से रति-आविर्भाव), यथा—श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा जी की प्रेम-परीक्षा करने के लिए एकदिन नान्दीमुखी ने श्रीराधा जी से कहा—राधे ! बहुबल्लभ, प्रेम-शून्य, रुक्षचित्त श्रीकृष्ण को परित्याग कर किसी अन्य महा गुणशाली पुरुष के प्रति ही रति पोषण

ततो यथा—

(१३) स्फुरन्तु बहवः क्षितौ मधुरिमोर्मिधौरेयका विदग्धमणयो गुणावलिपतिवराभिर्वृताः।
न यस्य शिखिचन्द्रकः शिरसि नैव वेणुर्मुखे न धातुरचना तनौ सखि तृणाय मन्ये न तम् २०॥

अथ तदीयविशेषः—तदीयानां विशेषाः स्युः पदगोष्ठप्रियादयः॥ २१॥

तत्र पदानि—९—पदान्यत्र पदाङ्काः स्युः॥ २२॥

ततो यथा—(१४) स्फुरति सखि रथाङ्गाम्भोजदम्भोलिभाजां तटभुवि विशदेयं कस्य पङ्क्तिः पदानाम्।
हृदयमघृणघूर्णाघ्रातमुद्घाटयन्ती मम तनुलतिकायां कुड्मलं या तनोति॥ २३॥

अथ गोष्ठम्—१०—गोष्ठं वृन्दावनाश्रितम्॥ २४॥

ततो यथा—(१५) मदयति हृदयं सखि व्रजोऽयं मधुरिमभिः क्वचिदप्यदृष्टपूर्वैः।
इह विहरति कोऽपि नागरेन्द्रस्त्रिभुवनमण्डनमूर्तिरित्यवेहि॥ २५॥

करना संगत है। यह सुनकर श्रीराधा जी ने कहा—सखि! इस धरणितल पर माधुर्य-तरंग भाव धारण करने वाले विदग्ध चूड़ामणि अनेक-अनेक पुरुष यदि विद्यमान हैं, तो रहे आवें, गुणशालिनी पतिव्रता रमणियां उन्हें वरण करें, तो करती रहें, किन्तु जिसके मस्तक पर मोर मुकुट नहीं है, जिसके मुख पर वंशी नहीं है, जिसके अङ्गों पर धातुरचना (गैरिक तिलक-रचना) नहीं है, मैं उसे एक तृण के समान भी नहीं मानती हूँ॥२०॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका— यहां मोरपुच्छादि के उपलक्षण में श्रीनन्दनन्दन को ही उपलक्षित किया गया है श्रीनन्दनन्दन के सम्बन्ध में ही अभिमान है, मोरपुच्छादि में अभिमान नहीं है, क्योंकि भोजन-शयन के समय श्रीकृष्ण के मस्तक पर मोरपुच्छ नहीं रहता, किन्तु, उस समय श्रीगोपियों में कृष्णरति का विच्छेद नहीं होता। श्रीकृष्ण को छोड़कर और भी कोई मोरपुच्छ, बंशी, तिलक धारण कर सकता है, किन्तु उसमें व्रजगोपियों की कभी रति उदित नहीं होती।

अनुवाद—(तदीय-विशेष)—पदचिह्न, गोष्ठ (वृन्दावन के स्थान) तथा उनके प्रियजनादि अर्थात् श्रीकृष्ण-सम्बन्धी समस्त वस्तुएं विशेष कही गयी हैं॥२१॥ पदसे यहां पदचिह्न अभिप्रेत हैं॥२२॥ (पदांक-दर्शन से रति का आविर्भाव) यथा—कोई एक गोपी नवविवाहित होकर दूसरे गांव से आयी। उसने वृन्दावन में सर्वप्रथम प्रवेश किया। उसने विस्मित होकर एक सखी से पूछा—हे सखि! यमुना-तट पर चक्र, पद्म, गजचिह्नयुक्त किसके पदचिह्नों की पंक्ति दीख रही है? इन पदचिह्नों को देखकर मेरा हृदय तीव्र घूर्णा से आक्रान्त हो रहा है, मेरी शरीर-बेलि में भी मुकुल रूप में पुलक का उद्गम हो रहा है। (नवागत गोपी श्रीकृष्ण से परिचित नहीं है, फिर भी उनके पदचिह्न दर्शन से उसमें कृष्णरति का आविर्भाव हो रहा है)॥२३॥

अनुवाद—(गोष्ठ) वृन्दावन-स्थित स्थानों को गोष्ठ कहते हैं॥२४॥ (गोष्ठ-दर्शन से रति-आविर्भाव), यथा—एक व्रजवासी गोप किसी दूसरे देश में जाकर विवाह कर अपनी नववधू को अपने घर व्रज में ले आया। व्रजभूमि के स्पर्श मात्र से उसमें जो भाव उदित हुआ उसे वह अपनी सखी से कह रही है—हे सखि! पहले कभी नहीं देखी यह माधुर्यराशि पूर्ण व्रजभूमि तो मेरे हृदय में आनन्द जन्मा रही है। तुम निश्चय जानो कि इस व्रज में त्रिभुवन-भूषण मधुरमूर्ति कोई नागेन्द्र विहार करता है॥२५॥

अथ प्रियजनः—११—प्रौढभावानुविद्धो यस्तस्य प्रियजनोऽत्र सः ॥ २६ ॥

ततो यथा—(१६) गुरुभिरपि निषिद्धा तामहं यावदक्ष्णोः पदमनयमनन्तश्रेयसां सद्म राधाम् ।
तृषितमिव मनो मे प्रेक्षते तन्वि तावद्दिशि दिशि विहरन्तीं श्यामलां शालभञ्जीम् ॥ २७ ॥

अथोपमा—१२—यथा कथंचिदप्यस्य सादृश्यमुपमोदिता ॥ २८ ॥

ततो यथा—(१७) नवाम्बुधरमाधुरी स्फुरति मूर्तिरुर्वीतले कृशोदरि दृशोरियात्पथि किमीदृशो वा युवा ।
पुरः सुमुखि गोपतेः सदसि संनिविष्टस्य मे पितुर्वितनुते नटो यमनुकृत्य नृत्यक्रमम् ॥ २९ ॥

यथा वा—(१८)
स्फुरत्येष प्रेयानिव नवघनस्तस्य सुभगे शिखण्डीनां श्रेणीं तुलयति सुरेन्द्रायुधमिदम् ।
असौ वासौ लक्ष्मीरिव विहरते विद्युदिति सा निशम्योदस्राक्षी त्वयि निहितबुद्धिर्निवसति ॥ ३० ॥

अनुवाद—(प्रियजन) जो प्रौढ़भाव से विद्ध हैं अर्थात् श्रीकृष्ण विषयक राग, अनुराग एवं महाभाव जिनके चित्त में गाढ़ता से विद्यमान है, यहां उन्हें 'प्रियजन' कहा गया है ॥२६॥ (प्रियजन-दर्शन से रति-आविर्भाव) यथा—कोई नवविवाहिता गोपी व्रज में आयी। उसके ससुराल वालों ने श्रीकृष्ण की आशंका करते हुए उसे समझाया—'देख बहू ! महाकुल में उत्पन्न होकर भी श्रीराधा यहां उत्मत्त हो रही है, तुम उस राधा का संग भूलकर भी न करना। इतना मना करने पर भी उसने श्रीराधा का दर्शन किया और उसी समय मूर्च्छित हो गयी। किसी सखी ने उससे उस विवशता का कारण पूछा। तब वह नववधू बोली—'हे कृशांगि ! गुरुवर्ग के निषेध करने पर भी मैंने जब से उस निखिल मंगलमयी श्रीराधा का नेत्रों से दर्शन किया है, तबसे मेरा मन तृषातुर की भांति चारों ओर विहारकारिणी श्यामवर्णमयी किसी मूर्तिका दर्शन कर रहा है (श्रीराधा-दर्शन से कृष्णरति का आविर्भाव यहां प्रदर्शित किया गया है) ॥२७॥

अनुवाद—(उपमा) श्रीकृष्ण के साथ यत्किंचित् सदृशता को 'उपमा' कहते हैं ॥२८॥ (उपमा से रति-आविर्भाव) यथा—किसी गोष्ठाध्यक्ष की सभा में कोई नट-नर्तक श्रीकृष्ण का वेश धारण करके कृष्णलीला का अभिनय कर रहा था। पर्दे के पीछे बैठी उस अध्यक्ष की कन्या ने उस नट को देखकर अपनी एक सखी से पूछा—हे कृशोदरि ! हे सुमुखि ! मेरे पिता की सभा में यह नट जिसका अनुकरण करते हुए नृत्य कर रहा है, पृथ्वी पर उसके सदृश नवजलधर-माधुरीपूर्ण माधुर्य-विशिष्ट किसी युवकको कहीं कभी तुमने देखा है ? । (श्रीकृष्ण की वेशभूषा के साथ उस नट की वेश-भूषा की सदृशता देखकर अध्यक्ष की कन्या में कृष्णरति का आविर्भाव हो उठा है, श्रीकृष्ण-दर्शन के लिये वह व्याकुल हो उठी है) ॥२९॥

(कृत्रिम सदृशता का उदाहरण देने के बाद अब लौकिक सदृशता का उदाहरण भी देते हैं), यथा—वृन्दादेवी ने किसी व्रजबाला की श्रीकृष्ण में रति पैदा करदी। वह श्रीकृष्ण के निकट आकर बोली—हे व्रजराजनन्दन ! वह व्रजबाला तुम्हारे आकारादिको जानना चाहती थी। तब मैंने उसे कहा—हे सुभगे ! यह नवमेघ उस प्रियतम श्रीकृष्ण की भांति स्फुरित हो रहा है, यह इन्द्रधनु उसके मोरपुच्छ गुच्छ की भांति है और यह विद्युत् उसके पीताम्बर की शोभा धारण कर रही है। हे श्रीकृष्ण ! मेरे मुख से यह सब बात सुनकर उस व्रजबाला की बुद्धि तुम्हारे में निविष्ट हो गयी और वह अश्रुधारा प्रवाहित करने लगी ॥३०॥

अथ स्वभावः—
१३—बहिर्हेत्वनपेक्षी तु स्वभावोऽयं प्रकीर्तितः। निसर्गश्च स्वरूपं चेत्येषोऽपि भवति द्विधा॥ ३१॥
तत्र निसर्गः—
१४—निसर्गः सुदृढाभ्यासजन्यः संस्कार उच्यते। तदुद्बोधस्य हेतुः स्याद्गुणरूपश्रुतिर्मनाक्॥ ३२॥
ततो यथा—
(१८) स तर्जतु बताग्रजस्त्यजतु मां सुहृन्मण्डलः पिता किल विलज्जतां घनदृगम्बुरम्बास्तु मे।
मनः सखि समीहते श्रुतगुणश्रियं सर्वथा तमेव यदुपुङ्गवं न तु कदापि चैद्यं नृपम्॥ ३३॥

अनुवाद— (स्वभाव)—जो (अभियोगादि किसी भी बाहरी हेतु की अपेक्षा नहीं रखता, अपने आप ही उद्‌बुद्ध होता है, उसका नाम 'स्वभाव' है। वह स्वभाव दो प्रकार का है—निसर्ग एवं स्वरूप ॥३१॥

अनुवाद—(निसर्ग)—सुदृढ़ अभ्यास-जनित जो संस्कार है, उसे 'निसर्ग' कहते हैं। गुण-रूप के श्रवणादि निसर्ग का उद्‌बोधक-हेतु हुए भी वह अनावश्यक होता है ॥३२॥ (निसर्ग से उद्‌बुद्धा रति), यथा—श्रीनारद जी के मुखसे श्रीकृष्ण के रूप गुण की कथा सुनकर श्रीरुक्मिणी जो ने मनमें श्रीकृष्ण को पतिरूप में वरण कर लिया। ब्राह्मण द्वारा पत्र भी श्रीकृष्ण को भिजवा दिया। श्रीरुक्मिणी की एक सखी ने उसकी प्रेमपरीक्षा के लिये उसे कहा—रुक्मिणि ! तुम कुलीन कन्या हो, इस प्रकार भाई के मत को ठुकरा कर श्रीकृष्ण को वरण कर लेना और पत्र भेज देना अच्छी वात नहीं है। तव श्रीरुक्मिणी ने कहा—सखि ! बड़ा भाई रुक्मि मुझे फटकारे तो फटकारे, सुहृदवर्ग मुझे रोकें तो रोकें, मेरे आचरण में पिता जी लज्जा अनुभव करें तो करें, मेरी माता रोती है तो रोवे, किन्तु श्रीनारद के मुख से जिनके गुणगण मैंने सुने हैं, मेरा मन उन्हीं श्रीयदुवर को ही सम्यक्‌रूप से चाहता है। चेदिराज—शिशुपाल की कभी भी इच्छा नहीं करता ॥३३।

रूपकृपातरंगिणी-टीका—श्लोक सं. ४ में कह आये हैं कि अभियोगादि सात वस्तुएं कृष्ण-रति के आविर्भाव का कारण हैं, उनमें स्वभाव को भी एक कारण कहा गया है। इससे ऐसा लगता है कि रति भी एक उत्पन्न होने वाला या जन्य पदार्थ है। अभियोग आदि के कारण से रतिरूप कार्य की उत्पत्ति होती है। किन्तु वास्तव में कृष्णरति जन्य पदार्थ नहीं है। इसलिये श्लोक सं० ३२ में कहा गया है कि गुण-रूप के श्रवणादि निसर्ग के उद्‌बोधक-हेतु हैं, किन्तु अनावश्यक हैं। क्योंकि स्वभाव का लक्षण ही है कि वह किसी वाह्य हेतु की अपेक्षा नहीं रखता वह अपने को आप प्रकाशित करता है। निसर्ग को सुदृढ़-अभ्यास जन्य संस्कार कहा गया है। किसी कार्य का वहुत समय तक यदि सुदृढ़भाव से अनुष्ठान या अभ्यास किया जाये, तो मन में उस कार्य के सम्बन्ध में एक संस्कार उत्पन्न हो आता है। कार्य का अनुष्ठान समाप्त हो जाने पर भी सूक्ष्मरूप से वह संस्कार मन में रहा आता है। वास्तव में यहां जिस निसर्ग का उल्लेख किया गया है वह मधुररति सम्बन्धीय निसर्ग है। व्रजसुन्दरियों में जो मधुरा-रति है वह नित्यसिद्धा है जन्य नहीं। अनादिकाल से उनमें मधुरारति पुनः पुनः अधिक से अधिकतर होकर उदित होकर चली आ रही है, जिससे उनके चित्त में कृष्णसेवारूप एक संस्कार वर्तमान है। प्रकटलीला में जव वे जन्मलीला के मिससे ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होती हैं, तब बाल्यकाल में उनकी रति के अनुरूप कृष्ण सेवा न रहने पर भी सूक्ष्मरूप से वह संस्कार उनके चित्त में सदा वर्तमान रहता है, वही संस्कार ही उनका 'निसर्ग' है।

यथा वा—(२०) असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात्करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम् ॥ ३४ ॥

अथ स्वरूपम्—

१५—अजन्यस्तु स्वतःसिद्धः स्वरूपं भाव इष्यते। एतत्तु कृष्णललनोभयनिष्ठतया त्रिधा ॥ ३५ ॥

तत्र कृष्णनिष्ठम्—१६—कृष्णनिष्ठं स्वरूपं स्यावदैत्यैः सुगमं जनैः ॥ ३६ ॥

श्रीरुक्मिणी भी श्रीकृष्ण की नित्यसिद्ध कान्ता हैं। उसमें भी कृष्णरति नित्यसिद्ध है। अतः उसकी रति के उत्पादन का प्रश्न ही नहीं उठता। उत्पादन के हेतु की कोई आवश्यकता भी नहीं—अनावश्यक है वह। श्रीनारद के मुख से जो श्रीकृष्ण गुणादि का श्रवण है, वह उनकी रति का उद्दीपन मात्र है, उत्पादक नहीं।

अनुवाद—(निसर्ग का यहां एक और उदाहरण देते हैं, ताकि कोई यह न समझ ले कि नित्यसिद्ध-कान्ता श्रीरुक्मिणी के लिये तो रूपगुण-श्रवण अनावश्यक कारण हो सकता है, परन्तु दूसरों के पक्ष में तो उसे कारण मानना ही होगा। इस उदाहरण में एक कान्ता की नैसर्गिकी-रति की बात कही गयी है)—एक व्रजसुन्दरी की श्रीकृष्णप्रेम-परीक्षा के लिये एक सखी ने उससे कहा—अरी! श्रीकृष्ण के सौन्दर्यादि एवं गुणों में ऐसी क्या असाधारणता है जो तू उनमें ही आसक्त हो रही है? तब उसने कहा—सखि! वे असुन्दर ही हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या अतिशय गुणी ही हों, मेरे प्रति वे द्वेष ही करें, या मेरे पक्ष में करुणासागर ही हों, आज वही श्याम ही मेरा एक मात्र पति है—(वह श्याम अर्थात् कालारूपवान ही मेरा पति है) ॥३४॥

अनुवाद—(स्वरूप) अजन्य (अनुत्पाद्य) होने से स्वतः सिद्ध भाव को ही 'स्वरूप' कहा जाता है। स्वरूप तीन प्रकार का है—कृष्ण-निष्ठ, ललना-निष्ठ तथा उभयनिष्ठ ॥३५॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—स्वतः सिद्ध भाव को अर्थात् रत्युत्पादक वस्तुविशेष को 'स्वरूप' कहते हैं। (श्रीचक्रवर्ती) निसर्ग और स्वरूप का पार्थक्य यह है कि श्रीकृष्णरूप-गुणादि श्रवण द्वारा जो नित्य-सिद्ध भाव जन्यरूप में प्रतीयमान होता है, वह 'निसर्ग' है। और श्रीकृष्ण रूपगुणादि द्वारा अजन्य होने से जो सर्वदा सुस्थिर रहता है, वह है 'स्वरूप'।

प्रश्न उठता है, स्वरूप जब स्वतःसिद्ध, अजन्य एवं सर्वदा सुस्थिर रहने वाला है, तो उसका एक रूप होना चाहिये, उसमें भेद नहीं रह सकता। किन्तु स्वरूप के फिर तीन प्रकार क्यों कहे गये हैं? इस के उत्तर में श्रीजीव गोस्वामी ने कहा है कि चन्द्रका आह्लादकत्व एकरूप ही है, सर्वत्र समान है, तथापि वह विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध से विभिन्न प्रभाव विस्तार करता है। चकोर में आस्वाद प्रकाश करता है, कुमुद को प्रस्फुटित करता है, समुद्र को तरंगायित करता है और चन्द्रकान्त मणि को पिघला देता है। इसी प्रकार स्वरूप एकरूप होकर भी भिन्न भिन्न आश्रयों या पात्रों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाशित होता है। अतः उसके कृष्णनिष्ठ, ललनानिष्ठ, तथा उभयनिष्ठ—ये तीन प्रकार कहे गये हैं।

अनुवाद—(कृष्णनिष्ठ स्वरूप), जो लोग दैत्यप्रकृति के नहीं हैं, कृष्णनिष्ठ स्वरूप उनके पक्ष में सुगम है (अर्थात् श्रीकृष्ण रूप आधार में नित्य अवस्थित जिस वस्तु-विशेष के प्रभाव से श्रीकृष्णदर्शक के चित्त में रति की उत्पत्ति होती है, उसे कहते हैं—कृष्णनिष्ठ स्वरूप। जो व्यक्ति असुरप्रकृति के हैं, उनके

ततो यथा—(२१) इयं व्यक्तिर्गोपी न भवति पुरः किंतु कुतुकी हरिर्नारीवेषो यदखिलसुरस्त्रीर्धुवति नः।
जगन्नेत्रश्रेणीतिमिरहरणायाम्बरमणिं विना कस्यान्यस्य प्रियसखि ! भवेदौपयिकता ? ॥३७॥

अथ ललनानिष्ठम्—
१७—स्वरूपं ललनानिष्ठं स्वयमुद्बुद्धतां व्रजेत्। अदृष्टेऽप्यश्रुतेऽप्युच्चैः कृष्णे कुर्याद्द्रुतं रतिम् ॥ ३८॥

ततो यथा—
(२२) जिहीते यः कक्षां क्वचिदलमदृष्टाश्रुतचरस्त्रिलोक्यामस्तीति क्षणमपि न संभावनमयीम्।
घनश्यामं पीताम्बरमहह संकल्पयदमुं जनं कंचिद्गोष्ठे सखि ! मम वृथा दीर्यति मनः॥ ३९॥

चित्त में श्रीकृष्णदर्शन से रति का उदय नहीं होता।) ॥३६॥ (कृष्णनिष्ठ स्वरूप का परिचय), यथा—अपनी प्रेयसी (श्रीराधा) का मान भंग करने के लिये उनके महल में प्रवेश पा सकने के लिये श्रीकृष्ण एक नारी का वेश वनाकर जा रहे थे। विमानचारी देवियां उन्हें देखकर परस्पर कहने लगीं—हे प्रिय सखि ! गोपीवेश में जो सामने व्यक्ति दीख रहा है, वह गोपी नहीं है, लगता है वह श्रीकृष्ण ही हैं। कौतुकवश वे नारीवेश धारण कर जा रहे हैं। यह दृष्टि पथ में आते ही हम सुरललनाओं के हृदय को विकम्पित—चंचल कर रहे हैं जगत् के लोगों के नेत्रों के अन्धकार को दूर करने की योग्यता सूर्यदेव को छोड़कर और किस में है ? (अर्थात् हमारे मन को चञ्चल कर देने की सामर्थ्य किसी गोपी में नहीं हो सकती ॥३७॥

अनुवाद—(ललनानिष्ठ-स्वरूप)—ललनानिष्ठ स्वरूप स्वयं ही उद्बुद्ध होता है। पहले श्रीकृष्ण को कभी न देखने पर भी पहले कभी श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कुछ न सुनने पर भी वह अति द्रुतगति से श्रीकृष्ण में प्रगाढ़ रति को आविर्भूत कर देता है ॥३८॥ (ललनानिष्ठ स्वरूप का उदाहरण), यथा—श्रीकृष्ण के दर्शन, श्रवण करने से पहले ही स्वतः स्फूर्त श्रीकृष्ण का अनुभव कर श्रीराधा जी का अनुभव कर श्रीराधा जी का मन उड़ा-उड़ा सा देखकर ललिता जी ने उसका जब कारण पूछा तो श्रीराधा जी ने कहा—हे सखि ! जो कभी भी जरा भी मेरे दृष्टि-गोचर नहीं हुआ, जिसके सम्बन्ध में मैंने कभी कुछ भी बात नहीं सुनी, त्रिभुवन में ऐसा कोई व्यक्ति है जिसके सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई सम्भावना होने की बात भी क्षणकाल के लिये मेरे चित्त में उदित नहीं हुई, हाय ! हाय !! इस गोष्ठ में उस घन-श्यामल पीताम्बर किसी व्यक्ति को अपने रमणरूप में वरण करने के लिये मेरा मन वृथा ही विदीर्ण हुआ जा रहा है। (त्रिभुवन में जब ऐसा कोई व्यक्ति ही नहीं है, उसके साथ रमण की अभिलाष पूर्ति की जब सम्भावना ही नहीं है, फिर व्यर्थ-आशा में ही मेरा मन विदीर्ण हुआ जा रहा है ॥३९॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—ललना-निष्ठ स्वरूप में श्रीकृष्णरति अपने-आप उद्बुद्ध होती है, रूप-गुणादि के श्रवण की अपेक्षा नहीं रखती। इससे सहज में जाना जा सकता है कि यहां 'ललना' शब्द से व्रजगोपीवृन्द ही अभिप्रेत हैं, श्रीरुक्मिणी आदि महिषीवृन्द नहीं। व्रजसुन्दरीवृन्द की कृष्णरति का एक असाधारण प्रभाव यही है कि श्रीकृष्ण-दर्शन, उनके रूप-गुणादि के श्रवण कभी प्राप्त न होने पर भी वह उद्बुद्ध हो उठती है और द्रुतगति से वर्द्धित होकर प्रगाढ़ता लाभ करती है। व्रजगोपियों की कृष्णरति का महिषीवृन्द की कृष्णरति की अपेक्षा यही अपूर्व वैशिष्टय है। चाहे दोनों की कृष्णरति अनादि-सिद्ध है। दोनों ही प्राकृत ब्रह्माण्ड में प्रकटलीला के व्यपदेश से जन्मलीला ग्रहण करती हैं, तथापि महिषीवृन्द की रति रहती है प्रच्छन्न अवस्था में, स्तम्भित रूप में। उनकी रतिको जगाने के लिये

अथ उभयनिष्ठम्—१८—तत्स्यादुभयनिष्ठं यत्स्वरूपं कृष्णसुभ्रुवोः ॥ ४० ॥

ततो यथा ललितमाधवे—(२।१२)

(२३) सहचरि हरिरेष ब्रह्मवेषं प्रपन्नः किमयमितरथा मे विद्रवत्यन्तरात्मा ।
शशधरमणिवेदी स्वेदधारां प्रसूते न किल कुमुदबन्धोः कौमुदीमन्तरेण ॥ ४१ ॥

या उसकी प्रच्छन्नता या स्तब्धता को दूर करने के लिये श्रीकृष्ण के रूप-गुणादि के श्रवण का प्रयोजन रहता है, जैसे समुद्र के जलको तरंगायित करने के लिये वायु का प्रयोजन होता है। किन्तु ब्रजसुन्दरियों की कृष्ण-रति को उद्‌बुद्ध करने का प्रयोजन नहीं रहता। प्रकटलीला में जन्म से ही कृष्णरति उनमें अनावृत एवं अस्तम्भित अवस्था में विराजित रहती है। व्रजसुन्दरियों का प्रेमसमुद्र अपने आप तरंगायित हो उठता है—यह उनके प्रेम का एक अद्‌भुत स्वरूपगत स्वभाव है। श्रीकृष्णदर्शन के विना श्री कृष्ण रूप-गुणादि के श्रवण विना ही स्वतः उनमें कृष्णरति प्रकाशित होतो है। श्रीकृष्णविषय को छोड़कर उनमें किसी अन्यके प्रति रति स्फुरित ही नहीं होती। अतः व्रजसुन्दरियों के इस स्वरूपगत स्वभाव को 'ललना-निष्ठ स्वरूप' कहा गया है।

अनुवाद—(उभयनिष्ठ स्वरूप) श्रीकृष्ण तथा ललना (व्रजगोपियों)—इन दोनों में एकसाथ नित्य अवस्थित जो वस्तुविशेष रति को उद्‌बुद्ध करती है, उसे 'उभयनिष्ठ-स्वरूप' कहते हैं ॥४०॥ श्रीललितमाधव (२।१२) में, यथा—अपनी वधू श्रीराधा को सूर्यपूजा करानें के लिये एक ब्राह्मण का प्रबन्ध करने का आग्रह जटिला ने कुन्दलता से किया। कुन्दलता श्रीकृष्ण को ही ब्राह्मण वेश में सजाकर सूर्यपूजा स्थल पर ले आयी। उसको देखते हीं श्रीराधा जी का चित्त क्षुब्ध हो उठा और वह ललिता जी से बोलीं—हे सहचरि ब्राह्मणवेश में जो यह आये हैं, वे स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं, यदि ऐसा न हो तो मेरा अन्तरात्मा द्रवीभूत क्यों हो रहा है ? कुमुदवन्धु चन्द्रकी चान्दनी के विना चन्द्रकान्तमणि निर्मित वेदी से स्वेदधारा नहीं निकल सकती ॥४१॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका— चन्द्र की किरण स्पर्श से चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत होती है, सूर्यादि की किरण स्पर्श से नहीं। अतः स्पष्ट है कि चन्द्र में ही कुछ ऐसी विशेषता है जो चन्द्रकान्त मणि को द्रवीभूत कर सकती है। यह विशेषता और किसी में न होने से यह चन्द्रनिष्ठ है। चन्द्रनिष्ठ यह विशेषता चन्द्रकान्त मणि को छोड़कर और किसी मणि या पत्थर को द्रवीभूत नहीं कर सकती। इससे यह जाना जाता है कि चन्द्रकान्तमणि में भी ऐसी एक कुछ विशेषता है जो चन्द्र की किरणों का स्पर्श पाते ही उसे द्रवीभूत कर देती है, और किसी मणि या पत्थर में यह योग्यता नहीं है—यह विशेषता है चन्द्रकान्त मणिनिष्ठ ! चन्द्र तथा चन्द्रकान्तमणि में उनका अपना-अपना विशेषत्व एकसाथ विद्यमान है, जो दोनों के संयोग होने पर चन्द्रकान्तमणि की द्रवीभूतता घटित होती है। यह विशेषत्व है उभय-निष्ठ।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण जिस-किसी वेश में ही क्यों न रहें,उनके दर्शन से ही श्रीराधा जी की अन्तरात्मा द्रवीभूत हो जाती है, और दूसरे किसी के दर्शन से नहीं। अतः श्रीकृष्ण में कुछ ऐसा विशेषत्व है जो श्रीराधा के चित्त को द्रवीभूत कर सकता है। यह विशेषत्व और किसी में नहीं है।—यह विशेषत्व कृष्णनिष्ठ है। छद्मवेश में आये हुए श्रीकृष्ण को श्रीराधा जी पहचान सकतो हैं, और कोई साधारण व्यक्ति नहीं पहचान सकता। श्रीराधा-चित उन्हें देखकर द्रवीभूत होता है और किसी को देखकर नहीं। इसलिये समझा जाता है कि श्रीराधा जी में कोई ऐसा विशेषत्व है जो श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण के पहि-

१९—प्रोक्ता अत्राभियोगाद्या विलासाधिक्यहेतवे। रतिः स्वभावजैव स्यात्प्रायो गोकुलसुभ्रुवाम्॥ ४२॥
२०—साधारणी निगदिता समञ्जसासौ समर्था च। कुब्जादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च क्रमतः ४३॥
२१—मणिवच्चिन्तामणिवत्कौस्तुभमणिवत्त्रिधाभिमता। नातिसुलभेयमभितः सुदुर्लभा स्यादनन्यलभ्या च

तत्र साधारणी—
२२—नातिसान्द्रा हरेः प्रायः साक्षाद्दर्शनसंभवा। संभोगेच्छानिदानेयं रतिः साधारणी मता॥ ४५॥
यथा श्रीभागवते दशमे—(१०।४८।९)
(२४) सहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया। रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण॥ ४६॥

चानने की और चित्तद्रवीभूतता की योग्यता प्रदान करता है। यह विशेषत्व राधानिष्ठ है। श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा—इन दोनों में अपना-अपना विशेषत्व एक साथ विद्यमान है। इसलिये ही श्रीराधा की रति उद्बुद्ध होती है।—इस प्रकार इसे उभयनिष्ठ स्वरूप का उदाहरण माना गया है।

कृष्णनिष्ठ-स्वरूप सज्जनमात्र को रति दान करता है। ललनानिष्ठस्वरूप अदृष्ट-अश्रुत होकर भी कृष्णस्फूर्तिमय होने से व्रजगोपियों को रति प्रदान करता है और कृष्णदर्शन मात्र से अतिशय चित्त-द्रवता और क्षोभ उन्हें प्रदान करता है उभयनिष्ठ-स्वरूप—श्रीचक्रवर्ती पाद का मन्तव्य है कि व्रजगोपी-वृन्द में एकमात्र ललनानिष्ठ स्वरूप ही विराजित है, जो पूर्वकथित निसर्ग से उत्कृष्ट है। उनके पक्ष में कृष्णनिष्ठ स्वरूप और उभयनिष्ठ स्वरूप उद्दीपनत्व में ही पर्यवसित होते हैं।

अनुवाद—(उपसंहार) रति-आविर्भाव के कारणों का वर्णन के बाद श्रीग्रन्थकार कहते हैं—विलास या रति के उच्छ्वास की अधिकता के लिये अभियोगादिक का वर्णन किया गया है। किन्तु व्रज-सुन्दरी वृन्दकी श्रीकृष्ण में प्रायः ही स्वभावसिद्धा रति है। नित्यसिद्धा व्रजसुन्दरियों की कृष्णरति अना-दिसिद्ध है, इसलिये उस रति का उत्पादक कोई भी कारण नहीं हो सकता।।४२।।

अनुवाद—(त्रिविधा कान्ता-रति)यह तीन प्रकारकी है–साधारणी,समञ्जसा एवं समर्था। कुब्जा-दि में साधारणी-रति है, श्रीरुक्मिणो आदि महिषीगण में समञ्जसा-रति है और गोकुलसुन्दरियों में समर्था-रति है।।४३।। ये तीनों यथाक्रम मणितुल्य, चिन्तामणितुल्य और कौस्तुभ-मणि तुल्य हैं। यथाक्रम—(साधारण) अति सुलभा नहीं, (समञ्जसा) सुदुर्लभा है और (समर्था) अनन्यलभ्या है, अर्थात् जैसे मणि अति सुलभ नहीं है, उसी प्रकार साधारणी रति भी कुब्जादि को छोड़कर दूसरे के पक्ष में अति सुलभ नहीं है। चिन्तामणि जैसे सर्वत्र सुदुर्लभ है, वैसे समञ्जसा-रति भी महिषीवृन्द को छोड़कर अन्यत्र सुदुर्लभ है तथा कौस्तुभमणि जैसे श्रीकृष्णके सिवा अन्यत्र दुर्लभ है, वैसे समर्थारति व्रज-सुन्दरियों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी लभ्य नहीं है। मणि से चिन्तमति का और चिन्तामणि जैसे कौस्तुभ का उत्कर्ष है, वैसे साधारणी से समञ्जसा का, समञ्जसा से समर्था का उत्कर्ष है।।४४।।

अनुवाद—(साधारणी-रति) जो रति अतिशय गाढ़ नहीं होती, प्रायः श्रीकृष्ण के साक्षात्-दर्शनसे ही जिसका उद्भव होता है एवं जिसका निदान या मूलकारण होता है सम्भोग-इच्छा, उसे 'साधारणी-रति' कहते हैं।।४५।। श्रीभागवत (१०।४८।९) में, यथा—कुब्जा ने कहा—हे प्रियतम! आप कुछ दिन यहीं रहकर मेरे साथ रमण कीजिये! क्योंकि हे कमलनयन! मुझसे आपका संग नहीं छोड़ा जा सकता। (चाहे कृष्णेन्द्रिय-सुखेच्छा का नाम ही रति है, फिर भी कुब्जा की निजेन्द्रिय-सुखेच्छा में श्रीकृष्णदर्शन

२३—असान्द्रत्वाद्रतेरस्याः संभोगेच्छा विभिद्यते। एतस्या ह्रासतो ह्रासस्तद्धेतुत्वाद्रतेरपि॥ ४७॥

अथ समञ्जसा—

२४—पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादिश्रवणादिजा। क्वचिद्भेदितसंभोगतृष्णा सान्द्रा समञ्जसा॥ ४८॥

यथा तत्रैव—(श्रीभा० १०।५२।३८)—

(२५) का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूपविद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम्।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या काले नृसिंह नरलोकमनोभिरामम्॥ ४९॥

के साथ-साथ उन्हें भी किञ्चित् सुख देने की इच्छा मिश्रित है—इसलिये इसे रति किन्तु साधारणी और गाढ़ता-रहित माना गया है) ।।४६।।

अनुवाद—साधारणी रति में गाढ़ता का अभाव है, इसलिये इस रति से सम्भोग-इच्छा पृथक्‌रूप से दीखती है। सम्भोगेच्छा के मिटने पर इस रतिका भी ह्रास हो जाता है। क्योंकि इस रति में सम्भोगेच्छा ही श्रीकृष्ण में रति के उदय होने का कारण है ।।४७।।

रूपकृपातरंगिणी-टीका—यह कुब्जा—सैरिन्ध्री कौन थी, जिसने श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्राप्त किया ?—हरिवंश पुराण में उल्लेख मिलता है कि पूर्वजन्म में यह एक राज कन्या थी। श्रीनारद जी के मुख से श्रीकृष्ण के रूपगुण माधुर्य को सुनकर इसका श्रीकृष्ण में अनुराग उत्पन्न हो आया। श्रीनारद जी द्वारा कृष्ण-प्राप्ति की असंभावना बताने पर उस राजकन्या ने कोटि-कोटि जन्म पाकर भी श्रीकृष्ण को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा प्रकटकी। तब श्रीनारद जी के उपदेशानुसार इसने साधना-तपस्या की। एकदिन देववाणी ने कहा तुम अगले जन्म में कुब्जा होवोगी और मेरे स्पर्श के सौभाग्य से मुझे तुम पति रूप में प्राप्त करोगी। वही राजकन्या कंस के एक वैश्य मंत्री के घर कुब्जा होकर उत्पन्न हुई। वह कंस की चन्दन गन्ध सेवा करती रहती थी। मथुरा जाने पर श्रीकृष्ण को चन्दन लगाने के मिससे उसने उनका स्पर्श प्राप्त किया और उनके साथ रमण-सौभाग्य भी प्राप्त किया।

यह ध्यातव्य है कि यह कुब्जा प्राकृत नारी न थी क्योंकि पंचभौतिक शरीर से सच्चिदानन्द भगवान् श्रीकृष्ण का संग नितान्त असगत, असम्भव है। श्रीचक्रवर्तीपाद ने (श्रीभा० १०।७२।२ श्लोक की टीका में) लिखा है कि कुब्जा श्रीभगवान् की स्वरूपभूता भूशक्ति सत्यभामा की अंशिनी थी। इसकी ही विभूति है यह समस्त पृथ्वी।—इस प्रकार समस्त वैष्णवाचार्यों ने अपनी टीकाओं में इसे भगवत-चित्-शक्ति का अंश माना है। अतएव प्राकृत-शरीरधारी साधक नारियों में श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्राप्ति की धारणा एक अपसिद्धान्त है एवं नितान्त असम्भव भी।

अनुवाद—(समञ्जसा-रति) जो रति श्रीकृष्ण के रूपगुणादि के श्रवण करने से उत्पन्न हो, जिस में पत्नीत्व की अभिमान-बुद्धि पैदा हो, एवं जिसमें कभी-कभी सम्भोग-इच्छा भी जाग्रत हो, उस गाढ़ रति को 'समञ्जसा-रति' कहते हैं ।।४८।। श्रीभागवत (१०।५२।३८) में यथा—श्रीरुक्मिणी जी ने श्रीकृष्ण को पत्र में लिखकर भेजा—हे मुकुन्द ! हे नरश्रेष्ठ ! कुल, शील, रूप, विद्या, वयस, धन तथा प्रभाव में आप अतुलनीय हैं। आप समस्त लोकों के मनोभिराम हैं। अतः सौशील्यादि गुणों में उदार तथा बुद्धिमति कौन सी कुलवती कन्या है जो अपने विवाह के समय आपको वरण करने की इच्छा न करेगी ? ।।४९।।

२५—समञ्जसातः संभोगस्पृहाया भिन्नता यदा । तदा तदुत्थितैर्भावैर्वश्यता दुष्करा हरेः ।। ५० ।।

तथाहि तत्रैव—(श्रीभा० १०।६१।४)—

(२६) स्मायावलोकलवदर्शितभावहारिभ्रू मण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः ।। ५१ ।।

अथ समर्था—२६—

कंचिद्विशेषमायान्त्या संभोगेच्छा ययाभितः । रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति भण्यते ।। ५२ ।।

२७—स्वस्वरूपात्तदीयाद्वा जातो यत्किंचिदन्वयात् । समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता ।। ५३ ।।

यथा—(२७)

प्रेक्ष्याशेषे जगति मधुरां स्वां वधूं शङ्कया ते तस्याः पार्श्वे गुरुभिरभितस्त्वत्प्रसङ्गो न्यवारि ।
श्रुत्वा दूरे तदपि भवतः सा तुलाकोटिनादं हा कृष्णेत्यश्रुतचरमपि व्याहरन्त्युन्मदासीत् ।। ५४ ।।

रूपकृपातरंगिणी-टीका—समञ्जसा-रति श्रीकृष्ण के रूपगुणादि के श्रवण से उद्‌बुद्ध होती है। महिषीवृन्द की पत्नि रूप में सम्भोगेच्छा कृष्णरति के साथ तादात्मता प्राप्त होकर रहती है। उसमें भी कृष्णसुख की तृष्णा प्रधान रूप से रहती है। महिषियों की सम्भोगेच्छा में कृष्ण सुखेच्छा-तृष्णा का सामञ्जस्य रहने से इसे समञ्जसा-रति कहते हैं। यह रति सान्द्रा अर्थात् गाढ़ है। इसमें कृष्णसुख-वासना को छोड़कर अन्यवासना प्रवेश नहीं कर सकती। यह रति अनुराग-स्तर तक वर्द्धित होती है।

अनुवाद—जब सम्भोगेच्छा समञ्जसा-रति से पृथक् रूप में प्रतीत होती है, तब यह रति सम्भोगेच्छा से उत्थित हाव-भावादि द्वारा श्रीकृष्णको वशीभूत नहीं कर सकती ।।५०।। श्रीभागवत (१०।६१।४) में यथा—श्रीशुकदेवजी ने कहा—हे परीक्षित् ! सोलह हजार महिषीवृन्द गूढ़ हास्ययुक्त कटाक्षों के द्वारा चंचल दृष्टि द्वारा ज्ञापित एवं स्वाभिप्राय सूचक भ्रुकुटि भंगियोंके द्वारा प्रकाशित होने वाले सुरत-विषयक रहस्यमय सुनिपुण अनङ्गवाणोंके द्वारा तथा कामशास्त्र-प्रसिद्ध कान्तवशीकरणके उपाय स्वरूप हाव-भावादि के द्वारा भी श्रीकृष्ण के मन-आदि इन्द्रियों को किञ्चित् भी मथित करने में समर्थ न हो सकीं ।।५१।।

अनुवाद—(समर्था-रति) साधारणी एवं समञ्जसा रतियोंसे भिन्न कुछ विशेष प्रकार की सम्भोगेच्छा जिस रति के साथ तादात्मता-प्राप्त होती है, उसे 'समर्थारति' कहते हैं ।।५२।। स्वरूप (ललना-सम्बन्धी स्वरूप) से, किंवा कृष्णसम्बधी शब्दादि के यत्किञ्चित् सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली यह समर्था-रति कुलधर्म-वेद धर्मादि समस्त को भुला देती है। उनकी गन्ध मात्र भी इसमें प्रवेश नहीं कर पाती। यह रति सान्द्रतम है ।।५३।। यथा—वृन्दा देवी ने श्रीकृष्ण के पास आकर एक व्रजवाला के आचरण को बतलाते हुए कहा—हे कृष्ण ! गुरुवर्ग ने उस अपनी वधू को निखिल व्रजमण्डल में परम सुन्दरी माना है। तुम्हारे रमणी-मनोहारी गुण से शंकित होकर उसके लिये सर्व प्रकार से तुम्हारे प्रसङ्ग सुनने पर्यन्त रोक लगा रखी है। तथापि दूर से तुम्हारी अश्रुतपूर्व नूपुरों की ध्वनि सुनने मात्र ही वह वधू 'हा कृष्ण' 'हा कृष्ण' बोलते हुए उन्मत्त हो उठी है ।।५४।।

अनुवाद—(रति के साथ सर्वतोभाव से तादात्मता प्राप्त होने के कारण) यह समर्था-रति सम्भोगेच्छा विशेष से कभी भी पृथक् नहीं होती पृथक्‌भाव से उसकी प्रतीति भी गोचर नहीं होती। इसलिये यह समर्थारति सर्वापेक्षा अद्‌भुत है। श्रीकृष्ण वशीकारिणी होने के कारण-आश्चर्यमय लीला वैचित्री के

२८—सर्वाद्भुतविलासोर्मिचमत्कारकरश्रियः। संभोगेच्छाविशेषोऽस्या रतेर्जातु न भिद्यते।
इत्यस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः॥ ५५॥

२९—पूर्वस्यां स्वसुखायापि कदाचित्तत्र संभवेत्॥ ५६॥

३०—इयमेव रतिः प्रौढा महाभवदशां व्रजेत्। या मृग्या स्याद्विमुक्तानां भक्तानां च वरीयसाम्॥ ५७॥

यथा श्रीदशमे श्रीमदुद्धवोक्तौ—(१०।४७।५८)—

(२८) एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ?॥ ५८॥

३१—स्याद्दृढेयं रतिः प्रेमा प्रोद्यन्स्नेहः क्रमादयम्। स्यान्मानः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि॥५९॥

३२—बीजमिक्षुः स च रसः स गुडः खण्ड एव सः। स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात्सितोपला ६०॥

३३—अतः प्रेमविलासाः स्युर्भावाः स्नेहादयस्तु षट्। प्रायो व्यवह्रियन्तेऽमी प्रेमशब्देन सूरिभिः॥ ६१॥

३४—यस्या यादृशजातीयः कृष्णे प्रेमाभ्युदञ्चति। तस्यां तादृशजातीयः स कृष्णस्याप्युदीयते॥ ६२॥

द्वारा चमत्कार कारिणी शोभा सम्पत्ति से समृद्ध है। इसलिये इस समर्था-रति में काय-मन-वचन से जो कुछ भी आचरण होता है, वह समस्त एकमात्र श्रीकृष्णसुख के लिये ही अनुष्ठित होता है। इसमें स्व-सुखवासना का गन्धलेश भी नहीं है॥५५॥ समञ्जसा-रति में पत्नि अभिमान रहने के कारण कभी-कभी स्वसुख के लिये सम्भोग-उद्यम दीखता है। (किन्तु समर्था रति में वह कहीं नहीं है)॥५६॥

अनुवाद—यह समर्था-रति प्रौढ़ा अर्थात् वर्द्धित होकर महाभाव-दशा को प्राप्त करती है। इसलिये विमुक्तगण तथा प्रधान-प्रधान भक्तगण भी इस समर्था-रति को ढूण्ढते रहते हैं, किन्तु उन्हें प्राप्त नहीं होती है॥५७॥ जैसाकि श्रीमद्भागवत (१०।४७।५८) में श्रीउद्धव जी ने ब्रज से लौटते समय निश्चय किया कि इस धरणीतल पर इन ब्रजगोपियोंका ही सब प्रकारसे जन्म सफल है,क्योंकिये सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य महाभाव को प्राप्त हैं। यह अवस्था संसार से भयभीत मुमुक्षुजनोंके लिये ही नहीं, बड़े-बड़े मुनियों—मुक्तपुरुषों तथा हम भक्तजनों के लिये भी अभी वांछनीय है, हमें उसकी प्राप्ति नहीं हो सकी है। यदि श्रीकृष्ण की लीला-कथा का रस नहीं मिला, तो अनेक कल्पों तक बार-बार ब्रह्मा हो जाने से क्या लाभ ?॥५८॥

अनुवाद—श्रीकृष्णरति दृढ़ अर्थात् अप्रतिहत हो जाने पर 'प्रेम' नाम धारण करती है। प्रेम वर्द्धित होकर क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग एवं भाव में परिणत होता है॥५९॥ जैसे बीज से इक्षुदण्ड (गन्ना) पैदा होता है। उससे फिर रस, गुड़, गुड़से खण्ड,फिर शक्कर फिर मिश्री तथा फिर कूजा मिश्री उत्तरोत्तर श्रेष्ठ रूप में परिणत होते हैं, उसी प्रकार रति प्रेम और फिर स्नेहादि उत्तरोत्तर स्तरों में वर्द्धित होकर भाव में परिणत होती है॥६०॥ रस से लेकर कूजा-मिश्री पर्यन्त जैसे सब विशिष्टता इक्षु की ही परिणति है, उसी प्रकार प्रेम ही का विलास उक्त छय विशिष्ट स्तरों को प्राप्त करता है, इसलिये प्रायः शास्त्रविद् व्यक्ति सब स्तरों को प्रेम नाम से पुकारते हैं॥६१॥

अनुवाद—श्रीकृष्णारतिमति विभिन्न प्रेयसीगण हैं। समर्थारतिमति जिस नायिका में श्रीकृष्ण के प्रति जिस जातीय का प्रेम उदित होता है, श्रीकृष्ण का भी उस नायिका के प्रति उसी जाति का प्रेम उदित होता है॥६२॥

तत्र प्रेमा—३५—
सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे। यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः ।। ६३ ।।
यथा—(२९)
शपे तुभ्यं धर्मस्थितिमनुसरन्त्या सखि मया विशुद्धामुग्राभिर्मुहुरपि निरस्तो भणितिभिः ।
स मुग्धे श्यामात्मा त्यजति न हि मे वत्म बत मां जगारापद्घोरा विरचयतु शान्तिं गृहपतिः ।। ६४ ।।
यथा वा—(३०)
राधायाः सखि सद्गुणैरनुदिनं रूपानुरागादिभिः सान्द्रां लब्धवतोरपि व्यसनितां व्याक्षिप्तकान्तान्तरैः ।
प्राप क्वापि परस्परोपरि ययोर्न म्लानतां यस्तयोस्तं चन्द्रावलिचन्द्रकाभरणयोः को वेत्ति भावक्रमम् ? ।।६५
३६—स त्रिधा कथ्यते प्रौढमध्यमन्दप्रभेदतः ।। ६६ ।।
तत्र प्रौढः—
३७—विलम्बादिभिरज्ञातचित्तवृत्तौ प्रिये जने । इतरः क्लेशकारी यः स प्रेमा प्रौढ उच्यते ।। ६७ ।।

अनुवाद—प्रेमा, अर्थात् श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्णकान्ता व्रजसुन्दरियों के बीच जो प्रेम है उसका लक्षण इस प्रकार है—ध्वंस या नष्ट हो जाने के कारण के विद्यमान रहते हुए भी जो ध्वंस नहीं होता युवक तथा युवतीके बीच ऐसा जो भाव-बन्धन है,उसे 'प्रेमा'कहते हैं ।।६३।। यथा—श्रीकृष्णके प्रति गाढ़-प्रेम प्राप्ता एक व्रजसुन्दरी अपनी एक सखी के प्रति कहती है—हे सखि ! मैं तुम्हारे आगे शपथ खाकर कहती हूँ कि कुलवधुओं के लिये उचित विशुद्ध धर्ममर्यादा का पालन करने केलिये मैं अति कठोर वचनों से वार-वार उस श्रीकृष्ण को निषेध करती हूँ, किन्तु वह प्रसिद्ध श्यामाङ्ग (मलिनचित्त) मेरा पथ किसी भी प्रकार नहीं छोड़ता है। मूढ़े ! हाय ! मुझे महा विपद ने ग्रस रखा है, इस पर भी यदि मेरा पति मुझे दण्डित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करने को तैयार हूँ (दण्डरूप प्रेम का ध्वंस-कारण विद्यमान है परन्तु वह व्रजसुन्दरी कृष्णप्रेम त्याग नहीं कर पाती) ।।६४।। अथवा—वृन्दा ने एकदिन कुन्दलता के प्रति कहा—हे सखि ! श्रीकृष्ण श्रीराधा के सामने अन्यान्य कान्ताओं को तुच्छ जानते हैं और चन्द्रावली भी श्रीकृष्ण की हृदयासक्ति को अन्यत्र जानती ही है कि वे श्रीराधा के रूप एवं अनुरागादि गुणोंमें गाढ़ आसक्त हैं। चन्द्रावली इस बातसे महादुखित है, किन्तु चन्द्रावली एवं चन्द्रिकाभरण—मोर-पुच्छधारी श्रीकृष्ण की जो परस्पर प्रेम परिपाटी है वह कभी भी कहीं ध्वंस नहीं होती—कम नहीं होती अतः उनकी प्रेम-परिपाटी कौन जान सकता है ? ।।६५।।

अनुवाद—उस प्रेमा के, अर्थात् श्रीकृष्ण के प्रेयसि-विषयक प्रेम तथा प्रेयसियों के श्रीकृष्ण विषयक प्रेम के (दोनों के) प्रेम के तीन भेद हैं—प्रौढ़, मध्यम तथा मन्द ।।६६।।

अनुवाद—प्रौढ़ (नायक श्रीकृष्ण का प्रौढ़ प्रेम)—विलम्ब होने पर अथवा कदाचित् उसके निकट उपस्थित न होने पर नायिका रूप प्रियजन की चित्तवृत्ति न जानने पर नायक के लिये कष्टकारी होता है, उसे (नायक का) 'प्रौढ़' प्रेम कहते हैं ।।६७।। यथा—एक दिन कमला नाम्नी किसी गोपी को श्रीकृष्ण ने सन्ध्या बाद उसकी कुञ्ज में आकर मिलित होने का वचन दिया। किन्तु बाद में श्रीकृष्ण को समाचार मिला कि एक दानव व्रज में आक्रमण करने आ रहा है। तब उन्होंने पहले दानव का संहार करने का विचार किया और अपने नर्मसखा मधुमंगल को कमला की कुञ्ज में भेज दिया कि वह जाकर उसे सूचित कर दे कि श्रीकृष्ण को आने में विलम्ब होगा, वह चिन्ता न करे। श्रीकृष्ण ने कहा—हे सखे ! निकुञ्ज में जाकर मेरे विलम्ब से दुखी हो रही कमला को कहो कि हे कमले ! आने में विलम्ब देखकर

यथा—(३१)

गत्वा ब्रूहि निकुञ्जसद्मनि सखे खिन्नां मम प्रेयसीं मा कालात्ययमाकलय्य कमले मय्यप्रतीतिं कृथाः।
दुष्टं दानवमत्र गोकुलशिरः शूलं चिकित्सन्नहं द्रागेष प्रणयेन पल्लवमयीं लब्धोऽस्मि शय्यां तव ॥ ६८ ॥

अथ मध्यः—३८—इतरानुभवापेक्षां सहते यः स मध्यमः ॥ ६९ ॥

यथा—(३२)—

सर्वारम्भमनोहरां सपदि मे चन्द्रावलीं विन्दतो रङ्गः शारदशर्वरीसमुचितः पर्याप्तिमेवाययौ।
तां कन्दर्पचमूचमत्कृतिकरक्रीडोर्मिकिर्मीरितां राधां हन्त तथापि चित्तमधुना साक्षान्ममापेक्षते ॥ ७० ॥

अथ मन्दः—

३९—सदा परिचितत्वादेः करोत्यात्यन्तिकात्तु यः। नैवोपेक्षां न चापेक्षां स प्रेमा मन्द उच्यते ॥ ७१ ॥

यथा—(३३)—

अनुनीय रूढमानामानय भामां सखीमशोकलताम्। भवति प्रेमवतीनां मनागुपेक्षापि दोषाय ॥ ७२ ॥

अथवा—४०—प्रौढः प्रेमा स यत्र स्याद्विश्लेषस्यासहिष्णुता ॥ ७३ ॥

मेरे प्रति अविश्वास पोषण मत करना। अभी एक दानव आ रहा है, वह गोकुल के लिये सिर दर्द है। उस सिर दर्द की चिकित्सा करके अर्थात् उस दानव का संहार करके मैं शीघ्र ही तुम्हारे द्वारा रचित पल्लवमयी शय्या को अंगीकार करूंगा। (श्रीकृष्ण अपने विलम्ब जनित कमला के दुख में दुख का अनुभव कर रहे हैं, इसलिये मधुमंगल को भेज रहे हैं, इससे कमला के प्रति श्रीकृष्ण का प्रौढ़ प्रेम सूचित हो रहा है) ॥६८॥

अनुवाद—(मध्यम) जो प्रेम दूसरी कान्ता के अनुभव को सहन करता है, उसे 'मध्यम-प्रेम' कहते हैं ॥६९॥ यथा—एक दिन चन्द्रावली के साथ श्रीकृष्ण विलास कर रहे थे, और मन ही मन सोच रहे थे कि हर प्रकार से मनोहारिणी चन्द्रावली को अब प्राप्त कर शारदीय रात्रि के अनुकूल क्रीड़ा प्राप्त हो गयी है, तथापि, जिसकी क्रीड़ा लहरी कन्दर्प-सेना समूह को भी चमत्कृत कर देती है, अहो! साक्षात् उस श्रीराधा के लिये अब मेरा चित्त चञ्चल हो रहा है—उसकी अपेक्षा कर रहा है ॥७०॥

अनुवाद—(मन्द) सर्वदा आत्यन्तिक भाव से परिचिता होने पर भी तथा सर्वदा निकटवर्तिनी होकर भी नायिका की जो प्रेम उपेक्षा भी नहीं करता और अपेक्षा भी नहीं रखता उसे 'मन्द-प्रेम' कहते हैं। (इस प्रकार का मन्द प्रेम किसी भी व्रजगोपी के प्रति श्रीकृष्ण का नहीं है। अतः उदाहरण में किसी द्वारका-प्रेयसी को ला रहे हैं) ॥७१॥ यथा—अशोकलता नाम की एक नारी सत्यभामा की सखी थी। वह मानवती हो उठी। किसी पुरोहित-पत्नि ने जाकर श्रीकृष्ण से कहा—हे कृष्ण! सत्यभामा की सखी अशोकलता अत्यन्त मानिनी हो रही है। अनुनय करके उसे तुम ले आओ। क्योंकि प्रेमवती नारियों के प्रति थोड़ी भी उपेक्षा-प्रदर्शन करना दोष कहलाता है। (श्रीकृष्ण पुरोहित के कहने पर उसे मना लाये, उपेक्षा भी नहीं की, किन्तु अपेक्षा भी उन्हें न थी—अतः मन्दप्रेम है यहां) ॥७२॥

अनुवाद—(प्रौढ़-प्रेम जो कृष्णप्रेयसीवृन्द श्रीकृष्णके प्रति-पोषण करती हैं)—जिस प्रेम में विच्छेद या वियोग की असहिष्णुता पैदा होती है, उसे 'प्रौढ़-प्रेम' कहते हैं ॥७३॥ जैसा कि श्रीउद्धवसन्देश (५०) में कहा गया है—ललिता जी ने अपराधी-श्रीकृष्णके प्रति मान करने का श्रीराधा जी को उपदेश दिया। तब श्रीराधा जी ने उसे कहा—हे ललिते! श्रीकृष्णके प्रति मान करनेके लिये तुम बार-बार मुझे उपदेश देती रहती हो, अब तुम एक काम करो—श्रीकृष्ण का एक मनोहर चित्रपट तैयार करके मुझे दो। उसे

यथोद्धवसंदेशे—(५०)

(३४) निर्माय त्वं वितर फलकं हारि कंसारिमूर्त्या वारं वारं दिशसि यदि मां माननिर्वाहणाय।
यत्पश्यती भवनकुहरे रुद्धकर्णान्तराहं साहंकारा प्रियसखि सुखं यापयिष्ये मुहूर्तम् ॥ ७४॥
४१—कृच्छ्रात्सहिष्णुता यत्र स तु मध्यम उच्यते ॥ ७५॥

यथा—(३५)

अवितथमसौ किं द्राघीयान् गमिष्यति वासरः सुमुखि स निशारम्भः किं वा समेष्यति मङ्गलः।
स्मितमुखशशी गोधूलीभिः करम्बितकुन्तलः क्षपयति दृशामार्ति यत्र व्रजेश्वरनन्दनः॥ ७६॥
४२—स मन्दः कथितो यत्र भवेत्कुत्रापि विस्मृतिः॥ ७७॥

यथा—(३६)

प्रतिपक्षजनेर्षया न मे स्मृतिरासीद्वनमाल्यगुम्फने। सखि किं करवै गवां पुरो घनहम्बाध्वनिरेष जृम्भते॥

पाकर घरके भीतर कान बन्द करके तुम्हारी प्रसन्नता के लिये मुहूर्तकाल मैं ऐसा गर्व करके बैठ जाती हूँ कि मैं महामानिनी हो रही हूँ—उस चित्रपट का दर्शन करके ही मैं परम सुख प्राप्त करती रहूँगी। (घर के भीतर बैठे रहने से श्रीकृष्ण अन्दर न जा पायेंगे, और कान बन्द कर देने से उनकी वशीध्वनि भी मैं न सुन पाऊंगी—तभी मान की रक्षा कर सकती हूँ, वरना उनके सामने आने पर अथवा उनकी वंशीध्वनि सुनने पर मेरे लिये मानिनी होना दुष्कर है) ॥७४॥

अनुवाद—(मध्यमप्रेम) जिस प्रेम में श्रीकृष्ण का विच्छेद अति कष्ट पूर्वक सहन होता है, वह 'मध्यम-प्रेम' है ॥७५॥ यथा—श्रीकृष्ण गोचारण के लिये वन को चले गये थे। उनके विरह में दुखित होकर एक यूथेश्वरी ने अपनी सखी से पूछा—हे सुमुखि ! यह सत्य है कि इस अति दीर्घ दिन काल का अवसान हो जायेगा ! मंगलस्वरूप प्रदोष काल क्या फिर आवेगा ? जिस प्रदोष काल में मन्द मुसकान पूर्ण मुखचन्द्र युक्त श्रीव्रजेन्द्रनन्दन गोधूलि-मण्डित अलकावली से सबकी नयन-आर्त्ति को दूर करते हैं। (यहां विच्छेद को कष्ट पूर्वक सहन कर रही है व्रजगोपी) ॥७६॥

अनुवाद—(मन्द-प्रेम) जिस प्रेम में किसी समय या कहीं श्रीकृष्ण की या श्रीकृष्ण सम्बन्धी किसी वस्तु की विस्मृति हो जाती है, वह 'मन्द-प्रेम' कहलाता है ॥७७॥ यथा—किसी एक व्रजगोपी का नियम था कि वह वनसे लौट आने पर श्रीकृष्णके कण्ठमें पहनने की वनमाला बनवाया करती थी। एकदिन वह विपक्षिणी यूथेश्वरी की चर्चा करते-करते ईर्ष्या वश वनमाला गून्थना भूल गयी। इतने में श्रीकृष्ण के गोष्ठ में आने से गौओं का हम्बारव सुनायी पड़ने लगा, तब वह दुखित होकर अपनी सखि से बोली—हे सखि ! प्रतिपक्षि यूथेश्वरी की ईर्ष्यावश वातों में लगकर मैं तो वनमाला गूंथना ही भूल गयी। अब मैं क्या करूं देख सामने गौओं का हम्बारव जोर-जोर से सुनायी दे रहा है ॥७८॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—(ध्यातव्य है कि कृष्ण सुख से वंचित होने के कारण विपक्षिनी गोपी की ईर्ष्या ने माला ग्रन्थन में विस्मृति पैदा कर दी है। किन्तु ऐसी अवस्था में भी व्रजगोपियों की श्रीकृष्ण में आसक्ति ध्वंस नहीं होती है। प्रेमरस वैचित्री सम्पादन हेतु लीलाशक्ति इस प्रकार का प्रेम-भंग पैदा करती है)

एक बात यहां और भी ध्यान देने योग्य है कि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में भगवत्-प्रीति के पहले दो स्तरों की अर्थात् रति और प्रेम स्तरों की ही विशेष आलोचना की गयी है, दूसरों का विशेष भाव से

अथ स्नेहः—४३—आरुह्य परमां काष्ठां प्रेमा चिद्दीपदीपनः। हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते।
अत्रोदिते भवेज्जातु न तृप्तिर्दर्शनादिषु॥ ७९॥

यथा क्रमदीपिकायाम्—(३७) तदतिमधुररूपकप्रशोभामृतरसपानविधानलालसाभ्याम्।
प्रणयसलिलपूरवाहिनीनामलसविलोलविलोचनाम्बुजाभ्याम्॥ ८०॥

यथा वा—(३८)
ज्योत्स्नाशीधुं हरिमुखविधोरप्यनल्पं पिबन्तौ नान्तस्तृप्तिं तव कथमपि प्राप्स्यतो दृक्चकोरौ।
आघूर्णन्तौ मदकलतया सुष्ठु मुग्धौ यदेतौ भूयो भूयस्तमिह वमतो बाष्पपूरच्छलेन॥ ८१॥

४४—अङ्गसङ्गे विलोके च श्रवणादौ च स क्रमात्। कनिष्ठो मध्यमः श्रेष्ठस्त्रिविधोऽयं मनोद्रवः॥८२॥

वर्णन नहीं किया गया है। कारण यह है कि वहां जो साधन-भक्तिकी बात कही गयी है, उसके अनुष्ठान से साधक के यथावस्थित शरीर में भगवत् प्रीति जिस स्तर तक आविर्भूत हो सकती है, उसी स्तर पर्यन्त ही विशेष आलोचना की गयी है। किन्तु श्रीउज्ज्वलनीलमणि में भगवत् प्रीति की प्रथम स्तर का वर्णन नहीं है। उसके द्वितीय स्तर प्रेम से आलोचना का आरम्भ किया गया है। क्योंकि उसमें श्रीकृष्ण के उन परिकरों को भगवत्-प्रीति का वर्णन किया गया है, जो साधन-सिद्ध परिकर हैं, वे भी प्रीति के दूसरे स्तर प्रेम को लेकर प्रकटलीला में जन्म ग्रहण करते हैं, अतः परिकर भक्तों की भगवत्-प्रीति के निम्नतम स्तर को भी 'प्रेम' कहा जा सकता है। अतः इस स्तर प्रेम से ही इस ग्रन्थ में आलोचना का आरम्भ हुआ है।

श्रीकृष्ण परिकरों में भी केवल यहां श्रीकृष्ण-प्रेयसीवृन्द की भगवत्-प्रीति की कथा आलोचित हुई है। ऐसा कोई भी श्रीकृष्ण-परिकर नहीं, जिसमें केवल प्रेम-(प्रीति का द्वितीय स्तर) मात्र रहता हो। उन्नततर अनेक स्तर भी परिकरों में रहते हैं। अन्यान्य स्तरों के साथ विद्यमान रहकर 'प्रेम' जिन लक्षणों को प्रकाशित करता है, यहां उनका ही वर्णन किया जा रहा है।

अनुवाद—(स्नेह)—प्रेम जब परमकाष्ठा प्राप्त करके अर्थात् गाढ़ता के कारण परमोत्कर्ष को प्राप्त करके जब चिद्दीप को उद्दीप्त करता है या प्रेम के विषय की उपलब्धि का प्रकाशक होता है, तथा चित्त को द्रवीभूत करता है, तब उसे स्नेह कहते हैं। इस स्नेह के उदित होने पर श्रीकृष्ण दर्शनादि से कभी तृप्ति नहीं होती ॥७९॥ यथा श्रीक्रमदीपिकामें कहा गया है–श्रीकृष्णसम्बन्धीय अति मधुर अमृतरस-मय रूप सुधा पान करने की जिन में लालसा विद्यमान है एवं प्रेमभार वहन करने के कारण श्रमवश जिनके चञ्चल नेत्रकमलों से प्रेमजलधारा प्रवाहित होती रहती है, उन सुललित गोपसुन्दरियों द्वारा निरन्तर सेवित श्रीमुकुन्द का (मैं स्मरण करता हूँ) ॥८०॥ अन्यत्र यथा—(श्रीराधा जी के स्नेह का उत्कर्ष) यथा—वृन्दा श्रीराधा जी को कह रही है—हे राधे! कृष्णमुखचन्द्र का ज्योत्स्नामृत पान करके भी तुम्हारे नयन-चकोरों की तृप्ति नहीं हो रही है। परन्तु उन्मत्तता के कारण अतिशय रूप से घूमते हुए मुग्ध होकर अश्रुमोचन के छल से ज्योत्स्ना सुधा का वमन कर रहे हैं ॥८१॥

अनुवाद—(स्नेह के प्रकार-भेद)—यह स्नेह (या मन की द्रवीभूतता) यदि नायक नायिका के परस्पर अंगसंग से उद्भूत हो, तो उसे 'कनिष्ठ' कहते हैं, एक दूसरे के देखने से आविर्भूत होने पर वह 'मध्यम'-स्नेह कहलाता है और यदि एक दूसरे के श्रवणादि से (नाम-रूप-गुण कथा सुनने से) उद्भूत होता है, तो उसे 'श्रेष्ठ-स्नेह' कहा जाता है ॥८२॥

तत्राङ्गसङ्गे यथा—(३९)
असि घनरसरूपस्त्वं पाली लावण्यसारमयमूर्तिः। माधव भवदाश्लेषे भविता नास्याः कथं द्रवता ॥ ८३ ॥
विलोके यथा—
(४०) अस्यास्त्वद्वदने सरोजसुहृदि व्यक्तिं पुरस्ताद्गते नाश्चर्यं द्रवतामविन्दत मनोहैयङ्गवीनं यदि।
किन्त्वाश्चर्यमिदं मुकुन्द मिलिते श्यामामुखेन्दौ भवच्चेतश्चन्द्रमणिर्द्रवन् जलतया भूयो बभूवाचलः ८४ ॥
श्रवणे यथा—(४१) श्रुतिपरिसरकक्षां याति नाम्नस्तवार्धे मुरदमनदृगम्भोधारया धौतगात्री।
मदनमदमधूलीमुग्धमेधासमृद्धिः स्खलति कुवलयाक्षी जृम्भते स्तम्भते च ॥ ८५ ॥
आदिशब्देन स्मरणे यथा—(४२) कृष्णवर्त्मनि कृताभिनिवेशा सांप्रतं त्वमसि कम्पितगात्री।
स्नेहपूरपरिपाकमयं ते किं करिष्यति मनो न विलीनम् ? ॥ ८६ ॥
४५—स घृतं मधु चेत्युक्तः स्नेहो द्वेधा स्वरूपतः ॥ ८७ ॥
तत्र घृतस्नेहः—४६—आत्यन्तिकादरमयः स्नेहो घृतमितीर्यते ॥ ८८ ॥

अनुवाद—(अङ्गसंगजात मनोद्रवता), यथा—क्रीड़ाकुंज में श्रीकृष्ण द्वारा आलिंगिता पाली के सात्त्विक विकार (स्वेदाश्रु) देखकर कुञ्ज से बाहर आने पर श्रीकृष्ण से उसकी सखी ने कहा—हे माधव ! तुम घनरसरूप हो (पक्षमें जलस्वरूप हो) और पाली लावण्य सारमयी मूर्ति है, (पक्ष में लवण-घटित मूर्ति है) इसलिये तुम्हारे आलिंगन करने पर पाली की द्रवता प्राप्त करना कोई विचित्र बात नहीं है। (नमक जल का संयोग पाकर द्रवीभूत हो जाता है) ॥८३॥

अनुवाद—(दर्शनजात मनोद्रवता) यथा—कुञ्जभवन में श्यामा एवं श्रीकृष्ण की—दोनों के परस्पर दर्शन से उदित चित्त-द्रवता को देखकर वृन्दा ने कहा—हे मुकुन्द ! तुम्हारे दर्शन करते ही इस श्यामा का मनरूप सद्योजात घृत जो पिघल जाता है, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि तुम्हारा वदन सरोजसुहृद् अर्थात् कमल बन्धु—सूर्य तुल्य है (पक्ष में कमलतुल्य है) किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि श्यामा के मुखचन्द्र के प्रकाशित होने पर तुम्हारी चित्तरूप चन्द्रकान्तमणि पहले तो द्रवित होकर जलत्व (जड़ता) को प्राप्त हो गयी और फिर अचल (स्तब्ध, पक्ष में पर्वतवत) हो गयी ॥८४॥

अनुवाद—(श्रवण जात मनोद्रवता) एक सखी ने जाकर श्रीकृष्ण को अपनी सखी की अवस्था का वर्णन सुनाया—हे मुरारि ! तुम्हारा आधा नाम कानों में प्रवेश करते ही मेरी प्रियसखी नेत्राश्रुधार से नहा गयी एवं मदनमद रूप मधुपान करते हुए विवेक-रहित होकर बुद्धि सम्पत्ति खो बैठी। कभी तो गिरने-पड़ने लगी, कभी जृम्भा लेने लगी और कभी जड़वत् होकर अवस्थान करने लगी ॥८५॥

अनुवाद—(आदि शब्द से स्मरण-जात मनोद्रवता) यथा—अचानक श्रीराधा जी के मुखमण्डल को अश्रुधारा से भीगा देखकर नान्दीमुखी ने कहा—हे कम्पितगात्रि ! अब तुम कृष्ण-वर्त्मनि अर्थात् अग्नि में अभिनिवेश कर रही हो (विरह में श्रीकृष्णागमन-पथ का चिन्तन-स्मरण कर रही हो, इसलिये तुम्हारा मन जो स्नेहातिशयता से परिपक्व है, क्यों न पिघल उठेगा ? क्योंकि जिस वस्तु में स्नेह (घी-तेलादि) रहते हैं अग्नि को पाकर वे पिघलने लगते हैं ॥८६॥

अनुवाद—(स्नेह के भेद) स्वरूपतः स्नेह दो प्रकार का है—घृतस्नेह और मधुस्नेह ॥८७॥

अनुवाद—(घृतस्नेह) —जो स्नेह अतिशय आदरमय हो, उसे 'घृतस्नेह' कहते हैं ॥८८॥
दूसरे भाव के साथ मिलित होकर घृतस्नेह स्वादुता प्राप्त करता है, किन्तु स्वयं स्वादु नहीं। यह स्नेह

४७—भावान्तराखिलो गच्छन् स्वादोद्रेकं न तु स्वयम् । घनीभवेन्निसर्गातिशीतलात्मिथ आदरात् ॥
गाढादरमयस्तेन स्नेहः स्याद्घृतवद्घृतम् ॥ ८९ ॥

यथा—(४३)
अभ्युत्थाय विदूरतो मधुभिदा याश्लिष्यते सादरं या स्नेहेन वशीकरोति गुरुणा पावित्र्यपूर्णेन तम् ।
क्षिप्रं याति सितोपलेव विलयं तत्केलिवृष्टया च या युक्ता हन्त कयोपमातुमपि सा चन्द्रावली मे सखी ॥
यथा वा—(४४) निजमघरिपुणांसे न्यस्तमाकृष्य सव्यं भुजमिह निदधाना दक्षमस्त्रोक्षिताक्षी ।
पदयुगमपि वङ्कं शङ्कया विक्षिपन्ती प्रतियुवतियस्यां स्मेरयामास गौरी ॥ ९१ ॥

एक-दूसरे के प्रति परस्पर की आदररूप स्वाभाविक शीतलता प्राप्त करने पर घनीभूत हो जाता है । यह घी की भांति गाढ़ आदरमय है । इसलिये इसे 'घृतस्नेह' कहा जाता है ॥८९॥

अनुवाद—(घृतस्नेह का दृष्टान्त) श्रीकृष्णप्रेयसी व्रजयुवतियों की सभा में उनके सौभाग्य पर विचार उठने पर श्रीराधा जी की सखी ललितादिक के प्रति कटाक्ष करते हुए चन्द्रावली की सखी पद्मा ने कहा—हे सखिवृन्द ! दूर से देखते ही मुरारि श्रीकृष्ण स्वयं खड़े होकर आदर सहित जिसको आलिंगन करते रहते हैं, जो पवित्रतापूर्ण है अर्थात् मदोञ्चत-दोषरहित है । अतिशय स्नेह द्वारा जिसने मधुसूदन को वशीभूत कर रखा है, एवं जो श्रीकृष्ण की केलिवृष्टि द्वारा ओले की भांति अति शीघ्र विलीन हो जाती है अर्थात् द्रवीभूत होकर चित्त-शरीर की एकभावता को प्राप्त हो जाती है, मेरी सखी उस चन्द्रावली के साथ किसकी उपमा तुलना हो सकती है ? ॥९०॥ दूसरा दृष्टान्त-रासमण्डल में कुछ समय एकत्र नृत्य करने के बाद श्रीकृष्ण चन्द्रावली को मण्डल के मध्य नृत्य के लिये ले गये । चन्द्रावली को देखकर वृन्दा ने नान्दीमुखी से कहा—देवि ! अघारि श्रीकृष्ण चन्द्रावली का बांयां हाथ अपने स्कन्ध पर स्थापन करना चाहते थे, किन्तु चन्द्रावली ने अपना हाथ खींच लिया और अपना दायां हाथ श्रीकृष्ण के कन्धे पर रख दिया, अर्थात् श्रीकृष्ण ने चन्द्रावली को अपनी दायीं ओर रखा था, चन्द्रावली श्रीकृष्ण की बायीं ओर चली गयी और अपना दायां हाथ श्रीकृष्ण के कन्धे पर रख दिया । अपने दोनों चरणों को पीछे से श्रीकृष्ण के अङ्ग-स्पर्श करने की शका से चन्द्रावली ने अपने दोनों चरणों को टेढ़ा कर दूसरी ओर घुमा दिया । चन्द्रावली ने अपने इस व्यवहार से अपनी प्रतियुवति (श्रीराधा जी) की सखियों को हंसी में डाल दिया अर्थात् मधुस्नेहवती श्रीराधा जी की सखियां यह देख कर हँस पड़ीं ॥९१॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—पूर्वोक्त श्लोक (९०) में जो चन्द्रावली को मदोञ्चत दोष रहित कहा गया है, वास्तव में मदोंचतादि मधुस्नेह के लक्षण हैं । अतः यह स्पष्ट होता है कि चन्द्रावली का घृत-स्नेह है, मधुस्नेह नहीं ! असूयावश पद्मा ने चन्द्रावली को मदोंचतादि रहित कहा, जिससे उसका घृत-स्नेह व्यक्त हो उठा । अन्यभावों का मिश्रण न होने से वह घृतस्नेह चोनी-नमक रहित घी की भांति विशेष स्वादिष्ट नहीं है । द्वितीय दृष्टान्त श्लोक (९१) में श्रीराधा जी के मधुस्नेह का परिचय प्राप्त होता है । घृतस्नेह मदीयतामय-भाव होता है और मधुस्नेह मदीयता-भावमय है । चन्द्रावली का तदीयताभाव है अर्थात् मैं श्रीकृष्ण की हूँ । श्रीराधा जी का भाव मदीयतामय है अर्थात् श्रीकृष्ण मेरे हैं । चन्द्रावली में श्रीकृष्ण के प्रति कुछ गौरवबुद्धि है। इसलिये उसने श्रीकृष्ण की दक्षिण ओर रहना स्वीकार नहीं किया और श्रीकृष्ण के अंगों में अपने चरण-स्पर्श से भी आशंकित हो उठी । घृतस्नेह में किंचित् मदीयतामय भाव रहता है किन्तु तदीयतामय भाव से आवृत होकर रहता है । इसलिये घृतस्नेह की प्रधानता नहीं है ।

४८—आदरो गौरवोत्थः स्यादित्यन्योन्याश्रितद्वयम् । रत्यादौ सदपि स्नेहे सुव्यक्तत्वादिहोच्यते ।। ९२ ।।
अथ मधुस्नेहः—४९—मदीयत्वातिशयभाक् प्रिये स्नेहो भवेन्मधु ।। ९३ ।।
५०—स्वयं प्रकटमाधुर्यो नानारससमाहृतिः । मत्ततोष्मधरः स्नेहो मधुसाम्यान्मधूच्यते ।। ९४ ।।

यथा—(४५)—
राधा स्नेहमयेन हन्त रचिता माधुर्यसारेण सा सौधीव प्रतिमा घनाप्युरुगुणैर्भावोष्मणा विद्रुता ।
यन्नामन्यपि धामनि श्रवणयोर्याति प्रसङ्गेन मे सान्द्रानन्दमयी भवत्यनुपमा सद्यो जगद्विस्मृतिः ।। ९५ ।।
अथ मानः—
५१—स्नेहस्तूत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यं मानयन्नवम् । यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते ।। ९६ ।।
यथा—(४६) स्रवदस्रभरे कृते दृशौ मे तव गोधूलिभिरेव गोपवीर ।
अधुना वदनानिलैः किमेभिर्विरमेति भ्रूकुटिं बभार सुभ्रूः ।। ९७ ।।

अनुवाद—चन्द्रावली में अत्यन्त आदर तथा गौरव-दोनों के वर्णन की आलोचना करते हैं कि गौरव के कारण ही आदर का उद्भव होता है, अतः आदर और गौरव एक दूसरे के आश्रित रहते हैं। रति एवं प्रेम में भी आदर एवं गौरव दोनों वर्तमान रहते हैं, किन्तु अति अस्पष्ट रूप में रहने से प्रतीत नहीं होते। यहां स्नेह की कक्षा में सुस्पष्ट रूप से प्रीतिगम्य होने से स्नेह में ही उसका उल्लेख किया गया है ।।९२।।

अनुवाद—(मधुस्नेह) प्रिय-विषय में अतिशय मदीयतामय स्नेह को 'मधुस्नेह' कहते हैं ।।९३।। मधुस्नेह का माधुर्य या स्वादुता अपने आप ही प्रकटित होती है। इसमें नानाविध रसों का समावेश है, यह आनन्द मत्तता पैदा करता है एवं गर्व धारण करता है। मधु के साथ साम्य होने से इसको 'मधुस्नेह' कहा जाता हैं ।।९४।। मधुस्नेह का उदाहरण यथा—सुबल को श्रीकृष्ण ने कहा—सखे ! स्नेहरूप माधुर्य-सार द्वारा रचित श्रीराधा लालित्यादि अनेक गुणों से सुधामयी प्रतिमा की भांति घनीभूत होकर भी प्रियगुणभावना या उष्मा द्वारा अर्थात् प्रियकी अनुकूलता के लिये उत्कण्ठारूप सन्ताप द्वारा वक्रता (वाम) हो जाती हैं। प्रसङ्ग क्रमसे श्रीराधा का नाम मेरे कानों में प्रवेश करने पर भी वह मेरे लिये गाढ़ आनन्दमय हो जाता है, उस आनन्द की फिर कोई तुलना ही नहीं है। उस समय मैं समस्त जगत् को भूल-जाता हूँ। (श्रीराधाजी के इस मधु स्नेह रूप माधुर्यसारका ही यह प्रभाव है कि उनका दर्शन तो दूर,उनका राधा-नाम सुनते ही श्रीकृष्ण आनन्द विभोर होकर सब कुछ भूल जाते हैं। यह स्नेह श्रीराधा जी का स्वतः स्फूर्त स्नेह है जिसमें श्रीकृष्ण को सुख प्रदान करने की बलवती इच्छा नित्य विराजमान रहती है ।।९५।।

अनुवाद—(मान-लक्षण) जो स्नेह उत्कृष्टता प्राप्त करने के कारण नवीन माधुर्य का अनुभव कराता है और स्वयं कुटिलता धारण करता है, उसे 'मान' कहते हैं ।।९६।। यथा—एक दिन श्रीराधाजी श्रीकृष्ण के साथ वनमें बिहार कर रही थीं। गाढ़ स्नेह वश उनका चित्त अति द्रवीभूत हो उठा एवं उनके नेत्रों से अश्रु बहने लगे। उस स्थान से थोड़ी दूरी पर गौएं चर रही थीं। वायु द्वारा उनकी पदधूलि उड़ कर वहां आ रही थी। श्रीराधा जी अपनी चित्तद्रवता को छिपाने के लिये श्रीकृष्ण से बोलीं—अहे गोपवीर ! देख, तुम्हारी गौओं की पदधूलि के कारण मेरे नेत्रों से जलनिकल रहा है। (यह सुनकर श्रीकृष्ण बोले—बड़े दुख की बात है, मैं अपने मुख की फूंक से तुम्हारे नेत्रों को शीतल किये देता हूँ—यह कह कर श्रीकृष्ण आगे बढ़कर श्रीराधा जी के नेत्रों पर फूंक मारने

५२—उदात्तो ललितश्चेति मानोऽयं द्विविधो मतः ॥ ९८ ॥

तत्रोदात्तः—५३—

उदात्तः स्याद्घृतस्नेहो धारयन् गहनक्रमम् । दाक्षिण्यभागदाक्षिण्यं वाम्यगन्धं च कुत्रचित् ॥ ९९ ॥

तत्र दाक्षिण्योदात्तो यथा—(४७) राधेति स्खलिताभिधे मयि पठाद्विद्धान्तराप्यार्तिभि-
मंद्वं लक्ष्यशमाय सा द्विगुणयन्त्यास्यारविन्दे स्मितम् ।
जल्पे च त्रदिमानुविद्धमधिकं माधुर्यमातन्वती
चित्राणीव चकार मत्प्रियसुहृद्वृन्दानि चन्द्रावली ॥ १०० ॥

अथ वाम्यगन्धोदात्तो यथा श्रीविष्णुपुराणे—

(४८) काचिद्भ्रू भङ्गुरं कृत्वा ललाटफलकं हरिम् । विलोक्य नेत्रभृङ्गाभ्यां पपौ तन्मुखपङ्कजम् १०१ ॥

लगे । तब श्रीराधा जी ने कहा)—इस समय तुम्हारी मुख-फूंक से क्या होगा ? रहने दो । (अर्थात् मैं तुम्हारे मौखिक प्रेमसे शीतल या प्रसन्न होने की नहीं ।) ऐसा कहकर सुन्दर भ्रुकुटि धारण करने वाली श्रीराधा जी ने भ्रुकुटि तान ली । (स्नेहातिशय के कारण चित्त द्रवतावश अश्रु प्रवाहित हो उठे, किन्तु फिर भी कुटिलतावश श्रीराधा जी की भ्रुकुटि तन गयीं —वह मानिनी हो उठीं) ॥९७॥

अनुवाद—(घृतस्नेह तथा मधुस्नेह के प्रकार भेद से मान भी दो प्रकार का है—उदात्त तथा ललित ॥९८॥

अनुवाद—(उदात्त-मान) घृतस्नेह गाढ़ता प्राप्त करने पर 'उदात्त-मान' नाम से अभिहित होता है । घृतस्नेह ही उदात्तमान है, यह दो प्रकार का है—एक दाक्षिण्ययुक्त होकर भी अर्थात् सरलतापूर्ण होते हुए भी दुर्बोधरीति धारण कर साधारणतः कुटिलता प्रकाश करता है । अर्थात् गम्भोरतावश चित्त के भाव को गोपन करता है । दूसरा, कभी-कभी वामता-गन्धयुक्त होता है, अर्थात् बाहर से भो कुछ कोप प्रकाशित करता है । तात्पर्य यह है कि जहां भीतर कुटिलता है किन्तु बाहर सरलता—उसे 'दाक्षिण्य-उदात्त-मान' कहते हैं और जहां भीतर कुटिलता नहीं है किन्तु बाहर थोड़ा वाम भाव है, उसे वामगन्धोदात्त-मान कहा जाता है ॥९९॥ दाक्षिण्योदात्त मान का दृष्टान्त, यथा—श्रीराधा जी की सखी कुन्दलता को श्रीकृष्ण ने कहा—हे कुन्दलते ! अचानक मेरे मुख से 'राधा' यह नाम उच्चारित हो गया, उसे सुनकर दुखवश चन्द्रावली का अन्तःकरण आहत हो गया । उस अपनी असावधानता के कारण मुझे भी बहुत दुख हुआ, किन्तु मेरे उस दुखको प्रशमन करने के लिये चन्द्रावली ने अपने मुखकमल पर दुगनी मुसकान प्रकाशित की और कोमल वचनों से वह अधिकतर माधुर्य विस्तार करने लगी । हे कुन्दलते ! उससे मेरे प्रिय सुहृद्गण विस्मित हो उठे । (श्रीराधा नाम सुनने पर चन्द्रावली को चित्त में वास्तव में बहुत दुख हुआ, किन्तु उस को गोपन करते हुए बाहर दुगनी प्रसन्नता को उसने प्रकाशित किया । श्रीकृष्ण के सामने दाक्षिण्य (सरलता) प्रकट करने लगी—यही दाक्षिण्योदात्त मान है, चन्द्रावली में घृतस्नेह है ।) ॥१००॥

अनुवाद—(वाम्यगन्धोदात्त मानका उदाहरण) श्रोविष्णुपुराण में, यथा —शारदीय रास नें अन्तर्धान हो जाने के बाद जब श्रीकृष्ण पुनः गोपियों के बीच प्रकट हुए तो) एक गोपी ने श्रीकृष्ण का दर्शन कर मस्तक पर अपनी भौहें चढ़ालीं और नेत्रभङ्गी द्वारा श्रीकृष्णकी मुखकमल सुधाका पान करने लगी । (भौहें के तानने में कुछ वामता प्रकाशित हुई, किन्तु वह थी वामता की गन्ध मात्र, क्योंकि फिर तो वह

यथा वा—(४९)
अक्षसंसदि जितापि मृगाक्षी माधवेन परिरम्भपणेन । भुग्नदृष्टिरिह विप्रतिपन्नां तं करेण रुरुधे परिरिप्सुम्

अथ ललितः—
५४—मधुस्नेहस्तु कौटिल्यं स्वातन्त्र्यहृदयंगमम् । बिभ्रन्नर्मविशेषं च ललितोऽयमुदीर्यते ॥ १०३ ॥

तत्र कौटिल्यललितो यथा श्रीदशमे—(१०।३२।६)—
(५०) काचिद्भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला । घ्नतीवैक्षत्कटाक्षेपैर्निर्दष्टदशनच्छदा ॥ १०४ ॥

यथा वा—(५१) अदत्त मे वर्त्मनि मन्मथोन्मदा स्वयंग्रहाश्लेषमसौ सखी तव ।
इत्युक्तवन्तं कुटिलीभवन्मुखी कृष्णं वतंसेन जघान मङ्गला ॥ १०५ ॥

यथा वा—(५२) चित्रं चिरस्पर्शसुखाय चूचुके कुर्वन्तमक्षिप्रमियं चलेक्षणा ।
स्विन्नाङ्गुलीकं पुलकाञ्चितश्रिया सव्येन चिक्षेप कुचेन केशवम् ॥ १०६ ॥

श्रीकृष्णमुखकमल सुधा का पान करने लगीं—उस समय भौंह का तनाव नहीं था) । भीतर सरलता थी और वाहर ही वामता की गन्ध थी गोपी के मान में ॥१०१॥ एक दूसरा उदाहरण, यथा—चन्द्रावली की किसी एक सखी ने दूसरी एक सखी से बताया, जो जीतेगा, वह हारने वाले को आलिंगन करेगा'—इस पन (दाव) को रख कर श्रीकृष्ण चन्द्रावली के साथ चौसर खेलने में प्रवृत्त हुए । चन्द्रावली पराजित हो गयी । तव श्रीमाधव उसे आलिंगन करनेको तैयार हुए तो वह विरोध करने लगी । उसने नेत्र कुटिल कर लिये और अपने एक हाथसे श्रीमाधव को बाधा देने लगी । (यहां भी वामता की गन्ध है, चन्द्रावली वास्तव में आलिंगन प्राप्त करना चाहती है) अतः यहां वाम्यगन्धोदात्त मान सूचित होता है) ॥१०२॥

अनुवाद—(ललित-मान) मधुस्नेह यदि स्वतन्त्रता-पूर्वक हृदयंगम कुटिलता और नर्म-विशेष को धारण करे, तो उसे 'ललित-मान' कहते हैं ॥१०३॥ (उक्त लक्षणों से ललित-मान दो प्रकार का है—कौटिल्य-ललित और नर्म-ललित) **कौटिल्य-ललितमान** का उदाहरण, यथा श्रीभागवत (१०।३२।६) में —रास में से अन्तर्धान के पश्चात् पुनः जव श्रीकृष्ण गोपियोंके बीच आविर्भूत हुए तो उनका दर्शन कर मानवती श्रीराधा जी की जो चेष्टा हुई, उसका वर्णन कर रहे हैं श्रीशुकदेव मुनि—कोई एक गोपी (श्री राधा) प्रेमकोप के आवेश में व्याकुल होकर अपनी भ्रुकुटियों को तिरछा करके, दान्तों से अपने होठों को दशन करते हुए श्रीकृष्ण की ओर देखने लगी । उसके कटाक्षवाण श्रीकृष्ण को मानों आहत (घायल) करने लगे । (भ्रुकुटि का तिरछापन कुटिलता और आवध्य-शब्द से श्रीराधा जी की स्वतन्त्रता सूचित हो रही है । श्रीकृष्ण आहत अर्थात् पराभूत हो गये थे इस प्रकार मधुस्नेहवती श्रीराधा जी का यह मान कौटिल्य-ललित मान है) ॥१०४॥ दूसरा उदाहरण यथा—मंगला की सखी ने उसकी किसी सुहृत् सखी से कहा—हे सखि ! श्रीकृष्ण ने श्रीराधा के प्रति कहा है कि तुम्हारी सखी इस मंगला ने मदनोन्मत्त होकर पथ में अपने आप ही मुझे आलिंगन कर पकड़ लिया । श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर लज्जा से कुटिल-मुखी होकर मंगला अपने कर्णभूषण—कमलसे श्रीकृष्ण को आघात करने लगी ॥१०५॥

(शुद्ध मधुस्नेहवती श्रीराधा के मान में कभी दाक्षिण्यांश स्वीकृत होने पर वह भी कुटिल होकर मधुमय हो जाता है । कभी भी घृतस्नेहकी वह गन्ध प्रकाशित नहीं करता—इसका उदाहरण इस प्रकार है)—श्रीरूपमञ्जरी ने श्रीरतिमञ्जरी को कहा—सखि ! श्रीकृष्ण श्रीराधा जी के कुचाग्र पर आनन्द लाभ करते हुए धीरे-धीरे चित्र रचना कर रहे थे । उस समय श्रीकृष्ण की अंगुली पर स्वेद छा

अथ नर्मललितो यथा दानकेलिकौमुद्याम्—८९

(५३) मिथ्या जल्पतु ते कथं नु रसना साध्वीसहस्रस्य या बिम्बोष्ठामृतसेवनादघरिपो पुण्या प्रयत्नादभूत ।
कस्मादेष बलात्करोतु च करः सोढुं क्षमः सुभ्रु वां रक्तः सुष्ठु न नीविबन्धमपि यः का वान्यबन्धे कथा ॥

अथ प्रणयः—५५—मानो दधानो विस्रम्भं प्रणयः प्रोच्यते बुधैः ॥ १०८ ॥

यथा—(५४) कुचोपान्ते स्पृष्टा मुरविजयिना तद्भुजशिरस्तिरोन्यस्तग्रीवा भ्रु वमनृजुदृष्टिर्विभु जती ।
पटेनास्य श्लानीकृतपुरटभासा पुलकिनी प्रमोदास्त्रैर्धौतं निजमुखमियं मार्ष्टि सुमुखि ॥ १०९ ॥

५६—स्वरूपं प्रणयस्यास्य विस्रम्भः कथितो बुधैः । विस्रम्भोऽपि द्विधा मैत्रं सख्यं चेति निगद्यते ॥ ११० ॥

तत्र मैत्रम्—५७—भावज्ञैः प्रोच्यते मैत्रं विस्रम्भो विनयान्वितः ॥ १११ ॥

रहा था । श्रीकृष्ण को विलम्ब करते देखकर श्रीराधा जी चञ्चल-नेत्रा हो उठीं और अपने पुलकित वाम कुच से धक्का मारकर श्रीकृष्ण को दूर फेंक दिया ॥१०६॥

अनुवाद—(नर्म-ललित मान) श्रीदानकेलिकौमुदी (८९) में, यथा—दानघाटी पर श्रीकृष्ण बोले—'हाय ! हाय !! मैं अब क्या करूं ? जन्म से लेकर अबतक मेरी जिह्वा ने कभी मिथ्या बात नहीं कही, मेरे हाथों ने आजतक कभी किसी पर हठकारिता नहीं की । मेरी यह सचाई और दयालुता अब अनर्थकारी हो उठी है । ये सब गोपियां राज्यकर ही देने को तैयार नहीं हो रही हैं—अब क्या करूं मैं ?—यह सुनकर ललिता जी बोलीं—अरे अघारि ! तुम्हारी जिस जिह्वा ने सहस्र-सहस्र पतिव्रता कुलांगनाओं के अधरामृत का पान कर पवित्रता प्राप्त की है, वह जिह्वा भला कैसे कभी मिथ्या वचन कह सकती है ? और तुम्हारे हाथ भी भला कैसे बल प्रयोग कर सकते हैं, क्योंकि तुम्हारे हाथ तो इतने दयालु हैं कि सुन्दरियों के नीविवन्धन को देखकर असहिष्णु होकर उनके उस नीविबन्धन को खोलदेते हैं, अन्य बन्धनों (वेणी-बन्धन) के सम्बन्ध में और क्या कहा जाये ? (श्रीराधा जी की सखी ललिता जी भी मधुस्नेहवती हैं । अतः उसके गाढ़ताप्राप्त मधुस्नेह ने उसके मुखसे नर्मवाक्यों द्वारा श्रीकृष्ण को उपर्युक्त उत्तर दिया है) ॥१०७॥

अनुवाद—(प्रणय-लक्षण)मान (गाढ़ता प्राप्त कर)जब विस्रम्भ धारण कर अर्थात् विश्वास अथवा अपने प्राण-मन-बुद्धि-देह के साथ कान्त (प्रियव्यक्ति) के प्राण-मनादि के साथ ऐक्य-भावना होने से सम्भ्रम-हीनता पैदा हो, उसे 'प्रणय' कहते हैं ॥१०८॥ यथा—कुंज में विलासोपरान्त श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण के सहित लीला का दूर से अवलोकन कर श्रीरूप मंजरी अपनी किसी सखी से कहती हैं—श्रीकृष्ण ने जब श्रीराधा जी के वक्षोज को स्पर्श किया तो उसने श्रीकृष्ण के कन्धे पर अपनी ग्रीवा न्यस्त कर दी, एवं कुटिल दृष्टि से भ्रु कुटि चढ़ा ली । उसका मुख मण्डल आनन्दाश्रुद्वारा अभिषिक्त हो रहा था । श्रीराधा पुलकित होकर श्रीकृष्ण के पीताम्बर से अपना मुख पोंछने लगीं ॥१०९॥

अनुवाद—(प्रणय का स्वरूप एवं प्रकार) इस प्रणय का स्वरूप (या कारण) है विस्रम्भ,—ऐसा पण्डितजनों का कहना है । विस्रम्भ भी दो प्रकार का है—मैत्र और सख्य ॥११०॥

अनुवाद—(मैत्र-प्रणय) भावज्ञजन विनयपूर्ण विस्रम्भको 'मैत्र-प्रणय' कहते हैं ॥१११॥ श्रीभागवत (१०।३२।४) में, यथा—रासस्थली में पुनः आविर्भूत होने के बाद श्रीकृष्ण को देखकर किसी गोपी (चन्द्रावली) ने आनन्दित होकर अपने अञ्जलिबद्ध हाथों से श्रीकृष्ण के दोनों हाथ पकड़ लिये । किसी गोपी (श्यामला) ने श्रीकृष्ण की चन्दन-भूषित भुजा को अपने स्कन्ध पर धारण कर लिया ॥११२॥

यथा श्रीदशमे—(१०।३२।४)—
(५५) काचित्कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा । काचिद्दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम् ॥ ११२॥
यथा वा—(५६) न हि संकुच पङ्कजेक्षणः पदयोस्ते निदधातु नूपुरौ ।
अनयोर्ध्वनिर्भिविलज्जतां कलहंसीव विपक्षकामिनी ॥ ११३॥
अथ सख्यम्—५८—विस्रम्भः साध्वसोन्मुक्तः सख्यं स्ववशतामयः ॥ ११४॥
यथा—(५७) सरभसमधिकण्ठमर्पिताभ्यां दनुजरिपोर्निजबाहुवल्लरीभ्याम् ।
निटिलमवनमय्य तस्य कर्णे सखि कथितं किमिव त्वया रहस्यम् ? ॥ ११५॥
यथा वा श्रीविष्णुपुराणे—
(५८) यदि ते तद्वचः सत्यं सत्यात्यर्थं प्रियेति मे । मद्गेहनिष्कुटार्थाय तदायं नीयतां तरुः ॥ ११६॥
यथा वा—(५९) विन्यस्य वक्षोरुहकोरकद्वयीं वक्षः स्थले कंसहरस्य हारिणि ।
पत्राङ्कुरं कुङ्कुमबिन्दुनालिके लिखत्यसौ चन्द्रमुखी सखी मम ॥ ११७॥
यथा वा श्रीदशमे—(१०।३०।३८)—
(६०) ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् । न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥ ११८॥
५९—जनित्वा प्रणयः स्नेहात्कुत्रचिन्मानतां व्रजेत् । स्नेहान्मानः क्वचिद्भूत्वा प्रणयत्वमथाश्नुते ११९॥
६०—कार्यकारणतान्योन्यमतः प्रणयमानयोः । इत्यत्र पृथगेवासौ विस्रम्भोदाहृतिः कृता ॥ १२०॥

अन्य उदाहरण, यथा—चन्द्रावली की किसी दासी ने चन्द्रावली को कहा—तुम संकुचित मत होना, कमलनयन श्रीकृष्ण तुम्हारे चरणों में नूपुर पहिरा देंगे। उन नूपुरों की ध्वनि सुनकर कलहंसिनियों की भांति विपक्षा रमणियां (श्रीराधादिक) लज्जित हो जायेंगी ॥११३॥

अनुवाद—(सख्य-प्रणय)—भयरहित जो विस्रम्भ हो एवं जो स्ववशतामय हो, उसे 'सख्यप्रणय' कहते हैं ॥११४॥ यथा—विशाखा जी ने श्रीराधा जी से पूछा—सखि ! कौतुकवश श्रीकृष्ण के दोनों स्कन्धों पर अपनी दोनों भुजाएं धारण कर उनके मस्तक को झुकाकर उनके कान में तुम क्या रहस्य भरी बात कर रही थीं ? ॥११५॥ श्रीविष्णुपुराण में यथा—सत्यभामा ने श्रीकृष्ण को कहा—'सत्यभामा मेरी प्रिया है—यदि यह वचन आपके सत्य हैं, तो उनको पूर्ण करने के लिये इस पारिजातवृक्ष को मेरे भवन-उद्यान के लिये यहां (स्वर्ग) से ले चलो ॥११६॥ अन्यत्र यथा—चन्द्रमुखी की किसी सखी ने अपनी सखीको कहा—सखि ! मेरी सखी चन्द्रमुखी कंसनिकन्दन श्रीकृष्णके वक्षस्थल पर अपने मनोहारी उरोज-द्वय विन्यस्त करके कुंकुमविन्दु द्वारा श्रीकृष्ण के ललाट पर तिलकविशेष की रचना करने लगी ॥११७॥ श्रीमद्भागवत (१०।३०।३८) में, यथा—रासस्थलि से श्रीकृष्ण के साथ अकेली चले जाने से श्रीराधाजी अपने को अति सौभाग्यवती जानने लगीं थी। इसलिये वन में जाकर गर्विता होकर श्रीकृष्ण से बोलीं—मैं और आगे नहीं चल सकती हूँ, तुम्हारी जहां इच्छा हो मुझे वहां तुम (उठाकर) ले चलो ॥११८॥

अनुवाद—(श्रीग्रन्थकार कहते हैं)—कहीं स्नेह से प्रणय उत्पन्न होकर मान रूप को प्राप्त करता है। और कहीं स्नेह से मान उत्पन्न होकर प्रणयरूप में परिणत होता है। इसलिये प्रणय और मान, इन दोनों में परस्पर कार्य कारणता है। इसलिये यहां (स्थायि-भाव प्रकरण) में पृथक्रूप से विस्रम्भ का उदाहरणों सहित उल्लेख किया गया है ॥११९-१२०॥ उदात्त मान प्रणय में परिणत होकर यदि मैत्रेय के साथ सुन्दररूप से संगत हो, तो उसे सुमैत्रेय कहते हैं एवं ललितमान प्रणय में परिणत होकर यदि सख्य के साथ सुन्दररूप से संगत हो तो उसे सुसख्य कहा जाता है ॥१२१॥

६१—उदात्तललिताभ्यां तु मैत्रसख्ये सुसङ्गते । द्वे सुमैत्र्यसुसख्याख्ये यथासंख्यमुदीरिते ॥ १२१ ॥

तत्र सुमैत्र्यम्—(६१) आलीपुरः कथयितुं रजनीरहस्यं तत्रोद्यते मधुरिपौ मृदुलाभ्रमद्भ्रूः ।
उत्क्षिप्य तन्मुखपुटावरणाय हस्तं न्यञ्चन्मुखी समवरिष्ट पुनर्वराक्षी ॥ १२२ ॥

यथा वा—(६२)

क्षिप्ते वर्णकभाजने तरणिजापूरे परीहासतः कृष्णेन भ्रुवमारचय्य कुटिलामालोकयन्ती तिरः ।
तारा वक्षसि चित्रमर्धलिखितं श्रीवत्सविभ्राजिते काश्मीरेण घनश्रिया निजकुचाकृष्टेन पूर्णं व्यधात् १२३

अथ सुसख्यम्—(६३) द्यूते सकृत्पानविधौ पणीकृते जित्वा द्विरोष्ठं पिबति स्वमच्युते ।
बबन्ध कण्ठे कुटिलीकृतेक्षणा तं वामया दोर्लतयाद्य बल्लवी ॥ १२४ ॥

यथा वा—(६४)

आविष्कुर्वति विस्फुरन्नवनखोल्लेखं स्ववक्षस्तटं कृष्णे पीतदुकूलसंकलनया जित्वा सखीनां पुरः ।
अभ्रश्याममुरो रुरोध वलितभ्रू राननं धुन्वती रोमाञ्चोद्गमकञ्चुकेन कुचयोर्द्वन्द्वेन गान्धर्विका १२५ ॥

अनुवाद—(सुमैत्र्यम्), यथा—चन्द्रावली का प्रातः कालीन आचरण उसकी एक सखी दूसरी सखी को बता रही है—सखियों के सामने मधुरिपु श्रीकृष्ण जब रजनीरहस्य-लीला कथा कहने लगे, तो कोमलस्वभावा चन्द्रावली ने भ्रुभंग करके श्रीकृष्ण के मुख को ढकने के लिये अपने हाथ बढ़ा दिये और मस्तक झुका कर फिर उन्हें संकुचित करने लगी ॥१२२॥ अन्यत्र, यथा—एकदिन श्रीकृष्ण तथा तारा नाम्नी गोपी यमुना घाट की विशाल सोपान पर एक साथ बैठे थे। वह हरिताल द्वारा श्रीकृष्ण के वक्ष-स्थल पर चित्र रचना कर रही थी किन्तु, परिहास करते हुए श्रीकृष्णने उस हरिताल के पात्र को यमुना-जल में फेंक दिया। तारा गोपी भ्रुकुटि चढ़ाते हुए स्तम्भित होकर श्रीकृष्ण को देखने लगी। फिर श्री कृष्ण के श्रीवत्स चिह्नित वक्ष स्थल पर अपने द्वारा रचित अधूरे चित्र को देखा और अपने गाढ़ कुच-कुंकुम से उसे पूरा बना दिया ॥१२३॥

अनुवाद—(सुसख्य)—श्रीराधा की सखी श्यामला के साथ श्रीकृष्ण इस दाव पर द्यूत-क्रीड़ा में प्रवृत्त हुए कि जो भी जीते वह पराजित व्यक्ति का केवल एकबार होठ चुम्बन करेगा। श्रीकृष्ण जीत गये और एक बार की जगह उन्होंने दो बार श्यामला का अधर-चुम्बन किया। श्रीकृष्ण का यह अन्याय जानकर श्यामला खीज उठी। अपने नेत्रों को तिरछाकर अपनी बायीं भुजा से श्रीकृष्ण के कण्ठ को लपेट लिया।—(यहां कौटिल्यललित के साथ सख्य की सुसंगति दिखायी गयी है) ॥१२४॥ अन्य यथा—श्रीरूपमञ्जरी ने अपनी किसी सखी को कहा—हे सखि ! सखियों के सामने श्रीकृष्ण ने हास्य में अपने वक्षस्थल से पीताम्बर हटाया तो उनके वक्षस्थल पर नव-नखोल्लेख (नख-चिह्न) दीखने लगे। सखियों को तो परमानन्द हुआ किन्तु) श्रीराधाजी ने भ्रुकुटियों को टेढ़ा कर लिया। मुखमण्डल को कम्पाते हुए उसने अपने पुलकित वक्षस्थल से श्रीकृष्ण के मेघ श्यामल वक्षस्थल को आच्छादित कर लिया। (यहां कौटिल्य-ललित की एवं सख्यातिशयता की सुसंगति दिखायी गयी है) ॥१२४॥

अनुवाद—(राग-लक्षण)—प्रणय के उत्कर्षवश यदि अतिशय दुख भी सुख होकर चित्तमें अनुभूत हो, उसे 'राग' कहते हैं। (श्रीकृष्ण की प्राप्ति—सम्भावना में अतिशय दुख सुख प्रतीत हो और कृष्ण-प्राप्ति की असम्भावना में अतिशय सुख भी दुख प्रतीत होना—यह राग का लक्षण है) ॥१२६॥ यथा –

अथ रागः—

६२—दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते। यतस्तु प्रणयोत्कर्षात्स राग इति कीर्त्यते ।। १२६ ।।

यथा—(६५)

तीव्रार्कद्युतिदीपितैरसिलताधाराकरालास्त्रि(श्रि)भिर्मार्तण्डोपलमण्डलैः स्थपुटितेऽप्यद्रेस्तटे तस्थुषी।
पश्यन्ती पशुपेन्द्रनन्दनमसाविन्दीवरैरास्तृते तल्पे न्यस्तपदाम्बुजेव मुदिता न स्पन्दते राधिका ।। १२७ ।।

यथा वा पद्यावल्याम्—(१७९)—

(६६) ताराभिसारक ! चतुर्थनिशाशशाङ्कामाम्बुराशिपरिवर्धन देव तुभ्यम्।
अर्घो नमो भवतु मे सह तेन यूना मिथ्यापवादवचसाप्यभिमानसिद्धिः ।। १२८ ।।

६३—नीलिमा रक्तिमा चेति रागोऽयं द्विविधो मतः ।। १२९ ।।

तत्र नीलिमा—६४—नीलिश्यामाभवो रागो नीलिमा कथ्यते बुधैः ।। १३० ।।

ज्येष्ठमास के मध्याह्न काल में श्रीकृष्ण-दर्शन की सम्भावना से श्रीराधा जी गोवर्धन गिरि पर चढ़कर दूसरी ओर गोचारण करते श्रीकृष्ण का दर्शन कर रही थीं—ललिता जी ने श्रीराधा जी को दिखाते हुए अपनी सखियों से कहा—देखो तो सखीगण ! ज्येष्ठमास के मध्याह्न सूर्य की प्रखर किरणों से तलवार की धार के समान तीव्र और कराल कोणों वाले सूर्यकान्त मणि तुल्य ऊंचे-नीचे तपे हुए पत्थरों युक्त गोवर्धन पर चढ़कर श्रीराधा व्रजेन्द्रनन्दन का दर्शन कर रही हैं (उनके चरण जले जा रहे हैं) किन्तु वह जरा भी विचलित नहीं हो रही हैं। वह मानो कमलदलों की सुकोमल शय्या पर चरण स्थापन कर खड़ी खड़ी श्रीकृष्ण दर्शन का आनन्द ले रही हैं। (श्रीकृष्णदर्शन आनन्द तो फिर भी कहीं श्रीराधा जी प्राप्त कर सकती हैं, किन्तु यहां वह उस दुख को परम सुखदायी समझ कर वहन कर रही हैं ।।१२७।। श्रीपद्यावली (१७९) में, यथा—भाद्रमास की चतुर्थी तिथि के चन्द्र को देखने से मिथ्या कलंक लगता है—ऐसी प्रसिद्धि है। एक व्रजगोपी श्रीकृष्ण-प्राप्ति के लिये अति उत्कण्ठित थी, किन्तु उसे किसी प्रकार भी श्रीकृष्ण-प्राप्ति न हो रही थी। अपनी अयोग्यता जानकर चतुर्थी के चन्द्र से वह इस प्रकार प्रार्थना करती है—हे ताराभिसारक ! हे चतुर्थ-निशाचन्द्र ! कामाम्बुराशि परिवर्धन देव ! मैं तुमको अर्घ्य प्रदान करती हूँ। उस युवक—श्रीकृष्ण के साथ मेरा अभिमान अर्थात् मैं उनकी कान्ता हूँ और वे मेरे स्वामी हैं—यह अभिमान मिथ्यावाद-वचनों में अर्थात् कलंक रूप में सिद्ध हो जाये। (मुझे उनकी कान्तरूप में प्राप्ति का कलंक, भलेहीं झूठे में सही पर लग जाये) ।।१२८।।

अनुवाद—(द्विविध-राग) राग दो प्रकार का है—नीलिमा और रक्तिमा। (नीलिमा से नीलवर्ण और रक्तिमा से लालवर्ण अभिप्रेत है क्योंकि राग का अर्थ है वर्ण या—(रंग) ।।१२९।। नीलिमाराग—नीली-लता और श्यामा-लता से जो राग या रंग उत्पन्न होता है, पण्डितजन उसे 'नीलिमा' कहते हैं ।।१३०।।

अनुवाद—(नीलिराग) जिस राग की व्यय सम्भावना (ध्वंस होने की सम्भावना) नहीं, एवं जो बाहर में विशेष प्रकाशवान नहीं होता तथा जो स्वलग्न भाव को आवृत करे, पण्डित जनों के मत में उसका नाम नीलि-राग है। यह नीलिराग चन्द्रावली और श्रीकृष्ण में दीखता है। (नीला रंग अन्यान्य रंगों के मिलने पर भी नष्ट नहीं होता—यह राग संचारीभावों के साथ मिलित होने पर ध्वंस नहीं होता, इसलिये इसे व्यय-सम्भावना हीन कहा गया है। नीले रंग में बाहरी चमक नहीं रहती—अति

तत्र नीलीरागः—

६५—व्ययसंभावनाहीनो बहिर्नातिप्रकाशवान् । स्वलग्नभावावरणो नीलीरागः सतां मतः ।
यथावलोक्यते चैष चन्द्रावलिमुकुन्दयोः ॥ १३१ ॥

यथा—(६७) प्रसन्नविशदाशया विविधमुद्रया निर्मितं प्रतारणमपि त्वया गुणतया सदा गृह्णती ।
तथा व्यवजहार सा व्रजकुलेन्द्र चन्द्रावली सखीभिरपि तर्किता त्वयि यथा तटस्थेत्यसौ १३२ ॥

अथ श्यामारागः—

६६—भीरुतौषधिसेकादिराद्यात्किंचित्प्रकाशभाक् । यश्चिरेणैव साध्यः स्यात्स श्यामाराग उच्यते १३३ ॥

यथा—(६८)
पुरा कुञ्जे मञ्जुन्यवतमसयुक्तेऽपि चकिता मुरारेर्या पार्श्वे न तरुणि रिवाप्यन्तरसगात् ।
तमालैः संवाद्य द्विगुणिततमिस्रेऽपि मुदिता तमिस्रार्धे मानिन्यहह भवती तं मृगयते ॥ १३४ ॥

अथ रक्तिमा—६७—रागः कुसुम्भमञ्जिष्ठासंभवो रक्तिमा मतः ॥ १३५ ॥

उज्ज्वल नहीं रहता। यह प्रणयोत्कर्ष ईर्ष्या-मानादि अन्य भावों (रंगों) को आवृत किये रहता है। अतः नीलेरंग से इसकी सदृशता है) ॥१३१॥ यथा—चन्द्रावली की सखीने श्रीकृष्ण को कहा—हे व्रजकुलेन्द्र ! अनेक प्रकार से तुम्हारे द्वारा चन्द्रावली के प्रति प्रतारणा (वंचना) प्रकाश करने पर प्रसन्न तथा निर्मल आशय होने से चन्द्रावली तुम्हारी उस प्रतारणा को भी गुणरूप में ग्रहण करती है और उसके अनुरूप वह व्यवहार भी करती रहती है। इससे उस की सखियां समझती हैं कि चन्द्रावली तुम्हारे सम्बन्ध में तटस्था है। (चन्द्रावली प्रतारणा के दुख को नहीं समझती वरन् श्रीकृष्णके गुण रूप में उसे ग्रहण करती है। और प्रणय के उत्कर्ष रूप ईर्ष्या-मान आदि को उसका राग आवृत किये रखता है—उसकी तटस्थता सूचित करता है।) अतः नीलि-राग कहा गया है उसे ॥१३२॥

अनुवाद—(श्यामाराग)—जिसके लिये भीरुता (भय) रूप औषधि-सेकादि की किंचित् अपेक्षा रहती है, अर्थात् जैसे काले-रंग को पहले औषधि विशेष के साथ पुटभावना (उबालने) की जरूरत रहती है, ऐसे किंचित् भीरुता की जिस राग में अपेक्षा रहती है, जो नीलिराग की अपेक्षा किंचित् अधिक प्रकाशशील है, जो चिरकाल में जाकर साध्य होता है, उसे 'श्यामा-राग' कहते हैं। (प्रणयोत्कर्ष के कारण इस राग में भीरुता की संगति है। यह भीरुता मनोभावों को गोपन करने के लिये कृत्रिम है, जो पहले-पहले रहती है) ॥२३३॥ यथा—कोई एक नायिका (भद्रा) को सखियों ने अभिसार के लिये (श्रीकृष्ण के पास चलने के लिये) कहा, किन्तु वह भयका बहाना कर अभिसार के लिये नहीं गयी। फिर नायक के साथ मिलने की तीव्र उत्कण्ठावश वह अपने आप ही अभिसार पर चली गयी। तब यह जान कर उसकी एक सखी ने परिहास करते हुए उसे कहा—हे तरुणि ! पहले तो थोड़ीसी अन्धकारमयी सुन्दर कुञ्ज में जाने से भयभीत होती थी और दिन के मध्यकाल में भी श्रीकृष्ण के पास नहीं जाती थी किन्तु हे मानिनि ! अब वही तुम अन्धकारमयी मध्य रात्रि में तमाल वृक्षों की घनी छाया के अन्धकार में भी बड़े आनन्द से उस श्रीकृष्ण को ढूण्ढ रही हो। (यहां पहले भय किन्तु फिर दुखद अन्धकारमय स्थान में भी परमानन्द की अनुभूति दिखायी गयी है जो श्यामा राग का लक्षण है) ॥१३४॥

अनुवाद—(रक्तिमा) कुसुम्भ (केसर) तथा मंजिष्ठा (मंजीठ) से उत्पन्न रंग को 'रक्तिमा-राग' कहा—जाता है। (अतः कुसुम्भजात राग तथा मंजिष्ठा जात राग भी दो प्रकारका माना गया है) १३५

तत्र कुसुम्भरागः—

६८—कुसुम्भरागः स ज्ञेयो यश्चित्ते सज्जति द्रुतम्। अन्यरागच्छविव्यञ्जी शोभते च यथोचितम् १३६

यथा—(६९)

त्वय्येव श्रवणावधि प्रियसखी या कृष्णबद्धान्तरा या दृष्टे भुजगेऽपि तावकभुजा साम्यात्प्रमोदोन्मदा।
प्रेक्ष्य त्वां पुरतोऽद्य कामपि दशां प्राप्तास्ति सेयं तथा न ज्ञायेत यथा किमेष बलवान् रोगो विरागोऽथवा

६९—सदाधारविशेषेषु कौसुम्भोऽपि स्थिरो भवेत्। इति कृष्णप्रणयिषु म्लानिरस्य न युज्यते॥ १३८॥

अथ माञ्जिष्ठरागः—

७०—अहार्योऽनन्यसापेक्षो यः कान्त्या वर्धते सदा। भवेन्माञ्जिष्ठरागोऽसौ राधामाधवयोर्यथा॥ १३९॥

यथा—(७०)

धत्ते द्रागनुपाधि जन्म विधिना केनापि नाकम्पते सूतेऽत्याहितसंचयैरपि रसं ते चेन्मिथो वर्त्मने।
ऋद्धिं संचिनुते चमत्कृतिकरोद्दामप्रमोदोत्तरा राधामाधवयोरयं निरुपमः प्रेमानुबन्धोत्सवः॥ १४०॥

अनुवाद—(कुसुम्भ-राग) जो राग अति शीघ्र चित्त में चढ़ जाता है एवं जो दूसरे राग की कान्तिप्रकाश करके यथोचित शोभा धारण करता है, उसे 'कुसुम्भराग' कहते हैं॥१३६॥ यथा—श्यामला की किसी एक सखी ने श्रीकृष्ण से कहा—हे कृष्ण! जबसे मेरी सखी ने तुम्हारा 'कृष्ण'-नाम सुना है, तब से उसका चित्त तुम्हारे में फंस गया है। (तुम्हारी भुजाएं सर्प के सदृश हैं) साँप को देखकर भी वह आनन्द में उन्मत्त हो उठती है। आज तुम को साक्षात् देखकर उसकी जो दशा हुई है, वह अनिर्वचनीय है। उसका राग ही बलवान है या, विराग ही बलवान है—मैं जान नहीं पाती हूँ। (नाम सुनने से ही श्रीकृष्ण में चित्त की निवद्धता, सर्पदर्शन से आनन्दोन्मदता तथा कृष्ण दर्शन से अनिर्वचनीय दशा-प्राप्ति-शोभा को सूचित करती है)॥१३७॥ कुसुम्भराग भी सद्-आधार विशेष पात्रों में स्थायित्व लाभ करता है। इसलिये समस्त कृष्ण-प्रणयि जनों में यह राग मलिनता को प्राप्त नहीं होता॥१३८॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—कुसुम्भ रंग स्वभावतः पक्का रंग नहीं है, समय पाकर म्लान या फीका पड़ जाता है। किन्तु लाल रंग किसी क्वाथ के साथ यदि किसी वस्त्र पर चढ़ाया जाये तो वह क्वाथ के प्रभाव से स्थायी हो जाता है। समय पाकर भी म्लान नहीं होता। किन्तु प्रणयोत्कर्ष रूप जो राग है वह भी स्वभावतः स्थायी नहीं किन्तु मञ्जिष्ठराग जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है, उसके आधार को पाकर स्थायी हो जाता है। श्रीव्रजगोपी वृन्द जो मंजिष्ठ रागवती हैं—उनके आधार को पाकर कुसुम्भराग भी स्थायित्व लाभ करता है, कालप्रभाव से भी कभी म्लान नहीं होता।

अनुवाद—(मञ्जिष्ठा-राग) जो राग किसी भी प्रकार से नष्ट नहीं होता, जो किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा भी नहीं रखता एवं जो अपनी कान्ति से ही सर्वदा वृद्धिशील रहता है, उसे 'मञ्जिष्ठा-राग' कहते हैं। जैसा कि श्रीश्रीराधामाधव का एक दूसरे के प्रति राग है॥१३९॥ यथा—नान्दीमुखी ने पौर्णमासी से श्रीश्रीराधाकृष्ण के प्रणयोत्कर्ष रूपराग के लक्षण पूछे, तो वह बोली—श्रीराधामाधव का अनुपम प्रेमानुबन्ध-उत्सव विना किसी उपाधि के भी अति शीघ्र उदित होता है, किसी भी प्रकार से यह किञ्चित् मात्र भी विचलित नहीं होता एवं गुरुजनादि द्वारा भय या कष्टों के उपस्थित होने पर भी, वह समस्त भय या कष्ट यदि दोनों के मिलन का कारण हो उसके द्वारा भी रस की उत्पत्ति होती है—कोई उद्वेग नहीं होता। यह निरूपम प्रेमानुबन्ध-उत्सव ऐसी समृद्धि संचय करता है कि उससे चमत्कारी उद्दाम आनन्द राशि का उद्‌भव होता है॥१४०॥

यथा वा विदग्धमाधवे—(३।१७)—

(७१) मया ते निर्बन्धान्मुरजयिनि रागः परिहृतो मयि स्निग्धे किंतु प्रथय परमाशीस्ततिमिमाम् ।
मुखामोदोद्गारप्रहिलमतिरद्य व हि यतः प्रदोषारम्भे स्यां विमलवनमालामधुकरी ॥ १४१ ॥
७१—पूर्वंवस्तु यो भावः सोमाभादौ स राजते । तथा भीष्मसुतादौ च श्रीहरेर्महिषीगणे ॥ १४२ ॥
७२— य उत्तरोत्तरो दिव्यो राधिकादौ स दीव्यति । तथा श्रीसत्यभामायां लक्ष्मणायामपि क्वचित् १४३
७३—इत्थं भेदेन भावानां सर्वगोकुलसुभ्रुवाम् । आत्मपक्षविपक्षादिर्भेदाः पूर्वमुदीरिताः ॥ १४४॥
७४—या भावान्तरसंबन्धाज्जायन्ते विविधा भिदाः । अपरा अपि भावानां ज्ञेयास्ताः प्रज्ञया बुधैः १४५ ॥

श्रीविदग्ध माधव (३।१७) में, यथा—श्रीराधा जी की प्रेम-परीक्षाके लिये पौर्णमासी श्रीराधा जी को बार-बार श्रीकृष्ण की आसक्ति त्याग करने का उपदेश करतीं । पूर्वरागवती श्रीराधा जी ने उसे कहा—देवि ! आपके अतिशय आग्रह के कारण मैंने मुरारि श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्ति त्याग दी है, किन्तु हे स्निग्धे ! आप मुझे बार-बार यही आशीर्वाद करो कि जिससे मैं श्रीकृष्ण की मुखसुधा (जृम्भादि के समय मुखोद्गीर्ण-मुख सुधा) ग्रहण करने के लिये बुद्धि-(योग्यता) प्राप्त कर आज प्रदोष काल के आरम्भ में ही उनकी विमल वनमाला की भ्रमरी हो सकूं—अर्थात् इस देह को त्याग कर भ्रमरी-देह को प्राप्त कर लूं ॥१४१॥

अनुवाद—पूर्व-पूर्व प्रसंगों में जो भाव हैं (अर्थात् घृतस्नेह, उदात्तमान, मैत्र्य, सुमैत्र्य एवं नीलिमा राग हैं)वे चन्द्रावली एवं रुक्मिणी आदि श्रीकृष्ण महिषीवृन्द में विराजित हैं, और दूसरे-दूसरे जो दिव्य-भाव अर्थात् मधुस्नेह, ललितमान, सख्य, सुसख्य, एवं रक्तिमाराग—ये राधिकादि व्रजगोपियों में एवं सत्यभामा एवं कदाचित् लक्ष्मणा में रहते हैं । व्रजसुन्दरियों में स्वपक्ष-विपक्ष-तटस्थ इत्यादि जो भेद हैं, वह भाव-भेद ही उसका कारण है ॥१४२-१४४॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—ध्यातव्य है कि चन्द्रावली में नीलिमाराग है और उसकी सखी भद्रा में श्यामाराग है ।—इनके स्नेह और प्रणय में भी कुछ भेद है किन्तु अति सूक्ष्म है । श्रीराधा-ललितादि में मंजिष्ठा राग है, उनकी सुहृत् श्यामला में कुसुम्भराग है । व्रजगोपियों की कृष्णरति और महिषीवृन्द की कृष्णरति में भेद है । गोपीजन उनकी समर्थारति हैं, महिषीवृन्द की समंजसा रति है । तथापि चन्द्रावली आदि ब्रजसुन्दरियों में एवं रुक्मिणी आदि महिषीवृन्द में घृतस्नेहादि पूर्व-पूर्व भावोंका एवं श्रीराधिकादि व्रजसुन्दरियों में एवं सत्यभामा और लक्ष्मणा में जो मधुस्नेहादि पर-पर भावों के विद्यमान होने का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि उनमें तत् समुदाय भाव यथोचित रूप में ही वर्तमान है अर्थात् समर्था रति के अनुरूप भाव में श्रीराधादि व्रज सुन्दरियों में एवं समंजसा रति के अनुरूपभाव में महिषीवृन्द में स्नेह-मानादि का विकाश है, ठीक एक ही परिमाण में विकाश नहीं है । इस भेद का कारण यह है कि व्रजपरिकर गण सब स्वरूप शक्ति के मूर्त विग्रह होते हुए भी लीलारस-वैचित्री के सम्पादन के उद्देश्य से लीलाशक्ति ही उनके चित्त में या चित्तवृत्ति में भेद पैदा किये रहती है । अतः उनके चित्त में रहने वाली कृष्णरति भी विभिन्न विचित्रता धारण करती है ।

अनुवाद—अन्य-अन्य भावों के साथ सम्बन्ध होने के कारण भावों में जो विविध भेद उत्पन्न होते हैं, एवं उनके फल से और भी जो अनेक भाव भेद पैदा होते हैं, उन्हें पण्डितजन प्रज्ञाद्वारा जान सकेंगे ॥१४५॥

अथ अनुरागः—

७५—सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम् । रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते ॥ १४६ ॥

यथा दानकेलिकौमुद्याम्—(२८)—

(७२) प्रपन्नः पन्थानं हरिरसकृदस्मन्नयनयोरपूर्वोऽयं पूर्वं क्वचिदपि न दृष्टो मधुरिमा ।
प्रतीकेऽप्येकस्य स्फुरति मुहुरङ्गस्य सखि या श्रियस्तस्याः पातुं लवमपि समर्था न दृगियम् ॥ १४७ ॥

यथा वा—(७३)

कोऽयं कृष्ण इति व्युदस्यति धृतिं यस्तन्वि कर्णं विशन् रागान्धे किमिदं सदैव भवती तस्योरसि क्रीडति ।
हास्यं मा कुरु मोहिते त्वमधुना न्यस्तास्य हस्ते मया सत्यं सत्यमसौ दृगङ्गनमगादद्यैव विद्युन्निभः १४८

रूपकृपातरंगिणी-टीका—श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति के मूर्त्तविग्रह नित्यसिद्ध परिकरों में उल्लिखित भावभेद अनादिकाल से नित्यविराजित हैं। जो साधन-सिद्ध (जीवतत्त्व) परिकर हैं, साधन सिद्धि प्राप्त करने के बाद ही वे यथायथ भाव से उन भावों को प्राप्त करते हैं। यथावस्थित साधक देह के पात होने पर साधक श्रीकृष्ण की प्रकट लीला स्थल पर किसी गोप के घर अप्राकृत चिन्मय देह से जन्म ग्रहण करता है। तब अपने भावानुकूल जिन समस्त नित्य सिद्ध परिकरों के साथ उसका संग होता है, उनकी भाव वैचित्री ही प्रायशः उसके चित्त में सञ्चारित हुआ करती है, जो परिकर भगवत् प्रीति के सर्वोच्च जिस स्तर के अधिकारी हैं उसी स्तर के पूर्ववर्ती स्तर तथा उनके भाव समूह भी यथायथ भाव में उनमें विराजित रहते हैं। अवस्था विशेष में उनमें कोई भी भेद आत्म प्रकट करता है। इसलिये महाभाववती व्रजसुन्दरियों में भी महाभाव के पूर्ववर्ती स्नेह मान प्रणयादि स्तरों का विकाश दीखता है।

अनुवाद—(अनुराग-लक्षण) जो राग स्वयं नव-नव वैचित्री धारण करके सदा अनुभूत प्रीतम (श्रीकृष्ण) का नव-नव भाव में अनुभव करावे, उसे 'अनुराग' कहते हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण के रूप-गुण माधुर्यादि जिनका पहले कई बार आस्वादन प्राप्त किया जा चुका है, राग की इस गाढ़ अवस्था अनुराग में वे सब सदा नव-नव होकर अनुभूत होते हैं ॥१४६॥ श्रीदानकेलि कौमुदी (२८) में यथा—दानघाटी पर श्रीकृष्ण को दूर से देखकर श्रीराधाजी ने वृन्दा से कहा—हे सखि ! श्रीकृष्ण का अनेक बार मैंने दर्शन किया है, किन्तु पहले कभी भी ऐसा अपूर्व माधुर्य मैंने नहीं देखा। इस समय इनके अंग के एक भाग में (अंगुली आदि में) जो शोभा दीप्त हो रही है, उसका एक क्षुद्र अंश भी आस्वादन करने में मेरे नेत्र समर्थ नहीं हो पा रहे हैं ॥१४७॥

अन्य यथा—किसी एक समय श्रीकृष्ण कथा प्रसंग में अतिशय उत्कण्ठा वश श्रीराधा जी के हृदय में अनुराग का सम्यक् उदय हो उठा। वह ललिता जो से इस प्रकार संलाप करने लगीं—हे कृशोदरि ललिते ! 'कृष्ण'—यह दो अक्षर मात्र का नाम जिसका है, वह कौन है ? इन दोनों अक्षरों ने मेरे कानों में प्रवेश मात्र करने से मेरे धैर्य्य को सम्यक् रूप से विलुप्त कर दिया है। ललिता बोली—हे रागान्धे ! यह तुम क्या कह रही हो ?—(क्या तुम उसे जानती नहीं हो ?) तुम तो सर्वदा उसके वक्षस्थल पर क्रीड़ा करती रहती हो। (श्रीराधाजी)—सखि ! मुझसे हास्य मत करो, इस प्रकार की असम्भव बात क्यों कह रही हो ? (ललिताजी)—राधे ! असम्भव, या हास्यास्पद या मिथ्या बात नहीं कह रही हूँ। हे मोहिते ! तुम अभी ही मेरे द्वारा उनके हाथों में अर्पण की गयीं थी। (श्रीराधा जी)—ललिते ! तुम भले सच्ची हो किन्तु मुझे लगता है जन्म से लेकर आज पर्यन्त अब ही वह मेरे नयन-गोचर हुए हैं वह भी विद्युत् की भांति अति अल्प काल के लिये ॥१४८॥

७६—परस्परवशीभावः प्रेमवैचित्र्यकं तथा । अप्राणिन्यपि जन्माप्त्यै लालसाभर उन्नतः ।
विप्रलम्भेऽस्य विस्फूर्तिरित्याद्याः स्युरिह क्रियाः ॥ १४९ ॥

तत्र परस्परवशीभावो यथा—

(७४) समारम्भं पारस्परिकविजयाय प्रथयतोरपूर्वा केयं वामघदमनसंरम्भलहरी ।
मनोहस्ती बद्धस्तव यदनया रागनिगडैस्त्वयाप्यस्याः प्रेमोत्सवनवगुणैश्चित्तहरिणः ॥ १५० ॥

७७—प्रेमवैचित्त्यसंज्ञस्तु विप्रलम्भः स वक्ष्यते ॥ १५१ ॥

अप्राणिन्यपि जन्मलालसाभरो यथा दानकेलिकौमुद्याम्—(६)

(७५) तपस्यामः क्षामोदरि वरयितुं वेणुषु जनुर्वरेण्यं मन्येथाः सखि तदखिलानां सुजनुषाम् ।
तपस्तोमेनोच्चैर्यदियमुररीकृत्य मुरली मुरारातेर्बिम्बाधरमधुरिमाणं रसयति ॥ १५२ ॥

अथ विप्रलम्भे विस्फूर्तिर्यथा—

(७६) ब्रूयास्त्वं मथुराध्वनीन मथुरानाथं तमित्युच्चकैः संदेशं व्रजसुन्दरी कमपि ते काचिन्मया प्राहिणोत्
तत्र क्ष्मापतिपत्तने यदिगतःस्वच्छन्द गच्छाधुना किंक्लिष्टामपिविस्फुरन् दिशिदिशि क्लिश्नासि हा मे सखीम्

अनुवाद—(अनुराग की क्रिया)—नायक-नायिका दोनों एक दूसरे के वशीभूत रहते हैं (यह परस्परका वशीभाव भी प्रेम आदि स्तर से विलक्षण होता है।) प्रेमवैचित्य, प्राणरहित वस्तुमें भी जन्म-लाभ करने की अतिशय लालसा तथा विप्रलम्भ (विच्छेद) में भी श्रीकृष्ण स्फूर्ति आदि अनुराग की क्रियाएं हैं ॥१४९॥ (परस्पर वशीभाव का दृष्टान्त), यथा—श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण एक दूसरे को उत्कण्ठित होकर ढूण्ढ रहे थे। एक कुञ्ज पथ पर उनका मिलन हुआ एवं दोनों आनन्द-सागर में निमग्न हो गये। उस समय दोनों के माधुर्य का सविस्मय आस्वादन करते हुए कुन्दलता ने श्रीकृष्ण से कहा—हे अघदमन ! आप और श्रीराधा एक दूसरे को पराजित करने के लिये साहसिक उद्यम कर रहे हैं, उसकी अतिशय उत्सुकतावश आवेश-परम्परा कैसी एक अपूर्वता धारण कर रही है, ऐसी पहले कभी नहीं देखी श्रीराधा ने अपनी अनुराग शृंखला से आपके मन रूप हाथी को बान्ध रखा है और आपने अपनी प्रेमोत्सवरूप नवरज्जु द्वारा श्रीराधा के मनरूप हरिण को बान्ध रखा है—एक दूसरेके सम्यक् रूपसे वशीभूत हो रहे हो दोनों ॥१५०॥

अनुवाद—प्रेमवैचित्त्य-नामक विप्रलम्भ का आगे (शृङ्गारभेद प्रकरण में) वर्णन किया जावेगा। (विप्रलम्भका ही एक प्रकरण भेद है—प्रेमवैचित्त्य) ॥१५१॥

अनुवाद—(अप्राणी में जन्म-लाभ लालसा)—श्रीदानकेलिकौमुदी (६) में, यथा—श्रीकृष्ण-प्राप्ति विषय में अपने को अकृतार्थ मानकर श्रीराधाजी ने ललिता जी से कहा—हे कृशोदरि ! (तुम्हारे-मेरे इस सुन्दर मनुष्य जन्म की क्या सार्थकता है ? इस शरीर से तो श्रीकृष्ण-प्राप्ति न हो सकी) हम वेणुजाति (वांसजाति) में जन्म प्राप्त करने के लिये तपस्या करेंगी, क्योंकि जितने भी उत्कृष्ट जन्म हैं, उनमें वेणु-जाति में जन्म को मैं श्रेष्ठ मानती हूँ। देख, यह मुरली भारी तपस्या के फल से श्रीकृष्ण के विम्बाधर-माधुर्य का आस्वादन कर रही है ॥१५२॥

अनुवाद—(विप्रलम्भ में विस्फूर्ति अर्थात् विशेष-विस्फूर्ति)—अनुराग के उत्कर्ष में श्रीकृष्ण के विच्छेदकाल में भी सर्वत्र श्रीकृष्ण स्फूर्ति होती रहती है, (साक्षात् दर्शन के भांति दर्शन) यथा—ललिता जी ने मथुरा जाने वाले एक पथिक से कहा—तुम उच्चस्वर से मथुरानाथ को जाकर कहना कि किसी

अथ भावः—७८—अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः। यावदाश्रयवृत्तिश्चेद्भाव इत्यभिधीयते १५४
(७७) राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्य क्रमाद्युञ्जन्नद्रिनिकुञ्जकुञ्जरपते निर्धूतभेदभ्रमम्।
चित्राय स्वयमन्वरंजयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे भूयोभिर्नवरागहिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुः कृती॥ १५५

व्रजसुन्दरी ने मेरे द्वारा आपको यह संवाद भेजा है—हे कृष्ण ! तुम राजधानीमें गये हो, स्वच्छन्द होकर जाओ, किन्तु चारों ओर विस्फूर्तिशील होकर मेरी दुखिता सखी को क्यों बार-बार दुख दे रहे हो १५३

अनुवाद—(भाव) अनुराग यदि स्वसम्वेद्यदशा को प्राप्त होकर प्रकाशित हो एवं यदि यावदाश्रय-वृत्ति हो—तब उसे 'भाव' कहा जाता है ॥१५४॥ यथा—गोवर्धन पर किसी एक कुञ्ज में श्रीराधा जी एवं श्रीकृष्ण एक दूसरे के माधुर्यास्वादन में मग्न थे। दोनों के शरीर पर उद्दीप्त सात्त्विक भाव छा रहे थे। उनकी महाभाव माधुरी का अनुमोदन करते हुए वृन्दाने कहा—हे गोवर्धन-निकुञ्ज विहारिकुञ्जर-पते ! श्रीराधा जी के और तुम्हारे चित्तरूप लाक्षा को स्वेद-ताप द्वारा धीरे धीरे द्रवीभूत करके (परस्पर के चित्तका) भेद-भ्रम दूर हो गया है। एकीभूत करके सुनिपुण शृंगार रूप शिल्पी—ने इस ब्रह्माण्डरूप अट्टालिका का भीतरी भाग चित्रित करने के निमित्त नवराग रूप हिंगुल द्वारा स्वयं उसे अनुरंजित किया है ॥१५५॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—अनुराग-उत्कर्ष की एक विशेष अवस्था का नाम है भाव, श्रीरूप-गोस्वामि ने श्रीउज्ज्वल नीलमणि में भाव और महाभाव को एकार्थक रूपमें ग्रहण किया है। अनुराग की यह दशा अर्थात् भाव अनुराग के लिये स्वयं अनुभवयोग्य है; इसलिये इसे 'स्व-सम्वेद्यदशा' कहा गया है। अनुराग दशा के तीन स्वरूप हैं—भाव, करण और कर्म। अनुरागोत्कर्ष है आनन्दांश में श्रीकृष्णा-नुभव रूप। अनुरागोत्कर्षकी जब बलवती उत्कण्ठाके साथ श्रीकृष्ण-माधुर्यादि अनुभूत होता है तब इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपनी स्मृति नहीं रहती और न आस्वाद्य-माधुर्यादि की। केवल रहता है अनुभव का ज्ञान।

करण का अर्थ है उपाय। संविदंश में अनुराग द्वारा श्रीकृष्णमाधुर्यादि आस्वादन किया जाता है। अतः अनुराग ही श्रीकृष्ण माधुर्यादि के आस्वादन का करण या उपाय है। कर्म का अर्थ है जो किया जाये। जिसका आस्वादन किया जाता है, वह आस्वादन का कर्म है। अनुरागोत्कर्ष द्वारा जैसे श्रीकृष्ण का आस्वादन किया जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णमाधुर्यास्वादन के द्वारा अनुरागोत्कर्ष का भी अनुभव किया जाता है। अनुराग के प्रभाव से श्रीकृष्णमाधुर्य असमोर्ध्व वृद्धि को प्राप्त करता है और श्रीकृष्ण माधुर्य आस्वादन के प्रभाव से अनुरागोत्कर्ष शेष सीमा तक वर्द्धित हो उठता है। अतः जिस अवस्था में भाव, करण एवं कर्म स्वरूप में अनुराग की पूर्णतम अभिव्यक्ति होती है एवं उनके अनुभव में पूर्णतम आनन्द उदित होता है, अनुराग की उस अवस्थाको ही 'स्व-सम्वेद्यदशा' कहा जाता है।

अनुराग रति की परमोत्कर्ष अवस्था है। रति है ह्लादिनी-संवित् प्रधाना स्वरूपशक्ति की वृत्ति। अतः अनुराग में ह्लादिनी एवं संवित रहती है। अनुराग की स्वसम्वेद्यत्व की चरमोत्कर्ष दशा ही है महाभाव। अनुराग में उद्दीप्त सात्त्विक भावों के बाहर प्रकाशित होने से प्रकाशित होता है। अतः इसे प्रकाशमान कहा गया है।

'यावदाश्रय वृत्ति' का अभिप्राय है—जितने जितने साधक भक्त तथा सिद्ध भक्त हैं, उन सब पर अनुराग की वृत्ति या क्रिया है। किन्तु योग्यतानुसार साधक भक्त एवं सिद्ध भक्तों पर योग्यतानुसार

७९—मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः । व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते ।। १५६ ।।

८०—वरामृतस्वरूपश्रीः स्वं स्वरूपं मनो नयेत् ।। १५७ ।।

८१—स रूढश्चाधिरूढश्चेत्युच्यते द्विविधो बुधैः ।। १५८ ।।

तत्र रूढः—८२—उद्दीप्ता सात्त्विका यत्र स रूढ इति भण्यते ।। १५९ ।।

(७८) उन्मीलत्कलहंसगद्गदरवा कम्पातिविक्षोभतः संकीर्णा पृथुरोमहर्षदगतिर्वाष्पच्छटोद्गारिणी । जाड्योत्सेकपरिप्लुता कुवलयोल्लासं मुहुर्बिभ्रती गोपीनामनुरागितासरिदियं रासे वितेने रसम् ।।१६०

८३—निमेषासहतासन्नजनताहृद्विलोडनम् । कल्पक्षणत्वं खिन्नत्वं तत्सौख्येऽप्यार्तिशङ्कया ।। १६१ ।।

८४—मोहाद्यभावेऽप्यात्मादिसर्वविस्मरणं सदा । क्षणस्य कल्पतेत्याद्या यत्र योगवियोगयोः ।। १६२ ।।

अनुरागोत्कर्ष की क्रिया प्रकाशित होती है । उक्त-उदाहरण अनुरागोत्कर्षप्राप्त महाभावावस्था का दिया गया है ।।१५५।।

अनुवाद—(महाभाव की आश्रय व्रजगोपियां)—उपर्युक्त भाव श्रीकृष्ण की महिषीवृन्द (रुक्मिणी सत्यभामादि के पक्ष में अति दुर्लभ है । यह केवल मात्र व्रजदेवियों में ही सम्भव है। इसे ही 'महाभाव' नाम से कहा जाता है । (महिषीवृन्द का प्रेम-स्नेहादि ही जब श्रीव्रजगोपियों से जाति और परिमाण में न्यून है, तब उनके लिये महाभाव अति दुर्लभ है—इसका क्या कहना ?) ।।१५६।।

अनुवाद—(महाभाव-महिमा एवं प्रकार-भेद)—महाभाव वरामृतस्वरूप सम्पत्ति है और यह मनको अपनी स्वरूपता प्राप्त करा देता है । (श्रेष्ठ अमृत अर्थात् माधुर्य ही इसकी स्वरूपगत सम्पत्ति है । यह अतुलनीय माधुर्यमय है) ।।१५७।। अभिव्यक्ति के क्रमानुसार महाभाव दो प्रकारका है—रुढ़ महाभाव तथा अधिरूढ़ महाभाव—ऐसा विज्ञजन कहते हैं ।।१५८।।

अनुवाद—(रूढ़-महाभाव)महाभावकी जिस अवस्थामें समस्त सात्त्विक भाव(अश्रु-कम्प-पुलकादि) उद्दीप्त होते हैं, उसे 'रूढ़-महाभाव' कहते हैं ।।१५९।। यथा—विमानों पर बैठी सुरांगनाएं रासलीला का दर्शन कर परस्पर कहने लगीं—हे देविगण ! जिसमें कलहंसों के समान गद्गदध्वनि उद्गत हो रही है, जो कम्प के अतिशय विक्षोभ से संकीर्ण हो रही है, जो महारोमाञ्च उत्पन्न करने वाली है तथा वाष्प-छटा (अश्रु प्रवाह)उद्गीर्ण कर रही है, जो अतिशय स्तम्भयुक्ता है, पृथ्वीमण्डल आनन्दकारिणी गोपीवृन्द की वह अनुराग नदी रासमण्डल में रसविस्तार करते हुए प्रवाहित हो रही है—(समस्त सात्त्विक भाव रासलीला में व्रजगोपियों में प्रकाशित हो रहे थे, उसका उदाहरण है ।।१६०।।

अनुवाद—(रूढ़महाभाव के चित्तगत लक्षण)—निमेषों (पलक पड़ने) में असहिष्णुता, निकटवर्ती जनसमूह का हृदय-विलोड़न, कल्पक्षणत्व (कल्पसमय क्षणकाल के समान प्रतीत होना) श्रीकृष्ण के सुख में आर्ति की आंशकाजात खिन्नता, मोह-अभाव में भी आत्मादि सर्व-विस्मृति, एक क्षण भी कल्प के समान होकर लगना—रुरूभाव में, चाहे योग हो या वियोग, ये समस्त लक्षण प्रकाशित होते हैं ।।१६१-१६२।।

अनुवाद—(निमेष-असहिष्णुता) श्रीभागवत (१०।८२।३९) में यथा—कुरुक्षेत्र में आकर व्रज-गोपियों के श्रीकृष्णदर्शन जनित आनन्द का वर्णन करते हुए श्रीशुकदेव जी ने कहा—बहुत समय के पश्चात् अभीष्ट श्रीकृष्णको प्राप्त कर व्रजगोपियों की पलकें श्रीकृष्ण-दर्शन में बाधा डाल रही थीं । अतः

तत्र निमेषासहता, यथा श्रीदशमे—(१०।८२।३९)

(७९) गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वास्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥ १६३ ॥

आसन्नजनताहृद्विलोडनं, यथा—(८०)

सख्यः प्रोक्ष्य कुरून् गुरुक्षितिभृतामाघूर्णयन्ती शिरः स्वस्था विश्लथयन्त्यशेषरमणीराप्लाव्य सर्वं जनम् ।
गोपीनामनुरागसिन्धुलहरी सत्यान्तरं विक्रमैराक्रम्य स्तिमितां व्यधादपि परां वैकुण्ठकण्ठश्रियम् ॥१६४॥

कल्पक्षणत्वं, यथा—

(८१) शरज्ज्योत्स्नीरासे विधिरजनिरूपापि निमिषादतिक्षुद्रा तासां यदजनि न तद्विस्मयपदम् ।
सुखोत्सेकारम्भे निमिषलवकल्पामिव दशां महाकल्पाकल्पाप्यहह लभते कालकलना ॥ १६५ ॥

तत्सौख्येऽप्यार्तिशङ्कया खिन्नत्वं यथा श्रीदशमे—(१०।३१।१९)

(८२) यत्ते सुजात ! चरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥ १६६ ॥

वे पलक निर्माता विधाता को शाप देने लगीं । दृष्टि द्वारा श्रीकृष्ण को हृदय में ले जाकर उन्हें दृढ़भाव से आलिंगन करते हुए नित्य संगिनी महिषीवृन्द के लिये भी दुर्लभ महाभाव विकार को—महाभाव-जनित परमानन्द का उपभोग करने लगीं ॥१६३॥

अनुवाद—(निकटवर्ती जनों के हृदय का विलोड़न), अर्थात् जहां रूढ़ महाभाव विकशित होता है, वहां निकटवर्ती लोगों के चित्त में रूढ़भाव अपना प्रभाव विस्तार करता है । यथा—कुरुक्षेत्र में श्री गोपीवृन्द तथा श्रीकृष्ण के मिलन में उद्भूत रूढ़ महाभाव से द्वारका वासिनी कुछ रसविदुषी नारियां परस्पर इस प्रकार कहने लगीं—अरी सखियो ! ब्रजगोपियोंके अनुराग-सागर की लहरियों ने कुरुवंशियों को प्लावित कर दिया है, महाराज के मस्तक को चकराते हुए पतिव्रताओं के सतीत्व-धर्म को शिथिल कर दिया है, समस्त लोगों को सराबोर कर अपने प्रभाव से सत्यभामा के चित्त पर चोट करते हुए श्री कृष्ण की कण्ठशोभा स्वरूपा श्रीरुक्मिणीदेवी को भी अतिशय आश्चर्य में डाल दिया है । (ब्रजगोपियोंके रूढ़ महाभाव ने वहां सब को अपने प्रभाव से अभिभूत कर दिया था) ॥१६४॥

अनुवाद—(कल्पक्षणत्व)—यथा—शारदीय रासलीला-रात्रि अनेक रात्रियों के समूह की भांति अति दीर्घ थी, किन्तु ब्रजगोपियों को वह समय अति अल्प होकर प्रतीत हुआ । इस सम्बन्ध में पौर्णमासी देवी ने नान्दीमुखी से कहा—अयि नान्दीमुखि ! शरत् कालीन ज्योत्स्नामयी वह रास-रजनी ब्रह्मरात्रि के समान हो गयी थी, तथापि ब्रजगोपियों ने उसे निमेष-परिमित काल से भी अल्प समझा,—इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है । क्योंकि श्रीकृष्ण के साथ मिलन में उनके सुखोत्सव के आरम्भ होते ही महाकल्प का काल भी निमिष के बराबर हो जाता है । (श्रीकृष्ण के साथ विहार की तीव्र उत्कण्ठा विहारादि के साथ चित्त की तन्मयता कर देती है) ॥१६५॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण की सुख-अवस्थिति में दुख की आशंका)—श्रीभागवत (१०।३१।१९) में, यथा—रासस्थली से श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर ब्रजगोपीगण विलाप करते हुए कह रही हैं—हे प्रिय ! आपके चरण नवीन कमल की भांति अति सुकोमल हैं । ऐसे सुकोमल कि जब आप उन्हें हमारे वक्षस्थल पर धारण करने की इच्छा करते तो हम अति भीत होतीं कि हमारे अति कठोर स्तनों से आपके चरण-

मोहाद्यभावेऽपि सर्वविस्मरणं यथा एकादशे—(११।१२।१२)—(८३)

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥ १६७ ॥

क्षणकल्पता यथा तत्रैव—(भा० ११।१२।११)—(८४)

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥ १६८ ॥

८५—आद्यशब्दादिह प्रोक्ता कृष्णाविर्भावकारिता । संभोगभेदे विस्पष्टं सा पुरस्तात्प्रवक्ष्यते ॥ १६९ ॥

अथ अधिरूढः—

८६—रूढोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः कामप्याप्ता विशिष्टताम् । यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढो निगद्यते १७० ॥

यथा शिववाक्यम्—(८५)

लोकातीतमजाण्डकोटिगमपि त्रैकालिकं यत्सुखं दुःखं चेति पृथग्यदि स्फुटमुभे ते गच्छतः कूटताम् ।
नवाभासतुलां शिवे तदपि तत्कूटद्वयं राधिकाप्रेमोद्यत्सुखदुःखसिन्धुभवयोर्विन्देत बिन्द्वोरपि ॥ १७१ ॥

कमल कहीं क्षत-विक्षत न हो जायें । अब हाय ! आप उन्हीं चरणों से पत्थर एवं कण्टकाकीर्ण वन में भ्रमण कर रहे हो । क्या आपके चरणों में दुख नहीं हो रहा है ? अवश्य हो रहा होगा, यह सोचकर हमारी बुद्धि घूमते-घूमते व्याकुल हो रही है, आप ही हमारे जीवन हैं ।।१६६।।

अनुवाद—(मोहादि के अभाव में भी सर्वविस्मृति) श्रीभागवत (११।१२।१२)में, यथा—मेरी प्रीति में व्रजगोपीवृन्द सब कुछ विस्मृत हो जाती हैं—श्रीकृष्ण यही बात श्रीउद्धव के प्रति कह रहे हैं—हे उद्धव ! समुद्र में प्रविष्ट नदियों की भांति समाधिकाल में मुनिजन जैसे नाम-रूपादि कुछ भी नहीं जान पाते, उसी प्रकार जिनकी बुद्धि-वृत्ति अतिशयरूप में मुझ में आसक्त है, वे गोपीगण भी अपने देह, पर-काल अर्थात् वेदधर्म-कुलधर्मादि त्याग करने का क्या फल है, उसे भूल चुकी हैं तथा इस समय—लज्जा भयादि के अतिक्रमण के फलको कुछ भी नहीं जानतीं, सब कुछ ही वे भूल ही गयी हैं । (मोह नहीं है, किन्तु फिर भी वे सब कुछ भूली रहती हैं) ।।१६७।।

अनुवाद—(क्षणकल्पता) श्रीभागवत (११।१२।११) में यथा—श्रीकृष्ण ने श्रीउद्धव के प्रति कहा—हे उद्धव ! जब मैं वृन्दावन में था, उन ब्रजगोपियों को मुझ प्रियतम के संगवश समस्त रात्रियां आधेक्षण के समान लगती थीं, किन्तु अब मेरे विच्छेद में वे सब रात्रियां उन्हें कल्प के समान दीर्घ होकर बीत रही हैं ।।१६८।।

अनुवाद—रूढ़ महाभाव का ऐसा प्रभाव है कि वह श्रीकृष्ण को आविर्भूत करा देता है—'क्षण-कल्पताद्या'—शब्द में प्रयुक्त 'आद्या' शब्द से यही सूचित होता है इस बात को आगे संभोग-भेद प्रकरण में स्पष्ट रूप से वर्णन किया जायेगा ।।१६९।।

अनुवाद—(अधिरूढ़ भाव)—जिसमें रूढ़ महाभाव में कहे समस्त अनुभावों से समस्त सात्त्विक-भाव कोई एक अनिर्वचनीय विशिष्टता प्राप्त करते हैं, उसे अधिरूढ़-भाव कहते हैं ।।१७०।। जैसा कि श्रीशिवजी ने कहा है--पार्वती जी ने एकबार श्रीशिवजी से श्रीराधा प्रेम की विशिष्टता का प्रभाव जब पूछा तो उन्होंने कहा—हे शिवे ! लोकातीत वैकुण्ठधाम में एवं कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में भी त्रैका-लिक जितना सुख और दुख है अर्थात् ब्रह्माण्डों में अतीत में जो सुख-दुख था, वर्तमान में जो सुख-दुख है

८७—मोदनो मादनश्चासावधिरूढो द्विधोच्यते ॥ १७२॥

तत्र मोदनः—८८—मोदनः स द्वयोर्यत्र सात्त्विकोद्दीप्तसौष्ठवम् ॥ १७३॥

यथा ललितमाधवे—(८।९)
आतन्वन्कलकण्ठनादमतुलं स्तम्भश्रियोज्जृम्भितो भूयिष्ठोच्छलदङ्कुरः फलितवान् स्वेदाम्बुमुक्ताफलैः।
उद्यद्बाष्पमरन्दभागविचलोऽप्युत्कम्पवान् विभ्रमै राधामाधवयोर्विराजति चिरादुल्लासकल्पद्रुमः १७४॥
८९—हरेर्यत्र सकान्तस्य विक्षोभभरकारिता। प्रेमोरुसंपद्विख्यातकान्तातिशयितादयः॥ १७५॥
९०—राधिकायूथ एवासौ मोदनो न तु सर्वतः। यः श्रीमान् ह्लादिनीशक्तेः सुविलासः प्रियो वरः १७६॥

तत्र सकान्तस्य हरेः क्षोभभरकारिता, यथा—
(८७) हन्त स्तम्भकरम्बिता भुवि कुरोर्भद्रा सरस्वत्यभूद्बाष्पं भास्करजा मुमोच तरसा सत्याभ्रमन्नर्मदा।
भेजे भीष्मसुता च वर्णविकृतिं गाम्भीर्यभागप्यसौ कृष्णोदन्वति राधिकाद्भुतनदीप्रेमोर्मिभिः संवृते १७७॥

तथा भविष्यत में जो सुख-दुख होगा, उन सब को यदि पृथक् पृथक् भाव में एक स्थल पर एकत्रित किया जाये, तो उन समस्त सुखों का ढेर और उन समस्त दुखों का ढेर श्रीराधा जी के विकसित प्रेम से उत्पन्न सुख-दुख सागर के एक विन्दु के आभास तुल्य भी नहीं होगा (सर्वातिशायी सुखों तथा दुखों की एक साथ अनुभूति श्रीराधा प्रेम की अनिर्वचनीय विशेषता है) ॥१७१॥

अनुवाद—(मोदन एवं मादन-महाभाव) अधिरूढ़ महाभाव दो प्रकार का है—मोदन और मादन। (मृद्धातु से मोदन-शब्द निष्पन्न होता है। मृद् धातुका अर्थ है हर्ष। अतः यह हर्ष मिलन जनित या सम्भोगजनित हर्षका सूचक है। इस तरह मद-धातुसे मादन-शब्द निष्पन्न है, जिसका अर्थ है—मत्तता अतः मोदन-शब्द दिव्य मधु-विशेष की भांति श्रीकृष्ण के साथ मिलन-जनित आनन्दोन्मत्तता को सूचित करता है) ॥१७२॥ (मोदन)—अधिरूढ़ भाव में जब श्रीकृष्ण तथा श्रीराधा—दोनों में ही सब उद्दीप्त सात्त्विक भाव (विशिष्ट) सौष्ठव धारण करते हैं, तब उसे 'मान' कहा जाता है ॥१७३॥ श्रीललितमाधव (८।९) में, यथा—नववृन्दा श्रीश्रीराधाकृष्ण के मिलन-वर्णन प्रसंग में कहती है—जिसमें मधुर एवं धीमा कण्ठनाद प्रकाश पा रहा है, स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव की अतुलनीय शोभा प्रकाशित हो रही है, जिसमें अतिशय रोमाञ्च हो रहा है, जो स्वेद-जलकणरूप मुक्ताफलों से भूषित हो रहा है, जो अश्रु रूप मकरन्दयुक्त है एवं निश्चल होकर भी जो विलासवश कम्पित हो रहा है, श्रीश्रीराधा-माधव का वह उल्लासरूप कल्पवृक्ष चिरकाल से शोभित हो रहा है ॥१७४॥

अनुवाद—(मादन-महाभाव का प्रभाव)—जब मोदन में कान्ताओं के साथ श्रीकृष्ण का विक्षोभ उत्पन्न होता है एवं प्रेम-प्रचुरतारूप सम्पत्ति के लिये जो सब कृष्णकान्ता विख्यात हैं (जैसे चन्द्रावली आदि) उन समस्त से भी परमोत्कर्षमय प्रेम-अधिकता व्यक्त होती है तथा अन्यान्य असख्य गुण भी प्रकाशित हो उठते हैं, उसे मोदन-भाव कहते हैं ॥१७५॥ यह परम महिमामय मोदन एकमात्र श्रीराधा जी के यूथ में ही सम्भव है, सर्वत्र सम्भव नहीं है। यही ह्लादिनी शक्ति का सुविलास या परम वृत्तिरूप है। यह सुविलास प्रिय या श्रेष्ठ मधुराख्य है ॥७६॥

अनुवाद—(सकान्त-कृष्ण की क्षोभकारिता), यथा—कुरुक्षेत्र-यात्रा में व्रजगोपियों के साथ श्रीकृष्ण के मिलन-वृतान्त की अतिशय चमत्कारिता सुनकर श्रीरुक्मिणी आदि महिषीवृन्द व्रजगोपियों के दर्शन करने के लिये उत्कण्ठित हो उठीं, किन्तु उनका दर्शन वे प्राप्त न कर सकीं, क्योंकि वे पट्टगृहों

प्रेमोरुसंपद्वतीवृन्दातिशयित्वं, यथा—(८८)

अद्वैताद्गिरिजां हरार्धवपुषं सख्यात्प्रियोरः स्थितां लक्ष्मीमच्युतचित्तभृङ्गनलिनीं सत्यां च सौभाग्यतः। माधुर्यान्मधुरेशजीवितसखीं चन्द्रावलीं च क्षिपन् पश्यारुद्ध हरिं प्रसार्य लहरीं राधानुरागाम्बुधिः १७८॥

में पर्दे में छिपी हुई अवस्थान कर रही थीं। श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्थित श्रीराधाजी के मादनाख्य महाभावके प्रभाव से पट्टगृह में अवस्थित श्रीकृष्ण में तथा श्रीरुक्मिणी आदिक में अतिशय क्षोभ उत्पन्न हो उठा। श्रीरुक्मिणी की एक सखी ने उस क्षोभ का दर्शन किया। अवसर पाकर वह सखी अपनी दूसरी एक सखी से बोली—हे सखि ! कैसा आश्चर्य है ! श्रीराधिकरूप अद्भुत नदी की प्रेमतरंगों से श्रीकृष्णरूप समुद्र रुक गया, भद्रा (सरस्वती) की वाणी स्तम्भित हो गयी। कालिन्दी (यमुना) अश्रु प्रवाहित करने लगी, नर्मदायिनी (नर्मदा) सत्यभामा तो अपस्मार (बेसुध-अवस्था) को प्राप्त हो गयी, और गम्भीर स्व-भावा भीष्मसुता श्रीरुक्मिणी देवी ने वैवर्ण्य को धारण किया—उसका रंग उड़ गया। (यहां मादन की महिषीवृन्द-कान्ताओं के साथ श्रीकृष्णमें क्षोभकारी प्रभाव वर्णन किया गया है। श्रीजीवगोस्वामी ने इसे श्रीउद्धव जी की उक्ति कहा है, जिसे श्रीचक्रवर्ती ने श्रीरुक्मिणी की एक सखीकी उक्ति कहा है) ॥१७७॥

अनुवाद—(प्रेमोरु सम्पद्वतीवृन्द से भी प्रेमाधिक्य), यथा दूसरा उदाहरण—श्रीराधाके अनुराग सागर की लहरियों का ऐसा विस्तार है कि अद्वयभाव के कारण श्रीमहेश्वर की अर्द्धांगी पार्वती को, सख्य के कारण श्रीनारायण के वक्षस्थल पर विराजित लक्ष्मीदेवी को सौभाग्य के कारण श्रीकृष्ण के मन-मधुकर की कमलिनी तुल्या सत्यभामा को तथा माधुर्य के कारण मधुरेश की प्राणसखी चन्द्रावली को भी पछाड़ कर श्रीकृष्ण को सम्यक्रूप से समावृत कर रखा है ॥१७८॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—प्रेमोत्कर्ष के लिये जो-जो रमणियां विख्यात हैं, उन सबकी अपेक्षा मोदनाख्य-महाभाववती श्रीराधा जी के प्रेमका सर्वातिशायी उत्कर्ष है,—उपर्युक्त उदाहरण में यही कहा गया है—श्रीपार्वती जी अपने प्रेमोत्कर्ष से श्रीमहादेव की अर्द्धांगिनी हैं—मानों दोनों मिलकर पूर्ण एक देह होते हैं—दोनों में कुछ भेद नहीं है, किन्तु श्रीराधा जी में जब मादनाख्य महाभाव उदित होता है, तो श्रीश्रीराधा कृष्ण का देह एवं चित्त ऐसा विगलित हो जाता है कि दोनों एक हो जाते हैं, अर्द्धांगी रहने पर फिर भी श्रीश्रीपार्वती-शिव की पृथक् स्थिति है, किन्तु श्रीश्रीराधा कृष्ण में तो पृथकत्व या भेद के भ्रम की भी प्रतीति नहीं रहती। अतः श्रीपार्वती के प्रेमोत्कर्ष को श्रीराधाजी का मादनाख्य महाभाव बहुत दूर पीछे छोड़ देता है। श्रीलक्ष्मी देवी का श्रीनारायण के प्रति सख्य प्रेम भी विख्यात है। उसका सख्यप्रेम इतना महिमामय है कि वह श्रीनारायण के वक्षस्थल पर विलास करती हैं, किन्तु मादन के आविर्भाव में श्रीकृष्ण के विषय में श्रीराधा जी का जो सख्य उद्भूत होता है, श्रीलक्ष्मी का सख्य अति फीका पड़ जाता है। सत्यभामा का सौभाग्य अर्थात् श्रीकृष्ण द्वारा किया जाने वाला जो आदर है, वह अति प्रसिद्ध है, किन्तु वह श्रीराधा जी के सौभाग्य के सामने अति तुच्छ है। प्रेममाधुर्य में चन्द्रावली श्रीकृष्ण की मनोहारिणी हैं, किन्तु श्रीराधाजी के प्रेम माधुर्य के सामने वह पराभूत हो जाता है। अतः प्रेमप्राचुर्य ही जिसकी सम्पत्ति है, उन समस्त कान्ता शक्तिगण से मादनाख्य महाभाववती श्री-राधा जी के प्रेम का सर्वातिशायी आधिक्य है।

अनुवाद—(मोहनाख्य-महाभाव)—मोदन ही प्रविश्लेष अर्थात् श्रीकृष्ण से विरह की अवस्था में 'मोहन' नाम से पुकारा जाता है। मोहन में विरह-जनित विवशता वश समस्त सात्त्विक भाव सुद्दीप्त

६१—मोदनोऽयं प्रविश्लेषदशायां मोहनो भवेत् । यस्मिन् विरहवैवश्यात्सूद्दीप्ता एव सात्त्विकाः ॥१७९॥
यथा—(८९)
उद्यद्वेपथुवाद्यमानदशना कण्ठस्थलान्तर्लुठज्जल्पा गोकुलमण्डलं विदधती बाष्पैर्नदीमातृकम् ।
राधा कण्टकितेन कण्टकिफलं गात्रेण धिक्कुर्वती चित्रं त्वद्घनरागराशिभिरपि श्वेतीकृता वर्त्तते ॥ १८० ॥
६२—अत्रानुभावा गोविन्दे कान्ताश्लिष्टेऽपि मूर्च्छना । असह्यदुःख स्वीकारादपि तत्सुखकामता १८१ ॥
६३—ब्रह्माण्डक्षोभकारित्वं तिरश्चामपि रोदनम् स्वभूतैरपि तत्सङ्गतृष्णा मृत्युप्रतिश्रवात् ।
दिव्योन्मादादयोऽप्यन्ये विद्वद्भिरनुकीर्त्तिताः ॥ १८२ ॥
६४—प्रायो वृन्दावनेश्वर्यां मोहनोऽयमुदञ्चति । सम्यग्विलक्षणं यस्य कार्यं संचारिमोहतः ॥ १८३ ॥
तत्र कान्ताश्लिष्टेऽपि हरौ मूर्च्छाकारित्वं यथा पद्यावल्याम्—(३७१)
(९०) रत्नच्छायाच्छुरितजलधौ मन्दिरे द्वारकाया रुक्मिण्यापि प्रबलपुलकोद्भेदमालिङ्गितस्य ।
विश्वं पायान्मसृणयमुनातीरवानीरकुञ्जे राधाकेलीभरपरिमलध्यानमूर्च्छा मुरारेः ॥ १८४ ॥

हो उठते हैं ॥१७९॥ यथा—व्रज से वापस लौटने पर श्रीउद्धव जी ने श्रीकृष्ण को बताया —श्रीराधा में जिस समय कम्प उदय होता है, तो उसके सब दांत खट-खट करके बजने लगते हैं, उसके वचन तो कण्ठ में ही रुके रह जाते हैं, उसकी अश्रुधाराओं ने गोकुलमण्डल को प्लावित ही कर रखा है, उसके शरीर में ऐसा रोमोद्गम होता है कि उसके सामने कांटों से भरा कण्टकी फल भी लज्जित होता है। और आश्चर्य का विषय यह है कि वह तुम्हारे अनुराग द्वारा सफेद पड़ गयी है—उसका रंग अब नव गोरोचन नहीं रहा है ॥१८०॥

अनुवाद—(मोहन के अनुभाव) श्रीराधाजी में मोहन-भाव के उदय काल में यदि श्रीकृष्ण (द्वारका में) किसी प्रेयसी द्वारा आलिंगित हो रहे हों तो वे मूर्च्छित हो जाते हैं, असह्य दुख सहन करना स्वीकार करके भी श्रीकृष्ण सुख की कामना, ब्रह्माण्ड में क्षोभकारिता, पशु पक्षि आदि तिर्यग् जाति में भी रोदन व्यक्त हो उठता, मृत्यु को स्वीकार करके भी अपने शरीर के पचभूतों के द्वारा श्रीकृष्ण-संग को तृष्णा एवं अतिशय दिव्योन्माद आदि अनेक अनुभावों का पण्डितजन वर्णन करते हैं ॥१८१-१८२॥ श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीराधिका में ही यह मोहन-भाव उदित होता है एवं उनमें प्रायशः—बार-बार उदित होता रहता है। सञ्चारि-भाव मोह के कारण इसका कार्य सम्यक्रूप से विलक्षणता धारण करता है ॥१८३॥

अनुवाद—(कान्ता द्वारा आलिंगित अवस्था में भी श्रीकृष्ण की मूर्च्छा का उदाहरण)—श्रीपद्यावली (३७१) में, यथा—एकदिन द्वारका में श्रीरुक्मिणी जी के मणिरत्न खचित महल में श्रीकृष्ण श्री रुक्मिणी के द्वारा आलिंगित हो रहे थे एवं श्रीकृष्ण का शरीर आनन्द से पुलकित हो रहा था। इस समय व्रज में श्रीराधा जी श्रीकृष्ण-विरह में व्याकुल हो उठीं एवं उनमें मोहन-भाव उदित हो उठा। उस क्षण श्रीकृष्ण के चित्त में श्रीराधा के साथ केलिविलास की स्मृति जाग्रत हो उठी। उसे स्मरण करते हुए श्रीकृष्ण वहां मूर्च्छित हो गये—इसी अद्भुत लीला का उल्लेख श्रीउमापतिधर इस प्रकार कर रहे हैं—जिस महल की रत्नछटा से समुद्र शोभायमान हो रहा था, द्वारका के उस महल में श्रीकृष्ण रुक्मिणी जी द्वारा आलिंगित हो रहे थे एवं श्रीकृष्ण के अङ्गों में प्रबलभाव से पुलकावली हो रही थी। उसी समय यमुना तीर की एक कुञ्ज में घटित श्रीराधा जी के साथ केलिविलास का माधुर्य-परिमल श्रीकृष्ण को स्मरण हो आया। उसका ध्यान करते-करते श्रीकृष्ण को जो मूर्च्छा आयी, वह विश्व की रक्षा करे ॥१८४॥

असह्यदुःख स्वीकारात्तत्सुखकामता यथा—

(९१) स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात्कदापि ।
अप्राप्तेऽस्मिन्यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु ॥ १८५ ॥

ब्रह्माण्डक्षोभकारित्वं, यथा—

(९२) नारं चुक्रोश चक्रं फणिकुलमभवद्व्याकुलं स्वेदमूहे वृन्दं वृन्दारकाणां प्रचुरमुदमुन्नश्रु वैकुण्ठभाजः । राधायाश्चित्रमीश भ्रमति दिशिदिशि प्रेमनिश्वासधूमे पूर्णानन्देऽप्युषित्वा बहिरिदमबहिश्चार्तमासीदजाण्डम्

यथा वा—

(९३) और्वस्तोमात्कटुरपि कथं दुर्बलेनोरसा मे तापः प्रौढो हरिविरहजः सह्यते तन्न जाने ।
निष्क्रान्ता चेद्भवति हृदयाद्यस्य धूमच्छटापि ब्रह्माण्डानां सखिकुलमपि ज्वालया जाज्वलीति ॥ १८७ ॥

नुवाद—(असह्य दुख स्वीकार करते हुए भी श्रीकृष्णकी सुखकामना का उदाहरण)—व्रज से मथुरा लौटते समय श्रीउद्धव जी ने पूछा—आपका क्या संवाद श्रीकृष्ण को जाकर दूँ?—तव श्रीराधा जी ने कहा—हे उद्धव! (उनसे केवल यही जाकर कहना) मुकुन्द! यदि आप इस गोष्ठ—वृन्दावन में आवें तो हमें अत्यन्त सुख होगा—यह बात ठीक है, किन्तु यदि उससे आपको कुछ भी दुख हो तो आप यहां कभी भी न आवें। और मथुरा नगर से आप के यहां न आने पर हमको अत्यन्त दुख है, होगा, तथापि वहां रहने पर यदि आपके चित्त में सुख उदित हो तो आप वहां ही रहे आवें ॥१८५॥

अनुवाद—(ब्रह्माण्ड क्षोभकारिता), यथा—श्रीकृष्णविरह व्याकुला श्रीराधा जी में मोहन भाव का उदय हो आया। उस समय प्राकृत एवं अप्राकृत लोकों में क्षोभ को योगदृष्टि से देखकर तथा अपने में भी उसका अनुभवकर नान्दीमुखी उसी समय द्वारका चली गयी और श्रीकृष्ण के पास जाकर निवेदन करने लगी—हे ईश! श्रीराधा के प्रेम-विश्वास रूप धुंऐ ने सारी दिशाओं में छाकर जो आश्चर्य उत्पन्न कर दिया उसे निवेदन करने आयी हूँ। मनुष्य समूह तो उच्चस्वर से चीत्कार कर उठा था, फणिकुल (शेषनागादि सप्त पातालस्थ सब जन्तु) व्याकुल हो उठे, सातों स्वर्ग स्थित समस्त देवता स्वेद से नहा गये,एवं वैकुण्ठ स्थित लक्ष्मी आदि प्रचुर अश्रुधारा प्रवाहित करने लगीं। इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड चौदह भवन में और उसके बाहर (चिन्मय धामों में) पूर्णानन्द आस्वादन करते हुए भी सब अत्यन्त दुखी हो उठे ॥१८६॥

दूसरा उदाहरण, यथा—श्रीराधा जी ने अपनी सखी विशाखा जी से कहा—हे सखि! श्रीकृष्ण के विरह से जनित बढ़ा हुआ ताप बड़वानल पुञ्ज से भी तीक्ष्ण है, मेरा दुर्बलहृदय उसे कैसे सहन कर रहा है, मैं नहीं जानती इस तापकी धूम-छटा (धुएं की छाया) यदि मेरे हृदयसे बाहर निकले तो ब्रह्माण्ड समूह उसकी ज्वाला में जल जाएंगे। (ऐसा है अद्भुत प्रभाव श्रीराधा जी में उदित होने वाले मोहना-ख्य-भाव का) ॥१८७॥

अनुवाद—(तिर्यक्‌जाति का रोदन) यथा श्रीपद्यावली (३७३) में—अश्रुधारा प्रवाहित करते-करते नान्दीमुखी श्रीराधा जी की चेष्टा पौर्णमासी को बता रही है—हे देवि! श्रीकृष्ण द्वारका चले गये हैं—यह बात सुनकर श्रीराधा ने श्रीकृष्ण के पीताम्बर से (जो श्रीकृष्ण उन्हें प्रदान कर गये थे) अपने शरीर को ढक लिया, उत्कण्ठित होकर कालिन्दी तटवर्ती कुञ्ज की मनोहर लता का आश्रय लेकर—पकड़ कर

तिरश्चामपि रोदनं, यथा पद्यावल्याम्—(३७३)—

(९४)—याते द्वारवतीपुरं मधुरिपौ तद्वस्त्रसंव्यानया कालिन्दीतटकुञ्जवञ्जुललतामालम्ब्य सोत्कण्ठया।
उद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥ १८८॥

मृत्युस्वीकारात्स्वभूतैरपि तत्सङ्गतृष्णा, यथा तत्रैव—(९५)

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गनव्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः १८९॥

अथ दिव्योन्मादः—

९५—एतस्य मोहनाख्यस्य गतिं कामप्युपेयुषः। भ्रमाभा कापि वैचित्री दिव्योन्माद इतीर्यते ॥ १९०॥

९६—उद्घूर्णा चित्रजल्पाद्यास्तद्भेदा बहवो मताः॥ १९१॥

वह अतिशय अश्रुधारा प्रवाहित करते हुए गद्गद् स्वर में इतनी उच्च ध्वनि में रोदन करने लगीं, कि उसे सुनकर कालिन्दी के जल में विचरण करने वाले मछली-कछुआ आदि जलजन्तु भी उच्चस्वर से रोने लगे ॥१८८॥

अनुवाद—(मृत्यु स्वीकार करके भी अपने शरीरस्थ पंचभूतों द्वारा श्रीकृष्ण के संग की तृष्णा का उदाहरण)—श्रीकृष्ण-विरहातुरा श्रीराधा जी ने ललिता जी से कहा—सखि ! श्रीकृष्ण यदि व्रज में लौट कर नहीं आते, तो यह निश्चित है कि मैं उन्हें न देख पाऊंगी और न वे मुझे देख पायेंगे। इस दुख पूर्ण अवस्था में शरीर की रक्षा करने का भला क्या प्रयोजन ? अतः देह पात के पश्चात् देह के बचे पंच-भूतों द्वारा भी यदि मैं उनको सेवा का सौभाग्य प्राप्त कर सकूं तो इस देह की कुछ सार्थकता मानूंगी। अतः हे ललिते ! मेरा यह शरीर पात हो जाये, तो शरीर के सबभूत अपने अपने अंश में—(आकाश आकाश में, अग्नि अग्नि में जल जल में इत्यादि) मिल जायेंगे, अहो ! विधाता के चरणों में मस्तक रखकर उससे मैं यही प्रार्थना करती हूँ कि मेरे शरीर का अवशेष जल श्रीकृष्ण के विहारसरोवर में, तेज उनके दर्पण में, आकाश उनके आंगन के आकाश में पृथ्वी उनके आने-जाने के पथ में और वायु उनके पंखा में प्रवेश करे ॥१८९॥

अनुवाद—(दिव्योन्माद का लक्षण)—जिस एक अनिर्वचनीय वृत्तिको प्राप्त करके यह मोहनाख्य-महाभाव भ्रम-सदृशी किसी एक वैचित्री को धारण करता है, उसे 'दिव्योन्माद' कहते हैं। (दिव्योन्माद मोहन भाव का एक अनुभाव है) ॥१९०॥ उद्घूर्णा, चित्र जल्पादि नाम से दिव्योमाद के अनेक प्रकार हैं ॥१९१॥

रूपकृपात रंगिणी-टीका—प्राकृत उन्माद एक रोग है जो मस्तिष्क का विकार है, किन्तु श्रीराधा जी की एकमात्र सम्पत्ति मोहनाख्य-महाभाव-जनित है यह उन्माद जो मस्तिष्क-विकार नहीं, यह अप्राकृत है। श्रीराधा जी ह्लादिनी शक्ति की मूर्त्त रूपा हैं। उनके समस्त देहेन्द्रिय भी ह्लादिनी शक्ति के स्वरूपभूत हैं। उनके चित्त में आविर्भूत मोहन-भाव भी ह्लादिनी शक्ति की ही वृत्ति विशेष है। वह समस्त अप्राकृत चिन्मय हैं, दिव्य हैं। अतः मोहनाख्य-जनित उन्माद को 'दिव्य-उन्माद' कहा गया है। मोहन की वैचित्री को 'भ्रमाभा' कहा गया है, वह भ्रम सदृशी है, भ्रम नहीं है। प्राकृत-भ्रम प्राकृत इन्द्रियों की वृत्ति की विकलता वश पैदा होता है। वह विकलता का विकार है। किन्तु श्रीराधा जी के मोहन भाव की वैचित्री इन्द्रिय-विकलता, का विकार नहीं है। श्रीकृष्ण सम्बन्धी किसी वस्तु में चित्तवृत्ति के केन्द्रीभूत होने पर उस वैचित्री में भ्रम-सदृशी अवस्था है। भ्रम नहीं, प्राकृतचित्त वृत्ति की विकलता वश भ्रम की यहां गन्ध भी नहीं है।

तत्र उद्घूर्णा:—९७—स्याद्विलक्षणमुद्घूर्णा नानावैवश्यचेष्टितम् ॥ १९२ ॥

यथा—(९६)—

शय्यां कुञ्जगृहे क्वचिद्वितनुते सा वाससज्जायिता नीलाभ्रं धृतखण्डिता व्यवहृतिश्चण्डी क्वचित्तर्जति ।
आघूर्णत्यभिसारसंभ्रमवती ध्वान्ते क्वचिद्दारुणे राधा ते विरहोद्भ्रमप्रमथिता धत्ते न कां वा दशाम् ?॥

९८—मथुरानगरं कृष्णे लब्धे ललितमाधवे । उद्घूर्णेयं तृतीयाङ्के राधायाः स्फुटमीरिता ॥ १९४ ॥

अथ चित्रजल्पः—

९९—प्रेष्ठस्य सुहृदालोके गूढरोषाभिजृम्भितः । भूरिभावमयो जल्पो यस्तीव्रोत्कण्ठितान्तिमः ॥ १९५ ॥

१००—चित्रजल्पो दशाङ्गोऽयं प्रजल्पः परिजल्पितम् । विजल्पोज्जल्पसंजल्पा अवजल्पोऽभिजल्पितम् ॥

आजल्पः प्रतिजल्पश्च सुजल्पश्चेति कीर्तिताः ॥ १९६ ॥

१०१—एष भ्रमरगीताख्यो दशमे प्रकटीकृतः ॥ १९७ ॥

१०२—असंख्यभाववैचित्री चमत्कृतिसुदुस्तरः अपि चेच्चित्रजल्पोयं मनाक् तदपि कथ्यते ॥ १९८ ॥

तत्र प्रजल्पः—

१०३—असूयेर्ष्यामदयुजा योऽवधीरणमुद्रया । प्रियस्याकौशलोद्गारः प्रजल्प. स तु कीर्तितः ॥ १९९ ॥

अनुवाद—(उद्घूर्णा)—अनेकविध विलक्षण प्रेम-विवशता जनित चेष्टा को 'उद्घूर्णा' कहते हैं । ॥१९२॥ यथा—श्रीकृष्ण के पूछने पर श्रीउद्धव ने बताया—आपके विरह-जनित उद्भ्रम के द्वारा प्रकृष्ट रूप से मथित होकर श्रीराधा जिस अनिर्वचनीय दशा को प्राप्त होती है, उसे वर्णन नहीं किया जा सकता वासक-सज्जायिता होकर कभी तो वह कुञ्जभवन में शय्या रचना करती है, कभी खण्डिता-भाव में अतिशय कोपयुक्ता हो उठती है और नीलमेघ को तर्ज्जन करने लगती है, कभी फिर अभिसार के लिये व्यस्त होकर घोर अन्धकार में घूमने लगती है ॥१९३॥ श्रीललितमाधव नाटकके तीसरे अंकमें श्रीकृष्णके मथुरा चले जाने पर श्रीराधा जी के इस उद्घूर्णा-भाव का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है ॥१९४ ॥

अनुवाद—(चित्रजल्प – दिव्योन्माद की वैचित्री में अद्भुत विचित्र कथन जो प्रकाशित होता है, उसे 'चित्रजल्प' कहते हैं)—प्रियतम व्यक्ति—श्रीकृष्ण के सुहृद (उद्धवादि) को देखने पर गूढ़ रोष से स्फुरित जो भूरिभावमय जल्प, जिस के अन्तिम कथन में तीव्र उत्कण्ठा विद्यमान रहती है, उसे चित्र-जल्प कहते हैं । (इसका उदय एकमात्र श्रीराधा जी में होता है) ॥१९५॥ चित्रजल्प के दश अंग हैं—प्रजल्प, परिजल्प, विजल्प, उज्जल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प तथा सुजल्प । इन दश अङ्गों को श्रीमद्भागवत (१०।४७ वें) अध्यायमें वर्णित भ्रमरगीत में प्रकाशित किया गया है ॥१९६-१९७॥ यद्यपि यह चित्रजल्प असंख्य भाव-वैचित्री मय हैं, एवं अपूर्व चमत्कृतिमय होने से सुदुस्तर है, तथापि उसका किञ्चित वर्णन किया जाता है ॥१९८॥

अनुवाद—(प्रजल्प) असूया, ईर्ष्या, एवं मदभरे वाक्यों द्वारा अवज्ञा प्रदर्शनपूर्वक प्रीतम के अकौशल को उद्गीरण करने को 'प्रजल्प' कहते हैं ॥१९९॥ श्रीमद्भागवत (१०।४७।१२) में, यथा—मथुरा से श्रीउद्धव के आने पर श्रीराधा जी ने अपने चरण-सौरभ में लोलुप हुए एक भ्रमर को उपलक्ष्य करके कहा—हे मधुप ! हे कितवबन्धो ! (प्रवञ्चक—श्रीकृष्ण के बन्धो या दूत !) तुम मेरे चरण स्पर्श मत करना, क्योंकि तुम्हारी मूछोंमें हमारी सौतों (मथुरावासिनियों) की कुच-विमर्दित माला का कुंकुम—केसर लग रहा है (भ्रमर के मुख पर जो बढ़े हुए दो चार बाल मूछों के समान रहते हैं—वे पीले रंग

यथा—(भा० १०।४७।१२)—

(९७) मधुप ! कितवबन्धो ! मा स्पृशाङ्‌घ्रिं सपत्न्याः कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥ २०० ॥

अथ परिजल्पितम्—

१०४—प्रभोर्निर्दयताशाठ्यचापलाद्युपपादनात् । स्वविचक्षणताव्यक्तिर्भङ्‌ग्या स्यात्परिजल्पितम् ॥ २०१

यथा—(भा० १०।४७।१३)—

(९८) सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक् ।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं नु पद्मा अपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥ २०२ ॥

अथ विजल्पः—

१०५—व्यक्तयासूयया गूढमानमुद्रान्तरालया । अघद्विषि कटाक्षोक्तिर्विजल्पो विदुषां मतः ॥ २०३ ॥

यथा—(भा० १०।४७।१४)—

(९९) किमिह बहु षडङ्‌घ्रे गायसि त्वं यदूनामधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥ २०४ ॥

के होते हैं) ऐसे तुम जिसके दूत हो, वे मधुपति (मथुरापति—अथवा तुम्हारे स्वामी) उन्हीं मानिनियोंकी प्रसन्नता प्राप्त करें, जो यदु-वंशियों की सभा में निन्दनीय है। श्रीसनातन गोस्वामी ने अपनी वैष्णव-तोषणी—टीका में उन वचनों का युक्ति संगत परिचय दिया है कि वे श्रीराधा जी की मुखोक्ति हैं २००

अनुवाद—(परिजल्प) प्रभुकी—श्रीकृष्णकी निर्दयता, शठता तथा चपलतादि दोषों का प्रतिपादन करते हुए बात घुमाकर जिसमें अपनी विचक्षणता—चतुरता प्रकाशित की जाये उसे 'परिजल्प' कहा जाता है ॥२०१॥ श्रीमद्भागवत (१०।४७।१३) में, यथा—श्रीराधा जी ने उसी भ्रमर को आगे कहा—अरे मधुप ! तुम जैसे कुसुमों का मधु पान करके उन्हें परित्याग कर देते हो, उसी प्रकार वे मधुपति—श्रीकृष्ण भी वलपूर्वक—छलपूर्वक एक बार मात्र अपनी मोहिनी—बुद्धिभ्रंशकारिणी अधर सुधा पान कराकर तत्क्षण हमें परित्याग कर चले गये हैं। (यदि तू कहे कि अपनी सेवा करने वाली लक्ष्मी को तो वे त्याग नहीं करते ? तो सुन—(लक्ष्मी देवी क्यों उनको चरणसेवा करती रहती है)—उसे तू समझ ही नहीं सकता। (क्षणकाल चिन्ता कर श्रीराधा जी ने फिर कहा—) हां-हां मैं जान गयी लगता है, उनके स्तवकारी जनों के मुख से यह सुनकर कि वे उत्तमश्लोक हैं—उन प्रलोभनीय स्तुतिवाक्यों को सुनकर लक्ष्मी का मन हरा गया है, इसलिये वह निरन्तर उनकी परिचर्या करती रहती है ॥२०२॥

अनुवाद—(विजल्प)—गूढ़ मान-मुद्रा के अन्तराल में अवस्थित असूया को व्यक्त करके श्रीकृष्ण के प्रति जो कटाक्षमय वचन हैं, उसे पण्डितजन 'विजल्प' कहते हैं ॥२०३॥ श्रीभागवत (१०।४७।१४) में, यथा—हे भ्रमर ! इस परमदुखित व्रजधाम में गृहहीना—वनचारिणी हमारे सामने राजवंशीय यादवों के अधिपति की पुरानी कथा तू क्यों बार-बार गुनगुना—बोल रहा है ? विजय-सख (जिनके साथ सदा विजय सखारूप में रहती है उन) श्रीकृष्ण की सखियों (मथुरानागरियों) के सामने जाकर उनके प्रसङ्गों का गान कर, वे क्षयितकुचरुज (मधुपति के कर-स्पर्श से जिनकी स्तन पीड़ा नाश हुई है) सखियां हैं तथा उनकी प्यारी हैं, वही तुम्हें तुम्हारी अभिलषित वस्तु दान करेंगी, (हमारी चापलूसी करने से तुम्हें कुछ हाथ नहीं लगेगा) ॥२०४॥

अथ उज्जल्पः—

१०६—हरेः कुहकताख्यानं गर्वगर्भितयेर्ष्यया। सासूयश्च तदाक्षेपो धीरैरुज्जल्प ईर्यते ॥ २०५॥

यथा—(भा०, १०।४७।१५)—

(१००) दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः कपटरुचिरहासभ्रू विजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥ २०६॥

अथ संजल्पः—

१०७—सोल्लुण्ठया गहनया कयाप्याक्षेपमुद्रया। तस्याकृतज्ञताद्युक्तिः संजल्पः कथितो बुधैः ॥ २०७॥

यथा—(भा० १०।४७।१६)—

(१०१) विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारैरनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टा पत्यपत्यन्यलोका व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन् ॥ २०८॥

अथ अवजल्पः—

१०८—हरौ काठिन्यकामित्वधौर्त्यादासक्त्ययोग्यता। यत्र सेर्ष्यं भियेवोक्ता सोऽवजल्पः सतां मतः २०९॥

अनुवाद—(उज्जल्प)—जिसमें गर्वयुक्त ईर्ष्या के द्वारा श्रीकृष्ण की कपटता प्रकाशित हो एवं असूया सहित श्रीकृष्ण के प्रति आक्षेप भी रहे, उसे पण्डितजन 'उज्जल्प' कहते हैं ॥२०५॥ श्रीभागवत (१०।४७।१५) में, यथा—स्वर्ग में, पृथ्वीपर तथा रसातल में—इन तीनों लोकों में कौन सी रमणी है जो उनके लिये दुष्प्राप्य है ?—समस्त रमणियां उनके लिये सुलभ हैं। कपटता द्वारा मनोरम-मुसकान एवं भ्रुकुटि कटाक्ष करने वाले जिन श्रीकृष्ण की चरणरेणु लक्ष्मी भी सेवन करती है, उनके लिये हम किस लेखे ? हम तो उनके लिये अति तुच्छ हैं। तथापि वे तो उत्तम-श्लोक नाम से प्रसिद्ध हैं, (दीनजनों के प्रति ही अनुकम्पा प्रदर्शन करते रहते हैं—तभी तो उन्होंने उत्तम श्लोक नाम पाया है ?) ॥२०६॥

अनुवाद—(संजल्प) किसी अनिर्वचनीय दुर्गम सोलुण्ठ (ठगी-डाकाजनी)—मय आक्षेप भङ्गी से श्रीकृष्णकी अकृतज्ञता—(कठोरता एवं शठता) प्रकाशक उक्ति को 'संजल्प' कहते हैं ॥२०७॥ श्रीभागवत (१०।४७।१६) में, यथा—श्रीराधा जी ने आगे कहा—अरे भ्रमर ! तुमने अपने मस्तक पर जो मेरे चरण धारण कर रखे हैं, उनका त्याग कर। मैं तुम्हें भी जानती हूँ और तुम्हारे स्वामी मुकुन्द को भी अच्छी प्रकार जानती हूँ। चापलूसी करने में वे बड़े निपुण हैं, अनुनय करने की रीति में भी वे पण्डित हैं, उनसे चापलूसी एवं अनुनय करने की रीति-शिक्षा पाकर ही तुम दूत बनकर हमारे पास आये हो—यह सब मैं जानती हूँ। वे अकृतज्ञ हैं, क्योंकि उनके लिये ही हमने पति-पुत्र (देवरादि के पुत्र) एवं कुल धर्मादि सब का परित्याग किया है। (किन्तु वे ऐसे अकृतज्ञ कि हमें त्याग कर वे मथुरा जा बसे हैं) (यदि तुम कहो कि उनके अपराध क्षमा कर उनसे सन्धि कर लीजिये, तो सुन)—ऐसे कठिनचित्त अकृतज्ञ शठ व्यक्ति के साथ फिर सन्धि कैसी ? ॥२०८॥

अनुवाद—(अवजल्प) श्रीकृष्ण में कठोरता, कामुता, तथा धूर्त्तता होने के कारण उनके प्रति आसक्ति रखना अयोग्य है, इस प्रकार के भाव भरे वाक्य ईर्ष्या तथा भय सहित जिसमें कहे जायें, उसे 'अवजल्प' कहते हैं ॥२०९॥ श्रीभागवत (१०।४७।१७) में, यथा—(नवदूर्वादल श्याम अर्थात् कृष्णवर्ण-युक्त श्रीराम ने (क्षत्रिय होकर भी) अनर्थकारी क्रूर एवं कठोरहृदय व्याध के समान बनकर वानरराज बलि का वध किया था, और स्त्री (जानकी जी) के वशीभूत होकर कामिनी शूर्पनखा के नाक-कान काट

यथा—(भा० १०।४७।१७)—

(१०२) मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्यस्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥ २१०॥

अथ अभिजल्पितम्—

१०९—भङ्ग्या त्यागौचिती तस्य खगानामपि खेदनात्। यत्र सानुशयं प्रोक्ता तद्भवेदभिजल्पितम् २११

यथा—(भा० १०।४७।१८)—

(१०३) यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥ २१२॥

अथ आजल्पः—

११०—जैह्म्यं तस्यार्तिदत्वं च निर्वेदाद्यत्र कीर्तितम्। भङ्ग्यान्यसुखदत्वं च स आजल्प उदीरितः २१३

यथा—(भा० १०।४७।१९)—

(१०४) वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्रस्मररुज उपमन्त्रिन्! भण्यतामन्यवार्ता॥ २१४॥

कर उसे कुरूपा कर दिया था। और ब्राह्मणपुत्र कृष्ण-वर्ण वामन ने परम धार्मिक बलिराजा के दिये समस्त पूजोपहार का भोजन कर लिया, फिर छलपूर्वक कौए की भांति उस बलिराजा को बान्ध दिया था। (ऐसा ही कृष्णवर्णवाले लोगों का स्वभाव है) अरे भ्रमर! तुम्हारे स्वामी का वर्ण भी कृष्ण है, इसलिये कृष्णवर्ण वाले तुम्हारे स्वामी के साथ-मित्रता का हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। तथापि हम किन्तु उनकी कथारूप सम्पत्ति का त्याग नहीं कर सकती हैं ॥२१०॥

अनुवाद—(अभिजल्प) श्रीकृष्ण जब पक्षियों को भी (श्रीकृष्ण के लिये पक्षी की भांति आचरण-मधुकरी आदि मांग कर जो जीवन निर्वाह करते हैं, उनको) दुखी करते हैं, तब उनका त्याग करना ही उचित है—भङ्गीपूर्वक इस प्रकार के अनुतापयुक्त वाक्यों को 'अभिजल्प' कहते हैं ॥२११॥ श्रीभागवत (१०।४७।१८) में यथा—श्रवणमात्र से ही जो कानों को अमृत तुल्य सुखकारी है, जिनकी प्रतिक्षण अनुष्ठित लीला का एक कणा एकमात्र आस्वादन करने से समस्त द्वन्द्वधर्म (राग-द्वेषादि, शीतोष्णादि अथवा स्त्री-पुरुषादि के परस्पर धर्म) धुल जाते हैं, उनकी वह लीला-कथा सुनकर जो विनष्ट हो चुकी हैं, और तत्क्षण (उनको न प्राप्त कर) दीन गृह-कुटुम्ब का परित्याग कर चुकी हैं, और स्वयं भी दीन हो गयी हैं—ऐसी हम अनेक पक्षीरूपा यहां—वृन्दावन में भिक्षावृत्ति अवलम्बन करके जीवन धारण कर रही हैं ॥२१२॥

अनुवाद—(आजल्प) निर्वेदवश श्रीकृष्ण की कुटिलता (जैह्म्य) दुखदायत्व एवं भङ्गी क्रम से दूसरेका सुखदायकत्व जिसमें कीर्तित होता है, उसे 'आजल्प' कहते हैं ॥२१३॥ श्रीभागवत (१०।४७।१९) में, यथा—हे दूत! कृष्णमृगसार की अबोध पत्नियाँ—हरिणियां जैसे व्याध की गीत-ध्वनि में विश्वास करके वाणों के आघात से पीड़ित होती हैं, उसी प्रकार हम भी बार-बार श्रीकृष्ण की नख स्पर्श-जनित तीक्ष्ण मदनव्यथा सहन करके ऐसी दुर्दशा को प्राप्त हुई हैं, अतएव हे दूत! दुखदायक-कथा को छोड़कर कोई अन्य बात कर ॥२१४॥

अनुवाद—(प्रतिजल्प)—श्रीकृष्ण के पक्ष में द्वन्द्व (मिथुना) भाव दुस्त्यज्य है, इसलिये उसकी प्राप्ति या उसके निकट जाना अनुचित है—इस भाव की उक्ति जिसमें रहती है और जिसमें दूत के प्रति

अथ प्रतिजल्पः—

१११—दुस्त्यजद्वन्द्वभावेऽस्मिन् प्राप्तिर्नार्हेत्यनुद्धतम् । दूतसंमानेनोक्तं यत्र स प्रतिजल्पकः ॥ २१५ ॥

यथा—(भा० १०।४७।२०)—

(१०५)—प्रियसख ! पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।
नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं सततमुरसि सौम्य ! श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥ २१६ ॥

अथ सुजल्पः—

११२—यत्रार्जवात्सगाम्भीर्यं सदैन्यं सहचापलम् । सोत्कण्ठं च हरिः प्रेष्ठः स सुजल्पो निगद्यते ॥ २१७ ॥

यथा—(भा० १०।४७'२१)

(१०६) अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते स्मरति स पितृगेहान् सौम्य ! बन्धूंश्च गोपान् ?
क्वचिदपि स कथां नः किंकरीणां गृणीते भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु ॥ २१८॥

अथ मादनः—

११३—सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः । राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा ॥ २१९ ॥

सम्मान भी प्रदर्शित किया जाता है,उसे 'प्रतिजल्प' कहते हैं ॥२१५॥ श्रीभागवत (१०.४७।२०)में यथा—हे प्रियके सखा ! प्रियतम श्रीकृष्ण के द्वारा पुनः प्रेरणा पाकर आये हो क्या ? हे दूत ! तुम हमारे माननीय हो, अतः तुम्हें क्या क्या चाहिये, उसे मांग लो । हे अङ्ग ! जो मथुरा-नागरियों का मिथुनी-भाव परित्याग करने में असमर्थ हैं, उन श्रीकृष्ण के पास हम व्रजवासनियों को तुम किसी युक्ति के बल पर मथुरा ले जाना चाहते हो क्या ? हे सौम्य ! प्रियतमा रूप में प्रसिद्धा लक्ष्मी परम सुख से निरन्तर उनके वक्षस्थल पर वास करती तो है ॥२१६॥

अनुवाद—(सुजल्प) जिसमें सरलता के कारण गम्भीरता, दीनता, चपलता एवं उत्कण्ठा सहित श्रीकृष्ण का सवाद पूछा जाये, उसे 'सुजल्प' कहते हैं ॥२१७॥ श्रीभागवत (१०।४७।२१) में, यथा—हे सौम्य ! (गुरुकुल से आकर) आर्यपुत्र (हमारे प्राणपति श्रीकृष्ण) अब मथुरा में वास कर रहे हैं क्या ? वे अब अपने पिता-माता—श्रीनन्द-यशोदा के घर को सखाओं को तथा गोपगण को याद करते हैं क्या ? कभी वे क्या अपनो हम दासियों की चर्चा करते हैं ? अहो ? कब वे अपनी अगुरुसुगन्ध युक्त भुजाएं हमारे मस्तक पर धारण करेंगे ? ॥२१८॥

अनुवाद—(मादन) ह्लादिनी का सारभूत प्रेम यदि सर्व भावोद्गम-उल्लासी हो, तो उसे 'मादन' कहा जाता है यह परात्पर (ह्लादिनी की गाढ़तम परिणति) है । यह केवल श्रीराधा जी में ही सर्वदा विराजमान रहता है । (कभी बाहर प्रकाश पाता है, कभी यह उनके अन्तःकरण में ही प्रच्छन्न भाव से रहता है । इसमें रति से लेकर महाभाव पर्यन्त समस्त प्रेम-स्तर उद्गम होते हैं, अतः इसे सर्व भावोद्गमोल्लासी कहा गया है ।) ॥२१९॥ यथा—पौर्णमासी देवी ने नान्दीमुखी को कहा —श्रीश्रीराधा कृष्ण के (राधादनुजविजयी के) अद्‌भुत भावचन्द्र को मैं प्रणाम करती हूँ । यह भावचन्द्र भूत-भविष्यत् वर्तमान—त्रिकाल व्यापिनी जो सृष्टि है, उसे व्याप्य कर (परिवृत करके) सर्वसमय ही क्षय सम्भावना-शून्य (अनादि काल से आरम्भ करके अतीत काल में कभी भी यह भावचन्द्र क्षय प्राप्त नहीं होता—यह आसृष्टेरक्षयिष्णु) है । यह भावचन्द्र हृदयरूप चन्द्रकान्तमणि को द्रवीभूत करता है एवं परिपूर्ण होकर भी वक्रभाव धारण किये रहता है । यह भावचन्द्र अपनी कान्ति राशि द्वारा साध्वसरूप (सम्भ्रम-

यथा—(१०७)
आसृष्टेरक्षयिष्णुं हृदयविधुमणिद्रावणं वक्रिमाणंपूर्णत्वेऽप्युद्वहन्तं निजरुचिघटया साध्वसं ध्वंसयन्तम् ।
तन्वानं शं प्रदोषे धृतनवतासंपदं मादनत्वादद्वैतं नौमि राधादनुजविजयिनोरद्भुतं भावचन्द्रम् ।। २२० ।।
१२४—अत्रेर्ष्याया अयोग्येऽपि प्रबलेर्ष्याविधायिता । सदा भोगेऽपि तद्गन्धमात्राधारस्तवादयः ।। २२१ ।।

तत्र अयोग्येऽपीर्ष्या, यथा दानकेलिकौमुद्याम्—(४२)—
(१०८) विशुद्धाभिः सार्धं व्रजहरिणनेत्राभिरनिशं तमद्धा विद्वेषं किमिति वनमाले रचयसि ।
तृणीकुर्वत्यस्मान् वपुरघरिपोराशिखमिदं परिष्वज्यापादं महति हृदये या विहरसि ।। २२२ ।।

सदा भोगेऽपि तद्गन्धमात्राधारस्तुतिर्यथा श्रीदशमे—(१०।२१ १७)
(१०९) पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ।। २२३ ।।

संकोचादि)अंधकारको ध्वंस कर रहा है । दुखरूप प्रकृष्ट दोष रहते हुए भी सुखका विस्तार करता है। प्रतिक्षण नव-नव सम्पद धारण करता है। यह भावचन्द्र समस्त जगत्को हर्ष प्रदान करता है—इसलिये अद्वितीय या निरुपम है। (इस उदाहरणमें प्रेमके समस्त स्तरोंका उदय सूचित किया गया है ।।२२०।।

अनुवाद—(मादन के अनुभाव) इस मादन में ईर्ष्या के अयोग्य वस्तु में भी प्रबल ईर्ष्या का उदय होता है, एवं सर्वदा सम्भोग होने हुए भी श्रीकृष्ण की गन्धमात्र धारण करने वाले पात्र की भी स्तुति आदि प्रकाशित होती है। (अयोग्यवस्तु में भी ईर्ष्या एवं निरन्तर भोग में भी कृष्णगन्धधारी वस्तु की स्तुति—ये दो अनुभाव कहे गये हैं) ।।२२१।। अयोग्य-वस्तु में ईर्ष्या का उदाहरण—श्रीदानकेलिकौमुदी (४२) में, यथा—दानघाटी पर श्रीकृष्ण ने सखियों सहित जाती हुई श्रीराधा जी को पथ-कर चुका जाने का कह कर रोका। श्रीकृष्ण के चन्दनचर्चित विशाल वक्षस्थल पर झूमती वनमाला को देखकर उनमें वनमाला के प्रति अति ईर्ष्या-भाव उदित हो उठा। वह वनमाला के प्रति कहने लगीं—अरी वनमाले ! तू क्यों हमारे साथ स्पष्ट भाव से विद्वेष ठान रही है ? हम व्रज की सरला मृगनयनी व्रजबाला हैं। हमारा चित्त विशुद्ध है हममें कपटता कुटिलता नहीं है। हम कभी भी किसी के प्रति विद्वेष नहीं रखती हैं। तुम्हारे प्रति भी हमारा कुछ विद्वेष नहीं और न शत्रुता। इस पर भी तू हमें तृग के समान तुच्छ जानकर इस अघारि श्रीकृष्ण के मस्तक से चरण पर्यन्त—सर्वांगों को आलिंगन करके विशाल वक्षस्थल पर तुम विहार कर रही हो ? ।।२२२।।

अनुवाद—(निरन्तर सम्भोग में भी कृष्णगन्धधारी वस्तु की स्तुति)—श्रीमद्भागवत (१०।२१। १७)—किसी समय श्रीवृन्दावन में श्रीराधा जी के साथ विहार करते समय श्रीराधा जी के वक्षस्थल का कुंकुम श्रीकृष्णके चरणतलमें लग गया। श्रीकृष्ण वहांसे जब वनमें निकले तो उनके चरणोंमें लगा कुंकुम वनके तृणादिमें लग गया। पुलिन्द-कन्याओंने उस कुंकुमकी सौरभमें आकृष्ट होकर उसे अपने-अपने मुख एवं वक्षस्थल पर लगा दिया। कुछ देर बाद वनमें विचरण करती हुई श्रीराधाजी ने उन पुलिन्द-कन्याओं को देखा। श्रीराधा जी ने उस कुंकुम की गंधसे जान लिया कि ये श्रीकृष्णके चरणतलके कुंकुमको मस्तक एवं वक्षस्थल पर धारण कर रही हैं। मादनभाववती श्रीराधाजी यह विचार मनमें करने लगीं कि हाय! हम श्रीकृष्ण की सजातीया—गोपियां हैं, वे हमारे सौन्दर्यादि की प्रशंसा सब स्थानों पर करते रहते हैं किन्तु हमारे भाग्य में उनका संग तो दूर, उनके चरणकमल में संलग्न उनकी कान्ताकुच के कुंकुम

यथा वा—(११०) दुष्करं कतरदालि मालती कोमलेयमकरोत्तपः पुरा ।
हन्त गोष्ठपतिनन्दनोपमं या तमालममलोपगूहते ॥ २२४ ॥

११५—योग एव भवेदेष विचित्रः कोऽपि मादनः । यद्विलासा विराजन्ते नित्यलीलाः सहस्रधा ॥ २२५ ॥

११६—मादनस्य गतिः सुष्ठु मदनस्येव दुर्गमा । न निर्वक्तुं भवेच्छक्या तेनासौ मुनिनाप्यलम् ॥ २२६ ॥

किं च—

११७—रागानुरागतामादौ स्नेहः प्राप्यैव सत्वरम् । मानत्वं प्रणयत्वं च क्वचित्पश्चात्प्रपद्यते ॥ २२७ ॥

११८—अत एवात्र शास्त्रेषु श्रूयते राधिकादिषु । पूर्वरागप्रसङ्गेऽपि प्रकटं रागलक्षणम् ॥ २२८ ॥

११९—स्फुरन्ति व्रजदेवीषु परा भावभिदाश्च याः । तास्तर्कागोचरतया न सम्यगिह वर्णिताः ॥ २२९ ॥

का स्पर्श भी हमें प्राप्त न हो सका । हमारी तो कामना कभी पूर्ण न हो सकी, हम अपूर्णकाम ही हैं—तब श्रीराधा जी अपनी सखियों से कहने लगीं—हे सखिवृन्द ! ये पुलिन्द कन्याएं ही धन्य-कृतार्थ हैं, क्योंकि जो कुंकुम पहले श्रीकृष्ण-कान्ता के कुचयुगल में अनुलिप्त था, वह फिर विहार काल में श्रीकृष्ण-चरणों में जाकर सुशोभित हुआ, फिर उनके भ्रमण काल में वह वृन्दावन के तृणों में संलग्न हुआ, जिस को देखते ही पुलिन्द-कन्याओं में कन्दर्प-व्याधि उदित हो उठी, उसी ही कुंकुम द्वारा इन्होंने अपने-अपने मुख-वक्षस्थल को लिप्त करके अपनी उस कामव्याधि को दूर किया है । (यहां केवल श्रीकृष्ण पद-संलग्न कान्ता कुंकुम को देखकर श्रीराधा के चित्त में उनकी प्रशंसा का भाव जाग उठा है । चाहे वह कुंकुम उनका स्वयं प्रयुक्त है) ॥२२३॥ अन्यत्र यथा—मालती लता से परिवृत एक तमाल वृक्ष को देख कर श्रीराधा जी ने ललिता जी को कहा—सखि ! इस कोमला मालती ने ना जाने पूर्व जन्म में कितनी दुष्कर तपस्या की थी, अहो ! नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के समान इस तमाल वृक्ष को वह आलिंगन कर रही है ॥२२४॥

अनुवाद—(मादन का असाधारण वैशिष्टच)—सम्भोग कालमें ही कोई एक अनिर्वचनीय विचित्र प्रभाव मादन का उदित होता है । इस मादन के नित्यलीला रूप समस्त विलास सहस्र प्रकार से विराज करते हैं । (कामबीज से एवं काम गायत्री से उपास्य वृन्दावनविहारी अप्राकृत) मदन की—श्रीकृष्ण को भांति इस मादन की गति भी सुष्ठु रूप में अति सुदुर्बोध्य है । इसलिये भरत मुनि (वा श्रीशुकदेव मुनि) भी मादन के समस्त धर्मोंके स्पष्ट लक्षण निर्णय करनेमें समर्थ नहीं हो पाये । (यह मादनभाव एक मात्र श्रीराधा जी में सर्वदा विराजता है, कहीं कभी प्रच्छन्न भाव से और कभी बाहर प्रकाशित भाव से । जब श्रीकृष्ण के संग मिलन होता है तब यह बाहर प्रकाश पाता है और विरहावस्था में यह प्रच्छन्न रहता है) ॥२२५-२२६॥

अनुवाद—(प्रीति-आविर्भाव का क्रम एकरूप नहीं है)—व्रजगोपियों में कभी कभी स्नेह पहले राग एवं अनुराग स्तर को प्राप्त होता है और पीछे मानत्व एवं प्रणयत्व को प्राप्त होता है । इसलिये शास्त्र में सुना जाता है कि पूर्वराग प्रसंग में श्रीराधा जी में मान-प्रणयादि के आविर्भाव के बिना भी राग का आविर्भाव हो उठा था ॥२२७-२२८॥

अनुवाद—(व्रजगोपियों का भाव तर्कागोचर)—व्रजगोपियों में श्रेष्ठ-श्रेष्ठ भाव में जो सब भेद स्फुरित होते हैं, वे समस्त तर्क के अगोचर हैं, अतः उनका यहां सम्यक् रूप से वर्णन नहीं किया गया है ॥२२९॥

१२०—साधारण्यां रतावेव धूमायिततया मताः । ज्वलितास्तु रतिप्रेम्णोर्दीप्ताः स्नेहादिपञ्चसु ॥
रूढे भावे तथोद्दीप्ताः सुदीप्ता मोहनादिषु ॥ २३० ॥
१२१—इयं प्रायिकता किंतु श्रेष्ठमध्यादिभावतः । देशकालजनादीनां क्वाप्येषां स्याद्विपर्ययः ॥ २३१ ॥
१२२—आद्या प्रेमान्तिमां तत्रानुरागान्तां समञ्जसा । रतिर्भावान्तिमां सीमां समर्थैव प्रपद्यते ॥ २३२ ॥
१२३—रतिर्नर्मवयस्यानामनुरागान्तिमां स्थितिम् । तेष्वेव सुबलादीनां भावान्तावेव गच्छति ॥ २३३ ॥

इति स्थायिभाव-प्रकरणम् ॥

अथ श्रृङ्गारभेद-प्रकरणम्

१—स विप्रलम्भः संभोग इति द्वेधोज्ज्वलो मतः ॥ १ ॥

तत्र विप्रलम्भः—
२—यूनोरयुक्तयोर्भावो युक्तयोर्वाथ यो मिथः । अभीष्टालिङ्गनादीनामनवाप्तौ प्रकृष्यते ।
स विप्रलम्भो विज्ञेयः संभोगोन्नतिकारकः ॥ २ ॥

तथा चोक्तम्—
(१) न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते । कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते ॥ ३ ॥

अनुवाद—साधारणी-रति में ही धूमायित भाव स्वीकृत हैं, ज्वलितादि नहीं, समञ्जसा एवं समर्था-रति में ज्वलितादिभाव वर्तमान हैं, धूमायित नहीं। रति और प्रेम में ज्वलित भाव हैं स्नेह, मान प्रणय, राग एवं अनुराग में दीप्त, रूढ़ महाभाव में उद्दीप्त तथा मोहन और मादन में सुद्दीप्त सात्त्विक-भाव ही ग्रहणीय हैं ॥२३०॥ देश, काल तथा पात्रादि के श्रेष्ठत्व, मध्यत्व तथा कनिष्ठत्व के कारण किसी स्थान पर अथवा किसी समय उक्त ज्वलितादि सात्त्विक भेद का विपर्यय भी हो सकता है—पूर्व श्लोक में प्रायिक नियम की वात ही कही गयी है ॥२३१॥

अनुवाद—(रति की परिसीमा)—साधारणी-रति प्रेम पर्यन्त पहुंचती है, समञ्जसा-रति अनुराग की सीमा तक और समर्था-रति ही केवल भावों की अन्तिम दशा को प्राप्त करती है ॥२३२॥ कोकिलादि नर्मसखाओं की रति अनुराग की अवधि तक और उनमें भी सुबलादि की रति भाव की अन्तिम दशा को प्राप्त करती है ॥२३३॥

श्रृंगाररस-प्रकरण

अनुवाद—(मधुररस के भेद) मधुररस या उज्ज्वल रस के दो भेद हैं—विप्रलम्भ और सम्भोग ॥१॥

अनुवाद—(विप्रलम्भ)—नायक और नायिका की मिलन एवं विच्छेद अवस्थाओं में परस्पर के अभीष्ट आलिंगनादि की अप्राप्ति होने पर जो स्थायिभाव प्रकृष्ट हो उठता है, उसे 'विप्रलम्भ' कहते हैं। यह विप्रलम्भ सम्भोग को उन्नत करने वाला है ॥२॥ यथा—विप्रलम्भ के बिना सम्भोग पुष्टि लाभ नहीं करता है रंगे वस्त्र को यदि पुनः रंगा जाये, तो उसका रंग या उज्ज्वलता जैसे अति वर्द्धित हो उठती है, उसी प्रकार विप्रलम्भके वाद संभोग अति उज्ज्वलता प्राप्त करता है ॥३॥

३—पूर्वरागस्तथा मानः प्रेमवैचित्यमित्यपि । प्रवासश्चेति कथितो विप्रलम्भश्चतुर्विधः ॥ ४ ॥

तत्र पूर्वरागः—

४—रतिर्या संगमात्पूर्वं दर्शनश्रवणादिजा । तयोरुन्मीलति प्राज्ञैः पूर्वरागः स उच्यते ॥ ५ ॥

तत्र दर्शनम्—५—साक्षात्कृष्णस्य चित्रे च स्यात्स्वप्नादौ च दर्शनम् ॥ ६ ॥

तत्र साक्षात्, यथा पद्यावल्याम्—(१५९)—

(२) इन्दीवरोदरसहोदरमेदुरश्रीर्वासो द्रवत्कनकवृन्दनिभं दधानः ।
आमुक्तमौक्तिकमनोहरहारवक्षाः कोऽयं युवा जगदनङ्गमयं करोति ? ॥ ७ ॥

चित्रे, यथा विदग्धमाधवे—(२।२३)—

(३) शिशिरय दृशौ दृष्ट्वा दिव्यं किशोरमितीक्षितः परिजनगिरां विस्रम्भात्त्वं विलासफलाङ्कितः ।
शिव शिव कथं जानीमस्त्वामवक्रधियो वयं निविडबडवावह्निज्वालाकलापविकासिनम् ॥ ८ ॥

स्वप्ने, यथा—

(४) स्वप्ने दृष्ट्वा सहचरि सरित्कासरी श्यामनीरा तीरे तस्याः क्वणितमधुपा माधवी कुञ्जशाला ।
तस्याः कान्तः कपिशजघनो ध्वान्तराशिः शरीरी चित्रं चन्द्रावलिमपि समां पातुमिच्छन्नरौत्सीत् ॥९

अनुवाद—(विप्रलम्भ के चार प्रकार भेद)पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्य तथा प्रवास ॥४॥

पूर्वराग

अनुवाद—(पूर्वराग) नायिका एवं नायक के मिलन से पूर्व उनके परस्पर को देखने, उनकी चर्चा सुनने से जो रति उन्मीलित होती है अर्थात् विभावादि के साथ मिलने पर विशेष आस्वादमयी होती है, उसे 'पूर्व राग' कहते हैं ॥५॥

अनुवाद—(दर्शन) दर्शन तीन प्रकार का है—श्रीकृष्ण का साक्षात् दर्शन, चित्रपट में उनका दर्शन एवं स्वप्न में उनका दर्शन ॥६॥ (साक्षात्-दर्शन) श्रीपद्यावली (१५९) में यथा—श्रीराधा जी की अट्टालिका के पास श्रीकृष्ण अपने दो-तीन नर्मसखाओं के साथ विचरण कर रहे थे । वहां से श्रीकृष्णको देखकर श्रीराधा जी ने विशाखा जी से कहा—सखि ! जिसकी अंगकान्ति इन्दीवर के मध्यवर्ती भाग की भांति अति कोमल और स्निग्ध है, जिनकी कटि में तप्त स्वर्ण-कान्तिमय पीताम्बर वस्त्र शोभित है, जिनके मनोहर वक्षस्थल पर अति कुशलता से गूंथी हुई मुक्तामाला विराजित है तथा जो समस्त जगत् को अनङ्गमय कर रहे हैं, वह यह युवक कौन है ? ॥७॥

अनुवाद—(चित्रदर्शन) श्रीविदग्ध माधव (२।२३) में, यथा—चित्रपट में अंकित श्रीकृष्ण का दर्शन कर श्रीराधाजी मन ही मन कहती हैं—हे कृष्ण ! अपनी (हितैषिणी, विश्वस्ता) सखियों के वचनों में विश्वास करके कौतुक वश चित्रपट पर अंकित आपके शिशिरवत् स्निग्ध नेत्रों को एवं आपके दिव्य किशोर रूप को मैं देख रही हूँ । किन्तु शिव ! शिव ! (हाय ! हाय !) सरलबुद्धि मैं यह कैसे जान पाऊँ कि आप निविड़ बड़वाग्नि की ज्वालाओं को प्रकाशित कर रहे हैं ॥८॥

अनुवाद—(स्वप्न-दर्शन)—श्रीकृष्ण का स्वप्न में दर्शन पाकर चन्द्रावली अपनी सखी पद्मा को स्वप्न-कथा सुना रही है—हे सखि ! पद्मे ! स्वप्न में पहले मैंने भैंस की भांति कृष्णवर्ण की एक नदी (यमुना) को देखा, उसका जल श्यामवर्ण का था । फिर उस नदीके तीर पर मैंने भ्रमर-गुञ्जित माधवी

अथ श्रवणम्—६—वन्दिदूतीसखीवक्त्राद्‌गीतादेश्च श्रुतिर्भवेत् ॥ १० ॥

तत्र वन्दिवक्त्रात्, यथा—(५) पठति मागधराजनिर्जयार्थां सखि बिरुदावलिमत्र बन्दिवर्ये ।
वद कथमिव लक्ष्मणे तनुस्ते पुलककुलेन विलक्षणा किलासीत् ॥ ११ ॥

दूतीवक्त्रात्, यथा—
(६)—आविष्कृते तव मुकुन्द मया प्रसङ्गे तारावली पुलकिताङ्गलता नताक्षी ।
शुश्रूरप्यलघुगद्‌गदरुद्धकण्ठी प्रष्टु तवाक्षमत सा न कथाविशेषम् ॥ १२ ॥

सखीवक्त्रात्, यथा—(७) यावदुन्मदचकोरलोचना मन्मुखात्तव कथामुपाशृणोत् ।
तावदञ्चति दिनं दिनं सखी कृष्ण शारदनदीव तानवम् ॥ १३ ॥

गीताद्यात्, यथा (८) नयने प्रणयन्नुदश्रुणी मम सद्यः सदसि क्षितीशितुः ।
उपवीणयति प्रवीणधीः कमुदश्रुः सखि वैणिको मुनिः ॥ १४ ॥

लता से वेष्टित एक कुञ्जभवन को देखा । उस कुञ्ज में एक कमनीय शरीरधारी अन्धाकराशि (श्री-कृष्ण) को मैंने देखा । उसने पीतवस्त्र धारण कर रखा था । किन्तु सखि ! आश्चर्य की बात यह है कि उस शरीरी अन्धकारराशि ने मुझ चन्द्रावली को पान करने की इच्छा से मेरा रास्ता रोक दिया । (चन्द्र की एक कला भी अन्धकारराशि को दूर कर देती है, किन्तु अनेक चन्द्र सदृशा चन्द्रावली भी उस अन्धकार राशि से अवरुद्ध या पराभूत हो गयी—यही आश्चर्य का विषय है) ॥९॥

अनुवाद—(श्रवण) बन्दी, दूती एवं सखी के मुख से तथा गीतादि से भी 'श्रवण' होता है ॥१०॥ वन्दी के मुख से यथा –लक्ष्मणा की किसी सखीने लक्ष्मणाजी को कहा—हे सखि ! बोलो तो, जब वन्दि-श्रेष्ठ विरुदावलि में (गद्य-पद्यमय स्तुतिकाव्य में) श्रीकृष्ण द्वारा मगधराज-जरासन्ध की परा जयकी कथा वर्णन कर रहा था, तब पुलकावली से तुम्हारा शरीर क्यों विलक्षण दशा को प्राप्त हो रहा था ? ॥११॥

अनुवाद—(दूती के मुखसे श्रवण)—श्रीकृष्णने वृन्दा को दूती वनाकर चन्द्रावली के पास भेजा । वृन्दा के मुख से श्रीकृष्ण-की बात सुनकर चन्द्रावली की जो अवस्था हुई उसका वर्णन कर रही है वृन्दा श्रीकृष्ण के पास आकर—हे मुकुन्द ! तुम्हारी चर्चा आरम्भ होते ही चन्द्रावली की देहलता पुलकित हो उठी, उसके मस्तक-नेत्र झुक गये, तुम्हारी कोई विशेष वात सुनने की इच्छुक होते हुए भी उसका कण्ठ गद्‌गदरूप सात्त्विक विकार से अवरुद्ध हो गया और वह कुछ पूछ न पायो ॥१२॥

(सखीमुख से श्रवण) यथा—विशाखा जी ने कहा—हे कृष्ण ! उन्मत्त-चकोर लोचना मेरी सखी श्रीराधा ने मेरे मुखसे जबसे तुम्हारी-चर्चा सुनी है, तब से वह शरत् कालीन नदी की भांति दिन-प्रति दिन क्षीण होती चली जा रही है ॥१३॥

अनुवाद—(गीतादि से श्रवण) यथा—लक्ष्मणाजी ने अपनी सखी से कहा—हे सखि ! मेरे पिता राजा वृहत्सेन की सभा में प्रवीण-बुद्धि वीणाधारी नारद मुनि ने नेत्रों में अश्रुभर कर जब किसी एक जन (श्रीकृष्ण) के गुणों का वीणा पर गान किया, तत्काल मेरे नेत्रों से प्रबल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी ॥१४॥

अनुवाद—पहले स्थायिभाव प्रकरण में रति के आविर्भाव के हेतु रूप जो अभियोग (विषय, सम्वन्ध तथा अभिमान आदि) वर्णन किये गये हैं, इस पूर्वराग में भी उनकी उपयोगिता पण्डितजन मानते

७—पुरोक्ता येऽभियोगाद्या हेतवो रतिजन्मनि । अत्र ते पूर्वरागेऽपि ज्ञेया धीरैर्यथोचितम् ।। १५ ।।
८—अपि माधवरागस्य प्राथम्ये संभवत्यपि । आदौ रागे मृगाक्षीणां प्रोक्ता स्याच्चारुताधिका ।। १६ ।।
९—अत्र संचारिणो व्याधिः शङ्कासूया श्रमः क्लमः । निर्वेदौत्सुक्यदैन्यानि चिन्ता निद्रा प्रबोधनम् ।।१७।।
१०—विषादो जडतोन्मादो मोहमृत्यादयः स्मृताः । प्रौढः समञ्जसः साधारणश्चेति स तु त्रिधा ।। १८ ।।

तत्र प्रौढः—

११—समर्थरतिरूपस्तु प्रौढ इत्यभिधीयते । लालसादिरिह प्रौढे मरणान्ता दशा भवेत् ।।
तत्तत्संचारिभावानामुत्कटत्वादनेकधा ।। १९ ।।
१२—तथापि प्राक्तनैरस्य दशावस्था समासतः । प्रोक्तास्तदनुरोधेन तासां लक्षणमुच्यते ।। २० ।।
१३—लालसोद्वेगजागर्यास्तानवं जडिमात्र तु । वैयग्र्यं व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश ।। २१ ।।
१४—प्रौढत्वात्पूर्वरागस्य प्रौढाः सर्वा दशा अपि ।। २२ ।।

तत्र लालसः—

१५—अभीष्टलिप्सया गाढगृन्धुता लालसो मतः । अत्रौत्सुक्यं चपलता घूर्णाश्वासादयस्तथा ।। २३ ।।

हैं ।।१५। (प्रश्न उठता है कि श्रीकृष्ण प्रेयसियों का पूर्वराग पहले कहा गया है, क्या कहीं श्रीकृष्ण का भी पूर्वराग पहले उदित होता है ?) इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि श्रीकृष्णका पूर्वराग पहले उद्भूत होने पर भी किन्तु उनकी प्रेयसियों के पूर्वराग को पहले वर्णन करने पर अधिक चारुता है। (क्योंकि इस विषय में प्राचीन लोगों का कहना है कि पहले नारी अनुरक्त होती है, उसके बाद उसके इंगित पर पुरुष अनुरक्त हुआ करता है। यदि दोनों का प्रेम समान हो तो क्रम-विपर्यय में भी कोई दोष नहीं होता) १६

अनुवाद—(पूर्वराग के संचारि-भाव) व्याधि, शंका, असूया, श्रम, क्लम, निर्वेद, औत्सुक्य, दैन्य, चिन्ता, निद्रा, प्रवोध, विषाद, जड़ता, उन्माद, मोह एवं मृत्यु आदि पूर्व राग के संचारिभाव हैं पूर्व राग के तीन भेद हैं—प्रौढ़,समन्जस एवं साधारण ।।१७-१८।।

अनुवाद—(प्रौढ़ पूर्व राग)—संगम से पूर्व समर्थारति में उत्पन्न जो पूर्वराग है, उसे 'प्रौढ़' कहते हैं। यहां लालम्यादि से लेकर मरण पर्यन्त दश दशाएं हो सकती हैं। पूर्व राग के प्रौढ़त्व में व्याधि आदि पूर्वोक्त सञ्चारि भावों के भी उद्रेक के कारण अनेक प्रकार की दशाएं होने पर भी पूर्व कवियों ने इस प्रौढ़ पूर्व राग की दश दशाएं ही स्वीकार की हैं। उनके इच्छा अनुरोध से हम उन दशाओं के यथायथ लक्षण एवं उदाहरण वर्णन करते हैं—वे दश दशाएं इस प्रकार हैं—लालस, उद्वेग, जागरण, तनाव, जड़ता, व्यग्रता, व्याधि, उन्माद, मोह तथा मृत्यु। पूर्व राग की प्रौढ़ता के कारण ये दशों दशाएं भी प्रौढ़ होती हैं ।।१९-२२।।

अनुवाद—(लालस) अभीष्ट व्यक्ति की प्राप्ति के लिये जो इच्छा है, उसके द्वारा जो गाढ़ उत्कण्ठा पैदा होती है, उसे 'लालस' कहते हैं। इसमें उत्सुकता, चपलता, घूर्णा एवं श्वासादि पैदा होते हैं ।।२३।। (लालसा जब अत्यन्त बलवती, उत्कण्ठामयी होती है तब स्त्रीलिंग-लालसा पुलिंग शब्द 'लालस' शब्द द्वारा वर्णन की जाती है। अतः यहां लालसा की जगह लालस शब्द का प्रयोग किया गया है)। यथा—प्रौढ़पूर्व रागवती श्रीराधा जी को ललिता जी ने कहा—हे किशोरि ! तुम एक ही घड़ी में सौ बार घर से बाहर निकल-निकल कर क्यों व्रज-सीमा में जाती हो और कहांसे फिर घर लौट आती हो ? फिर किसी गुरुजन के भय की कुछ परवाह न करके श्वास छोड़ते-छोड़ते तुम नेत्रों को अनेक बार कदम्बवन की ओर

यथा—(९)
त्वमुदवसितान्निष्क्रामन्ती पुनः प्रविशन्त्यसौ झटिति घटिकामध्ये वाराङ्छतं व्रजसीमनि ।
अगणितगुरुत्रासाश्वासान्विमुच्य विमुच्य किं क्षिपसि बहुशो नीपारण्ये किशोरि दृशोर्द्वयम् ॥ २४॥

यथा वा विदग्धमाधवे—(३।२४)
(१०) दूरादप्यनुषङ्गतः श्रुतिमिते त्वन्नामधेयाक्षरे सोन्मादं मदिरेक्षणा विरुवती धत्ते मुहुर्वेपथुम् ।
आः किं वा कथनीयमन्यदसिते दैवाद्वराम्भोधरे दृष्टे तं परिरब्धुमुत्सुकमतिः पक्षद्वयीमिच्छति २५॥

अथ उद्वेगः—
१६—उद्वेगो मनसः कम्पस्तत्र निश्वाससञ्ज्वरौ । स्तम्भश्चिन्ताश्रुवैवर्ण्यस्वेदादय उदीरिताः ॥ २६॥

यथा विदग्धमाधवे—(२।२)—(११)
चिन्तासंततिरद्य कृन्तति सखि स्वान्तस्य किं ते धृतिं किं वा सिञ्चति ताम्रमम्बरमतिस्वेदाम्भसां डम्बरः
कस्पश्चम्पकगौरि लुम्पति वपुः स्थैर्यं कथं वा बलात् तथ्यं ब्रूहि न मङ्गलापरिजने सङ्गोपनाङ्गीकृतिः ॥

अथ जागर्या—१७—निद्राक्षयस्तु जागर्या स्तम्भशोषगदादिकृत् ॥
यथा—(१२)
श्यामं कंचन काञ्चनोज्ज्वलपटं संदर्श्य निद्रा क्षणं मामाजन्म सखी विमुच्य चलिता रुष्टेव नावर्तते ।
चिन्तां प्रोह्य सखि प्रपञ्चय मतिं तस्यास्त्वमावर्तने नान्यः स्वाप्निकतस्करोपहरणे शक्तो जनस्तां विना ॥

निक्षेप करती हो ? ॥२४॥ श्रीविदग्धमाधव (३।३४) में, यथा—विशाखा जी ने श्रीकृष्ण से कहा—हे कृष्ण ! दूर से भी यदि किसी प्रसंगवश (कृष्णसार मृग शब्द में) तुम्हारे कृष्ण नाम का एक अक्षर भी कान में आ पड़े तो वह खञ्जन नयनी श्रीराधा उन्मत्त होकर चीत्कार करते-करते बार बार काँपने लगती है। हा कष्ट ! और क्या कहूँ ? दैवयोग से यदि कभी कृष्णवर्ण नव जलधर उसे दीख जाये, तो उस जलधर को आलिंगन करने के लिये वह उत्कण्ठावश दो पक्ष (पंख) पाने की इच्छा करने लगती है। 'मुझे यदि कहीं से पक्ष मिल जायें तो मैं उड़कर उस मेघ को आलिगन करलूं'।—ऐसा सखियों से कहने लगती है ॥२५॥

अनुवाद—(उद्वेग)—मन के कम्प या चञ्चलता का नाम 'उद्वेग' है। उद्वेग में दीर्घश्वास, चपलता, स्तम्भ, चिन्ता, अश्रु वैवर्ण्य एवं स्वेद आदि विकार प्रकाशित हो उठते हैं ॥२६॥ श्रीविदग्ध माधव (२।२) में, यथा—विशाखा जी समस्त अवस्था को जानते हुए भी श्रीराधा जी के हृदय को टटोलते हुए उससे बोली—सखि ! आज कैसी चिन्ता तेरे चित्त के धैर्य्य को छेदन कर रही है ? भारी स्वेद से ही क्यों तुम अपने लालरंग के वस्त्र को भिगो रही हो ? हे चम्पकगौरि ! कम्प ही क्यों तुम्हारे शरीर को स्थिर नहीं होने दे रहा है ? सखि ! यथार्थ बात बता दे अपने सुहृदजनों से कुछ गोपन नहीं किया करते, गोपन करने पर मंगल नहीं होता ॥२७॥

अनुवाद—(जागर्य्य)—निद्राक्षय को जागर्य्य कहते हैं। इसमें स्तम्भ, शोष एवं रोगादि प्रकाशित होते हैं ॥२८॥ यथा—श्रीकृष्ण-मिलन के लिये अति उत्कण्ठित श्रीराधा को देखकर विशाखा जी उस के मिलाने के उपायोंकी चिन्ता कर रही हैं। उसे चिन्तामग्न देखकर श्रीराधा जी ने उसे कहा—हे सखि विशाखे ! निद्रा नाम्नी मेरी एक सखी स्वर्ण के समान पीतवसनधारी किसी एक श्यामवर्ण पुरुष को एकक्षण के लिये दर्शन कराकर फिर रूठकर मुझे परित्याग कर जीवन भर के लिये चली गयी है,

अथ तानवम्—१८—तानवं कृशता गात्रे दौर्बल्यभ्रमणादिकृत् ॥ ३० ॥

यथा—

(१३) च्युते वलयसंचये प्रबलरिक्तताद्दूषणव्ययाय निहितोर्मिका वलिरपि स्खलत्यञ्जसा ।
निशम्य मुरलीकलं सखि ! सकृद्विशाखे तनुस्तवासितचतुर्दशीशशिकला कृशत्वं ययौ ॥ ३१ ॥

१९—केचित्तु तानवस्थाने विलापः परिपठ्यते ॥ ३२ ॥

यथा—

(२४) अत्रासोन्नवनीपभूरुहतटे कुर्वन्विहारं हरिश्चक्रे ताण्डवमत्र मित्रसहितश्चण्डांशुजारोधसि ।
पश्यन्ती लतिकान्तरे क्षणमहं व्यग्रा निलीय स्थिता सख्यः किं कथयामि दग्धविधिना क्षिप्तास्मि दावोपरि

अथ जडिमा—

२०—इष्टानिष्टापरिज्ञानं यत्र प्रश्नेष्वनुत्तरम् । दर्शनश्रवणाभावो जडिमा सोऽभिधीयते ॥
अत्राकाण्डेऽपि हुङ्कारस्तम्भश्वासभ्रमादयः ॥ ३४ ॥

यथा—

(१५) अकाण्डे हुंकारं रचयसि शृणोषि प्रियसखीकुलानां नालापं दृतिरिव मुहुर्निश्वसिषि च ।
ततः शङ्के पङ्केरुहमुखि ययौ वैणवकला मधूली ते पालि श्रुतिचषकयोः प्राघुणिकताम् ॥ ३५ ॥

लौट कर नहीं आयी है । अतएव हे सखि ! तुम अपनी चिन्ता त्याग कर मेरी उस निद्रा सखी के लौटाने का उपाय सोचो । उस निद्रा सखी के बिना और कोई भी उस स्वप्न में आये तस्कर को लाने में समर्थ नहीं हो सकता ॥२९॥

अनुवाद—(तानव) शरीर की कृशता को 'तानव' कहते हैं । इससे दुर्बलता और भ्रमणादि (चक्कर) होने लगते हैं ॥३०॥ यथा—विशाखाजी की एक सखी ने उससे पूछा—हे सखि विशाखे ! एक बार मात्र मुरली ध्वनि सुनकर तुम्हारा शरीर कृष्णपक्षीय चतुर्दशी के चन्द्र की कला की भांति कृशता को प्राप्त हो गया है । अहो ! चूड़ियों के हाथ के स्खलित होने पर खाली हाथ रहने के प्रबल दोष को मिटाने के लिये तुमने अंगूठियों को चूड़ियों की जगह हाथों में धारण किया था । हाय कष्ट ! वे अंगूठियां भी तो हाथों (कलाई) से अभी निकली जा रही हैं ॥३१॥

अनुवाद—(विलाप) कोई कोई तानव के स्थल पर 'विलाप' को ग्रहण करते हैं ॥३२॥ यथा—श्रीराधा जी ने विलाप करते हुए कहा—हे सखियो ! इस यमुना तट पर स्थित नवकदम्ब वृक्ष के मूल में मित्रों के साथ विहार करते करते श्रीकृष्ण ताण्डव नृत्य कर रहे थे । मैंने लता के पीछे छिपकर क्षण-काल व्याकुल होकर उस नृत्य को देखा । सखिगण ! क्या कहूँ ? दग्ध—(ईर्ष्या से जले भुने) विधाता ने मुझे दावानल में फेंक दिया । अब तो उस नृत्य को मैं नहीं देख पा रही—हूँ ॥३३॥

अनुवाद—(जड़िमा) जिसमें इष्ट तथा अनिष्ट का परिज्ञान नहीं रहता, प्रश्न करने पर कुछ उत्तर प्राप्त नहीं होता, एवं जिसमें देखने-सुनने का भी अभाव हो जात है, उसे 'जड़िमा'—जड़ता कहते हैं । जड़िमा न रहने पर भी हुंकार, स्तम्भ, श्वास तथा भ्रमादि प्रकाशित होते हैं ॥३४॥ यथा—पाली की सखी ने पाली को कहा—हे पद्ममुखि ! बिना करण तुम हुंकार कर रही हो, प्रिय सखियों की बात भी नहीं सुन रही हो, धौंकनी की भांति बार-बार निश्वास ही त्याग करती जा रही हो, यह देख कर मुझे आशंका हो रही है—हे पालि ! वेणु वैदग्धी की माधुरी ने तुम्हारे कर्णचषकों का आतिथ्य प्राप्त किया है—तुमने श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि सुनी है ॥३५॥

अथ वैयग्र्यम्—
२१—वैयग्र्यं भावगाम्भीर्यविक्षोभासहतोच्यते । तत्राविवेकनिर्वेदखेदासूयादयो मताः ।। ३६ ।।
यथा विदग्धमाधवे—(२।१७)—(१६)
प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगीशमुत्कण्ठते मुग्धेयं बत तस्य पश्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ।।
अथ व्याधिः—
२२—अभीष्टालाभतो व्याधिः पाण्डिमोत्तापलक्षणः । अत्र शीतस्पृहा मोहनिश्वासपतनादयः ।। ३८ ।।
यथा—(१७) दवदमनतया निशम्य भद्रा मदनदवज्वलिता दधे हृदि त्वाम् ।
द्विगुणितदवथुव्यथाविदग्धा मुरहर भस्ममयीव पाण्डुरासीत् ।। ३९ ।।
अथ उन्मादः—
२३—सर्वावस्थासु सर्वत्र तन्मनस्कतया सदा । अतस्मिंस्तदिति भ्रान्तिरुन्माद इति कीर्त्यते ।।
अत्रेष्टद्वेषनिश्वासनिमेषविरहादयः ।। ४० ।।

अनुवाद—(वैयग्र्य) भावगाम्भीर्य्य-जनित अर्थात् भाव के विकारों को बाहर प्रकाशित न होने देने में जो गम्भीरता या दुखगाहता है, उससे पैदा होने वाले विक्षोभ की असहिष्णुता को 'वैयग्र्य' या व्यग्रता कहते हैं। इसमें अविवेक (विचारहीनता) निर्वेद, खेद तथा असूया प्रकाशित होते हैं ।।३६।। श्रीविदग्धमाधव (२।२७) में, यथा श्रीकृष्ण का चित्रपट दर्शन करने से श्रीराधा जी में पूर्वराग उदित हुआ—उसके फलस्वरूप उन्हें सर्वत्र श्रीकृष्ण स्फूर्ति होने लगी। अतः नाना प्रकार के भावों के उदित होने पर उनका चित्त विक्षुब्ध होने लगा। उसे सहन न कर पाने पर श्रीराधा जी अन्य विषयों में मन लगाने की चेष्टा करने लगीं। उस अवस्था को देखकर पौर्णमासी देवी ने नान्दीमुखीसे कहा—हे नान्दी-मुखी ! देख इस आश्चर्यमय व्यापार को—मुनिगण विषयों से मन को हटाकर जिन श्रीकृष्ण में उसे लगाने की चेष्टा करते हैं, यह बाला श्रीराधा उसी श्रीकृष्ण से मन को हटाकर विषयों में निविष्ट करने की चेष्टा कर रही है। हा कष्ट ! हृदय में जिनकी लेशमात्र स्फूर्त्ति को प्राप्त करने के लिये बड़े बड़े योगीजन समुत्कण्ठित रहते हैं, यह मुग्धा राधा उन श्रीकृष्ण को अपने हृदय से निकालने की आकांक्षा कर रही है ।।३७।।

अनुवाद—(व्याधि) अभीष्ट वस्तु के न प्राप्त होने पर जो शरीर का पीला पड़ जाना है, और उत्ताप का पैदा होना है, उसे 'व्याधि' कहते हैं। इसमें शीत, स्पृहा, मोह, निश्वास एवं पतन, (पछाड़-खाना) आदि प्रकाशित होते हैं ।।३८।। यथा—प्रौढ़-पूर्वरागवती भद्रा के श्रीकृष्ण को प्राप्त न कर पाने पर उसकी अवस्था को उसकी एक सखी श्रीकृष्ण को बता रही है—हे मुरारि ! मेरी सखी भद्रा मदन रूप दावानल में जल रही थी जब उसने यह सुना कि आपने दावानल को दमन किया था, तब से वह अपनी मदन-दावानल के प्रशमन के लिये आपको ही हृदय में धारण कर रही है। किन्तु उससे वह दावानल शान्त न होकर दुगुनी बढ़ गयी है। उससे वह विशेष रूप से जलते हुए भस्म की भांति पीली पड़ गयी है ।।३९।।

अनुवाद—(उन्माद)—सर्वावस्था में एवं सर्वत्र सर्वदा तन्मनस्कता के कारण जो वस्तु जो नहीं है, उसे वही कहकर प्रतीति रूप जो अति भ्रान्ति है, उसे 'उन्माद' कहते हैं, इसमें इष्ट वस्तु के प्रति द्वेष, निश्वास, एक निमेष मात्र में भी विरहादि प्रकाशित होते हैं ।।४०।। श्रीविदग्ध माधव (२।३) में

यथा विदग्धमाधवे—(२।३)—

(१८) वितन्वानस्तन्वा मरकतरुचीनां रुचिरतां पटान्निष्कान्तोऽभूद्धतशिखिशिखण्डो नवयुवा।
ध्रुवं तेनाक्षिप्त्वा किमपि हसतोन्मादितमतेः शशी वृत्तो वह्निः परमहह वह्नि र्मम शशी ॥ ४१ ॥

अथ मोहः—२४—मोहो विचित्तता प्रोक्तो नैश्चल्यपतनादिकृत् ॥ ४२ ॥

यथा—(१९)—

नासाश्वासपराङ्मुखी विघटते दृष्टिः स्नुषायाः कथं हा धिक् कृष्णतिलान् ममार्पय करे कुर्यामपामार्जनम्
इत्यारोहति कर्णयोः परिसरं कृष्णेति वर्णद्वये कम्पेनाच्युत तत्र सूचितवती त्वामेव हेतुं सखी ॥ ४३ ॥

अथ मृतिः—

२५—तैस्तैः कृतैः प्रतीकारैर्यदि न स्यात्समागमः। कन्दर्पबाणकदनात्तत्र स्यान्मरणोद्यमः॥ ४४ ॥
२६—तत्र स्वप्रियवस्तूनां वयस्यासु समर्पणम्। भृङ्गमन्दानिलज्योत्स्नाकदम्बानुभवादयः॥ ४५ ॥

यथा—विशाखा जी के द्वारा श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण का चित्रपट दिखाने पर प्रौढ़पूर्वरागवती श्रीराधा जी वैमनस्यता को प्राप्त हो गयीं। सखियों द्वारा उसका कारण पूछने पर श्रीराधाजी ने कहा—हे सखि-गण! मस्तक पर मोरपुच्छधारी कोई एक नवयुवक मरकतमणि की मनोहर कान्ति युक्त होकर चित्रपट से बाहर निकला और मुस्कराते हुए मेरे प्रति कैसा एक अपूर्व नेत्रकटाक्ष किया कि मेरी बुद्धि उन्माद ग्रस्त हो गयी। अहह! इस समय मेरे लिये चन्द्रमा अग्नि के समान हो रहा है और अग्नि चन्द्रमा के समान हो रही है ॥४१॥

अनुवाद—(मोह) विचित्तता का नाम 'मोह' है। इसमें निश्चलता तथा पतन—गिर पड़ना घटित होते हैं ॥४२॥ यथा—प्रौढ़ पूर्वरागवती श्रीराधा जी श्रीकृष्ण को प्राप्त न करने पर मूर्च्छित हो गयीं। इस अवस्था को जटिला ने देखा और जो कुछ कहा, उससे श्रीराधा जी के मन में जो भाव उदित हो उठा—उसे श्रीकृष्ण के प्रति विशाखा जी कह रही हैं—हे कृष्ण! जटिला और अपनी पुत्रवधू श्री-राधा को श्वास रहित और उसके नेत्रों को विवर्त्तित—(पलटा हुआ) देखकर दुखी होकर बोली—हाय धिक्कार! मेरी पुत्रवधू राधा को ऐसी दशा कैसे हो गयी? गोपियो! तुम मेरे हाथ में कृष्ण तिल (काले तिल) दो, मैं अभी इसके शरीर पर मलकर इसका आवेश (ऊपरी बाधा) दूर करती हूँ। जटिला के मुख से 'कृष्ण' शब्द जब श्रीराधा के कान में गया तो उसका शरीर ऐसा काँपने लगा कि हे अच्युत उस कम्प द्वारा ही मानों श्रीराधा ने बता दिया कि उसकी मूर्च्छा का कारण तुम कृष्ण ही हो ॥४३॥

अनुवाद—(मृति)—प्रौढा पूर्वरागवती रमणी दूती आदि के द्वारा कामलेख भेजती है, दूती को भेजती है, अपनी पीड़ा का ज्ञापन करती है—इस प्रकारके प्रसिद्ध प्रतीकारों को करने पर भी यदि कान्त का समागम उसे नहीं होता तो कामवाण की पीड़ा के कारण मरण का उद्यम होता है। उस उद्यम का नाम यहां 'मृति' या 'मृत्यु' है। इसमें प्रिय सखियों को अपनी प्रियवस्तु का समर्पण करना एवं भृङ्ग, मन्द-पवन, ज्योत्स्ना तथा कदम्बादि का अनुभव होने लगता है ॥४४-४५॥ यथा—प्रौढ़ पूर्वरागवती श्रीराधा जी का वृत्तान्त जब पौर्णमासी ने वृन्दा से पूछा तो उसने कहा—हे देवि! यमुनातट पर अपने हाथ से रोपित की हुई मुकुलित मल्लिकालता को श्रीराधा ने आलिंगन किया, फिर अति शोभाविशिष्ट हीरों के हार को ललिता जी के हाथ में समर्पण किया, और भ्रमरों से गुंजित कदम्बवन में जाकर मूर्च्छित हो गयी। उसकी प्रियसखियों ने श्रीकृष्ण नाम उच्चारण करके फिर उसे जीवित किया है।

यथा—(२७)

राधा रोधसि रोपितां मुकुलिनीमालिङ्ग्य मल्लीलतां हारं हीरमयं समर्प्य ललिताहस्ते प्रशस्तश्रियम्।
मूर्च्छामाप्नुवती प्रविश्य मधुपैर्गीतां कदम्बाटवीं नाम व्याहरता हरेः प्रियसखीवृन्देन संधुक्षिता ॥ ४६॥

यथा वा विदग्धमाधवे—(२।४७)—

(२१) अकारुण्यः कृष्णो मयि यदि तवागः कथमिदं मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम्।
तमालस्य स्कन्धे विनिहितभुजावल्लरिरियं यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनुः ॥ ४७॥

अथ समञ्जसः—२७—भवेत्समञ्जसरतिस्वरूपोऽयं समञ्जसः ॥ ४८॥

२८—अत्राभिलाषचिन्तास्मृतिगुणसंकीर्तनोद्वेगाः। सविलापा उन्मादव्याधी जडता मृतिश्च ताः क्रमशः॥

तत्र अभिलाषः—

२९—व्यवसायोऽभिलाषः स्यात्प्रियसंगमलिप्सया। स्वमण्डनान्तिनप्राप्तिरागप्रकटनादिकृत् ॥ ५०॥

मुकुलिता मल्लिका लता अर्थात् जिस में अभी पुष्प प्रस्फुटित नहीं हुए थे उसे श्रीराधा जी ने आलिंगन किया – भाव यह है कि हे मल्लिके ! मैंने तुम्हें अपने हाथ से इसलिये रोपण किया था कि तुम्हारे फूलों से माला रचकर प्रियतम श्रीकृष्ण को धारण कराऊंगी, परन्तु मैं तो अब जीवित रहूँगी नहीं। मेरी सखियों द्वारा सिंचित होकर तुम जीवित रहना। तुम्हारे पुष्पों से रचित माला यदि कभी मेरे प्राण-वल्लभ के वक्षस्थल पर सुशोभित हो, तो तुम्हारी रोपणकारिणी मुझ हतभागिनी को जहां जिस शरीर में मैं रहूंगी, प्रचुर आनन्द मिलेगा। हीरक हार ललिता जी को देने की व्यञ्जना भी यही है कि, हे ललिते इस हीरकहार को अब तुम कण्ठ में धारण कर श्रीकृष्ण को आलिंगन करना। यह हार यदि कभी उनके वक्षस्थल को स्पर्श करेगा तो मैं हतभागिनी अपने को कृतार्थ मानूंगी ॥४६॥ श्रीविदग्ध माधव (२।४७) में, यथा—श्रीकृष्ण द्वारा उपेक्षा देखकर श्रीराधा जी ने कालियदह में शरीर परित्याग करने का संकल्प किया। तब विशाखा जी रोने लगीं। तब रोते हुए श्रीराधा जी ने उसे कहा—हे सखि ! श्रीकृष्ण यदि मेरे प्रति करुणा शून्य हैं, तो तुम्हारा अपराध इस में क्या है ? वृथा मत रोओ, तुम मेरा एक आवश्यक शेष कार्य यह कर देना—मेरी इस शरीररूपी भुज लता को तमाल वृक्ष के साथ इस प्रकार बान्ध देना कि यह शरीर अविचलित रूप से चिरकाल तक वृन्दावन में रहा आवे, बस सखि ! यही काम कर देना ॥४७॥

अनुवाद—(समञ्जस-पूर्वराग) समञ्जस पूर्वराग समञ्जसारति स्वरूप है अर्थात् समञ्जसारतिमती कृष्णप्रेयसियों के पूर्वराग को 'समञ्जस-पूर्वराग' कहते हैं ॥४८॥ इसमें अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-संकीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मृति—यह दस दशाएं क्रमशः प्रकटित होती हैं ॥४९॥

अनुवाद—(अभिलाष)—प्रिय व्यक्ति का संग प्राप्त करने की लालसा में जो चेष्टा प्रकाशित होती है उसे 'अभिलाष' कहते हैं ॥५०॥ यथा—पूर्वरागवती सत्यभामा जी श्रीकृष्ण दर्शन के लिये उत्कण्ठित हो उठीं और किसी बहाने से उनके घर जाने को उद्यम करने लगीं—यह देखकर एक सखी ने कहा—हे सखि ! धूर्त्ते ! श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा के साथ तुम्हारी मित्रता है—ऐसा कहकर तुम अपने पिता के घर से देवकी जी के घर जा रही हो। और हे सत्ये ! तुम वेशभूषा में भी बहुत प्रयत्न कर (सज्जा) रही हो। इससे लगता है कि आज तुम्हारे मन में कोई गोपनीय भाव ने स्पष्ट प्रवेश किया है ॥५१॥

यथा—(२२) यदिह सखि सुभद्रा सख्यमाख्याय धूर्ते व्रजसि पितुरगाराद्देवकीमन्दिराय।
रचयसि बत सत्ये मण्डने च प्रयत्नं स्फुटमजनि तदन्तर्वस्तु गूढं तवाद्य॥ ५१॥

अथ चिन्ता—

३०—अभीष्टावाप्त्युपायानां ध्यानं चिन्ता प्रकीर्तिता। शय्याविवृत्तिनिश्वासनिलक्षप्रेक्षणादिकृत्॥ ५२॥

यथा—(२३)—

निश्वासस्ते कमलवदने म्लापयत्योष्ठबिम्बं शय्यायां च कृशिमकलिता चेष्टते देहयष्टिः।
द्वन्द्वं चाक्ष्णोर्विकिरति चिरं रुक्मिणि श्यामसम्भो न श्वोभाविन्युपयमविधौ शोभते विक्रियेयम्॥ ५३॥

अथ स्मृतिः—

३१—अनुभूतप्रियादीनामर्थानां चिन्तनं स्मृतिः। अत्र कम्पाङ्गवैवश्यस्वापनिश्वसितादयः॥ ५४॥

यथा—

(२४) प्लुतं पूरेणापां नयनकमलद्वन्द्वमभितो धृतोत्कम्पं सात्राजिति कुचरथाङ्गद्वयमपि।
श्लथारम्भं चेदं भुजबिसयुगं तत्तव मनस्तडागेऽस्मिन् कृष्ण द्विरदपतिरन्तर्विहरति॥ ५५॥

अथ गुणकीर्तनम्—

३२—सौन्दर्यादिगुणश्लाघा गुणकीर्तनमुच्यते। अत्र वेपथुरोमाञ्चकण्ठगद्गदिकादयः॥ ५६॥

अनुवाद—(चिन्ता)—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के उपायों के ध्यान को 'चिन्ता' कहते हैं। इसमें शय्या पर करवटें बदलना, निश्वास तथा लक्ष्यहीन दृष्टि आदि प्रकाशित होते हैं ॥५२॥ यथा—पूर्वराग-वती रुक्मिणी जी स्वयम्वर के पहले एक दिन श्रीकृष्ण के आने की चिन्ता में व्याकुल हो रही थीं। यह देखकर उसकी एक सखी ने कहा—हे कमलमुखि! तुम्हारा निश्वास—दीर्घश्वास छोड़ना तुम्हारे होंठ रूपी बिम्ब को मुरझाये दे रहा है, तुम्हारा शरीर कृशता को प्राप्त होकर शय्या पर करवटें बदल रहा है। हे रुक्मिणी! तुम्हारे नेत्र अनवरत काजल भरे अश्रु विमोचन कर रहे हैं। आगामी कल तुम्हारा विवाह होगा। अतः इस अवसर पर तुम्हारा इस प्रकार का विरुद्ध आचरण युक्ति संगत नहीं है ॥५३॥

अनुवाद—(स्मृति) अनुभूत प्रिय व्यक्ति के दर्शन करने से, उसके रूपगुण की चर्चा श्रवण करने से उस प्रिय व्यक्ति के तथा उसके रूप-गुण, वेश, लीलादिक के चिन्तन को 'स्मृति' कहते हैं। इसमें कम्प, अङ्ग की विवशता अश्रु, एवं निश्वासादि प्रकाशित होते हैं ॥५४॥ यथा—पूर्वरागवती सत्यभामा को पहले देखे हुए श्रीकृष्ण के रूप गुणादि की चिन्ता करते देखकर उसकी एक सखी ने हंसते हुए कहा—हे सात्रजिति! कमल सदृश तुम्हारे नयनों में जल (अश्रु) भर रहा है, चक्रवाक के सदृश कुचयुगल कम्पित हो रहे हैं, मृणाल सदृश भुजाएं शिथिल हो रही हैं। लगता है तुम्हारी मनरूपी तलायोके अन्त-स्तल में कृष्णरूप महामत्त गजराज विहार कर रहा है ॥५५॥

अनुवाद—(गुणकीर्तन)—सौन्दर्यादि गुणों की प्रशंसा को 'गुण-कीर्तन' कहते हैं। इसमें कम्प, रोमांच एवं कण्ठ गद्गदादि प्रकाशित होते हैं ॥५६॥ यथा—पूर्वरागवती रुक्मिणी जी ने श्रीकृष्ण को जो पत्र ब्राह्मण के हाथ भेजा, उसमें उसने लिखा—हे कृष्ण! आपकी रूप सम्पत्ति की मधुराशि में समस्त युवतियां तृष्णायुक्त होकर घूर्णा को प्राप्त हो रही हैं। दर्पणादि में अपने रूपमाधुर्य का दर्शन करके आप स्वयं भी रोमांचित हो उठते हैं। हे मधुपते! आप की रूपसम्पत्ति की मधुराशि की गंध प्राप्त करना तो दूर, उस रूपमधु की कथा जान सुन कर मेरा चित्त रूप मधुकर किसी भी प्रकार धैर्य्य

यथा—(२५) यान्त्यस्तृष्णामपि युवतयो येषु घूर्णां भजन्ते यान्याचम्य स्वयमपि भवान् रोमहर्षं प्रयाति।
गन्धं तेषां तव मधुपते रूपसंपन्मधूना दूरे विन्दन्मम न हि धृतिं चित्तभृङ्गस्तनोति ॥ ५७॥
३३—षडुद्वेगादयः पूर्वं प्रौढे तस्मिन्नुदाहृताः। सामञ्जस्याद्रतेरत्र किं तु ताः स्युर्यथोचितम् ॥ ५८॥
अथ साधारणः—
३४—साधारणरतिप्रायः साधारण इतीरितः। अत्र प्रोक्ता विलापान्ताः षड् दशास्ताश्च कोमलाः ५९॥
तत्राभिलाषो यथा प्रथमस्कन्धे—(भा० १।१०।३०)—
(२६) एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते।
यासां गृहात्पुष्करलोचनः पतिर्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् ॥ ६०॥
३५—चिन्तादीनां तथान्यासमूह्या धीरैरुदाहृतिः। पूर्वरागे प्रहीयेत कामलेखस्रगादिकम् ॥ ६१॥
३६—वस्यादिकरेणात्र कृष्णेनास्य च कान्तया ॥ ६२॥
तत्र कामलेखः—३७—स लेखः कामलेखः स्याद्यः स्वप्रेमप्रकाशकः ॥ ६३॥
३८—युवत्या यूनि यूना च युवत्यां संप्रहीयते। निरक्षरः साक्षरश्च कामलेखो द्विधा भवेत् ॥ ६४॥

धारण नहीं कर पा रहा है ॥५७॥

अनुवाद—उद्वेगादि छह दशाओं के उदाहरण पहले प्रौढ़-पूर्वराग के प्रसंग में दिये गये हैं। समंजसा-रति के साथ सामञ्जस्य होनेके कारण समञ्जस-पूर्वराग में भी वही उदाहरण यथोचित भाव से ग्रहण कर लेने चाहिये ॥५८॥

अनुवाद—(साधारण पूर्वराग) साधारण पूर्वराग होता है साधारणी-रति के समान। इसमें विलापान्त अर्थात् अभिलाष, चिन्ता स्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग एवं विलाप—ये छह दशायें कोमल भाव से प्रकटित होती हैं ॥५९॥ श्रीमद्भागवत (१।१०।३०) में, यथा—हस्तिनापुर से जब श्रीकृष्ण द्वारका जाने लगे तो वहां की नारीवृन्द अतृप्त-नेत्रों से श्रीकृष्ण को देखते हुए द्वारका की रमणियों के सौभाग्यादि की प्रशंसा करने के छल से अपनी अभिलाष व्यक्त करते हुए बोलीं—अहो! स्त्रीमात्र में स्वाधीनता एवं पवित्रता न रहने पर भी रुक्मिणी आदि समस्त महिषीगण ने स्त्रीजाति को सुशोभित कर दिया है। क्योंकि कमललोचन श्रीकृष्ण कभी भी उनके घर से बाहर नहीं जाते हैं। बल्कि परम सुमधुर वचनों द्वारा अथवा पारिजातादि परमदुर्लभ वस्तुओं को प्रदान कर उन्हें सुख देते हैं और सर्वदा उनकी आनन्दवृद्धि करते रहते हैं ॥६०॥

अनुवाद—चिन्ता, स्मृति एवं गुणकीर्तन—ये तीनों दशाएं समञ्जस-पूर्वराग-प्रसंगमें तथा उद्वेग एवं विलाप प्रौढ़पूर्वराग प्रसंग में उदाहरणरूप में वर्णन किये गये हैं। साधारण-पूर्वराग में भी तदनुसार कोमलत्व के तारतम्य से उनका उदाहरण जान लेना चाहिये ॥६१॥ पूर्वराग में सखाओं के हाथ श्रीकृष्ण अपनी अभीष्टा नायिका के पास और नायिका भी श्रीकृष्ण के पास कामलेख तथा माल्यादि भेजते रहते हैं ॥६२॥

अनुवाद—(कामलेख)—युवती द्वारा युवक के पास एवं युवक द्वारा युवती के पास भेजे गये अपने प्रेमप्रकाशक लेख को 'कामलेख' कहते हैं ॥६३॥ यह कामलेख दो प्रकार का है—निरक्षर एवं साक्षर ॥६४॥

अनुवाद—(निरक्षर-कामलेख) अतिशय लालवर्ण के पल्लव पर यदि अर्द्धचन्द्रादि की भांति नख-चिह्न रहे और उसमें यदि कोई वर्ण या अक्षर न लिखा गया हो, तो उसे 'निरक्षर-कामलेख' कहते

तत्र निरक्षरः—

३९—सुरक्तपल्लवमयश्चन्द्रार्धादिनखाङ्कभाक्। वर्णविन्यासरहितो भवेदेष निरक्षरः॥ ६५॥

यथा—(२७) किसलयशिखरे विशाखिकाया नखरशिखालिखितोऽयमर्धचन्द्रः।
दधदिह मदनार्धचन्द्रभावं हृदि मम हन्त कथं हठाद्विवेश॥ ६६॥

अथ साक्षरः—४०—गाथामयी लिपिर्यत्र स्वहस्ताङ्कः स साक्षरः॥ ६७॥

यथा जगन्नाथवल्लभे—(२८)

सुइरं विज्झसि हिअअं लम्भइ मअणो क्खु दुज्जसं बलिअम्। दीससि सअलदिसासुं दीसइ मअणो ण कुत्तावि
[सुचिरं विध्यसि हृदयं लभते मदनः खलु दुर्यशो बलवत्। दृश्यसि सकलदिशासु दृश्यते मदनो न कुत्रापि]

४१—बन्धोऽब्जतन्तुना रागः किंवा कस्तूरिकामसी। पृथुपुष्पदलं पत्त्रं मुद्राक्तकुङ्कुमैरिह॥ ६९॥

अथ माल्यार्पणम्—(२९)

सुश्लिष्टां निजशिल्पकौशलभरव्याहारिणीमद्भुतां गोष्ठाधीश्वरनन्दनः स्रजमिमां तुभ्यं सखि प्राहिणोत्।
इत्याकर्ण्य गिरं सरोरुहदृशः स्वेदोदबिन्दुच्छलादङ्गेभ्यः कुलधर्मधैर्यमभितः शङ्के बहिर्निर्ययौ॥ ७०॥

हैं ।।६५।। यथा—पूर्वरागवती विशाखा जी ने अपनी दूती के हाथ श्रीकृष्ण के पास जो निरक्षर कामलेख भेजा था, श्रीकृष्ण ने प्रीति सहित उसे हृदय से लगाया। फिर किसी अन्य समय श्रीकृष्ण ने सुबल को कहा—हे सखे! इस नवपल्लव के ऊर्ध्वभाग में विशाखा द्वारा नखाग्र से लिखित यह अर्द्धचन्द्र-वाण का भाव धारण कर अचानक कैसे मेरे हृदय में प्रवेश कर गया ।।६६।।

अनुवाद—(साक्षर-कामलेख)—जिसमें गाथामयी (अर्थात् प्राकृत भाषामयी) लिपि अपने हाथ से अक्षरविन्यास द्वारा लिखी हुई हो, उसे 'साक्षर-कामलेख' कहते हैं ।।६७।। श्रीजगन्नाथवल्लभ नाटक में, यथा—श्रीराधा जी ने अपनी दूती शशीमुखी के हाथ श्रीकृष्ण के पास कामलेख भेजा उसमें लिखा था—हे कृष्ण! बहुत समय से आप मेरे हृदय को विद्ध कर रहे हो, (किन्तु यह मदनकृत पीड़ा नहीं है) मदन तो वृथा ही महा अपयश का भागी हो रहा है। क्योंकि मैं तुमको सब दिशाओं में देखती हूँ, मदन को तो मैं कहीं भी नहीं देखती ।।६८।।

अनुवाद—कामलेख में राग (हिंगुलादि के तरल द्रव—स्याही) अथवा कस्तूरी की काली स्याही प्रयोग की जाती है। बड़े पुष्पदल को पत्र (कागज) वनाया जाता है। पत्र को अपने हाथ से लिखा जाता है और कुंकुम (केसर) द्वारा उस पर मुद्रा (मोहर) लगायी जाती है ।।६९।।

अनुवाद—(माल्यार्पण) पूर्वराग-अवस्था में श्रीकृष्ण ने अपने हाथों से माला रचना करके वृन्दा के द्वारा उसे श्रीराधा के पास भेजा। वृन्दा उस माला को श्रीराधा जी को देकर जब लौट आयी तो श्रीकृष्ण ने वृन्दा से माला प्राप्त करने पर श्रीराधा की अवस्था के विषय में पूछा। तब वृन्दा ने कहा—हे कृष्ण! मैंने श्रीराधा के पास जाकर कहा—हे सखि! गोष्ठाधोश-नन्दन (श्रीव्रजराजकुमार) ने अपने अतिशय शिल्पकौशल को प्रकाशित करने वाली तथा अति सुन्दर रूप से गुंथी हुई यह अद्‌भुत पुष्पमाला तुम्हारे लिये भेजी है। मेरी यह बात सुनते ही उस कमलनयनी के शरीर से स्वेद बहने लगा। मुझे ऐसा लगा कि स्वेदजल के छल से श्रीराधा के देह से मानो कुलधर्म-धैर्य्य-लज्जादि सम्यक् प्रकार से बाहर बह गये ।।७०।। कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि पहले नयन-प्रीति, फिर क्रमशः चिन्ता, आसंग, संकल्प, निद्रा-हीनता, कृशता, विषय-निवृत्ति, लज्जानाश, उन्माद, मूर्च्छा एवं मृति दस प्रकार इस कामदशाएं होती हैं ।।७१।।

केचित्—(३०)

"नयनप्रीतिः प्रथमं चिन्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः। निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः।

उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः॥" इत्याचक्षते॥ ७१॥

४२—एवं क्रमेण विज्ञेयः पूर्वरागो हरेरपि। निदर्शनाय तत्रैकमुदाहरणमुच्यते॥ ७२॥

यथा—(३१)

उपारंसीद्वंशीकलपरिमलोल्लासरभसाद्विसस्मार स्फारां विविधकुसुमाकल्परचनाम्।

जहौ कृष्णस्तृष्णां सहचरचमूचारुचरिते सखि त्वद्भ्रूव्यालीकुलुकितचलच्चित्तपवनः॥ ७३॥

॥ इति पूर्वराग॥

अथ मानः—

४३—दम्पत्योर्भाव एकत्र सतोरप्यनुरक्तयोः। स्वाभीष्टाश्लेषवीक्षादिनिरोधी मान उच्यते॥ ७४॥

४४—संचारिणोऽत्र निर्वेदशङ्कामर्षाः सचापलाः। गर्वासूयावहित्थाश्च ग्लानिश्चिन्तादयोऽप्यमी॥ ७५॥

४५—अस्य प्रणय एव स्यान्मानस्य पदमुत्तमम्। सोऽयं सहेतुनिर्हेतुभेदेन द्विविधो मतः॥ ७६॥

तत्र सहेतुः—

४६—हेतुरीर्ष्याविपक्षादेर्वैशिष्टचे प्रेयसा कृते। भावः प्रणयमुख्योऽयमीर्ष्यामानत्वमृच्छति॥ ७७॥

तथा चोक्तम्—

(३२) स्नेहं विना भयं न स्यान्नेर्ष्या च प्रणयं विना। तस्मान्मानप्रकारोऽयं द्वयोः प्रेमप्रकाशकः॥ ७८॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण-प्रेयसियों के पूर्वराग की भांति) श्रीकृष्णका पूर्व राग भी जान लेना चाहिये। श्रीकृष्ण के पूर्वराग के निर्देशन के लिये एक उदाहरण देते हैं ॥७२॥ यथा—वृन्दा ने श्रीराधा जी से कहा—हे सखि! तुम्हारी भौंहरूप सर्पिणी श्रीकृष्ण के चित्तरूप पवन को पान कर गयी है, इसलिये अब वे वेणुनाद के उत्कर्ष जनित कुतूहल से विवृत्त हो रहे हैं। अनेक प्रकार के पुष्पों की वेशभूषा की रचना को भी भूल गये हैं तथा सखाओं सहित अपनी मनभाती लीला विनोद स्पृहा को भी त्यागे हुए हैं ॥७३॥ इति पूर्व राग॥

अथ मान

अनुवाद—(मान) एक दूसरे के प्रति अनुरक्त एवं एक साथ अवस्थित होते हुए भी (अथवा पृथक् रहते हुए भी) नायक-नायिका के अभीष्ट आलिंगन-दर्शन (चुम्बन, प्रियभाषण) आदि के प्रतिबन्धक भाव को 'मान' कहते हैं ॥७४॥

अनुवाद—(मान के संचारी भाव एवं आश्रय)—निर्वेद, शंका, अमर्ष, चापल, गर्व, असूया, अवहित्था, ग्लानि, एवं चिन्ता आदि मान के सञ्चारी-भाव हैं ॥७५॥ मान का उत्तम आश्रय प्रणय ही है। यह मान दो प्रकार का है सहेतु तथा निर्हेतु ॥७६॥

अनुवाद—(सहेतु-मान) प्रिय नायक द्वारा विपक्षादि अर्थात् विपक्ष-नायिका अथवा उसकी सखी का उत्कर्ष स्थापन करने पर जो ईर्ष्या उदित होती है, वह मान का हेतु हुआ करती है। प्रणय-प्रधान यह ईर्ष्यारूप भाव ही ईर्ष्यामानत्व को प्राप्त करता है ॥७७॥ और भी कहा गया है—स्नेह के विना भय नहीं होता, प्रणय के विना ईर्ष्या-नहीं होती। इसलिये मान का यह प्रकार नायक

अत एव हरिवंशे—

(३३) रुषितामिव तां देवीं स्नेहात्संकल्पयन्निव । भीतभीतोऽतिशनकैर्विवेश यदुनन्दनः ॥ ७९ ॥

(३४) रूपयौवनसंपन्ना स्वसौभाग्येन गर्विता । अभिमानवती देवी श्रुत्वैवेर्ष्यावशं गता ॥ इति ८० ॥

४७—तत्रापि च सुसख्यादि हृदि यस्या विराजते । तस्या विपक्षवैशिष्ट्ये न स्यादेव सहिष्णुता ॥ ८१ ॥

४८—अतः सत्यां विनान्यासां सुसख्यादेरभावतः । श्रुतेऽपि पारिजातस्य दाने मानो न चाभवत् ॥ ८२ ॥

४९—श्रुतं चानुमितं दृष्टं तद्वैशिष्ट्यं त्रिधा मतम् ॥ ८३ ॥

तत्र श्रवणम्—५०—श्रवणं तु प्रियसखीशुकादीनां मुखाद्भवेत् ॥ ८४ ॥

तत्र सखीमुखात्, यथा—

(३५) शशिमुखि मृषा जल्पं श्रुत्वा कठोरसखीमुखात्प्रणयिनि हरौ मा विस्रम्भं कृथाः शिथिलं वृथा ।
परिहर मनः क्लान्तिं देवि प्रसीद मनोरमे तव मुखमनालोच्य प्रेयान्वनेऽद्य विशीर्यति ॥ ८५ ॥

यथा वा—(३६)

अहह गहना केयं वार्ता श्रुतौ पतिताद्य मे विदितमनृतं हास्याद्ब्रूषे विमुञ्च कदर्थनाम् ।
सहचरि कुतो जीवत्यस्मिञ्जनेऽपि जनार्दनो द्युतरुकुसुमं तस्यं हा धिक्कृतो वितरिष्यति ॥ ८६ ॥

और नायिका इन दोनों का प्रेम प्रकाशक होता है ॥७८॥ श्रीहरिवंश में कहा गया है—सत्यभामा जी को जब यह पता लगा कि श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी जी को पारिजात पुष्प दिया है, तो वह ईर्ष्यावश अभिमानवती हो उठी । तब श्रीकृष्ण ने क्या किया, उसका उल्लेख करते हैं—देवी सत्यभामा के रूठी सी होने पर (वास्तव में रूठी न थीं) यदुनन्दन श्रीकृष्ण ने उसके प्रति स्नेहवश उसके संकल्प की भांति कुछ करते हुए, डरते-डरते अति धीरे-धीरे उसके महल में प्रवेश किया । रूप-यौवन सम्पन्ना एवं अपने सौभाग्य से गर्विता देवी सत्यभामा रुक्मिणी को पारिजात पुष्पदेने की बात सुनते ही ईर्ष्या के वशीभूत होकर अभिमानवती हो उठी ॥७९-८०॥

अनुवाद—मान उदित होने पर भी नायिका के हृदय में सुसख्य, रक्तिम राग, मधुस्नेह, ललित मानादि विद्यमान रहते हैं । वे ही केवल विपक्ष का उत्कर्ष सहन नहीं करते हैं ॥८१॥ इसलिये सत्यभामा को छोड़कर और किसी महिषीवृन्द में सुसख्यादि के न रहने के कारण रुक्मिणी के प्रति पारिजात पुष्प देने को बात सुनकर भी मान उदय नहीं हुआ ॥८२॥

अनुवाद—विपक्षादि का उत्कर्ष तीन प्रकार का है—श्रुत, दृष्ट एवं अनुमित ॥८३॥ (श्रुत या श्रवण)—प्रियसखी अथवा शुकादि के मुख से विपक्ष के उत्कर्ष का श्रवण होता है ॥८४॥

अनुवाद—(सखी मुख से श्रवण) मानवती मनोरमा को वृन्दा ने कहा—हे शशिमुखि ! कठोर चित्त सखी के मुख से मिथ्या वचन सुनकर प्रेमी श्रीकृष्ण के प्रति अपने अनुराग को विनाकारण शिथिल मत करना । हे देवि ! मनोरमे ! मन की ग्लानि त्याग कर प्रसन्न हो ओ । तुम्हारे मुख का दर्शन प्राप्त न करके तुम्हारा प्रेमी श्रीकृष्ण आज वन में अति ग्लानियुक्त (उदासीन) हो रहा है ॥८५॥ और यथा—रुक्मिणि को पारिजातपुष्प की प्राप्ति की बात सुनकर सत्यभामा ने अपनो सखी को कहा—अहो ! कैसा आश्चर्य ! कैसा दुख ! दुर्बोध्य वार्त्ता ही आज मेरे कानों में पड़ी है । अहो ! मैं समझती हूँ, सखि ! तुम परिहास कर मिथ्या बात कह रही हो, वञ्चना मत करो । सखी ने कहा—मैं शपथ खाकर कहती हूँ जो मैंने कही है वह सत्य वार्त्ता है मैंने अपनी आखों से देखा है । सत्यभामा ने कहा—कैसा दुख ! मेरे

शुकमुखात्, यथा—
(३२) आस्ते काचिद्दयितकलहा क्रूरचेताः सखी ते कीरो वन्यः स्फुटमिह यया श्यामले पाठितोऽस्ति।
अत्र व्यर्थे विहगलपिते सष्ठु विस्रम्भमाणा मानारम्भे न कुरु हृदयं कातरोऽस्मि प्रसीद ॥ ८७॥
अनुमितिः—५१—तत्र भोगाङ्कगोत्रस्खलनस्वप्नैरनुमितिस्त्रिधा ॥ ८८॥
तव भोगाङ्कः—५२—भोगाङ्को दृश्यते गात्रे विपक्षस्य प्रियस्य च ॥ ८९॥
तत्र विपक्षगात्रे भोगाङ्कदर्शनं, यथा—
(३८) कालिन्दीतटधूर्तचादुभिरलं निद्रातु चन्द्रावली खिन्नाक्षी क्षणमङ्गनादपसर क्रुद्धास्ति वृद्धा गृहे।
किंचिद्बिम्बितधातुपत्रमकरीचित्रेण तत्राधुना सर्वा ते ललिता ललाटफलकेनोद्घाटिता चातुरी ॥
प्रियगात्रे भोगाङ्कदर्शनं, यथा विदग्धमाधवे—(४।४०)—
(३९) मुक्तान्तर्निमिषं मदीयपदवीमुद्वीक्षमाणस्य ते जाने केशव वेणुभिर्निपतितैः शोणीकृते लोचने।
शीतैः काननवायुभिर्विरचितो बिम्बाधरे च व्रणः संकोचं त्यज देव दैवहतया न त्वं मया दूष्यसे ९१

जीवित रहते हुए विचक्षण श्रीकृष्ण ने क्या मेरा अनादर करते हुए रुक्मिणी को पारिजात दिया है! हाय ! मुझे धिक्कार है ॥८६॥

अनुवाद—(शुक-मुख से श्रवण)—श्यामला ने शुक के मुख से सुना कि श्रीकृष्ण ने उसके विपक्ष को उत्कर्ष दान किया है, श्यामला मानवती हो उठीं। श्रीकृष्ण ने उसे प्रसन्न करने के लिये शुक वचनों को मिथ्या वताते हुए कहा—हे श्यामले ! कलह प्रिया एवं कठोर चित्त तुम्हारी एक सखीने ही निश्चित इस वन के शुक को झूठा पाठ पढ़ाया है। उस पक्षी के व्यर्थ-मिथ्या वचनों पर अति विश्वास करके मान मत आरम्भ करो। मैं अति कातर हो रहा हूँ, तुम प्रसन्न होवो ॥८७॥

अनुवाद—(अनुमिति) अनुमिति तीन प्रकार की है—भोगाङ्क से अनुमिति, गोत्र-स्खलन से अनुमिति तथा स्वप्न से अनुमिति ॥८८॥ विपक्ष नायिका के और प्रियनायक के अङ्गों पर सम्भोग-चिह्न को 'भोगाङ्क' कहते हैं ॥८९॥

अनुवाद—विपक्ष-गात्र पर भोगाङ्क दर्शन) यथा—श्रीकृष्ण के संकेत अनुसार चन्द्रावली कुञ्ज में आकर श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा करने लगी। किन्तु श्रीकृष्ण ने ललिता की कुञ्ज में रात्रि यापन की और प्रातः काल चन्द्रावली की कुञ्ज में आकर नानाविध अनुनय-विनय कर अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने की चेष्टा करने लगे। यह देखकर खण्डिता चन्द्रावली की सखी पद्मा ने आक्षेप और अमर्ष सहित श्रीकृष्ण से कहा—ओ कालिन्दीतट-धूर्त्त ! और चाटू-वाक्यों (खुशामद) का प्रयोजन नहीं है, अति खिन्नगात्रा चन्द्रावली को अब क्षणकाल सोने दो। तुम इस आंगन से बाहर चले जाओ। क्रुद्धा होकर वृद्धा (चन्द्रावली की सास) घर में विद्यमान है। सुनो, ललिता के ललाट का तिलक तुम्हारी सब चतुराई को अब भी उद्घाटित कर रहा है। ललिता के ललाट तिलक को मृगमद रचित मकराकृति चित्र से तुम्हारे ललाट का गैरिक-मनशिलादि रचित पत्र भङ्ग किञ्चित् विम्बित हो रहा है ॥९०॥

अनुवाद—(प्रियगात्र पर भोगाङ्क दर्शन) श्रीविदग्ध-माधव (४।४०) में, यथा—खण्डितावस्था प्राप्त श्रीराधा जी ने श्रीकृष्ण से कहा—हे केशव ! मैं जानती हूँ (तुम सत्य कह रहे हो, चन्द्रावली के साथ रात भर जागरण से तुम्हारे नेत्र लाल नहीं हो रहे हैं) मेरा ही पथ देखते-देखते, उत्कण्ठावश तुम्हारे अपलक नेत्रों में नाग केशर की पराग पड़ जाने से वे लाल हो रहे हैं। (तुम्हारे अधर पर जो

अथ गोत्रस्खलनम्—

५३—विपक्षसंज्ञयाह्वानमीर्ष्यातिशयकारणम् । आसां तु गोत्रस्खलनं दुःखदं मरणादपि ॥ ९२ ॥

तेन यथा बिल्वमङ्गले—

(४०) राधामोहनमन्दिरादुपगतश्चन्द्रावलीमूचिवान् राधे क्षेममिहेति तस्य वचनं श्रुत्वाह चन्द्रावली । कंस क्षेममये विमुग्धहृदये ! कंसः क्व दृष्टस्त्वया राधे क्वेति विलज्जितो नतमुखः स्मेरो हरिः पातु वः ॥

यथा वा—

(४१) अहह विलसत्यग्रे चन्द्रावली विमलद्युतिः कितव कलिता तारा सात्र त्वया क्व नु षोडशी ।
तिमिरमलिनाकार क्षिप्रं व्रजारुणमण्डला मम सहचरी यावन्मन्युद्युतिं न विमुञ्चति ॥ ९४ ॥

अथ स्वप्नः—५४—हरेर्विदूषकस्यापि स्वप्नः स्वप्नायितं मतः ॥ ९५ ॥

क्षत दीख रहा है, वह भी प्रेयसी दंशन जनित नहीं है) परन्तु वन की अति शीतल वायु के प्रभाव से तुम्हारे होठ फट गये हैं । अतएव हे देव ! तुम संकोच त्याग करो । मैं तुम्हें दोष नहीं दे रही हूँ, मैं ही दैव की मारी हतभागिनी नारी हूँ ॥९१॥

अनुवाद—(गोत्र-स्खलन) विपक्ष-नायिका का नाम उच्चारण कर जो आह्वान करता है, उसे 'गोत्रस्खलन' कहते हैं । यह नायिकाओं के प्रति अत्यन्त ईर्ष्याका कारण होता है एवं मरने से भी अधिक दुखदायी होता है ॥९२॥ विल्वमंगल ग्रन्थ में, यथा—श्रीकृष्ण राधामोहन कुञ्ज में श्रीराधा जो के साथ विहार करके उस कुञ्ज से चन्द्रावली की कुञ्ज में आये और चन्द्रावली से बोले—राधे ! तुम कुशल पूर्वक तो हो ?—यह सुनकर चन्द्रावली ने कहा—हे कंस ! कुशल से हूँ । तब श्रीकृष्ण ने कहा—अरी विमुग्धचित्ते ! कहां देखा है तुमने कंस को ? तब चन्द्रावली ने कहा—तुमने राधा को कहाँ देखा है ? चन्द्रावली के वचन सुनकर श्रीकृष्ण अपनी भूल को समझ गये । विशेषरूप से लज्जित होकर नतमस्तक हो गये एवं (चन्द्रावलीकी वचन चातुरी पर) मन्द मुस्करा दिये । ऐसे श्रीकृष्ण आपकी रक्षा करें ॥९३॥ अन्यत्र यथा—श्रोचन्द्रावली को संकेत कुञ्ज में बैठाकर पद्मा श्रीकृष्ण को वहां ले आयी । श्रीकृष्ण स्वभावतः हृदय में रहने वाली श्रीराधा के नाम से चन्द्रावली को सम्बोधन कर बैठे । तब पद्मा क्रोध में भर कर विक्षुब्ध चित्त होकर श्रीकृष्ण पर आक्षेप कर तिरस्कार करते हुए बोली—अरे हे धूर्त्त ! कैसा दुख है ? सामने विमलकान्ति चन्द्रावली विराजमान है, यहां तुम्हें षोड़षो तारा—(विशाखा नाम्नी-राधा) कहां दीख रही है ? और अन्धकार से भी बढ़कर श्याम मूर्त्ति ! तुम्हारे भीतर-बाहर सर्वत्र ही मलिनता व्याप रही है । शीघ्र यहां से चले जाओ, क्योंकि इस समय मेरी सखी चन्द्रावली रक्तमुखी होकर (उदय कालीन रक्तिमवर्ण मण्डल धारण कर) क्रोध (किरण) का विस्तार कर रही है ॥९४॥

अनुवाद—(स्वप्न) श्रीहरि की एवं उनके विदूषक की भी स्वप्न क्रिया को (स्वप्नावस्था में आचरण को) 'स्वप्न' कहते हैं ॥९५॥ (श्रीहरि की स्वप्न क्रिया)—यथा श्रीकृष्ण चन्द्रावली की कुञ्ज में विहार कर उसके साथ ही शयन कर रहे थे । निद्रित अवस्था में श्रीकृष्ण स्वप्नावेश में बोले—हे राधे ! तुम्हारी शपथ खाकर मैं कहता हूँ—तुम ही मेरे हृदय में विराजमान हो, तुम ही मेरे बाहर, आगे, पीछे विराजित हो । तुम ही मेरे इस भवन में, गोवर्धन-गिरि में एव वन में विराजती हो । रात को श्रीकृष्ण के मुख से यह स्वप्न-वचन सुनकर चन्द्रावली ने शय्या पर दूसरी ओर करवट फेर ली । (श्रीकृष्ण के स्वप्न वचन से चन्द्रावली ने अनुमान कर लिया कि श्रीकृष्ण श्रीराधा को ही उत्कर्ष प्रदान

तत्र हरेः स्वप्नायितं, यथा—
(४२) शपे तुभ्यं राधे त्वमसि हृदये त्वं मम बहिस्त्वमग्रे त्वं पृष्ठे त्वमिह भवने त्वं गिरिवने।
इति स्वप्ने जल्पं निशि निशमयन्ती मधुरिपोरभूत्तल्पे चन्द्रावलिरथ परावर्तितमुखी ॥ ९६ ॥
विदूषकस्य, यथा—
(४३) अवञ्चि चटुपाटवैरघभिदाद्य पद्मासखी ततस्त्वरय राधिकां किमिति माधवि ध्यायसि।
निशम्य मधुमङ्गलादिति गिरं पुरः स्वप्नजां विदूनवदना सखि ज्वलति पश्य चन्द्रावली ॥ ९७ ॥
अथ दर्शनं, यथा—(४४)
मिथ्या मा वद कन्दरे मम सखीं हित्वा त्वमेकाकिनीं निष्क्रान्तः पृथुसंभ्रमेण किमपि प्राख्यापयन्कैतवम्।
दूरात्किंचिदुदञ्चितेन रसनाशब्देन सातङ्कया निष्क्रम्याथ तया शठेन्द्र पुलिने दृष्टोऽसि राधासखः ॥ ९८ ॥
यथा वा—
(४५) सहचरि परिगुम्फ्य प्रातरेवार्पितासीद्व्रजपतिसुतकण्ठे या मयोत्कन्ठयाद्य।
अपि हृदि ललितायास्तस्थुषी हन्त हृन्मे दहति दहनदीप्तिः पश्य गुञ्जावली सा ॥ ९९ ॥

करते हैं) ॥९६॥

अनुवाद—(विदूषक की स्वप्न क्रिया) यथा—श्रीकृष्ण क्रीड़ा कुञ्ज में श्रीचन्द्रावली के साथ विहार कर रहे थे। कुञ्ज के बाहर एक चबूतरे पर श्रीकृष्ण का विदूषक—मधुमंगल नींद में सो रहा था। स्वप्नावेश में वह जो बोला उसे अन्य कुञ्ज में अवस्थित शैव्या ने सुना। उस मधुमंगल के वचनों को शैव्या अपनी एक सखी को बता रही है—सखि! मधुमंगल स्वप्न में यह कह रहा था—हे माधवि! आज श्रीकृष्ण ने चाटु वचनों से पद्मा की सखी चन्द्रावली की वञ्चना कर दी है। इसलिये तुम श्री-राधा को अभिसार कराने के लिये शीघ्रता करो। तुम क्या सोच रही हो?। मधुमंगल के मुख से यह स्वप्न-वचन सुनकर देख हे सखि! चन्द्रावली मलिन मुख होकर सन्तप्त हो रही है ॥९७॥

अनुवाद—(दर्शन)श्रीकृष्ण गोवर्धन-गिरिकन्दरामें चन्द्रावलीके साथ विहार कर रहे थे। उसी समय श्रीराधा जी की किसी सखी के गूढ़ संकेत को सुनकर श्रीकृष्ण श्रीराधाजी को मिलने के लिये उत्कण्ठित हो उठे। तब वे चन्द्रावलीसे बोले—हे प्रिये! सन्ध्यासमय मेरी एक गाय गुम हो गयी थी। अभी अभी उसकी दूर से आवाज सुनी है मैंने। तुम यहां रहो, मैं अभी उस गाय को ढूण्ढ कर फिर तुम्हारे पास आऊँगा। यह कहकर श्रीकृष्ण कन्दरा से बाहर चले गये। थोड़ी देर में चन्द्रावली ने कुछ दूरी पर किंकिणी की ध्वनि सुनी। शंकित होकर उसने उठकर कन्दरा से बाहर आकर देखा कि श्रीकृष्ण श्री-राधा के साथ विहार कर रहे हैं। फिर तो चन्द्रावली मानिनी हो उठीं। थोड़ी देर में श्रीकृष्ण फिर चन्द्रावली के पास लौट आये। देखा कि वह मानिनी हो रही है। तब वे उसे मनाने के लिये चाटू बचन कहने लगे। तब चन्द्रावली की सखी पद्मा ने उनका तिरस्कार करते हुए कहा—अरे शठ चूड़ामणि! और मिथ्या कथा मत बोलो, एक नयी अद्‌भुत (गाय की) बात बनाकर तुम मेरी सखी चन्द्रावली को कन्दरा में अकेली छोड़कर अति शीघ्र बाहर निकल गये। थोड़ी देर में चन्द्रावली ने किंकिणी का शब्द सुना। उसने शंकित होकर जब बाहर आकर देखा तो तुम यमुना पुलिन में श्रीराधा के साथ विहार कर रहे थे ॥९८॥ अन्यत्र—विपक्ष के लेशमात्र सौभाग्य का देखना भी अतिशय ईर्ष्या का कारण हो जाता है—एक बार पद्मा ने अपने हाथ से अपनी पूर्ण शिल्प-कुशलता लगा कर एक गुंजा माला गुंथी और श्रद्धा प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण को भेंट कर दी। थोड़ी देर बाद उसी माला को उसने ललिता जी

अथ निर्हेतुः—

५५—अकारणाद्द्वयोरेव कारणाभासतस्तथा। प्रोद्यन् प्रणय एवायं व्रजेन्निर्हेतुमानताम्॥ १००॥
५६—आद्यं मानं परीणामं प्रणयस्य जगुर्बुधाः। द्वितीयं पुनरस्यैव विलासभरवैभवम्।
बुधैः प्रणयमानाख्य एष एव प्रकीर्तितः॥ १०१॥

तथा चोक्तम्—

(४६) अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्। अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति॥९३ इति १०२
५७—अवहित्थादयो ह्यत्र विज्ञेया व्यभिचारिणः॥ १०३॥

तत्र श्रीकृष्णस्य, यथा—

(४७) अव्यक्तस्मितदृष्टिमर्पय पुरः स्वल्पोऽपि मन्तुर्न मे पत्युर्वञ्चनपाटवाद्व्रजपते ज्योत्स्नो निशार्धं ययौ शुभ्रालंकृतिभिर्द्रुतं पथि मया दूरं ततः प्रस्थिते सान्द्रा चान्द्रमरुन्ध बिम्बमचिरादाकस्मिकी कालिका॥

के कण्ठ में देखा। सन्तप्त होकर वह शैव्या से बोली—हे सखि शैव्ये! आज प्रातः काल जो गुंजामाला उत्कण्ठा से रचकर श्रीकृष्ण के कण्ठ में मैंने अर्पण की थी, थोड़ी देर बाद उसे मैंने ललिता के गले में देखा। हाय! अग्नि की भांति ज्वाला-विस्तारक वह गुञ्जामाला अब मेरे हृदयको जला रही है॥९९॥

अनुवाद—(निर्हेतु-मान)—कारण के अभाव में एवं कारण के आभास में भी नायक और नायिका का प्रणय ही वर्द्धित होकर निर्हेतु मानत्व को प्राप्त करता है। पण्डित जन कहते हैं—सहेतु मान होता है प्रणय का परिणाम। निर्हेतु मान होता है प्रणय का विलासातिशय रूप वैभव। इस निर्हेतु मान को वे प्रणय-मान कहते हैं॥१००-१०१॥ और जैसे कहा गया है—सर्प की गति जैसे स्वभावतः ही टेढ़ी है, उसी प्रकार प्रेम की गति भी स्वभावतः ही कुटिल—टेढ़ी है। इसलिये कुछ कारण होने पर या न होने पर भी नायक-नायिका में मान का उदय होता है॥१०२॥

रूपकृपातरंगिणी-टीका—श्रीजीवपाद ने यह कहा है कि किसी स्फटिक मणि के सामने लालरंग का पुष्प रख दें तो वह लालरंग की दीखती है। किन्तु वह वास्तव में लाल नहीं होती। लालपुष्प हटाने से वह पूर्ववत् सफेद ही रहती है। उसी प्रकार ईर्ष्यादि के संयोग से प्रणय भी ईर्ष्यायुक्त प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में प्रेम ईर्ष्यायुक्त नहीं होता है। ईर्ष्यायुक्त प्रणय का उसी प्रकार का परिणाम है जैसे सर्प का मण्डली बांध कर बैठना। ईर्ष्या के हटने पर प्रणय अविकृत रूप में स्वच्छ ही रहता है। प्रेम है कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी वासना। अतः प्रेम में कुटिलता का वास्तव अवकाश नहीं है। क्योंकि कुटिलता या वामता ईर्ष्यादि उस वासना के प्रतिकूल हैं। किन्तु यह कुटिलता स्वाभाविक है। स्वाभाविक कुटिलत के आगे फिर क्यों और कैसे—इन प्रश्नों का अवकाश नहीं है।

अनुवाद—(निर्हेतुमान का व्यभिचारी भाव) निर्हेतुमान के व्यभिचारीभाव हैं अवहित्थादि॥१०३ जैसे श्रीकृष्ण का निर्हेतु मान—किसी व्रजगोपी ने सखी को कहकर श्रीकृष्ण को संकेत कुन्ज में भेजा, किन्तु वहां पहुँचने में व्रजगोपी को बहुत विलम्ब हो गया। श्रीकृष्ण आधीरात तक उसकी प्रतीक्षा करते रहे, तब श्रीकृष्ण में मान उदित हो आया। चतुर्थ पहर में व्रजगोपी ने आकर कुन्ज में देखा कि श्रीकृष्ण तो मान करके बैठे हैं। तब वह अपने को निरपराध कहते हुए श्रीकृष्ण से कहने लगी—हे व्रजपते! (व्रजपतिनन्दन न कह कर संभ्रमवश ऐसा सम्बोधन कह गयी) उसने आगे कहा—यदि वास्तव में आप मान कर रहे हैं, तो फिर आप हंस पावोगे भी नहीं किन्तु) मैं आपके सामने उपस्थित हूँ, आप

यथा वा—(४८) पुष्पेभ्यः स्पृहया विलम्बितवतीमालोक्य मामुन्मनाः
कंसारिः सखि लम्बिताननशशी तूर्ष्णीं निकुञ्जे स्थितः ।
आतङ्केन मया तदङ्घ्रिनखरे क्षिप्ते प्रसूनाञ्जलौ
तस्यालीकरुषः भ्रुवं विभुजतोऽप्याविर्बभूव स्मितम् ॥ १०५ ॥

कृष्णप्रियाया, यथोद्धवसंदेशे—(४५)—
(४९) तिष्ठन्गोष्ठाङ्गनभुवि मुहुर्लोचनान्तं निधत्ते जातोत्कण्ठस्तव सखि हरिर्देहलीवेदिकायाम् ।
मिथ्यामानोन्नतिकवलिते किं गवाक्षार्पिताक्षी स्वान्तं हन्त ग्लपयति बहिः प्रीणय प्राणनाथम् ॥ १०६ ॥

यथा वा—
(५०) अहमिह विचिनोमि त्वद्गिरैष प्रसूनं कथय कथमकाण्डे चण्डि वाचंयमासि ।
विदितमुपधिनालं राधि के शाधि केन प्रियसखि कुसुमेन श्रोत्रमुत्तंसयामि ॥ १०७ ॥

मुझ पर हास्यहीन दृष्टि तो डालिये । मुझे विलम्ब हुआ, उसमें मेरा कोई अपराध नहीं है । सुनो, निपुणता पूर्वक गृहस्थ-पति (पतिमन्य) की वंचना करते-करते ज्योत्स्नामयी रात्रि आधी निकल गयी । फिर मैं जब ज्योत्स्नाभिसार उपयोगी शुभ्र वेश से बाहर आयी तो बहुत दूर आने पर अचानक मेघों ने चन्द्र को आच्छन्न कर दिया और अन्धकार छा गया । उस अन्धकार में मैं शुभ्र वेश-भूषा से कैसे आती । फिर मुझे अन्धेरी रात्रि के उपयुक्त वेश-भूषा बदलने घर पर जाना पड़ा । इन सब कारणों से मुझे आने में देर हो गयी । अब आप विचार करके देखो कि इसमें मेरा क्या अपराध है ? ॥१०४॥

अन्यत्र यथा—एक सखी ने श्रीकृष्ण को दूती भेजकर संकेत कुञ्ज में भेजा । वह स्वयं घर से तो अभिसार के लिये निकल पड़ी, किन्तु रास्ते में वैजयन्ती माला के उपयोगी अनेक प्रकार के उत्तम उत्तम पुष्पों को चुनती रह गयी और कुंज में पहुँचने में उसे विलम्ब हो गया । वहां श्रीकृष्ण मान में अधोमुख होकर बैठे थे । सखी ने वहां जाकर जो किया एवं श्रीकृष्ण ने जो व्यवहार उससे किया—उस सब को वही सखी अपनी एक सखी को बता रही है—हे सखि ! पुष्पचयन में अनेक देर से पहुँची मुझ को देखकर उत्कण्ठिततमन श्रीकृष्णचन्द्र मुखचन्द्र को अवनत किये हुए कुंज में चुपचाप बैठे थे । मैं समझ गयी कि वे मेरे विलम्ब के होने से मान ठान रहे हैं । डरते-डरते उनको विलम्ब का कारण बताने के लिये श्रीकृष्ण के चरण नखों पर मैंने कुसुमांजलि चढ़ायी । यद्यपि उन्होंने मान का त्याग कर दिया फिर भी बाहर से अपना आग्रह दिखाने के लिये वह कपट क्रोध से भौंह टेढ़ी कर उठे । फिर भी मधुर मन्द मुस्कान थी उनके मुख मण्डल पर ॥१०५॥

अनुवाद—(श्रीकृष्णप्रिया का निर्हेतु मान)—दिन के अन्त में श्रीकृष्ण वन से गोष्ठ में आ रहे थे । बिना कारण अचानक श्रीराधा जी मानवती होकर दुखित चित्त से गवाक्ष की ओर देखते हुए बैठ गयी । यह देखकर श्यामला सखी ने कहा —सखि ! श्रीकृष्ण उत्कण्ठावश तुम्हारी देहली-चबूतरा पर दृष्टिकोण निक्षेप करते हुए गोष्ठांगन भूमि पर अवस्थान कर रहे हैं । हे वृथा मानधारिणि ! गवाक्ष-रन्ध्र से दृष्टि निक्षेप करके तुम क्यों अपने मन को परितप्त कर रही हो ? बाहर में अवस्थित अपने प्राणनाथ की प्रीति विधान करो ॥१०६॥ और यथा—स्वाधीनभर्तृका श्रीराधा जी के आदेश से श्रीकृष्ण पुष्प चयन करने गये । लौटने पर उन्होंने देखा कि श्रीराधा जी मानवती होकर मौन बैठी हैं । यह देखकर श्रीकृष्ण बोले—हे चण्डि (अर्थात् अकारण कोप करने वाली !) मैं तुम्हारे आदेश से से ही यहां से पुष्पचयन करने गया था, फिर तुम अकारण क्यों मौन ठान रही हो ? हे राधिके !

द्वयोरेव युगपद्यथा—
(५१) कुञ्जे तूष्णीमसि नतशिराः किं चिरास्त्वं मुरारे किं वा राधे त्वमसि विमुखी मौनमुद्रां तनोषि।
ज्ञातं ज्ञातं स्मितविमुषिते कापि वामस्ति योग्या क्रीडावादे बलवति यया न द्वयोरेव भङ्गः ॥१०८॥
यथा वा—(५२)
कुञ्जद्वारि निविष्टयोस्तरणिजातीरे द्वयोरेव नौ तत्रान्योन्यमपश्यतोः सखि मुधा निर्बन्धतः क्लान्तयोः।
हस्ते द्रागथ दाडिमीफलमभिन्यस्ते मया निस्तलं राधामुद्भिदुरस्मितां परिहसन्फुल्लाङ्गमालिङ्गिषम् ॥
५८—निर्हेतुकः स्वयं शाम्येत्स्वयंग्राहस्मितावधि ॥ ११० ॥
यथा—(५३) रोषस्तवाभूद्यदि राधिकेऽधिकस्तथास्तु गण्डः कथमुच्छ्वसित्यसौ।
स्वनर्मणेत्थं दुरपह्नवस्मितां प्रियामचुम्बत्पशुपेन्द्रनन्दः ॥ १११ ॥

तुम्हारे मान का कारण जान गया हूँ, और कपटता का कोई प्रयोजन नहीं है। हे प्रियसखि ! आदेश करो, किस कुसुम से तुम्हारे कान को विभूषित करूं ? ॥१०७॥

अनुवाद—(नायक-नायिका—दोनों का एक साथ निर्हेतुमान) यथा—कुञ्ज में श्रीराधा जी के साथ श्रीकृष्ण खेल रहे थे। इसी क्रीड़ा सुख के समय श्रीकृष्ण ने मन में सोचा—मैं अचानक मान करके देखता हूँ, क्या होता है ?। श्रीकृष्ण को मान करते देख श्रीराधाजी ने भी सोचा—यह यदि मिथ्या मान कर सकते हैं, तो क्या मैं मान करना नहीं जानती ? मान तो हम रमणियों का स्वधर्म है, हम दोनों में किसका मान पहले भंग होता है, यह देखूंगी मै ?—ऐसा सोचकर श्रीराधा जी भी मानवती हो उठीं। दोनों का इस प्रकार निर्हेतुमान आस्वादन करते-करते वृन्दा ने कहा—हे मुरारे ! तुम क्यों इतनी देर से कुञ्ज में माथा झुकाकर चुप बैठे हो ? हे राधे ! तुम ही क्यों मुख फेर कर चुप साध रही हो ? हे स्मितविमोहिते ! (मुस्कराटहीने !) जान गयी, मैं जान गयी, तुम दोनों का कोई एक अनिर्वचनीय अभ्यास है, जिसके कारण इस बलवान क्रीड़ाकलह में तुम दोनो में किसी का मान भंग नहीं हो रहा है ॥१०८॥ अन्यत्र—दोनों का कारणाभास-जात मान, यथा –एकबार श्रीराधा जी ने सखी द्वारा श्रीकृष्ण को संकेत कुञ्ज में भिजवा दिया। स्वयं घर से अभिसार करते हुए रास्ते में पुष्प चयन करने लगीं और बहुत देर से कुञ्ज में पहुँची। वहाँ श्रीकृष्ण को न देखकर चिन्तित हो उठीं। इधर श्रीकृष्ण श्रीराधा के आने में विलम्ब अनुमान कर उसके आने से पहले हो चित्त विनोदन के लिये वन शोभा देखने चले गये और श्रीराधा जी के आनेके कुछ काल पीछे ही आये। तब दोनों ही विलम्ब रूप कारणाभास से उत्पन्न मान के भंग होने की विधि को जब मधुमंगल ने श्रीकृष्ण से पूछा, तो वे कौतुक पूर्वक बोले—हम दोनों ही यमुनातीरस्थ कुञ्ज भवन के द्वार पर अवस्थित थे, फिर भी दोनों एक दूसरे को न देख पाने से मिथ्या मान कर बैठे। इस मान से हम दोनों खिन्न भी हो उठे। फिर श्रीराधा का परिहास करने के उद्देश्य से झट एक सुन्दर गोल अनार फल मैंने अपने हाथ में ले लिया। तब श्रीराधा स्वयं हंस पड़ी, मैंने भी फिर पुलकित होकर उसे आलिगन कर लिया ॥१०९॥

अनुवाद—(निर्हेतु-मान की उपशान्ति) स्वय ग्राहस्मितादि द्वारा निर्हेतुक मान अपने-आप उपशान्त हो जाता है अर्थात् नायक के नायिका के निकट आकर नायिका को आलिगन-चुम्बनदि करने से तथा नायिका के हंसते-हंसते अश्रुपातादि करने से निर्हेतुक मान शान्त हो जाता है ॥११०॥ यथा—श्रीराधा जी निर्हेतुक मान से मानिनी हो रही थीं। श्रीकृष्ण ने उसे कहा—हे राधिके ! तुम्हारा रोष यदि अधिक बढ़ता है तो बड़े, किन्तु तुम्हारा यह कपोल क्यों प्रफुल्लित हो रहा है ? श्रीकृष्ण के इस

५९—हेतुर्यस्तु समं याति यथायोग्यं प्रकल्पितैः । सामभेदक्रियादाननत्युपेक्षारसान्तरैः ॥ ११२ ॥
६०—मानोपशमनस्याङ्का बाष्पमोक्षस्मितादयः ॥ ११३ ॥
तत्र सामः—६१—प्रियवाक्यस्य रचनं यत्तु तत्साम गीयते ॥ ११४ ॥
यथा—(५४)
जातं सुन्दरि तथ्यमेव पृथुना राधेऽपराधेन मे किं तु स्वारसिकी ममात्र शरणं स्नेहस्त्वदीयो बली ।
इत्याकर्ण्य गिरं हरेर्नतमुखी बाष्पाम्भसां धारया सानङ्गोत्सवरङ्गमङ्गलघटौ पूर्णाविकार्षीत्कुचौ ॥ ११५ ॥
अथ भेदः—
६२—भेदो द्विधा स्वयं भङ्ग्या स्वमाहात्म्यप्रकाशनम् । सख्यादिभिरुपालम्भप्रयोगश्चेति कीर्त्यते ११६ ॥
तत्र भङ्ग्या स्वमाहात्म्यप्रकाशनं, यथा विदग्धमाधवे—(४।४१)
(५५) चञ्चन्मीनविलोचनासि कमठोत्कृष्टस्तनी संगता क्रोडेन स्फुरता तवायमधरः प्रह्लादसंवर्धनः ।
मध्योऽसौ बलिबन्धनो मुखरुचा रामास्त्वया निर्जिता लब्धा श्रीघनताद्य मानिनि मनस्यङ्गीकृता कल्किता

नर्मवाक्य को सुनकर श्रीराधा जी अपनी हंसी को रोक न सकीं तब गोपेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ने उनका चुम्बन कर लिया ॥१११॥

अनुवाद—(सहेतुक मान की उपशान्ति)—साम, भेदक्रिया, दान, नति, उपेक्षा एवं समान्तर—ये इनके यथायोग्य भाव से प्रयुक्त होने पर सहेतुक मान उपशान्त हो जाता है ॥१२२॥ अश्रुमोचन तथा हास्यादि मानके उपशान्त हो जाने के ज्ञापक हैं ॥११३॥

अनुवाद—(साम) प्रिय वचन-रचना को 'साम'कहते हैं ॥११४॥ यथा—श्रीकृष्ण द्वारा अपराध होने पर श्रीराधा जी मानिनी हो रही थीं । उसे मनाने के लिये श्रीकृष्ण ने कहा—हे सुन्दरि ! हे राधे ! यह बात यथार्थ है कि मेरा भारी अपराध ही तुम्हारे मान का कारण है किन्तु मेरे प्रति तुम्हारा स्वाभाविक एवं बलवान जो स्नेह है, उसका ही मुझे आश्रय है । श्रीकृष्ण के इन प्रियवचनों को सुनकर श्रीराधा जी ने नतमस्तक होकर अश्रुधारा से अनंग-रंगोत्सव कौतुक के मंगल घटस्वरूप कुचद्वय को परिपूर्ण कर दिया ॥११५॥

अनुवाद—(भेद) – भेद दो प्रकार का है—भंगि क्रम से अपने माहात्म्य को स्वयं प्रकाश करना, तथा सखा आदि के द्वारा उपालम्भ प्रयोग करना अर्थात् दोषारोपण पूर्वक हित वचन प्रयोग करना ११६ (भङ्गिक्रम से अपने माहात्म्य का प्रकाशन) श्रीविदग्धमाधव (४।४१) में यथा—श्रीराधा जी के दुर्जय मान को भंग करने के लिये श्रीकृष्ण ने मधुमंगल के सामने अपना दशावतारात्मक महात्म्य इस प्रकार वर्णन किया—हे मानव्रति राधे ! तुम्हारे दोनों नेत्र चञ्चल मीन की भांति हैं, (मत्स्यावतार) तुम्हारा कुचयुगल कच्छप से भी उत्कृष्ट है, (कच्छप अवतार) तुम क्रोड़ देश में अति दीप्तिशालिनी हो—(दीप्तिशील वराहदेव तुम्हारे साथ हैं) तुम्हारा यह अधर महानन्द सम्वर्धक है (नृसिंहावतार) तुम्हारा मध्यदेश त्रिवलियुक्त है (वामनावतार) तुमने अपनी मुखकान्ति से रमणियों को (परशुराम, श्रीराम एवं श्रीवलराम) को जय किया है, तुम्हारी शोभा अति निविड़ है (बुद्धावतार) और तुम्हारे मनमें मानजात कलुषता है (कल्कि) ! इसलिये जब तुम अपने अंगों में मेरे दश अवतारों को स्वीकार कर अपने अधीन करके रखते हुए हो, तब तुम्हारी महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ? मैं दशावतार धारण करने वाला परमेश्वर हूँ, ब्रह्मादिक का भी वन्दनीय हूँ । तुम गोप स्त्री मान साधती हो ? तुम अपना सौभाग्य भी नहीं पहचानती और संकुचित भी नहीं होती तो ॥११७॥

६३—अथवेदं प्रियोक्तित्वात्सामोदाहरणं भवेत् । नायकस्य स्ववचसा भङ्ग्यायं भेद ईर्यते ॥ ११८ ॥
यथा—(५६)
रक्षा यन्मयि वर्तसे त्वमभितः स्निग्धेऽपि ते दूषणं तन्नास्ते नहि किंतु तत्किल ममानौचित्यजातं फलम् ।
येन स्वास्तरुणीरुपेक्ष्य चरमामप्याश्रयन्तीर्दशां प्रेमार्तं व्रजयौवनं च सुमुखि त्वं केवलं सेव्यसे ॥ ११६ ॥
सख्यादिभिरुपालम्भप्रयोगो, यथा—
(५७) कर्तुं सुन्दरि शङ्खचूडमथने नास्मिन्नुपेक्षोचिता सर्वेषामभयप्रदानपदवीबद्धव्रते प्रेयसि ।
इत्यालीभिरलक्षितं मुरभिदा भद्रावलो भेदिता नासाग्रे वरमौक्तिकश्रियमधादस्रस्य सा बिन्दुना ॥
अथ दानम्—(६४)—व्याजेन भूषणादीनां प्रदानं दानमुच्यते ॥ १२१ ॥
यथा—(५८)
कामो नाम सुहृन्ममास्ति भवतीमाकर्ण्य सत्प्रेयसीं हारस्तेन तवार्पितोऽप्रमुरसि प्राप्नोतु सङ्गोत्सवम् ।
इत्युन्नम्य करं मुरद्विषि वदत्युद्भिन्नसान्द्रस्मिता पद्मा मानविनिग्रहात्प्रणयिना तेनोद्भटं चुम्बिता १२२ ॥

अनुवाद—पक्षान्तर में यह उदाहरण प्रियोक्ति होने से 'साम' का भी उदाहरण हो सकती है, अतएव अन्य श्लोक द्वारा नायक की अपनी वचन-भङ्गि द्वारा भेद दिखाते हैं ॥११८॥ यथा—मानिनी श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण ने कहा—हे राधे ! मैं सर्वतोभाव से स्निग्ध हूँ, फिर भी तुम जो मेरे प्रति रुक्ष व्यवहार करती हो, यह तुम्हारा दोष नहीं है, किन्तु यह मेरे अनुचित कर्म का फल है (अर्थात् जिन देवांगनाओं के लिये तुम यह मानती हो कि वे मेरे विरह में प्राण विसर्जन दशा तक को प्राप्त हो जाती हैं । मैं उन देवांगनाओं को त्याग कर तुम्हारा सम्मान करता हूँ—यही मेरा अनुचित कर्म है, जिसके फलस्वरूप तुम मेरे प्रति रुक्षा रहती हो ।) हे सुमुखि ! तुम केवल प्रेमार्त्त व्रज युवतिपने का सेवन करती हो अर्थात् तुम केवल अपनी ही प्रेमपीड़ा का अनुभव करती हो, मेरे सम्बन्ध में कुछ विचार तक भी तुम नहीं करती हो । (यहां श्रीकृष्ण ने अपने मुँहसे अपना उत्कर्ष स्थापन किया है) ॥११६॥

अनुवाद—(सखी आदि द्वारा उपालम्भ प्रयोग) यथा—श्रीकृष्ण द्वारा गुप्तरूप से अनुनय-विनय करने पर कृष्ण-पक्षपातिनी भद्रा की सखियां मानिनी भद्रा को कह रही हैं—हे सुन्दरि ! जिन्होंने व्रज-वासी मात्र को अभय-प्रदान करने का व्रत ले रखा है और शंखचूड़ का वध किया है, उन्हीं प्रियतम श्री कृष्ण के प्रति उपेक्षा करना उचित नहीं है । इस प्रकार श्रीकृष्ण को अनुपस्थिति में सखियों द्वारा मंगल गुणावली का भेद पैदा करने पर भद्रा की अश्रुधाराने उसकी नासा में लटकने गजमुक्ता की शोभा प्राप्त की ॥१२०॥

अनुवाद -(दान) किसो बहाने से भूषणादि प्रदान करने को 'दान' कहते हैं ॥१२१॥ यथा—मानिनी पद्मा को श्रीकृष्ण ने कहा—पद्मे ! काम नामक एक व्यक्ति मेरा सुहृत् है, तुम मेरी प्रेयसी हो—यह जानकर उसने यह हार तुम्हारे लिये प्रदान किया है । इस हार को तुम अपने वक्षस्थल का सग महोत्सव प्रदान करो । भुजा को उठाने पर (मानों उसके कण्ठ में श्रीकृष्ण हार पहनाते हों) श्री-कृष्ण के ऐसा कहने पर पद्मा का मान उपशान्त हो गया । उसके मुख पर घनी मुस्कयान उदित हो आयी । प्रेमी श्रीकृष्ण ने तब उसका जोर से चुम्बन किया ॥१२२॥

अनुवाद—(नति) केवल दीनतापूर्वक चरणों में पड़ जाने को 'नति' कहते हैं ॥१२३॥ यथा—वृन्दा ने कुन्दलता को कहा—काम-कोटि-कमनीय श्रीकृष्ण ने किञ्चित् दूर रहकर पाली को मोरपुचछ

अथ नतिः—६५—केवलं दैन्यमालम्ब्य पादपातो नतिर्मता ॥ १२३॥

यथा—(५९) क्षितिलुठितशिखण्डापीडमारान्मुकुन्दे रचयति रतिकान्तस्तोमकान्ते प्रणामम् ।
नयनजलधराभ्यां कुर्वती बाष्पवृष्टिं वरतनुरिह मानग्रीष्मनाशं शशंस ॥ १२४॥

अथ उपेक्षा—

६६—सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् । उपेक्षा कथ्यते कैश्चित्तूष्णीभावतया स्थितिः ॥ १२५॥

तद्द्वयं यथा—(६०)

सूनुर्वल्लभ एष बल्लवपतेस्तत्रापि वीराग्रणीस्तत्रापि स्मरमण्डलीविचयिना रूपेण विभ्राजितः ।
सख्यः संप्रति रूक्षता पृथुरियं तेनात्र न श्रेयसे दूरे पश्यत याति निष्ठुरमनाः का युक्तिरत्रोचिता ? १२६॥

(६१) माने मुहुर्नतिभिरप्यतिदुर्निवारे वाचंयमव्रतमहं तरसाग्रहीषम् ।
बाष्पं ततो विकिरती निजगाद पद्मा पौष्पं रजः पतितमत्र दृशोर्ममेति ॥ १२७॥

अथ वा—

६७—प्रसादनविधिं मुक्त्वा वाक्यैरन्यार्थसूचकैः । प्रसादनं मृगाक्षीणामुपेक्षेति स्मृता बुधैः ॥ १२८॥

शोभित मस्तक को पृथ्वी पर रखकर प्रणाम किया । तब वरांगी पाली ने नयनों की अश्रुजल धाराओं को बरसा कर अपनी मान रूप ग्रीष्म ऋतु को विनाश किया—अर्थात् मान को त्याग कर शान्त हो गयी ॥१२४॥

अनुवाद—(उपेक्षा)—सामादि उपायों के व्यर्थ हो जाने पर जो अवज्ञा पैदा होती है, उसे 'उपेक्षा' कहते हैं । कोई-कोई कहते हैं—चुप-चाप भाव में अवस्थिति का नाम 'उपेक्षा' है ॥१२५॥ यथा—कोई कृष्ण प्रेयसी दुर्जय मान को तान बैठी । श्रीकृष्ण सामादि किसी भी उपाय से उसका मान भंग न कर सके । फिर उन्होंने उसकी उपेक्षा कर दी और उससे दूर चले गये । इसी में ही उसका मान उपशान्त हो गया । फिर वही प्रेयसी अपने अनुचित व्यवहार का प्रतिविधान करने के लिये अपनी सखियों से पूछने लगी—हे सखिगण ! ये तो मेरे वल्लभ—प्राणप्रिय हैं, फिर ये श्रीव्रजराज के पुत्र हैं, उस पर भी ये अतिशय वीर हैं (दैत्यों का वध करके एवं गिरिवर को धारण कर इन्होंने हम व्रज-वासियों का कितना उपकार किया है । उस पर भी ये कोटि-कन्दर्प-विजयी हैं)—अतः मुझे इनके प्रति अयोग्य व्यवहार कभी नहीं करना चाहिये था । हे सखिगण ! इन सब कारणों से मुझे लगता है, इनके प्रति जो मैंने अत्यन्त रुक्ष व्यवहार किया है, वह मंगलकारी नहीं होगा—यह देखो तो, ये निष्ठुरमन होकर दूर चले जा रहे हैं—बोलो, अब मैं क्या करूँ ॥१२६॥ अन्यत्र, यथा—श्रीकृष्ण ने सुबलसे कहा—हे सखे ! बार-बार प्रणाम करने के बाद भी जब मैंने देखा कि पद्मा का मान तो अति दुःसाध्य हो रहा है, तब मैंने तत्काल मौन धारण कर लिया । फिर तो पद्मा के नेत्रों से अश्रु बहने लगे । किन्तु पद्मा ने कहा—मेरे नयनों में पुष्प-पराग जा पड़ा है । (उसी से पानी आ रहा है नयनों से, मैं रो नहीं रही हूँ) ॥१२७॥

अनुवाद—दूसरा-उदाहरण, यथा—समादि उपायों को परित्याग करते हुए अन्यार्थ-सूचक वचन द्वारा मृगनयनियों के मान-मनाने को पण्डितजन 'उपेक्षा' कहते हैं ॥१२८॥ यथा—चन्द्रावली मानवती हो रही थीं । उसको मनाने के लिये सामादि उपायों को छोड़कर श्रीकृष्ण ने उसे कहा—हे सुन्दरि ! तुम्हारे केश-चूड़ा में जो नवमालती है एवं बायें कान में जो मल्ली है, उन्हें मैं जानता हूँ किन्तु दक्षिण कान में कौन सा पुष्प है, उसे जानने के लिये मैं एकबार उसे सूंघकर देखता हूँ।— यह

यथा—(६२)
धम्मिल्ले नवमालती परिचिता सव्ये च शब्दग्रहे मल्ली सुन्दरि दक्षिणे तु कतरत्पुष्पं तव भ्राजते।
आघ्रेयं परिचेतुमित्युपहिते व्याजेन नासापुटे गण्डोद्यत्पुलका विहस्य हरिणा चन्द्रावली चुम्बिता ॥ १२९

अथ रसान्तरम्—
६८—आकस्मिकभयादीनां प्रस्तुतिः स्याद्रसान्तरम्। याद‍ृच्छिकं बुद्धिपूर्वमिति द्वेधा तदुच्यते ॥ १३० ॥
तत्र याद‍ृच्छिकम्—६९—उपस्थितमकस्माद्यत्तद्याद‍ृच्छिकमुच्यते ॥ १३१ ॥

यथा—(६३)
अपि गुरुभिरुपायैरद्य सामादिभिर्या लवमपि न मृगाक्षी मानमुद्रामभाङ्क्षीत्।
हरिमिह परिरेभे सा स्वयंग्राहमग्रे नवजलधरनादैर्भीषिता पश्य भद्रा॥ १३२ ॥

यथा वा—(६४)
उपायेषु व्यर्थोन्नतिषु बत सामादिषु सखे सखीनां चातुर्ये गतवति च सद्यः शिथिलताम्।
विशाखायाः कोपज्वरहरणमन्त्रप्रतिनिधिं सचीत्कारं रूक्षस्वनितमकरोद्वृक्षवनुजः॥ १३३ ॥
अथ बुद्धिपूर्वम्—७०—बुद्धिपूर्वं तु कान्तेन प्रत्युत्पन्नधिया कृतम् ॥ १३४ ॥

छल करके श्रीकृष्ण ने चन्द्रावली के कपोल पर अपनी नासिका अर्पण कर दी। ऐसा करते ही उसका कपोल पुलकित हो उठा—(मान दूर हो गया) यह देखकर मुस्कराते हुए श्रीकृष्ण ने उसका चुम्बन कर लिया ॥१२९॥

अनुवाद—(रसान्तर)—अकस्मात् भयादि में घिर कर प्रस्तुति या सद्भाव को 'रसान्तर' कहते हैं। यह रसान्तर दो प्रकारका है–याद‍ृच्छिक एवं बुद्धिपूर्वक ॥१३०॥ (याद‍ृच्छिक-रसान्तर)—किसी प्रकार के प्रयास के विना जो अकस्मात् उपस्थित होता है, उसे 'याद‍ृच्छिक-रसान्तर' कहते हैं ॥१३१॥ यथा—मानवती भद्रा की सखियां परस्पर कहने लगीं—हे सखिगण ! एक आश्चर्यमय व्यापार देखो, सामादि बड़े-बड़े उपायों द्वारा भी मृगनयनी पद्मा ने जो मान-मुद्रा जरा भी त्याग नहीं की वह कैसे अचानक भंग हो गयी ?—अकस्मात् नवमेघ की गर्ज्जना से भयभीत होकर भद्रा ने स्वयं ही दोनों भुजाओं द्वारा श्रीकृष्ण को आलिगन कर लिया। (यहां अकस्यात् मेघगर्ज्जन याद‍ृच्छिक-रसान्तर है) ॥१३२॥ (आधि-दैविक भय-जात रसान्तर के उदाहरण के बाद अब आधिभौतिक-भयजात रसान्तर का उदाहरण देते हैं)—एक दिन मानवती विशाखा जी के प्रगाढ़ मान को सामादि उपायों से प्रशमन न कर सकने पर श्रीकृष्ण चिन्तामग्न हो रहे थे। फिर वह मान कैसे दूर हुआ—यह पूछने पर मधुमंगल को श्रीकृष्ण ने कहा—हे सखे ! विशाखा के कोप ज्वर को शान्त करने में सामादि त्रिविध उपायों का प्रयोग एवं सखियों की चतुराई भी व्यर्थ हो गयी थी, किन्तु तत्क्षण व्रज में अरिष्टासुर के आने पर और उसके निष्ठुर चीत्कार गर्ज्जना करने से विशाखा का वह कोपज्वर शान्त हो गया, उस चीत्कार ने मन्त्र सदृश काम किया ॥१३३॥

अनुवाद—(बुद्धि पूर्वक) प्रत्युत्पन्न (समयानुसार उपजी) मति द्वारा नायिका का मान भंग करने के लिये नायक जो कुछ करता है, उसे 'बुद्धिपूर्वक रसान्तर' कहते हैं ॥१३४॥ यथा—वृन्दाने पौर्णमासी को बताया कि किसी भी प्रकार जब श्रीराधा जी के दुर्जय मान को श्रीकृष्ण भंग न सके, तो श्रीकृष्ण क्षणकाल मौन हो गये। फिर अपनी प्रत्युत्पन्न मति के प्रभाव से उन्होंने एक उपाय निकाला। भय-त्रास

यथा—(६५)
पाणौ पञ्चमुखेन दुष्टकृमिणा दष्टोऽस्मि रोषादिति व्याजात्कूणितलोचनं व्रजपतौ व्याभुज्य वक्त्रं स्थिते ।
सद्यः प्रोज्झितरोषवृत्तिरसकृत् किं वृत्तमित्याकुला जल्पन्ती स्मितबन्धुरास्यममुना गान्धर्विका चुम्बिता ॥
यथा वा—(६६)
न्यस्तं दाम कृतागसाद्य हरिणा दृष्ट्वा पुरो राधया क्षिप्तेनाभिहतः स तेन कपटी दुःखीव भुग्नाननः ।
मीलन्नेव निषेदिवान् भुवि ततः सद्यस्तया व्यग्रया पाणिभ्यां धृतकंधरः स्मितमुखो बिम्बोष्ठमस्याः पपौ ॥
७१—देशकालबलेनैव मुरलीश्रवणेन च । विनाप्युपायं मानोऽसौ लीयते व्रजसुभ्रुवाम् ॥ १३७ ॥
तत्र देशबलेन, यथा—
(६७) अलंकीर्णं चन्द्रावलिरलिघटाझङ्कृतिभरैः पुरो वृन्दारण्यं किमपि कलयन्ती कुसुमितम् ।
हरिं च स्मेराक्षं प्रियकतरुमूले प्रियमितः स्खलन्माना सख्यामदिशत सतृष्णं दृशमसौ ॥ १३८ ॥
कालबलेन, यथा—
(६८) शरदि मधुरमूर्तिः पश्य कान्तिच्छटाभिः स्नपयति रविकन्यातीरवन्यां सुधांशुः ।
इति निशि निशमय्य व्याहृतिं दूतिकायाः स्मितरुचिभिरतानीत्तत्र राधा प्रसादम् ॥ १३९ ॥

जनित वेदना का अभिनय करते हुए श्रीकृष्ण घबराये हुए स्वर से बोले—हाय ! दुष्ट कीट-पञ्चवदन (सर्प) ने कुपित होकर मेरे हाथ में काट डाला—ऐसा कहकर श्रीनन्दनन्दन छलपूर्वक मुख घुमा कर नेत्र वन्द कर बैठ गये । तब श्रीराधा उसी क्षण अपना क्रोध—मान परित्याग कर व्याकुल होकर उनके पास आयी, बार-बार क्या हुआ ? क्या हुआ ? कहने लगीं । तब झट श्रीकृष्ण ने श्रीराधा को चुम्बन कर लिया और श्रीराधा जी भी मन्द मुस्कराने लगीं ।।१३५।। अन्यत्र, यथा—एक बार मानिनी श्रीराधा के गले में अपने हाथ की रची माला श्रीकृष्ण ने डाली । श्रीराधा जी ने क्रोध पूर्वक उतार कर उसे दूर फेंका । दैवयोग से वह माला श्रीकृष्ण के शरीर पर जा लगी । श्रीकृष्ण उस माला की चोट से बड़ी पीड़ा का छल कर पृथ्वी पर बैठ गये । श्रीराधा जी यह देखकर व्याकुल हो उठीं और दोनों हाथ श्री-कृष्ण के स्कन्धों पर धारण कर पूछने लगीं—'कहाँ लगी वह माला ? श्रीकृष्ण ने झट उनके अधरोष्ठ का चुम्बन कर लिया ।।१३६।।

अनुवाद—(देश-काल प्रभाव एवं मुरली श्रवण से मान की उपशांति)—सामादि अन्य उपाय विना कहीं कहीं देशकालादि के प्रभाव से एवं मुरली श्रवण से भी व्रजसुन्दरियों का मान लय—नष्ट हो जाता है ।।१३७।। (देश-प्रभाव से) यथा—मानवती चन्द्रावलि की प्रसन्नता-प्राप्ति के सम्बन्ध में भद्रा को वृन्दा ने कहा—हे भद्रे ! मानिनी चन्द्रावली वृन्दावन गयी थी, वहां उसने कुसुम सुशोभित वृन्दावन को देखा, जो मधुकरों की गुंजार से मुखरित हो रहा था । वहां कदम्बवृक्ष के नीचे मन्दमुस्कराते हुए प्रिय श्रीकृष्ण को भी देखा । इसी से ही चन्द्रावली का मान भंग हो गया । तब उसने अपनी सखी के प्रति लालसा भरी दृष्टि पात की ।।१३८।।

अनुवाद—(काल-प्रभाव से) यथा—वृन्दा ने श्रीकृष्ण को कहा—हे श्रीकृष्ण ! श्रीराधा जी मानिनी होकर कुञ्ज में बैठी हैं । इस समय एक दूती ने आकर श्रीराधा जी को कहा—यह देखो, मधुर-मूर्ति चन्द्र अपनी कान्ति-छटा द्वारा यमुनातीर वर्ती वनसमूह को प्रकाशित कर रहा है । रात्रिकाल में दूती के मुख से यह वात सुनकर श्रीराधा जी मधुर मुस्कराते हुए प्रसन्न हो उठीं—मान दूर हो गया ।।१३९।।

मुरलीशब्देन, यथा—(६९)

यदि रोषं न हि मुञ्चसि न मुञ्च देवि नात्र निर्बन्धः। फूत्कृतिविधूतमानः स भवति विजयी हरेर्वेणुः॥

यथा वा—

(७०) मानस्योपाध्यायि प्रसीद सखि रुन्धि मे श्रुतिद्वन्द्वम्। अयमुच्चाटनमन्त्रं सिद्धो वेणुर्वने पठति १४१॥

७२—तारतम्यं तु मानस्य हेतोः स्यात्तरतम्यतः। स्याल्लघुर्मध्यमश्चासौ महिष्ठश्चेत्यतस्त्रिधा॥ १४२॥

७३—सुसाध्यः स्याल्लघुर्मानो यत्नसाध्यस्तु मध्यमः। दुःसाध्यः स्यादुपायेन महिष्ठः श्रेयसाप्ययम्॥ १४३

७४—कृष्णे रोषोक्तयस्तासां वामो दुर्ल्लीलशेखरः। कितवेन्द्रो महाधूर्तः कठोरो निरपत्रपः॥ १४४॥

७५—अतिदुर्ललितो गोपीभुजङ्गो रतहिण्डकः। गोपिकाधर्मविध्वंसी गोपसाध्वीविडम्बकः॥ १४५॥

७६—कामुकेशस्तमिस्रौघः श्यामात्माम्बरतस्करः। गोवर्धनतटारण्यवाटपाटच्चरादयः॥ १४६॥

इति मानः।

अथ प्रेमवैचित्त्यम्

७७—प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः। या विश्लेषधियार्तिस्तत्प्रेमवैचित्त्यमुच्यते॥ १४७॥

अनुवाद—(मुरली-श्रवण से) मानिनी श्रीराधा जी को एक सखी ने कहा—हे देवि ! तू यदि रोष (मान) को त्याग नहीं करती हो, तो मत करो, मेरा इसमें कोई आग्रह नहीं है। फूंकमारने से तुम्हारा मान दूर होने पर श्रीकृष्ण की वेणु ही विजयी हो जायगी ॥१४०॥ और यथा—क्रोध महित श्रीराधा जी ने ललिता जी से कहा - हे मान शिक्षा की उपाध्यायिनि ! सखि ! प्रसन्न होओ, मेरे कानों को वन्द कर दो। श्रीकृष्ण का यह सिद्ध वेणु वन में उच्चाटन-मन्त्र पाठ कर रहा है। आपकी शिक्षानुसार मैं वेणु ध्वनि सुनकर मान की रक्षा नहीं कर पा रही हूँ ॥१४१॥

अनुवाद—(मान के प्रकार भेद)—कारण के तारतम्य से मान में भी तारतम्य होता है। तदनुसार मान के लघु, मध्यम तथा महिष्ठ ये तीन प्रकार हैं ॥१४२॥ जो मान थोड़े यत्न से साध्य होता है, वह लघु है, जो बड़े यत्न से साध्य होता है, वह 'मध्यम' है एवं प्रियतम द्वारा विविध सामादि उपाय करने पर भी जो दुःसाध्य होता है, उसे 'महिष्ठ' (प्रौढ़) मान जानना चाहिये ॥१४३॥

अनुवाद—मान दशा में श्रीकृष्ण के प्रति व्रजगोपीवृन्द जिन शब्दों का प्रयोग करती हैं, उनका दिग्दर्शन इस प्रकार है - वाम, दुर्ल्लील-शेखर, कितवेन्द्र, महाधूर्त्त, कठोर, निर्लज्ज, परमरुक्ष, गोपी-भुजंग, रतहिण्डक, (रतिचोर), गोपीधर्म-विध्वंसी, गोप-साध्वी विडम्बक, कामुलेश, तमिस्रौघ, श्यामातमा, वस्त्रचोर एवं गोवर्धन-प्रान्त वर्त्ती मार्ग पाटचर (राहगीर) ॥१४४-१४६॥

॥ इति मान ॥

अथ प्रेमवैचित्त्य

अनुवाद—(प्रेम-वैचित्त्य) प्रेमोत्कर्ष के स्वभाव के कारण प्रियतम के निकट रहने पर भी विरह-बुद्धि के कारण जो आर्त्ति होती है, उसे 'प्रेम-वैचित्त्य' कहते हैं (श्रीजीवपाद कहते हैं प्रेमजनित विचित्तता अर्थात् तन्ययतावश चित्तका अन्यथा भाव 'प्रेमवैचित्त्य' है। श्रीचक्रवर्तीपाद का कहना है—प्रेमोत्कर्ष

यथा—

(७१)—अभीरेन्द्रसुते स्फुरत्यपि पुरस्तीव्रानुरागोत्थया विश्लेषज्वरसंपदा विवशधीरस्यन्तमुद्घूर्णिता।
कान्तं मे सखि दर्शयेति दशनैरुद्गूर्णशस्याङ्कुरा राधा हन्त तथा व्यचेष्टत यतः कृष्णोऽप्यभूद्विस्मितः १४८

यथा वा विदग्धमाधवे—(४।६)—

(७२) समजनि दवाद्विस्तानां किमार्तरवो गिरां मयि किमभवद्दौगुण्यं वा निरङ्कुशमीक्षितम्।
व्यरचि निभृतं किं वा हूतिः कयाचिदभीष्टया यदिह सहसा मामत्याक्षीद्वने वनजेक्षणः ॥ १४६ ॥

७८—विलासमनुरागस्तु कुत्रचित्कमपि व्रजन्। पार्श्वे सन्तमपि प्रेष्ठं हारितं कुरुते स्फुटम् ॥ १५० ॥

७६—रुक्ष्मदाहृरता पट्टमहिषीगीतविभ्रमम्। स्पष्टं मुक्ताफले चैतद्बोपदेवेन वर्णितम् ॥ १५१ ॥

इति प्रेमवैचित्त्यम्।

अथ प्रवासः

८०—पूर्वसंगतयोर्यूनोर्भवेद्देशान्तरादिभिः। व्यवधानं तु यत्प्राज्ञैः स प्रवास इतीर्यते ॥ १५२ ॥

अर्थात् स्थायिभाव अनुराग (श्रीकृष्ण सम्बन्ध में अतिशय-तृष्णामूलक अनुराग) दशा में प्रेम वैचित्त्य उदित होता है) ॥१४७॥ यथा—श्रीराधा के प्रेमवैचित्त्य को देखकर वृन्दा ने पौर्णमासी देवी को कहा—व्रजेन्द्रनन्दन के सम्मुख विराजमान रहते हुए भी तीव्र अनुराग से उत्थित विच्छेद ज्वर की अतिशय में श्रीराधा की बुद्धि विवश हो उठी और वह अत्यन्त घूर्णाग्रस्त हो गयी। हे सखि! मेरे प्राण वल्लभ को एक वार मुझे दिखाओ इस प्रकार कहते हुए दान्तों में उसने तृण धारण कर लिया—ऐसी चेष्टा प्रकट करने लगी कि जिसे देखकर स्वयं श्रीकृष्ण भी विस्मित हो उठे ॥१४८॥ श्रीविदग्ध माधव (४।८) में यथा—सखियों की उपस्थिति में श्रीराधा जी श्रीकृष्ण के साथ विहार कर रही हैं। श्रीराधा जी की मुख-सौरभ में आकृष्ट होकर भ्रमरगण बार-बार उनके मुख पर आकर गिर रहे हैं, श्रीराधा भ्रमरगण को हटाती हैं। कुछ क्षणों के बाद मधुमंगल ने कहा—मधुसूदन (भ्रमर) चला गया है। यह सुनते ही मधुसूदन-शब्द से श्रीकृष्ण को मान कर प्रेमोत्कर्ष जनित प्रेमवैचित्त्य के कारण श्रीराधा जी ने कहा—मधुसूदन मुझे यहां परित्याग कर क्यों चले गये हैं? दावानल से त्रस्त गोपों का आर्त्त कोलाहल मच गया है क्या? अथवा, श्रीकृष्ण ने मुझ में कोई स्वतन्त्रताजनित दोष देखा है क्या? अथवा उनकी कोई अभीष्टा—मेरी विवक्षा नायिका उन्हें बुलाकर एकान्त में ले गयी है क्योंकि वे कमलनयन श्रीकृष्ण मुझे अचानक यहां वन में परित्याग कर क्यों चले गये हैं ॥१४६॥

अनुवाद—कहीं-कहीं अनुराग किसी एक अनिर्वचनीय दुरूह विलास-वैभव से समृद्ध होकर पास में अवस्थित प्रियजन को भी स्पष्ट भाव से खो बैठता है—ऐसा जानता है कि प्रियतम चला गया है। महिषी श्रीरुक्मिणी आदि के उन्मादकृत गान-विनोद का सम्यक् उदाहरण देकर श्रीवोपदेव ने अपने मुक्ताफल ग्रन्थ में इस प्रेमवैचित्य का वर्णन किया है ॥१५०-१५१॥

॥ इति प्रेमवैचित्त्य ॥

अथ प्रवास

अनुवाद—(प्रवास) जो पहले मिलित हो चुके हैं, ऐसे नायक एवं नायिका के देशान्तर या अन्य स्थान पर चले जाने के कारण एक दूसरे के बीच जो व्यवधान उपस्थित होता है, उसे 'प्रवास' कहते

८१—तज्जन्यविप्रलम्भोऽयं प्रवासत्वेन कथ्यते। हर्षगर्वमदव्रीडा वर्जयित्वा समीरिताः॥ १५३॥
शृङ्गारयोग्याः सर्वेऽपि प्रवासे व्यभिचारिणः। स द्विधा बुद्धिपूर्वः स्यात्तथैवाबुद्धिपूर्वकः॥ १५४॥

तत्र बुद्धिपूर्वः—

८३—दूरे कार्यानुरोधेन गमः स्याद्बुद्धिपूर्वकः। कार्यं कृष्णस्य कथितं स्वभक्तप्रीणनादिकम्॥ १५५॥
८४—किंचिद्दूरे च गमनादप्ययं द्विधा॥ १५६॥

तत्राद्यः—

(७३) दृष्टिं निधाय सुरभीनिकुरम्बवीथ्यां कृष्णेति वर्णयुगलाभ्यसने रसज्ञाम्।
शुश्रूषणे मुरलिनिस्वनितस्य कर्णौ चित्तं सुखे तव नयत्यहरद्य राधा॥ १५७॥

अथ द्वितीयः—८५—भावी भवंश्च भूतश्च त्रिविधः स तु कीर्त्यते॥ १५८॥

तत्र भावी यथोद्धवसंदेशे—(६७)—

(७४) एष क्षत्ता व्रजनरपतेराज्ञया गोकुलेऽस्मिन् बाले प्रातर्नगरगतये घोषणामातनोति।
दुष्टं भूयः स्फुरति च बलादीक्षणं दक्षिणं मे तेन स्वान्तं स्फुटति चटुलं हन्त भाव्यं न जाने॥ १५९॥

है ॥१५२॥ उस प्रवास-जनित विप्रलम्भ को भी 'प्रवास' कहा जाता है। शृंगाररस के उपयोगी जिन समस्त व्यभिचारी भावों का वर्णन पहले कर आये हैं, उनमें हर्ष, गर्व, मत्तता तथा लज्जा इन को छोड़कर अन्यान्य सब व्यभिचारी भाव ही प्रवास में प्रकटित हुआ करते हैं। प्रवास दो प्रकार का है—बुद्धि पूर्वक एवं अबुद्धि पूर्वक ॥१५३-१५४॥

अनुवाद—(बुद्धि पूर्वक-प्रवास) किसी कार्य के अनुरोध से (श्रीकृष्ण के) निवास स्थान से दूर जाने को 'बुद्धिपूर्वक-प्रवास' करते हैं, यहां श्रीकृष्ण के कार्य का अभिप्राय—अपने भक्तों को (अपने दर्शन द्वारा, अपनी पाल्य गौओं को एवं वृन्दावन के पशु-पक्षि, वृक्षादिक के प्रीतिविधान के द्वारा एवं उनके पालन, प्रेमदान, अन्यवासना पूर्ण करने से प्रीतिविधान द्वारा एवं यादव तथा पाण्डवादि के शत्रु विनाश द्वारा उनका सुख विधान करना है—अर्थात् इन कार्यों के लिये श्रीकृष्ण जो दूर या प्रदेश में गमन करते हैं, वह उनका बुद्धिपूर्वक प्रवास है ॥१५५॥ बुद्धि पूर्वक प्रवास भी दो प्रकार का है—थोड़ी दूर तक जाना एवं बहुत दूर चला जाना ॥१५६॥ (थोड़ी दूर तक जाना) यथा—श्रीकृष्ण घर से थोड़ी दूर वन में गाय चराने गये। उनके वापस घर लौटने की उत्कण्ठा में श्रीराधा जी व्याकुल हो उठीं। उनकी उस अवस्था को एक दूती श्रीकृष्ण को बता रही हैं—हे श्रीकृष्ण! आज श्रीराधाजी ने गौओं के लौटने के पथ के प्रति दृष्टि लगाये हुए 'कृष्ण' इन दो वर्णों के अभ्यास में रसना को, मुरली-ध्वनि के श्रवण में दोनों कानों को तथा आपके सुख में चित्त को नियुक्त करके दिन बिताया है ॥१५७॥

अनुवाद—(बुद्धिपूर्वक बहुत दूर का प्रवास) यह तीन प्रकार का है - भावी, भवन् (वर्तमान) एवं भूत (अतीत) ॥१६८॥ (भावी सुन्दर प्रवास)—श्रीउद्धव सन्देश (६७) में, यथा—श्रीकृष्णबलराम के सवेरे अक्रूर के साथ मथुरा जाने की घोषणा सुनकर सखी ने दुखी होकर अपनी सखी से कहा—हे बाले (मूर्खे!) श्रीव्रजराज के आदेश से यह द्वारपाल इस गोकुल में घोषणा कर रहा है कि प्रातः काल मथुरा नगर चलना होगा। और मेरा दुष्ट दायां नेत्र भी बलपूर्वक स्पन्दन कर रहा है—फड़क रहा है। इसलिये मेरा चित्त चञ्चल-अस्थिर हो रहा है। हा कष्ट! पता नहीं भविष्यत में क्या होगा? ॥१५९॥

भवन् यथा ललितमाधवे—(३।७)
(७५) भावोर्बिम्बे त्वरितमुदयप्रस्थतः प्रस्थितेऽसौ यात्रानन्दीं पठति मुदितः स्यन्दने गान्दिनेयः।
तावत्तूर्णं स्फुटखुरपुटैः क्षोणिपृष्ठं खनन्तो यावन्नामी हृदय भवतो घोटकाः स्फोटका स्युः ॥१६०॥

भूतो यथोद्धवसंदेशे—(८५)—
(७६) कामं दूरे सहचरि वरीर्वति यत्कंसवैरी नेदं लोकोत्तरमपि विपद्दुर्दिनं मां दुनोति।
आशाकीलो हृदि किल धृतः प्राणरोधी तु यो मे सोऽयं पीडां निबिडवडवावह्निनतीव्रस्तनोति १६१॥

८६—अत्र श्रीयदुसिंहेन प्रेयसीभिरमुष्य च। प्रेषणं क्रियते प्रेम्णा संदेशस्य परस्परम्॥ १६२॥

यथोद्धवसंदेशे—(११५)—
(७७) सोढव्यं ते कथमपि बलाच्चक्षुषी मीलयित्वा तीव्रोत्तापं हृतमनसिजोद्दामविक्रान्तिचक्रम्।
द्वित्रैरेव प्रियसखि दिनैः सेव्यतां देवि शैव्ये यास्यामि त्वत्प्रणयवकुलभ्रू युगाडम्बराणाम्॥ १६३॥

तथा पद्यावल्याम्—(३७६)—
(७८) कालिन्द्याः पुलिनं प्रदोषमरुतो रम्याः शशाङ्कांशवः संतापं न हरन्तु नाम नितरां कुर्वन्ति कस्मात्पुनः
संदिष्टं व्रजयोषितामिति हरेः संशृण्वतोऽन्तः पुरे निःश्वासाः प्रसृता जयन्ति रमणीसौभाग्यगर्वच्छिदः॥

अनुवाद—(वर्तमान-सुदूर प्रवास) श्रीललितमाधव (३।७) में, यथा—श्यामला विलाप करते-करते वोली—उदयाचल के आदेश से भानुमण्डल शीघ्र गति से उदित होने से आनन्दपूर्वक अक्रूर रथ पर यात्रानान्दी (मंगल वाक्य) पाठ कर रहा है। हे हृदय ! तुम इस समय फट जाओ, नहीं तो अपने खुरों द्वारा पृथ्वी को विदीर्ण करने वाले घोड़े ही तुम्हें विदीर्ण करने वाले बनेंगे ॥१६०॥

अनुवाद—(बुद्धि पूर्वक भूत—अतीत सुदूर प्रवास)—श्रीउद्धव सन्देश (८५) में, यथा—श्रीकृष्ण के द्वारका चले जाने पर विरह दुख-व्याकुला श्रीराधा जी ने विशाखा जी को कहा—हे सहचरि ! कंस वैरी श्रीकृष्ण स्वच्छन्दतापूर्वक दीर्घकाल से जितनी दूर अवस्थान कर रहे हैं, मुझे अलौकिक विपद् रूप मेरे खोटे दिन भी उतनी ही मुझे पीड़ा दे रहे हैं। किन्तु (वे अपने वचनानुसार व्रज में शीघ्र लौट आवेंगे, ऐसो) आशा रूप प्राणरक्षक कीलक (मेख) को मैं जो हृदय में धारण कर रही थी, अब वह अतिशय वड़वाग्नि की भांति तीव्र होकर मुझे जलाये दे रही है ॥१६१॥

अनुवाद—(परस्पर प्रेमवार्त्ता-प्रेषण) इस बुद्धिपूर्वक भूत सुदूर प्रवास में यादवेन्द्र श्रीकृष्ण एवं कृष्णप्रेयसीवृन्द प्रेमपूर्वक एक दूसरे के पास सन्देश भेजते रहते हैं ॥१६२॥ श्रीउद्धव सन्देश (११५) में, यथा—श्रीकृष्ण ने श्रीउद्धव के द्वारा मथुरा से शैब्याजी को इस प्रकार संवाद भेजा—हे देवि शैब्ये ! तुम बलपूर्वक नेत्र वन्द करके कष्ट स्रष्टा दुष्ट कामकी महादुःसह सन्तापमयी अति बलशाली विक्रम-परम्परा को सहन करते हुए समय निकालो। हे प्रियसखि ! मैं अब दो-तीन दिन में तुम्हारी प्रेम-कुटिलतामयी मनोहर भ्रूकुटियों के पराक्रमों से सेवित होऊंगा—अर्थात् शीघ्र व्रज में आऊंगा और तुम मुझे भ्रूकुटि विलास से आनन्दित करना ॥१६३॥ श्रीपद्यावली (३७६) में, यथा—श्रीकृष्ण के प्रति श्रीव्रज-देवियों के सन्देश का उदाहरण)—यमुना-पुलिनादि को देखकर प्रज्ज्वलित विरहाग्नि से दुखी गोपियों की वार्त्ता सुनकर द्वारका के अन्तःपुरवासी श्रीकृष्ण की व्याकुलता का वर्णन करते हुए कहते हैं—विरहकाल में जलशून्य तट वाली कालिन्दी के पुलिन, रात्रि के आरम्भ काल में प्रवाहित होने वाली मलयाचल की मन्द समीर एवं रमणीय चन्द्र किरणें—ये सब आपके विरह जात सन्ताप का

अथ अबुद्धिपूर्वः—

८७—पारतन्त्र्योद्भवो यस्तु प्रोक्तः सोऽबुद्धिपूर्वकः। दिव्यादिव्यादिजनितं पारतन्त्र्यमनेकधा ॥ १६५ ॥

यथा ललितमाधवे—(२।२७)—

(७९) आनीतासि मया मनोरथशतव्यग्रेण निर्बन्धतः पूर्णं शारदपूर्णिमापरिमलैर्वृन्दाटवीमण्डलम्।
सद्यः सुन्दरि शङ्खचूडकपटप्राप्तोदयेनाधुना दैवेनाद्य विरोधिना कथमितस्त्वं हन्त दूरीकृता ॥१६६॥

८८—चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता। प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहमृत्युर्दशा दश ॥ १६७ ॥

तत्र चिन्ता यथा हंसदूते—(२)

(८०) यदा यातो गोपीहृदमदनो नन्दसदनान्मुकुन्दो गान्दिन्यास्तनयमनुरुन्धन्मधुपुरीम्।
तदामाङ्क्षीच्चिन्तासरिति घनघूर्णापरिचयैरगाधायां बाधामयपयसि राधा विरहिणी ॥ १६८ ॥

नाश करें, किन्तु इस सन्ताप का कारण तो कहिये।—व्रजदेवियों की यह वार्ता द्वारका के अन्तःपुर में श्रीकृष्ण सुनते-सुनते जो दीर्घ निश्वास छोड़ने लगे, वे वहां रहने वाली रुक्मिणी आदि महिषीवृन्द के महासौभाग्यगर्व का खण्डन करते हुए जययुक्त हों ॥१६४॥

अनुवाद—(अबुद्धिपूर्वक प्रवास)—पराधीनतावश जो प्रवास है, उसे 'अबुद्धि पूर्वक-प्रवास' कहते हैं। यह पराधीनता दिव्यजनित एवं अदिव्य जनितादि भेद से अनेक प्रकार की होती है। (दिव्यजनित का अर्थ है—आकाशजात, दैवजात, अदृष्टजात, अलौकिक अचिन्तित एवं अद्भुत। इस प्रकार के किसी कारणवश जो पराधीनता है—वह दिव्यजनित मानी गयी है। तूफान, वज्रपात या ऐसी कोई दुर्घटना जिसके कारण नायक-नायिका एक दूसरे से दूर रह जाते हैं—उसे 'अबुद्धिपूर्वक-प्रवास' कहते हैं ॥१६५॥ श्रीललितमाधव (२।२७) में, यथा—शिवरात्रि के बाद अम्बिकायात्रा के बाद होरि पूर्णिमा पर श्रीकृष्ण एवं श्रीबलराम व्रजसुन्दरियों के साथ होली खेल रहे थे। उस समय श्रीराधा जी सिंहासन पर विराजमान थीं। मुखरा को वंचित करने के उद्देश्य से श्रीकृष्ण निकटवर्ती एक कुंज में जाकर छिप गये। इतने में शंखचूड़ दानव आया और श्रीराधाजी का हरण कर ले गया। तब ललितादि सखीवृन्द के—'हा कृष्ण! हा कृष्ण! तुम कहाँ हो?' ऐसा पुकारने पर श्रीकृष्ण कुंज से बाहर आये और श्रीराधा के लिये विलाप करते-करते बोले—हे सुन्दरि! शत् शत् मनोरथों में चित्त निविष्ट करके नव पूर्णिमा की ज्योत्स्ना से परिपूर्ण वृन्दाटवी मण्डप में किसी प्रकार तुम को मैं लाया था, किन्तु हाय! मेरे विरोधी दैव ने आज इस समय शखचूड़ के वेश में आकर कैसे अचानक तुम को मुझ से दूर कर दिया?॥' (शरद पूर्णिमा पर यह घटना नहीं हुई थी—होलिका पूर्णिमा पर शंखचूड़ आया था अतः शारदं शब्द का अर्थ यहां श्रीजीवपाद ने नव किया है) ॥१६६॥

अनुवाद—(सुदूर प्रवास नामक विप्रलम्भ की दश दशाएं)—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनांगता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु—ये दस दशाएं सुदूर प्रवास—विप्रलम्भ में हुआ करती हैं ॥१६७॥ (चिन्ता) श्रीहंसदूत (२) में यथा—श्रीकृष्ण के अक्रूर के साथ मथुरा चले जाने पर श्रीराधा जी उसी दिन से विरहाकुल होकर महा भ्रमात्मक पीड़ा रूप-जलपूर्ण अगाध चिन्तानदी में निमग्न हो गयीं। वह इस प्रकार चिन्त करने लगीं—'हाय! हाय! मैं क्या करूंगी? आशा पाश में वन्धकर प्राणों की रक्षा करूं कि अग्नि में जल मरूं? यदि प्राण त्याग करती हूँ तो यदि श्रीकृष्ण व्रज में लौट आये तो मुझे न देखकर उनकी जाने क्या अवस्था होगी? कहीं वे तो मेरे विरह में प्राणत्याग न कर देंगे?—इस प्रकार अनेकविध चिन्ता में वह निमग्न हो गयीं ॥१६८॥

अथ जागरो यथा पद्यावल्याम्—(३२२)—

(८१) याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः। अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी ॥

अथोद्वेगो यथा हंसदूते—(१०४)—

(८२) मनो मे हा कष्टं ज्वलति किमहं हन्त करवै न पारं नावारं सुमुखि कलयाम्यस्य जलधेः।
इयं वन्दे मूर्ध्ना सपदि तमुपायं कथय मे परामृश्ये यस्माद्धृतिकणिकयापि क्षणिकया ॥ १७० ॥

अथ तानवं यथा—

(८३) उदञ्चद्वक्राम्भोरुहविकृतिरन्तः कलुषिता सदाहाराभावग्लपितकुचकोका यदुपते।
विशुष्यन्ती राधा तव विरहतापादनुदिनं निदाघे कुल्येव कृशिमपरिपाकं प्रथयति ॥ १७१ ॥

अथ मलिनाङ्गता—

(८४) हिमविसरविशीर्णाम्भोजतुल्याननश्रीः खरमरुदपरज्यद्बन्धुजीवोपमौष्ठी।
अघहर शरदर्कोत्तापितेन्दीवराक्षी तव विरहविपत्तिम्लापितासीद्विशाखा ॥ १७२ ॥

अनुवाद—(जागरण) श्रीपद्यावली (३२२) में, यथा—श्रीराधा जी ने विशाखा जी से कहा—हे सखि ! जो रमणियां स्वप्न में प्रिय का दर्शन करती हैं वे सब धन्य हैं। किन्तु श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद निद्रा मेरी वैरिणी हो गयी है, वह मुझे त्याग कर चली गयी है। (निद्रा ही जब नहीं आती, तो स्वप्न कहाँ ? स्वप्न में प्रियतम का दर्शन कहाँ ? अतः मैं तो अभागिनि हूँ ॥१६९॥

अनुवाद—(उद्वेग) श्रीहंसदूत (१०४) में, यथा—माथुरविरह में उद्विग्न श्रीराधा जी ने ललिता जी को कहा—हे सुमुखि ! मेरा मन जल रहा है, हा कष्ट ! मैं क्या करूँ ? इस विरह-सागर का तो कोई अन्त नहीं दीखता है। इसलिये मैं तुम्हें नत-मस्तक होकर वन्दना करती हूँ कि विवेचना पूर्वक शीघ्र तुम मुझे कोई ऐसा उपाय बताओ जिससे मैं क्षणकाल के लिये भी तो धीरज धारण कर सकूँ ॥१७०॥

अनुवाद—(तानव—कृशता)—व्रजसे लौटकर श्रीउद्धव ने श्रीकृष्ण से कहा—हे यदुपते ! तुम्हारे विरह में श्रीराधा जी का मुखकमल कुम्हला गया है, उसका अन्तःकरण दीन-दुखी हो रहा है, सर्वदा आहार के विना उसके कुचरूप चक्रवाक युगल ग्लानियुक्त हो गये हैं, ग्रीष्मकाल की अस्थायी क्षुद्र नदी की भांति तुम्हारे विरहताप में दिन प्रतिदिन वह सूखकर कृशता की चरम अवस्था को प्राप्त हो रही हैं ॥१७१॥

अनुवाद—(अङ्ग-मलिनता) व्रज से लौटकर श्रीउद्धव ने श्रीकृष्ण को विशाखा जी की अवस्था वतलाते हुए कहा—हे अघहारि ! तुम्हारे विरहरूपी विपत्ति में विशाखा की मुख-कान्ति हिमपात से दलित कमल की भांति हो गयी है। गरम लू से जैसे बन्धूजीव पुष्प सूख जाता है, उसके होठ उसी प्रकार सूख गये हैं। उसके दोनों नेत्र शरत्कालीन सूर्य के ताप से तप्त कुमुद पुष्प की भांति मलिन हो रहे हैं ॥१७२॥

अनुवाद—(प्रलाप) श्रीललितमाधव (३।२५) में, यथा—प्रोषित भर्तृका श्रीराधा जी विलाप करते-करते अपनी किसी सखी से प्रलाप-वचनों में वोलीं—हे सखि ! नन्दकुलचन्द्रमा कहाँ हैं ? मोर-पुच्छ धारी कहाँ हैं ? जिसकी मुरली-ध्वनि अति गम्भीर है, वह कहाँ हैं, वह इन्द्रनीलमणि कान्ति ही

अथ प्रलापो यथा ललितमाधवे—(३।२५)—

(८५) क्व नन्दकुलचन्द्रमाः क्व शिखिचन्द्रकालंकृतिः क्व मन्द्रमुरलीरवः क्व नु सुरेन्द्रनीलद्युतिः।
क्व रासरसताण्डवो क्व सखि जीवरक्षौषधिर्निधिर्मम सुहृत्तमः क्व तव हन्त हा धिग्विधिः १७३॥

अथ व्याधिर्यथा तत्रैव—(३।२८)—

(८६)—उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो दम्भोलेरपि दुःसह कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
तीव्रः प्रौढविसूचिकानिचयतोऽप्युच्चर्ममायं बली मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः १७४॥

अथ उन्मादः—(८७) भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती प्रथयति तव वार्तां चेतनाचेतनेषु।
लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे विषमविरहखेदोद्गारिविभ्रान्तचित्ता॥ १७५॥

यथा वा—(८८)

अद्याकाण्डिकमट्टहासपटलं निर्माति घर्माम्बुभाक् चीत्कारं कुरुते चमत्कृतिपरा सोत्कण्ठमाकस्मिकम्।
आक्रन्दं च तनोति घर्घरवनोद्घोषं किलार्तांकितं राधामाधवविप्रयोगरभसादन्येव तीव्रादभूत्॥ १७६॥

अथ मोहः—

(८९) निरुन्धे दैन्याब्धिं हरति गुरुचिन्तापरिभवं विलुम्पत्युन्मादं स्थगयति बलाद्बाष्पलहरीम्।
इदानीं कंसारे कुवलयदृशः केवलमिदं विधत्ते साचिव्यं तव विरहमूर्च्छा सहचरी॥ १७७॥

कहाँ हैं ? मेरे जीवन की रक्षक वह औषधि कहाँ है ? हे सखि ! तुम्हारा वह सुहृद् तम ही कहाँ है ? अहो ! कैसा कष्ट ! हे विधाता ! तुमको धिक्कार है ॥१७३॥

अनुवाद—(व्याधि) श्रीललितमाधव (३।२८) में, यथा—विरहिणी श्रीराधा जी ललिता जी से बोलीं—हे सखि ! गोकुलपतिकुमार के विरह से उत्पन्न ज्वर सोना गलाने की कुठाली से भी अधिक उत्तापदायी है, विष से भी अधिक क्षोभदायक है, वज्र से भी दुसह है, हृदय को विदीर्ण करने वाले त्रिशूल से भी अधिक कष्टदायक है एवं सांघातिक विसूचिका रोग से भी अधिक तीव्र है, वह ज्वर अत्यन्त बलवान होकर मेरे मर्म को छेदन कर रहा है।

अनुवाद—(उन्माद)—ब्रज से लौट जाने पर श्रीउद्धव ने श्रीकृष्ण से श्रीराधा जी की अवस्था बताते हुए कहा—हे मुरारे ! आपके अतिशय-विरह दुख को प्रकट करने में विभ्रान्त-चित्त होकर श्रीराधा जी कभी तो विनाकारण हंसते हुए घर में घूमने लग जाती है, कभी चेतन और अचेतन पदार्थों से आपकी वार्ता जिज्ञासा करने लगती है, कभी फिर कांपते-कांपते पृथ्वी पर गिर जाती है ॥१७५॥ श्रीउद्धव जी ने और कहा—हे माधव ! इस समय श्रीराधा जी आपके अतिशय विरह के तीव्र उद्रेक में बाहर एवं भीतर अनेक विध भावमय आकृति में और प्रकृति में भी दूसरे प्रकार की हो रही हैं, क्योंकि वह कभी विना कारण महा अट्ट-अट्टहास करने लगती है, स्वेद में नहा जाती है, चौंक कर उत्कण्ठा में अचानक कण्ठ से घर-घर ध्वनि पूर्वक जोर से रोने लगती है ॥१७६॥

अनुवाद—(मोह) श्रीकृष्ण को मथुरा में ललिता जी ने इस प्रकार एक पत्र लिखकर भेजा—हे कंसारे ! इस समय केवल तुम्हारे विरह की मूर्च्छारूप सखी ही कमलनयनी श्रीराधा का मन्त्रीपद सम्भाल रही है, वही उसके दैन्यसागर को रोक रही है, भारी चिन्ता जनित अपमान को वह दूर करती है एवं उसके उन्माद को विलुप्त करती है तथा बलपूर्वक उसकी अश्रुलहरियों को रोके रखती है। (हे कृष्ण ! तुम कुछ चिन्ता मत करो, सुख से यहां रहे आओ। आज नहीं तो कल स्त्रीवध-पाप रूपी महानिधि—आपके हाथ पड़ ही जायेगी ॥१७७॥

अथ मृत्युर्यथा हंसदूते—(६६)—

(६०) अये रासक्रीडारसिक मम सख्यां नवनवा पुरा बद्धा येन प्रणयलहरो हन्त गहना।
स चेन्मुक्तापेक्षस्त्वमसि धिगिमां तूलशकलं यदेतस्या नासानिहितमिदमद्यापि चलति ॥ १७८ ॥

८६—प्रवासविप्रलम्भेऽस्मिन् दशास्तास्ता हरेरपि। अत्रोपलक्षणायैकमुदाहरणमीर्यते ॥ १७६ ॥

यथा—(६१)—

क्रीडारत्नगृहे विडम्बितपयः फेनावलीमार्दवे तल्पे नेच्छति कल्पशाखिचमरीरस्येऽपि राज्ञां सुताः।
किंतु द्वारवतीपतिर्व्रजगिरिद्रोणीविलान्तः शिलापर्यङ्कोपरि राधिकारतिकलां ध्यायन्मुहुः क्लाम्यति १८०

६०—प्रोक्तानां प्रेमभेदानां विविधत्वाद्दशा अपि। विविधाः स्युरिहेत्येता भूमभीत्या न कीर्तिताः १८१

६१—एतास्तु प्रेमभेदानामनुभावतया दशाः। साधारण्यः समस्तानां प्रायशः संभवन्त्यपि ॥ १८२ ॥

६२—किंत्वत्रैवाधिरूढस्य मोहनत्वमुपेयुषः। असाधारणरूपास्तु तत्प्रसङ्गे पुरोदिताः ॥ १८३ ॥

६३—विप्रलम्भ परं केचित्करुणाभिधमूचिरे। स प्रवासविशेषत्वान्नैवात्र पृथगीरितः ॥ १८४ ॥

इति विप्रलम्भभेदाः ॥

अनुवाद—(मृत्यु) श्रीहंसदूत (६६) में, यथा—ललिता जी के द्वारा भेजे राजहंस ने श्रीकृष्ण को मथुरा में जाकर कहा—हे रासक्रीड़ा-रसिक! आपने जो पहले मेरी सखी श्रीराधा को नित्य नव-नवायमान गाढ़ प्रेम-परम्परा में बान्धा था, वही तुम यदि इस समय उसके प्रति अपेक्षा रहित हो रहे हो, तो मैं उस हत भागिनी श्रीराधा को धिक्कार करती हूँ, क्योंकि (वह जीती है कि मर गयी है, यह जानने के लिये उसकी नासिका के आगे रुई रखने पर अभी वह हिलती है) अर्थात् उसका श्वास चल रहा है—उसे तो मर जाना चाहिये था ॥१७८।

अनुवाद—(सुदूर प्रवासनामक विप्रलम्भ में श्रीकृष्ण की भी दस दशाएं हुआ करती हैं, जिनका ऊपर वर्णन कर आये हैं। दिग्दर्शनरूप में एकमात्र उदाहरण का यहां उल्लेख किया जाता है ॥१७९॥
यथा—मथुरा में श्रीकृष्ण के पास ललिताजी का तिरस्कारपूर्ण पत्र आया। उसके उत्तर में श्रीकृष्ण के कहने पर श्रीउद्धव ने लिखा—हे ललिते! द्वारका पति श्रीकृष्ण रत्ननिर्मित क्रीड़ाभवन में दुग्धफेन की कान्तियुक्त अति सुन्दर स्वेद एवं अति सुकोमल और कल्पवृक्षों के गुच्छों से यथायोग्य सुशोभित अति मनोरम शय्या पर श्रीरुक्मिणी आदि राजकन्याओं की भी इच्छा नहीं करते हैं, किन्तु व्रज के गोवर्धन-गिरि की कन्दरा में शिला खण्ड रूप पलंग पर श्रीराधा की रतिकला वैदग्धी का ध्यान करते-करते वे बार-बार मूर्च्छित हो जाते हैं ॥१८०॥

अनुवाद—(उपसंहार) प्रेम के अनेक भेदों की विविध दशाओं के भी अनेक भेद हैं, ग्रन्थविस्तार-भय से उन सबका वर्णन यहां नहीं किया जा रहा है। प्रेम के उल्लिखित भेदों के अनुभाव या कार्यरूप दशाएं प्रायशः ही साधारण भाव से समुदित होती हैं, अतः साधारण भाव से ही वर्णन की गयी हैं। विस्तारभय से असाधारण भावों का उल्लेख भी नहीं किया गया है। किन्तु अधिरूढ़ महाभाव के मोह-नत्व प्राप्त करने पर श्रीराधा जी में जो सब असाधारण दशाएं प्रकटित होती हैं, उनका पहले ही वर्णन किया जा चुका है। कोई-कोई रसशास्त्रकार करुणाख्य विप्रलम्भ को स्वीकार करता है। वह एक प्रयासविशेष ही है अतः यहां उसका पृथक् भाव से वर्णन नहीं किया गया है ॥१८१-१८४॥

॥ इति विप्रलम्भ-भेद ॥

अथ संयोगवियोगस्थितिः

९४—हरेर्लीलाविशेषस्य प्रकटस्यानुसारतः । वर्णिता विरहावस्था गोष्ठवामभ्रु वामसौ ॥ १८५ ॥
९५—वृन्दारण्ये विहरता सदा रासादिविभ्रमैः । हरिणा व्रजदेवीनां विरहोऽस्ति न कर्हिचित् ॥ १८६ ॥
तथा च पाद्मे पातालखण्डे मथुरामाहात्म्ये—

(९२) 'गोगोपगोपिकासङ्गे यत्र क्रीडति कंसहा ।' इति ॥ १८७ ॥

इति संयोगवियोगस्थितिः ॥

अथ संभोगः

९६—दर्शनालिङ्गनादीनामानुकूल्यान्निषेवया । यूनोरुल्लासमारोहन् भावः संभोग ईर्यते ॥ १८८ ॥
९७—मनीषिभिरयं मुख्यो गौणश्चेति द्विधोदितः ॥ १८९ ॥
तत्र मुख्यः—९८—मुख्यो जाग्रदवस्थायां संभोगः स चतुर्विधः ॥ १९० ॥
९९—तान् पूर्वरागतो मानात्प्रवासद्वयतः क्रमात् । जातान् संक्षिप्तसंकीर्णसंपन्नर्द्धिमतो विदुः ॥ १९१ ॥
तत्र संक्षिप्तः—
१००—युवानौ यत्र संक्षिप्तान्साध्वसव्रीडितादिभिः । उपचारान्निषेवेते स संक्षेप इतीरितः ॥ १९२ ॥

अथ संयोग-वियोग स्थिति

अनुवाद—(श्रीकृष्ण के साथ मिलन को 'योग' या 'संयोग' कहते हैं, मिलने के बाद विच्छेद को 'वियोग' कहते हैं एवं श्रीकृष्ण के साथ एकत्र वास करने को 'स्थिति' कहा जाता है।) श्रीकृष्ण की प्रकटलीला-विशेष के अनुसार व्रजसुन्दरियों की विहारावस्था वर्णित की गयी है। किन्तु सर्वदा रासादि विविध लीलाविनोद विहार परायण श्रीकृष्ण के साथ व्रजसुन्दरियों का विरह कभी भी नहीं है। पद्म-पुराण के पाताल खण्ड में कथित मथुरा-माहात्म्य में भी कहा गया है—कि जहां श्रीवृन्दावन में गो-गोप-गोपिकाओं के साथ कंस विनाशक श्रीकृष्ण सदा क्रीड़ा करते हैं ॥१८५-१८७॥

॥ इति संयोग-वियोग-स्थिति ॥

अथ संभोग

अनुवाद—(संभोग) नायक एवं नायिका के (विषय एवं आश्रय के) परस्पर दर्शन, आलिंगनादि का जो एक दूसरे का सुखतात्पर्यमय निषेवण है, उसके द्वारा उल्लास प्राप्त जो भाव है, उसे 'सम्भोग' कहते हैं ॥१८८॥ मनीषिगण संभोग के दो प्रकार कहते हैं—'मुख्य' एवं 'गौण' ॥१८९॥

अनुवाद—(मुख्य-संभोग)—जाग्रत अवस्था में जो सम्भोग है, उसे 'मुख्य-सम्भोग' कहते हैं। वह चार प्रकार का है—संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्न एवं समृद्धिमान ॥१९०-१९१॥

अनुवाद—(संक्षिप्त-संभोग)—जिस सम्भोग में भयवश एवं लज्जावश नायक एवं नायिका चुम्बनआलिंगनादि सम्भोग-अङ्गका (उपचार का) संक्षिप्त अल्पमात्र सेवन करते हैं, उसे 'संक्षिप्त-सम्भोग' कहते हैं ॥१९२॥

तत्र नायकेन कृतो यथा सप्तशत्याम्—
(९३)—लीलाहितुलिअसेलो रक्खउ वो राहिआत्थणप्फंसे । हरिणो पढमसमागमसज्झसवेवल्लिओ हत्थो
[लीलाभितुलितशैलो रक्षतु वो राधिकास्तनस्पर्शे । हरेः प्रथमसमागमसाध्वसवेवेल्लितो हस्तः ।।]
नायिकाया, यथा—
(९४)—चुम्बे पटावृतमुखी नवसंगमेऽभूदालिङ्गने कुटिलताङ्गलता तदासीत् ।
अव्यक्तरागजनिकेलिकथासु राधा मोदं तथापि विदधे मधुसूदनस्य ।। १९४ ।।
अथ संकीर्णः—
१०१—यत्र संकीर्यमाणाः स्युर्व्यलीकस्मरणादिभिः । उपचाराः स संकीर्णः किंचित्तप्तेक्षुपेशलः ।।१९५ ।।
यथा—(९५)—सासूयजल्पितसुधानि समत्सराणि मानोपरामरमणीयदृगिङ्गितानि ।
कंसद्विषः स्फुरदमन्दमुखान्यनङ्गविक्रीडितानि सह राधिकया जयन्ति ।। १९६ ।।
यथा वा—
(९६) वक्त्रं किंचिदवाञ्चितं विवृणुते नातिप्रसादोदयं दृष्टिर्मुग्नतटा व्यनक्ति शनकैरीर्ष्याविशेषच्छायम् ।
राधायाः सखि सूचयत्यविशदा वागप्यसूयाकलां मानान्तं ब्रुवती तथापि मधुरा कृष्णं धिनोत्याकृतिः ।।

अनुवाद—(नायक-कृत संक्षिप्त संभोग) सप्तशती ग्रंथ में, यथा—नान्दीमुखी ने श्रीराधा जी की सखियों को कहा—श्रीकृष्ण के जिस हाथ ने गोवर्धन पर्वत को भी अवलीला क्रम से (खेल-खेल में) उठा लिया था, किन्तु वही हाथ अब प्रथम समागम समय श्रीराधा जी के कुचस्पर्श करने में कांप रहा है, वही हाथ ही आपकी रक्षा करे ।।१९३।।

अनुवाद—(नायिकाकृत संक्षिप्त संभोग) यथा—नव संगम समय श्रीकृष्ण के चुम्बन करने पर श्रीराधा जी ने वस्त्र द्वारा मुख आच्छादित कर लिया, आलिंगन समय देहलता को टेढ़ा कर लिया एवं केलिकथा प्रसंगमें चुप होकर रह गयीं, तथापि उसने श्रीकृष्ण का आनन्द ही विधान किया ।।१९४।।

अनुवाद—(संकीर्ण संभोग)—जिस संभोगमें नायक द्वारा की गयी वंचना, विपक्ष का गुण कीर्तन, नायक के अंगों पर रतिचिह्नादि दर्शन व श्रवण तथा स्मरण के कारण आलिंगन-चुम्बनादि सम्भोगोपकरण मिश्रित होते हैं, एवं तप्त ईख के आस्वादन काल में जैसे एक साथ उष्णता और माधुर्य का अनुभव होता है, उसी प्रकार का स्वाद जिस संभोग में हो, उसे 'संकीर्ण-सम्भोग' कहते हैं ।।१९५।। यथा—जिसमें श्रीकृष्ण द्वारा अप्रियता सूचक वाक्य सुधा है, स्वदोष मार्जन के लिये श्रीकृष्ण के द्वारा नानाविध कपट-वचन परिपाटी के खण्डन हेतु उसके उत्कर्ष की असहिष्णुता है, एवं मानशान्ति जनित मनोहर अपाङ्ग निक्षेप विराज करता है, तथापिवाम्यता में परम सुखदायिता की प्रचुर आनन्दप्रबलता भी है, श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा जी की वे अनङ्ग-क्रीड़ाएं जययुक्त हो ।।१९६।। अन्यत्र, यथा—मानावसान के पश्चात् श्रीराधा जी श्रीकृष्ण के साथ मिलीं । श्रीराधा जी की तत्कालीन अवस्था का वर्णन गार्गी नान्दीमुखी के सामने कर रही हैं—हे सखि ! मान के अवसान होने पर भी श्रीराधा का मुख किञ्चित् झुका हुआ था, इससे ज्ञात होता है वह उस समय भी अति प्रसन्न नहीं थी । उसकी दृष्टि कुंचित होकर क्रमशः ईर्ष्या के बाद की छटा को प्रकाशित कर रही थी—ईर्ष्या पूरी तरह दूर न हुई थी, उसके अस्पष्ट-वचन भी असूया के लेश को व्यक्त कर रहे थे । तथापि श्रीराधा की मधुर आकृति ने मानावसान का परिचय देकर श्रीकृष्ण का आनन्द विधान किया । १९७।।

अथ संपन्नः—

१०२—प्रवासात्संगते कान्ते भोगः संपन्न ईरितः। द्विधा स्यादागतिः प्रादुर्भावश्चेति स संगमः ॥१९८॥

तत्र आगतिः—१०३—लौकिकव्यवहारेण स्यादागमनमागतिः ॥ १९९ ॥

यथोद्धवसंदेशे—(४०)—

(९७) मा मन्दाक्षं कुरु गुरुजनाद्देहलीं गेहमध्यादेहि क्लान्ता दिवसमखिलं हन्त विश्लेषितोऽसि।
एष स्मेरो मिलति मृदुले बल्लवीचित्तहारी हारी गुञ्जावलिभिरलिभिर्लीढगन्धो मुकुन्दः ॥ २०० ॥

अथ प्रादुर्भावः—

१०४—प्रेष्ठानां प्रेमसंरम्भविह्वलानां पुरो हरिः। आविर्भवत्यकस्माद्यत्प्रादुर्भाव स उच्यते ॥ २०१ ॥

यथा श्रीदशमे—(१०।३२।२)—

(९८)—तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः। पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ २०२ ॥

यथा वा हंसदूते—(१०७)

(९९) अयि स्वप्नो दूरे विरमतु समक्षं शृणु हठादविस्रब्धा मा भूरिह सखि मनोविभ्रमधिया।
वयस्यते गोवर्धनविपिनमासाद्य कुतुकादकाण्डे यद्भूयः स्मरकलहपाण्डित्यमतनोत् ॥ २०३ ॥

अनुवाद—(सम्पन्न-सम्भोग)—किंचित् दूर के प्रवास से आने पर नायक के साथ नायिका के मिलन-जनित सम्भोग को 'सम्पन्न सम्भोग' कहते हैं। यह दो प्रकार का है—आगति और प्रादुर्भाव ॥१९८॥

अनुवाद—(आगति) लौकिक व्यवहार से जो आगमन होता है—अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है, फिर उस स्थान से लौट आता है अथवा जैसे श्रीकृष्ण गोचरण में प्रातः वन में जाते हैं, मध्याह्न परे गोष्ठ में लौट आते हैं—इसे 'आगति' कहते हैं ॥१९९॥ श्रीउद्धव-सन्देश (४०) में, यथा—अपराह्न काल में श्रीकृष्ण वन से गोष्ठ में लौट रहे हैं—यह देखकर विशाखा जी ने श्रीराधा जी से कहा—हे राधे ! जो गोपीकुल- के चित्तहारी हैं, जिनके कण्ठ में गुंजाहार झूम रहा है, जिनकी अङ्गसौरभ में सब भ्रमर आकृष्ट हो रहे हैं एवं भूमि भी जिनके विरह में सारा दिन शोभा हीन हो रही थी, वे मृदुमन्द हास्यमुख श्रीमुकुन्द आ गये हैं। हे मृदुले ! गुरुजन के भय और लज्जा से तुम नेत्र मत वन्द करो, घर में ही एकबार देहली पर निकल आओ ॥२००॥.

अनुवाद—(प्रादुर्भाव)—प्रेमातिशय में विह्वल प्रियतम रमणियां के सामने श्रीकृष्ण का जो अचानक आ जाना है अर्थात् किसी दूसरे स्थान से आना नहीं, अकस्मात् नयन गोचर होना है उसे 'प्रादुर्भाव' कहते हैं ॥२०१॥ श्रीमद्भागवत (१०।३२।२) में, यथा—शारदीय रासस्थली से श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये। व्रजगोपीवृन्द वन-वनान्तर में ढुण्ढ-ढुण्ढ कर हार गयीं, यमुना पुलिन में आकर वे विलाप करने लगीं। उस समय श्रीकृष्ण कैसे उनके सामने प्रादुर्भूत हुए उसका श्रीशुकदेव गोस्वामी वर्णन कर रहे हैं—शूरनन्दन श्रीकृष्ण उन प्रेम-विह्वला गोपियों के मध्य आविर्भूत हो उठे, उनके मुखपर मन्द मुस्कान थी, गले में माला, कटि में पीताम्बर उन्हें देखकर ऐसा लगता था कि सौन्दर्य-माधुर्यादि पूर्ण मानों साक्षात् मन्मथ का (स्वयं मन्मथ प्रद्युम्न का) भी मन मथन कर रहे हैं (यह साक्षात् प्रादुर्भाव का उदाहरण है) ॥२०२॥ श्रीहंसदूत (१०७) में (स्फूर्त्तिजात प्रादुर्भाव का उदाहरण), यथा—प्रोषित भर्त्तृका श्रीराधा जी ललिता जी को श्रीकृष्ण के साथ स्वाप्निकमिलन का वृत्तान्त बता कर फिर बोलीं—हे सखि ! स्वप्न तो दूर रहा, जाग्रत अवस्था की बात सुन। उसे मेरे मन की भांति

१०५—रूढाख्यभावजातोऽयं संभोगो वैप्रलम्भिकः । निर्भरानन्दपूराणां परमावधिरिष्यते ॥ २०४ ॥
१०६—द्विगुणा विरहार्तिः स्यात्स्फुरणे वेणुरागजे । प्रादुर्भावे भवत्यत्र सर्वाभीष्टसुखोत्सवः ॥ २०५ ॥

अथ समृद्धिमान्—
१०७—दुर्लभालोकयोर्यूनोः पारतन्त्र्याद्वियुक्तयोः । उपभोगगातिरेको यः कीर्त्यते स समृद्धिमान् ॥ २०६ ॥

यथा ललितमाधवे—(७।१८)—
(१००) दग्धं हन्त दधानया वपुरिदं यस्यावलोकाशया सोढा मर्मविपाटने पटुरियं पीडातिवृष्टिर्मया ।
कालिन्दीयतटीकुटीरकुहरक्रीडाभिसारव्रती सोऽयं जीवितबन्धुरिन्दुवदने भूयः समासादितः २०७॥

यथा तत्रैव (८।१०)
(१०१) तवात्र परिमृग्यता किमपि लक्ष्म साक्षादियं मया त्वमुपासादिता निखिललोकलक्ष्मीरसि ।
यथा जगति चञ्चता चणकमुष्टिसंपत्तये जनेन पतिता पुरः कनकवृष्टिरासाद्यते ॥ २०८ ॥

इति मधुररसपरिपाकविवेकः ॥

मानकर तुम मेरी बात में अविश्वास मत करना तुम्हारे उस सखा श्रीकृष्ण ने गोवर्धन के वन में आकर कौतुकवश असमय पर काम-कलह का कौशल विस्तार किया ॥२०३॥

अनुवाद—इस प्रकार का प्रादुर्भाव रूढ़-महाभाव से उत्पन्न होता है । ऐसे वैप्रलम्भिक प्रादुर्भाव-जनित सम्भोग में परमानन्द की चरम पराकाष्ठ विराजित है ॥२०४॥ अनुराग-जात स्फूर्त्ति में विरह की पीड़ा दुगुणी होती है, इस रूढ़ महाभाव में उत्पन्न विप्रलम्भकृत प्रादुर्भाव में ही सर्वाभीष्ट सुखोत्सव प्राप्त होता है ॥२०५॥

अनुवाद—(समृद्धिमान सम्भोग) परतन्त्रता के कारण जिन नायक-नायिका के लिये एक दूसरे का दर्शन दुर्लभ होता है, परतन्त्रता के दूरे होने पर उनके जो उपभोग का अतिरेक या अतिशयता है, उसे 'समृद्धिमान सम्भोग' कहते हैं । (ऐसा मत है श्रीजीवगोस्वामिपाद का, किन्तु श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद का मत है कि परतन्त्रता रहने की अवस्थामें भी समृद्धिमान संभोग होता है) ॥२०६॥ श्रीललित माधव (७।१८) में, यथा—एकदिन नववृन्दा श्रीराधा जी को नववृन्दावन में ले गयी । वहां श्रीकृष्ण की नील मणिनिर्मित प्रतिमूर्त्ति को देखकर उसे ही साक्षात् श्रीकृष्ण जान कर श्रीराधा जी आनन्दपूर्वक गदगदस्वर में नववृन्दा से कहने लगीं—हे चन्द्रवदने ! हे नववृन्दे ! जिनके दर्शनों की आशा में विरहाग्नि में जले हुए इस शरीर को भी मैं धारण कर रही थी, एवं अन्तः करण को उखाड़ फेंकने में समर्थ अति वर्षारूपी इस विरह-पीड़ा को भी सहन कर रही थी, अहो ! कालिन्दीतट स्थित कुञ्ज के भीतर क्रीड़ा के लिये अभिसारवती मैं उस प्राणबन्धु के साथ पुनः मिलित हुई हो ॥२०७॥ श्रीललितमाधव (८।१०) में, और यथा—हे प्रेयसि ! तुम्हारे किसी भी एक निदर्शन (उपमा) को ढुण्ढते ढुण्ढते मैंने आज साक्षात् आपको ही उसी प्रकार प्राप्त किया है, जैसे जगत् में मुट्ठीभर चनों को प्राप्त करने के लिये कोई व्यक्ति इधर-उधर घूमते-घूमते सामने पड़े सोने की भारी राशि को प्राप्त करे (श्रीललित-माधव नाटक का पूर्वापर प्रसंग इस विषय में द्रष्टव्य है) ॥२०८॥

॥ इति मधुररसपरिपाक विवेकः ॥

अथ गौणसंभोगः।

१०८—छन्नप्रकाशभेदेन कैश्चिदेषां द्विरूपता। इष्टाप्यत्र न हि प्रोक्ता नात्युल्लासकरी यतः॥ २०९॥

अथ गौणः—

१०९—स्वप्ने प्राप्तिविशेषोऽस्य हरेर्गौण इतीर्यते। स्वप्नो द्विधात्र सामान्यविशेषत्वेन कीर्तितः॥२१०॥
११०—सामान्यः स तु यः पूर्वं कथितो व्यभिचारिषु। विशेषः खलु जागर्या निर्विशेषो महाद्भुतः॥२११॥
१११—भावौत्कण्ठ्यमयो ह्येष चतुर्धा पूर्ववन्मतः॥ २१२॥

तत्र स्वप्ने संक्षिप्तो, यथा—

(१०२) विहारं कुर्वाणस्तरणितनयातीरविपिने नवाम्भोद श्रेणीमधुरिमविडम्बिद्युतिभरः।
विदग्धानां चूडामणिरनुदिनं चुम्बति मुखं मम स्वप्ने कोऽपि प्रियसखि बलीयान्नवयुवा॥ २१३॥

अथ स्वप्ने संकीर्णः—

(१०३) सखि क्रुद्धा माभूर्लघुरपि न दोषः सुमुखि मे न मानाग्निज्वालामशमयमहं तामसमये।
स धूर्तस्ते स्वप्ने व्यधित रसवृष्टिं मयि तथा यतो विस्तीर्णापि स्वयमियमयासीदुपशमम्॥ २१४॥

अथ गौण सम्भोग

अनुवाद—पूर्वोक्त चार प्रकारके सम्भोगोंमें 'छन्न' तथा 'प्रकाश'—इस प्रकार दो प्रकारभी किसी-किसी रसग्रन्थकार ने स्वीकार किये हैं,किन्तु उनमें अधिक चमत्कारिता न होने से उनका यहां वर्णन नहीं किया जा रहा है ॥२०९॥

अनुवाद—(गौणसम्भोग)—स्वप्न में श्रीकृष्ण की प्राप्ति-विशेष को 'गौण-सम्भोग' कहते हैं। स्वाप्निक गौण सम्भोग दो प्रकार का है—सामान्य एवं विशेष ॥२१०॥ सामान्य गौण-सम्भोग का व्यभिचारी भाव प्रसंग में पहले वर्णन किया जा चुका है। स्वाप्निक विशेष गौण-सम्भोग का जाग्रत-सम्भोग से विशेषत्व नहीं है अर्थात् जाग्रत अवस्था के सम्भोग-तुल्य ही है। यह भावोत्कण्ठामय है। पूर्व-वर्णित मुख्य सम्भोग की भांतिं इस विशेष गौणसम्भोग के भी चार प्रकार हैं—संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्न एव समृद्धिमान ॥२११-२१२॥

अनुवाद—(स्वाप्निक संक्षिप्त संभोग) यथा—पूर्वरागवती श्रीराधाजी ने विशाखा जी से कहा—हे प्रियसखि ! जिसकी अङ्गकान्ति से नवजलधरोंका माधुर्य भी पराभूत होता है,जो विदग्धजनोंमें चूड़ामणि हैं, ऐसा कोई एक बलवान् नवीन युवक यमुनातीर के कानन में विहार करते-करते मेरे स्वप्न में प्रति-दिन आकर मेरा मुख चुम्बन करता है ॥२१३॥

अनुवाद—(स्वाप्निक संकीर्ण सम्भोग) किसी मानिनी नायिका का मान उपशान्त हुआ देखकर उसकी प्रियसखी उस पर क्रोधित हो उठी। तब वह नायिका अपनी सखी से बोली—हे सखि ! सुमुखि ! तुम क्रोध मत करो, मेरा जरा भी दोष नहीं है, मैंने उस मान-अग्नि को असमय में नहीं बुझाया है। किन्तु तुम्हारे उस धूर्त्त नायक ने स्वप्न में आकर मेरे ऊपर ऐसी रसधारा वर्षण की कि उससे प्रचण्ड मान ज्वाला अपने-आप ही उपशान्त हो गयी ॥२१४॥

अथ स्वप्ने संपन्नो यथा हंसदूते—(१०५)
(१०४) प्रयातो मां हित्वा यदि कठिनचूडामणिरसौ प्रयातु स्वच्छन्दं मम समयधर्मः किल गतिः।
इदं सोढुं को वा प्रभवति यतः स्वप्नकपटादिहायातो वृन्दावनभुवि बलान्मां रमयति॥ २१५॥
अथ स्वाप्नसमृद्धिमान् यथा ललितमाधवे—(७।११)
(१०५) चिरादद्य स्वप्ने मम विविधयत्नादुपगते प्रपेदे गोविन्दः सखि नयनयोरङ्गणभुवम्।
गृहीत्वा हा हन्त त्वरितमथ तस्मिन्नपि रथं कथं प्रत्यासन्नः स खलु परुषो राजपुरुषः॥ २१६॥
११२—तुल्यस्वरूप एवायं प्रोद्यन् यूनोर्द्वयोरपि। उषानिरुद्धयोर्यद्वत्क्वचित्स्वप्नोऽप्यबाधितः॥ २१७॥
११३—अत एव हि सिद्धानां स्वप्नोऽपि परमाद्भुते। प्राप्तानि मण्डलादीनि दृश्यन्ते जागरेऽपि च २१८॥
११४—व्यतीत्य तुर्यामपि संश्रितानां तां पञ्चमीं प्रेममयीमवस्थाम्।
न संभवत्येव हरिप्रियाणां स्वप्नो रजोवृत्तिविजृम्भितो यः॥ २१९॥
११५—इत्येष हरिभावस्य विलासः कोऽपि पेशलः। चित्रस्वप्नमिवातन्वन्कृष्णं संगमयत्यलम्॥ २२०॥

अनुवाद—(स्वाप्निक सम्पन्न सम्भोग) श्रीहंसदूत (१०५) में, यथा—श्रीललिता जी ने राजहंस के द्वारा श्रीकृष्ण को भेजे संवाद में श्रीराधा जी के स्वाप्निक-सम्भोग की एक बात कहला भेजी—वह निर्दयचूड़ामणि मुझे त्याग कर मथुरा में जा बसा है, स्वच्छन्दता से वहां रहे, किन्तु अब तो मेरे लिये प्राणत्याग करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वप्न के बहाने वह इस वृन्दावन-भूमि में आकर बलपूर्वक मेरे साथ रमण करे—भला यह कौन रमणी सहन कर सकती है ? ।।२१५।।

अनुवाद—(स्वाप्निक समृद्धिमान सम्भोग)श्रीललितमाधव(७।११)में, यथा—नव वृन्दावनमें रहती हुई श्रीराधा जी स्वप्न में श्रीकृष्ण दर्शन की अनुभूति की कथा नव वृन्दा से कही—हे सखि ! हे नव-वृन्दे ! अनेक समय बाद आज अनेक यत्न करने पर मुझे नींद आयी और स्वप्न में मैंने देखा कि श्री गोविन्द मेरे सामने खड़े हैं। किन्तु हा कष्ट ! तत्क्षण ही वह अक्रूर नामक क्रूर राजकर्मचारी भी जाने क्यों उस स्वप्नावस्था में तीव्र गति से रथ लेकर वहां आ पहुँचा ? ।।२१६।।

अनुवाद—(स्वप्न-सम्भोग का वैशिष्टय)—उपर्युक्त स्वप्नज-सम्भोग के उत्कर्ष को प्राप्त होकर नायक एवं नायिका दोनों का ही तुल्यस्वरूप या उभयनिष्ठ है, उषा एवं अनिरुद्ध की भांति स्वप्न भी कहीं-कहीं सत्य होता है। इसलिए सिद्ध महापुरुषों के परमाद्भुत स्वप्न में प्राप्त भूषणादि जाग्रत दशामें भी देखे जाते हैं ।।२१७-२१८।।

अनुवाद—(सिद्ध महापुरुषों के स्वप्न जैसे अप्राकृत होते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण सहित स्वाप्निक सम्भोग भी अप्राकृत है साधारण लोगों का स्वप्न होता है प्राकृत रजोगुण से उद्भुत) किन्तु विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ इन तीन अवस्थाओं से परे जो शुद्ध स्वरूप अनुभवरूप चतुर्थ—समाधि अवस्था है, जो उसको भी अतिक्रम कर पंचमी प्रेममयी अवस्था में अवस्थित हैं, उन श्रीकृष्ण प्रेयसीवृन्द के पक्ष में प्राकृत रजोगुणवृत्ति से उद्भूत स्वप्न की सम्भावना ही नहीं है ।।२१९।। श्रीकृष्ण के प्रति गोपसुन्दरियों का जो प्रेम है, उसका ही कोई एक मनोज्ञ विलास परमाश्चर्य-स्वप्नतुल्य व्यापार विशेष विस्तारित करके उनके साथ श्रीकृष्ण का अतिशय रूप में संगम कराता है ।।२२०।।

अनुवाद—(चतुर्विध सम्भोग के अनुभाव) अब पूर्वोल्लिखित चारों प्रकार के सम्भोगों में परम मनोहर सम्भोग विशेष वर्णन करते हैं—ये सब सम्भोगविशेष चतुर्विध सम्भोग के अंग नहीं हैं, परन्तु उसके कार्य्य या अनुभाव हैं, वे इस मधुररति की ज्ञापकावस्था या अनुभाव होने से परिष्कृत भाव से

११६—अथैतेषु निरूप्यन्ते तद्विशेषाः सुपेशलाः। येन भावदशामस्या प्राप्नुवन्ति रतेः स्फुटम् ॥ २२१ ॥
११७—ते तु संदर्शनं जल्पः स्पर्शनं वर्त्मरोधनम्। रासवृन्दावनक्रीडायमुनाद्यम्बुकेलयः ॥ २२२ ॥
११८—नौखेला लीलया चौर्यं घट्टः कुञ्जादिलीनता। मधुपानं वधूवेशधृतिः कपटसुप्तता ॥ २२३ ॥
११९—द्यूतक्रीडा पटाकृष्टिश्चुम्बाश्लेषौ नखापणम्। बिम्बाधरसुधापानं संप्रयोगादयो मताः ॥ २२४ ॥

तत्र संदर्शनं, यथा ललितमाधवे—(२।२६)—

(१०६)—चलाक्षि ! गुरुलोकतः स्फुरति तावदन्तर्भयं कुलस्थितिरलं च मे मनसि तावदुन्मीलति।
चलन्मकरकुण्डलस्फुरितफुल्लगण्डस्थलं न यावदपरोक्षतामिदमुपैति वक्त्राम्बुजम् ॥ २२५ ॥

अथ जल्पः—१२०—जल्पः परस्परं गोष्ठी वितथोक्तिश्च कथ्यते ॥ २२६ ॥

तत्र परस्परं गोष्ठी यथा दानकेलिकौमुद्याम्—(४२)—

(१०७)—धर्षणे न कुलस्त्रीणां भुजङ्गेशः क्षमः कथम्। यदेता दशनैरेष दशन्नाप्नोति शोभनम् ॥२२७॥

(१०८)—अप्रौढद्विजराजराजदलिका लब्धा विभूतिं रुचां
नव्यामात्मनि कृष्णवर्त्मविलसद्दृष्टिर्विशाखाञ्चिता।
कंदर्पस्य विदग्धतां विदधती नेत्राञ्चलस्य त्विषा
त्वं राधे शिवमूर्तिरित्युरसि मां भोगीन्द्रमङ्गीकुरु ॥ २२८ ॥

ग्रहण करने चाहियें। ये अनुभाव हैं—सन्दर्शन, जल्प, स्पर्श, पथरोध, रास, वृन्दावन-क्रीड़ा, यमुना व मानस गंगादिक में जल-केलि, नौ-विलास, लीलाचौर्य्य, दानलीला, कुञ्जादि में पलायन या लुका-छिपी मधुपान, वधूवेश धारण, कपटनिद्रा, द्यूतक्रीड़ा, वस्त्राकर्षण, चुम्बन, आलिगन, नखांकार्पण, बिम्बाधर सुधापान एवं सम्प्रयोग आदि ॥२२१-२२४॥

अनुवाद—(सन्दर्शन) श्रीललितमाधव (२।२६) में, यथा—वन में ब्रह्मचारी ब्राह्मण के वेश में श्रीकृष्ण ने श्रीराधा जी को सूर्यपूजा करायी और फिर वहां से गौओं के सम्भालने चले गये। वे फिर आकर कल्पवृक्ष के नीचे खड़े हो गये। प्रगाढ़ उत्सुकतावश लज्जा को परित्याग कर श्रीकृष्ण को देखते हुए श्रीराधा जी कुन्दलता से बोलीं— हे चञ्चलनयने ! जब तक चञ्चल मकर कुण्डलों से शोभित एवं प्रफुल्लित कपोल-विशिष्ट इन श्रीकृष्ण के मुखकमल का साक्षात् दर्शन प्राप्त नहीं होता, तब तक ही सासादि गुरुजन का भय लगता है और कुलमर्यादा की बात भी चित्त में उदित होती है ॥२२५॥

अनुवाद—(जल्प)—परस्पर गोष्ठी या वार्तालाप एवं मिथ्या भाषणको 'जल्प' कहते हैं ॥२२६॥ (परस्परगोष्ठी) - श्रीदानकेलिकौमुदी (४२) में, यथा—दानघाटी पर पथ-रोकने पर श्रीराधाजी ने श्रीकृष्ण से श्लेष वचनों में कहा - नकुल-स्त्रियों (नवेलियों) को दबाने की क्षमता सर्पराज में कहां है ? क्योंकि सर्पराज यदि नेवली को दांत से दशन करे तो शोभा नहीं पायेगा, वरं नेवली के द्वारा वह मारा जायगा ॥२२७॥ उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा—हे राधे ! तुम मुझे शिवमूर्त्ति लगती हो, क्योंकि तुम्हारे ललाट पर द्वितीया का चन्द्रमा विराजता है, शरीर में तुम कान्तिराशि की नवीन विभूति धारण कर रही हो, तुम्हारे तीसरे नेत्र में अग्नि विलास करती है, विशाखेय (कार्तिक) तुम्हारी पूजा करता है एवं नेत्रांचल के तेज से तुम कन्दर्प को भस्मीभूत कर रही हो। अतएव सर्पराजरूप मुझे तुम अपने वक्षस्थल पर धारण कर लो ॥२२८॥

वितथोक्तिर्यथा तत्रैव—(४४)—

(१०९) अस्मिन्नद्रौ कति नहि मया हन्त हारादिवित्तं हारं हारं हरिणनयना ग्राहिता जैनदीक्षाम् ।
याः काकूक्तिस्थगितवदनाः पत्रदानेन दीनास्तूर्णं दूरादनुजगृहिरे प्रौढवल्लीसखीभिः ॥ २२९ ॥

अथ स्पर्शनं यथा—

(११०) न कुरु शपथमस्य स्पर्शतो दूषितोच्चै रसि भुजभुजगेन त्वं भुजङ्गाधिपस्य ।
तनुरनुपमकम्पा स्वेदमभ्युद्गिरन्ती कपटिनि परितस्ते पश्य रोमाञ्चितास्ति ॥ २३० ॥

अथ वर्त्मरोधनं यथा विदग्धमाधवे—(४।२०)

(१११)—परीतं शृङ्गेण स्फुटतरशिलाश्यामलरुचं वलद्वेत्रं वंशव्यतिकरलसन्मेखलममुम् ।
अतिक्रम्योत्तुङ्गं धरणिधरमग्रे कथमितस्त्वया गन्तुं शक्या तरणिदुहितुस्तीरसरणिः ॥ २३१ ॥

अनुवाद—(मिथ्या-भाषण) श्रीदानकेलिकौमुदी (४४) में, यथा—दानघाटी पर श्रीकृष्ण मिथ्या-वचनों से श्रीराधादिक व्रजगोपियों को नर्ममय भय दिखा रहे हैं—इस गोवर्धन गिरि पर मैंने कितनी कितनी मृगनयनी गोपियों को उनके मणिमाला, किंकिणी, नूपुरादि सम्पत्ति को हरण करके उनको जैनदीक्षा (दिगम्बरता) प्राप्त करायी है, वे सब गोपियां(लज्जा-अमर्ष असूयादिकृत) स्वरभंगतावश अनुनय-विनय करते हुए जब दीनचित्त हो गयीं तब घने पत्र पल्लवयुक्त लता रूपा सखियों ने दूर से पत्रादि समर्पण करके तत्क्षण उनको अनुगृहीत किया था ॥२२९॥

अनुवाद—(स्पर्श) किसी व्रजदेवी के शरीर में श्रीकृष्णस्पर्शजात सात्त्विक विकार प्रकटित हो रहे थे, किन्तु वह अवहित्थापूर्वक अनेकविध शपथ खाकर कहने लगी कि ये विकार कृष्ण-स्पर्शजात नहीं हैं। तब उसकी एक सखी ने कहा—हे कटिनि ! बस और शपथ मत खा उस भुजंगराज के (कामुक चूड़ामणि श्रीकृष्ण के) भुजरूप भुजंगद्वारा स्पृष्ट या आलिंगित होकर तुम अत्यन्त दूषित हो रही हो। तुम्हारे शरीर से भारी स्वेदजल निकल रहा है, अतुलनीय कम्प तथा शरीर में सर्वत्र पुलकावली हो रही है ॥२३०॥

अनुवाद—(पथ-रोधन) श्रीविदग्धमाधव (४।२०) में यथा—श्रीकृष्ण का संकेत-पत्र पाकर ललिताजी श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण के पास ले आयी। तब स्वाभाविक वामता के उदित होने पर श्रीराधा जी यमुनातीर की ओर जाने लगीं, तो श्रीकृष्ण उनका पथ रोक कर खड़े हो गये और अपने को पर्वत के समान दुरतिक्रमणीय कहकर नर्मवचनों में बोले—हे राधे ! नुकीली चोटियों से परिव्याप्त, तीखी शिलाओं से श्यामवर्ण, वेत्रलताओं से आवृत, वंशवृक्ष नितम्बोंयुक्त सम्मुखवर्ती इस अति ऊंचे पर्वत को लांघकर तुम कैसे यमुना तीर जा पाओगी ? (पक्षान्तर में—शृंग-वाद्य यन्त्रधारी, अति उज्ज्वल शिला की भांति श्यामलकान्ति, हाथ में वेत्रधारी वंशीसहित क्षुद्रघण्टिकाओं से वेष्टित नितम्ब देश या कटि-विशिष्ट इस अच्युत कृष्ण का अतिक्रमण कर तुम कैसे यमुना तट जाओगी ? ॥२३१॥

अनुवाद—(रास) यमुनापुलिन में व्रजगोपियों के साथ रासलीला में विलासकारी श्रीकृष्ण को देखकर विमानों में चढ़ी सुरांगनायें परस्पर कहती हैं—यह देखो, नवघनाकृति श्रीकृष्ण एक होकर भी प्रति दो-दो गोपियों के मध्य अवस्थान करते हुए उनके कन्धों पर अपने हाथ न्यस्त कर अद्भुतरूप से भ्रमण कर रहे हैं और विद्युत से भी समुज्ज्वला एवं अपनी सखी द्वारा हाथ पकड़े हुए प्रति व्रजवधू

अथ रासो, यथा—

(११२)—हरिर्नवघनाकृति प्रतिवधूद्वयं मध्यतस्तवंशविलसद्भुजो भ्रमति चित्रमेकोऽप्यसौ।
वधूश्च तडिदुज्ज्वला प्रति हरिद्वयं मध्यतः सखीधृतकराम्बुजा नटति पश्य रासोत्सवे ॥ २३२ ॥

अथ वृन्दावनक्रीडा, यथा—

(११३)—स्थलकमलमलीनां स्तौति गीतैः पदं ते रदततिमतिनम्रा वन्दते कुन्दराजी।
अधरमनुभजन्ती लम्बते बिम्बमाला विलसति तव वश्या पश्य वृन्दाटवीयम् ॥ २३३ ॥

यमुनाजलकेलि, यथा—(११४)—

व्यात्युक्षीयुधि राधया घनरसैः पर्युक्षमाणस्य ते माल्यं भङ्गमवाप वीरतिलको यातः किलादृश्यताम्।
वक्त्रेन्दौ प्रतिमाच्छलेन शरणं लब्धः सखीं कौस्तुभस्तन्माभूश्चकितो विमुक्तचिकुरं नार्दयत्यसौ त्वद्विधम् ॥

यथा वा पद्यावल्याम्—(३०१)—(११५)—

जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनः पिहितराधिकावदनः। जगदवतु कोकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः ॥

भी प्रति दो-दो श्रीकृष्णों के बीच अवस्थित होकर रासोत्सव में कैसे अपरूप भाव से नृत्य कर रही है ॥२३२॥

अनुवाद—(वृन्दावन-क्रीड़ा) वृन्दावन में श्रीराधा जी के साथ विहार करते हुए श्रीकृष्ण वृन्दावन की शोभा वर्णन के छल से श्रीराधा जी का गुणोत्कर्ष गान कर रहे हैं—हे राधे ! यह देखो स्थल कमल गण भ्रमरों के गीत स्वर में तुम्हारे ही चरणों का स्तव कर रहे हैं, कुन्दपुष्प कलिकाएं अति नम्र होकर तुम्हारी ही दन्तपंक्ति की वन्दना कर रही हैं, ये बिम्बाफल बार-बार तुम्हारे ही अधर का भजन करते-करते लताओं तक बढ़ रहे हैं। अतएव देखो, यह श्रीवृन्दावन तुम्हारे ही आधीन होकर विराजमान है ॥२३३॥

अनुवाद—(यमुनाजल-केलि) यमुना में जलकेलि करते हुए श्रीकृष्ण पर श्रीराधा जी की विजय देखकर विशाखा जी ने व्यंगवचनों में श्रीकृष्ण से कहा—ओहे वीर ! एक दूसरे पर जल फेंकने के युद्ध में श्रीराधा द्वारा फेंके जल से तुम अच्छी प्रकार भीग गये हो, तुम्हारी माला भी टूट सी गयी है, तिलक तो मिट ही गया है, तुम्हारे वक्षस्थल के कौस्तुभमणि ने (श्रीराधा का) प्रतिबिम्ब धारण करने के छल से हमारी सखी श्रीराधा के मुखचन्द्र की शरण ग्रहण कर ली है। व्यग्रतावश तुम्हारे केश भी खुल गये हैं, (माला-तिलकादि परिजनों के पलायन करने पर) आप भय से चकित मत होवो, मेरी सखी तुम जैसे मुक्तकेश लोगों को पीड़ा नहीं देती है ॥२३४॥ और पद्यावली (३०१) में, यथा—श्रीकृष्ण को श्रीराधा जी के साथ जलकेलि रंगमें आविष्ट देखकर आनन्द पूर्वक वृन्दा ने कहा—जलकेलिवशतः चञ्चल श्रीकृष्ण-करतल जब श्रीराधा के मुख का त्याग करता है, तब (श्रीराधा जी के अनावृत मुखमण्डल को चन्द्र समझ कर रात्रि के भ्रम में) चक्रवाकों की जोड़ी एक दूसरे से बिछुड़ जाती है। और जब श्रीकृष्ण का हाथ श्रीराधा के मुखमण्डल को आच्छादित कर देता है तब (चन्द्र को अस्त हुआ जानकर) चक्रवाक युगल फिर मिलित हो जाते हैं—ऐसे कौतुकी श्रीकृष्ण जगत् की रक्षा करें ॥२३५॥

अनुवाद—(नौ-खेला—नौका-विहार) श्रीकृष्ण केवट रूप धारण कर यमुना में एक नौका लेकर आये और उसमें आरोहण करने के लिये बार-बार जब श्रीराधा जी को बुलाने लगे, तो उन्होंने कहा—हे माधव ! (तुम जो कह रहे हो कि) यमुना में तरंग नहीं है, और तुम्हारी नौका भी नयी है, तुम्हारी

अथ नौखेला—

(११६)—मुक्ता तरङ्गनिवहेन पतङ्गपुत्री नव्या च नौरिति वचस्तव तथ्यमेव ।
शङ्कानिदानमिदमेव ममातिमात्रं त्वं चञ्चलो यदिह माधव नाविकोऽसि ॥ २३६ ॥

अथ लीलाचौर्यम्—१२१—लीलाचौर्यं भवेद्वंशीवस्त्रपुष्पादिहारिता ॥ २३७ ॥

तत्र वंशीचौर्यं, यथा पद्यावल्याम्—(२५३)—

(११७)—नीचैर्न्यासादथ चरणयोर्नूपुरे मूकयन्ती धृत्वा धृत्वा कनकवलयान्युत्क्षिपन्ती भुजान्ते ।
मुद्रामक्ष्णोश्चकितं शश्वदालोकयन्ती स्मित्वा स्मित्वा हरति मुरलीमङ्कतो माधवस्य ॥ २३८ ॥

अथ वस्त्रचौर्यं, यथा—

(११८)—छदावलिवृतैव नः सपदि काचिदेका व्रजं प्रविश्य जरतीरिहानयतु घोरकर्मोद्धताः ।
अयं गुणनिधिस्तयोरुपरि ताभिरभ्यर्च्यतामुमाव्रतकुमारकापटलचेलपाटच्चरः ॥ २३९ ॥

अथ पुष्पचौर्यं, यथा—

(११९)—अयि ज्ञातं ज्ञातं हरसि हरिणाक्षि प्रतिदिनं त्वमेव प्रच्छन्नं मम सुमनसां मञ्जरिमितः ।
चिराद्दिष्ट्या चौरि त्वमसि विधृताद्य स्वयमतो गुहाकारामारात्प्रविश वसतिं प्रौढिभिरलम् ॥२४० ॥

अथ घट्टो यथा दानकेलिकौमुद्याम्—(६४)—

(१२०) घट्टाधिराजमवमत्य विवादमेव यूयं यदाचरथ दानमदित्समानाः ।
मन्ये विधित्सत तदत्र गिरेस्तटेषु दुर्गेषु हन्त विषमेषु रणाभियोगम् ॥ २४१ ॥

यह बात सत्य है, किन्तु तुम्हारी नौका में चढ़ने में मुझे अनेक शंकाएं उठ रही हैं, क्योंकि तुम अति चञ्चल नाविक (केवट) हो ॥२३६॥

अनुवाद—(लीला-चौर्य)—वंशीहरण, वस्त्रहरण, एवं पुष्पादि हरण को 'लीला-चौर्य' कहते हैं ॥२३७॥

अनुवाद—(वंशीचोरी)—श्रीपद्यावली (१५३) में, यथा—विहारोपरान्त श्रीकृष्ण निकुञ्ज में निद्रित हैं, श्रीराधा जी उनकी वंशी चुरा रही हैं। इस मधुर चेष्टा को देखकर सखीवृन्द परस्पर कहती हैं—श्रीराधा जी अपने चरणों को धीरे-धीरे निक्षेप कर रही हैं जिससे नूपुर की ध्वनि न हो उन्होंने अपनी कनक-चूड़ियों को भुजाओं में ऊपर तक चढ़ा लिया है, चकित नेत्रों से श्रीकृष्ण की नेत्र-मुद्रा को बार-बार देखकर (अब वे वास्तव में नींद में हैं, यह जान कर) वह हंसते-हंसते श्रीकृष्ण की वंशी को उनके अंक से हरण कर रही हैं ॥२३८॥

अनुवाद—(वस्त्र-हरण) श्रीकृष्ण की मिलन-आशा में श्रीराधा जी वृन्दावन में सूर्यपूजा छल से आयीं और सूर्यपूजा के लिये पुष्प चयन करने लगीं। यह देख कर श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—अरी मृग-लोचने ! अब मैं यह निश्चित रूप से जान गया हूँ कि तुम प्रतिदिन छिपकर इस स्थान से मेरे पुष्पों की मंजरी हरण कर ले जाती हो। बड़े दिनों बाद सौभाग्यवश आज मैंने तुम्हें यहां रंगे हाथों पकड़ लिया है। अतएव हे चोरिणि ! और अधिक बातें न बनाकर तुम स्वयं ही इस निकटवर्ती गुहारूप कारागार में प्रवेश करो ॥२३९-२४०॥

अनुवाद—(घट्ट अर्थात् दान-प्राप्ति) श्रीदानकेलि कौमुदी (६४) में, यथा—गोवर्धनकी दानघाटी में श्रीराधा जी को रोककर श्रीकृष्ण बोले—अहो ! तुम घाटी दान (कर) न देकर घाटी-अधिपति मेरी

अथ कुञ्जादिलीनता, यथा विदग्धमाधवे—(६।२५) (१२१)—
शङ्के सङ्कुलितान्तराद्य निबिडक्रीडानुबन्धेच्छया कुञ्जे वञ्जुलशाखिनः शशिमुखी लीना वरीवर्ति सा !
नो चेदेष तदङ्घ्रिसङ्गमविनाभावादकाले कथं पुष्पामोदनिमन्त्रितालिपटलीस्तोत्रस्य पात्रीभवेत् २४२ ॥
अथ मधुपानं, यथा—(१२२)—मुखविधुमुदितं मधुद्विषोऽसौ मधुचषके मधुरं समीक्ष्य मुग्धा ।
अदिशत दृशमेव तत्र पातुं न तु वदनं मुहुरर्थितापि तेन ॥ २४३ ॥

अथ वधूवेशधृतिर्यथोद्धवसंदेशे—(६४)
(१२३)—केयं श्यामा स्फुरति सरले गोपकन्या किमर्थं प्राप्ता सख्यं तव मृगयते निर्मितासौ वयस्या ।
आलिङ्गचामुं मुहुरिति तथा कुर्वती मां विदित्वा नारीवेशं ह्रियमुपययौ मानिनी यत्र राधा ॥

अवज्ञा करते हुए केवल विवाद ही कर रही हो। अतः लगता है तुम इस गोवर्धन-पर्वत के नीचे-ऊंचे दुर्लंघनीय रास्ते में युद्ध करने की इच्छा रखती हो ॥२४१॥

अनुवाद—(कुञ्जादि-लीनता (लुका-छिपी) श्रीविदग्धमाधव (६।२५) में, यथा—एक बार शरत्-काल में श्रीश्रीराधाकृष्ण वनविहार कर रहे थे। लुका-छिपी खेल में श्रीराधा जी छिप गयीं। श्रीकृष्ण उन्हें ढूण्ढ रहे थे, उन्होंने एक पुष्पित अशोक वृक्ष को देखा। श्रीकृष्ण मन में सोचने लगे—लगता है निबिड़-लीला (रहोलीला-विशेष) की इच्छा को अपने चित्त में रखकर वह चन्द्रमुखी श्रीराधा इसी अशोक-वृक्ष की कुञ्ज में छिप रही है, वरना उनके चरण स्पर्श के विना अकाल में (शरत् काल में) यह अशोकवृक्ष क्यों अपनी पुष्प सौरभ में आकृष्ट हुए भ्रमरों की गुञ्जार से स्तुत्य हो रहा है ? ॥२४२॥

अनुवाद—(मधुपान) दूर से कुञ्ज में श्रीराधा जी की चेष्टा देखकर वृन्दाने पौर्णमासी से कहा—देवि ! मधुपान के पात्र में प्रतिबिम्बित श्रीकृष्ण के मधुर मुखचन्द्र का दर्शन कर के श्रीराधा जी मोहित हो गयीं, मधुपान के लिये श्रीकृष्ण द्वारा बार-बार प्रार्थना करने पर भी वे मधुपान-पात्र में झांकती ही रहीं, किन्तु उस पात्र में मुँह नहीं लगाया ॥२४३॥

अनुवाद—(वधूवेश धारण) श्रीउद्धव सन्देश (६४) में, यथा—एकदिन श्रीराधा जी मानिनी हो रही थीं। श्रीकृष्ण उनके मान-भंजन करने के लिये नारी वेश सजा कर उनके भवन में जा पहुंचे। तब श्रीराधा जी और श्रीविशाखा जी में परस्पर जो कथनोपकथन हुआ उसे श्रीकृष्ण ने विशेष रूप से आस्वादन किया था। जब श्रीकृष्ण मथुरा चले आये तो उसका आस्वादन श्रीउद्धव को कराने के लिये एक दिन श्रीकृष्ण श्रीउद्धव से बोले—हे उद्धव ! जब मैं नारीवेश बनाकर श्रीराधा के पास गया, तब मुझे देखकर श्रीराधा ने विशाखा सखी से कहा—अरी सरले ! यह श्यामा नारी कौन है ?—(विशाखा)—गोपकन्या है। (श्रीराधा)—यहां क्यों आयी है ? (विशाखा)—यह तुम्हारे साथ मित्रता गांठने की इच्छा से आयी है। (श्रीराधा)—ठीक है, मैंने इसे अपनी सखीरूप में स्वीकार किया। (विशाखा)—तो इसे तुम बार-बार आलिंगन करो। हे उद्धव ! विशाखा के कहने पर मुझको बार-बार आलिंगन करते-करते नारीवेशधारी मुझको वह पहचान गयीं। तब वह मानिनी श्रीराधा वहां ही लज्जित हो उठीं ॥२४४॥

अनुवाद—(कपट-सुप्तता) श्रीकर्णामृत (२१) में, यथा—वृन्दावन में क्रीड़ा-कुंज में श्रीकृष्ण श्रीराधा जी के साथ विहार कर रहे थे, कौतुक-विशेष स्फुरित होने पर श्रीकृष्ण कपट-पूर्वक निद्रा करने

अथ कपटसुप्तता, यथा कर्णामृते—(२१)—

(१२४)—स्तोकस्तोकनिरुद्धमानमृदुलप्रस्यन्दिमन्दमन्दस्मितं प्रेमोद्भेदनिरर्गलप्रसृमरप्रव्यक्तरोमोद्गमम् ।
श्रोतुं श्रोत्रमनोहरं व्रजवधूलीलामिथोजल्पितं मिथ्यास्वापमुपास्महे भगवतः क्रीडानिमीलद्दृशः ।। २४५ ।।

अथ द्यूतक्रीडा, यथा—(१२५)—

जित्वा द्यूतपणं दशत्यघहरे गण्डं मुदा दक्षिणं सा वामं च दशेति तत्र रभसादक्षं क्षिपन्त्यभ्यधात् ।
आज्ञा सुन्दरि ते यथेति हरिणा वामे च दष्टे ततः संरम्भादिव सा भुजालतिकया कण्ठे बबन्ध प्रियम् ।।

अथ पटाकृष्टिः, यथा—ललितमाधवे—(६ ३१)—

(१२६)—धन्यः सोऽयं मणिरविरलध्वान्तपुञ्जे निकुञ्जे स्मित्वा स्मित्वा मयि कुचपटीं कृष्टवत्युन्मदेन ।
गाढं गूढाकूतिरपि तया मन्मुखाकूतवेदी निष्ठीवन्यः किरणलहरीं ह्रेपयामास राधाम् ।।२४७ ।।

लगे । कपट-निद्रा में सोते श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिये उत्कण्ठित होकर लीलाशुक श्रीविल्वमंगल ठाकुर उनकी स्तुति करते हुए दीनतापूर्वक बोले—कौतुकवश व्रजवधूगण परस्पर जो कथनोपकथन करती हैं, कर्णरसायनरूप उस आलाप को सुनने की इच्छा से लीलावश नेत्रबन्द करके भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस मिथ्या निद्रा का आश्रय किया था। मैं उस कपट-निद्रा की उपासना करता हूँ। उस कपट-निद्रा में धीरे-धीरे रोकते-रोकते न चाहने पर भी उनकी मन्द मुस्क्यान विकसित हो उठी थी, एवं उस कपट-निद्रा में प्रेमाविर्भाव के कारण स्वच्छन्द भाव से प्रकृष्ट रूप से पुलकावली उनके शरीर पर प्रकाशित हो उठी थी ।।२४५।।

अनुवाद—(द्यूत-क्रीड़ा)—निकुञ्ज मन्दिर में श्रीश्री राधाकृष्ण यह दाव रखकर चौसर खेलने बैठे कि जो जीतेगा वह दूसरे का कपोल चुम्बन करेगा। श्रीकृष्ण चौंसर क्रीड़ा में जीत गये और उन्होंने आनन्दपूर्वक श्रीराधा जी के दक्षिण कपोल का चुम्बन किया। तब श्रीराधा जी ने 'वामञ्च दश' बोलते हुए स्पर्द्धा में आकर गोटी को उछाल मारा। ('वामञ्च' एवं 'दश' यह दोनों शब्द किसी-किसी देश में गोटियों के दायभेद हैं।) श्रीराधा जी ने 'वामञ्च दश' ऐसा पाशक-दायभेद के ही अभिप्राय से कहा था, किन्तु रसिक-शेखर चतुरचूड़ामणि श्रीकृष्ण ने अपनी प्रत्युत्पन्नमति के प्रभाव से वामञ्च दश का अर्थ लगाया—'वाम कपोल का भी दंशन करो। ऐसा अर्थ लगाकर श्रीकृष्ण ने तत्क्षण कहा—सुन्दरि ! तुम ने जो आज्ञा की है, उसका पालन करता हूँ—ऐसा कहकर उन्होंने श्रीराधा जी के वाम-कपोल का भी चुम्बन कर लिया। तब श्रीराधा जी ने मानो क्रोध में भरकर अपनी भुजलता द्वारा अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के कण्ठ को बान्ध लिया ।।२४६।।

अनुवाद—(पटाकृष्टि—वस्त्राकर्षण) श्रीललितमाधव (६।३१) में, यथा—जाम्बवन्त की गुफा से श्रीकृष्ण स्यमन्तक मणि लेकर जब द्वारका में पहुँचे तो मधुमंगल उस मणि के अलौकिक प्रभाव को देखकर उसकी प्रशंसा करने लगा। श्रीकृष्ण को किसी पूर्वकालीन व्रज-लीला की बात स्मरण हो आयी, जिसमें यह स्यमन्तक मणि श्रीराधा जी ही कण्ठ में धारण करती थीं। श्रीकृष्ण ने कहा—मधुमंगल ! इस स्यमन्तक मणि ने तो श्रीराधा के साथ विलास करते समय मेरी विशेष सहायता की थी, सुनो—यह स्यमन्तक मणि धन्य है, क्योंकि घोर अन्धकार पुञ्जमय निकुञ्ज में मदनोन्मत्त होकर मैंने जब हंसते-हंसते श्रीराधा का कञ्चुलि वस्त्र आकर्षण किया, तब चाहे श्रीराधा ने इसे सम्यक्‌रूप से कञ्चुली में ढक रखा था, फिर भी इसने मेरे अभिप्राय को जानकर अपनी किरण-लहरी से प्रकाश करके श्रीराधा जी को लज्जित कर दिया। (प्रकाश होने पर उन्होंने मुझे देखा, इसलिये वह लज्जित हो गयीं) ।।२४७।।

अथ चुम्बो, यथा—

(१२७)—कपटचटुलितभ्रुवः समन्तान्मुखशशिनं रभसाद्विघूयमानम् ।
दनुजरिपुरचुम्बदम्बुजाक्ष्याः कमलमिवानिलकम्पि चञ्चरीकः ॥ २४८ ॥

अथाश्लेषो, यथा—(१२८)—

नवजागुडवर्णयोपगूढः स्फुरदभ्रद्युतिरेतयोन्मदेन । हरति स्म हरिर्हिरण्यवल्ली परिवीताङ्गतमालमङ्गलानि

अथ नखक्षतं, यथा—

(१२९)—न च कुचाविमौ गतिजिता तया हृतं गजतः प्रसह्य सखि कुम्भयोर्युगम् ।
क्षतमत्र नागदमनो यदर्पयत्परमङ्गजाङ्कुशवरेण तत्क्षमम् ॥ २५० ॥

अथ बिम्बाधरसुधापानं, यथा— (१३०)—न हि सुधाकरविम्बसुधाकरं कुरु मुखं करभोरु करावृतम् ।
अधररङ्गणसङ्गवराङ्गने पिबतु नीपवनीभ्रमरस्तव ॥ २५१ ॥

अथ संप्रयोगो, यथा—(१३१)—

द्राग्दोर्मण्डलपीडनोद्धुरधियः प्रोद्दामवैजात्यया निर्बन्धादधरामृतानि पिबतः सीत्कारपूर्णस्य या ।
कन्दर्पोत्सवपण्डितस्य मणितैराक्रान्तकुञ्जान्तया सार्धं राधिकया हरेर्निधुवनक्रीडाविधिर्वर्धते ॥ २५२ ॥

अनुवाद—(चुम्बन) श्रीरूपमञ्जरी ने अपनी सखी को कहा—सखि ! वायु के वेग से काँपते हुए कमल को जिस प्रकार भ्रमर चुम्बन करता है उसी प्रकार कपट पूर्वक (अन्तर में आनन्द होते हुए भी बाहर वामता प्रकाश करते हुए) भौंहों को नचाती हुई कमलनयना श्रीराधा के चारों ओर घूमते हुए मुखचन्द्र का श्रीकृष्ण ने चुम्बन किया ॥२४८॥

अनुवाद—(आश्लेष) श्रीराधा द्वारा आलिंगित श्रीकृष्ण को दिखाते हुए एक सखी ने दूसरी सखी के प्रति कहा—देख सखि ! कन्दर्पमद में मत्ता होकर नवकुङ्कुम गौरी श्रीराधा नवजलधर कान्ति श्रीकृष्ण को आलिंगन कर रही हैं और श्रीहरि स्वर्णलता-परिवेष्ठित तमाल की शोभा को भी पराजित कर रहे हैं ॥२४९॥

अनुवाद—(नखक्षत)—श्रीराधा जी के वक्षस्थल पर नखक्षत को देखकर श्यामला परिहास पूर्वक उनसे बोली—हे सखि ! तुम्हारे इन दो कुचों को कुच कहते नहीं बनता, क्योंकि तुमने अपनी गति द्वारा हाथी को पराजित करके बलपूर्वक उसके दो कुम्भ हरण कर लिये हैं। इनमें जो क्षत दीख रहा है, वह है नागदमन-अंकुश (कालियदमन कृष्ण) कृत क्षत । ऐसा कहना विशेष उपयुक्त लग रहा है ॥२५०॥

अनुवाद—(बिम्बाधरसुधापान) गोवर्धनतटवर्ती कदम्ववन में श्रीकृष्ण श्रीराधा जी का अधरसुधा पान करना चाहते थे, किन्तु वाम्यवश श्रीराधा जो हाथ द्वारा बाधा उपस्थित कर रही थीं तब श्री-विशाखा जी ने मधुर वचनों में कहा—हे करभोरु ! चन्द्रविम्ब विनिन्दी अपने मुखमण्डल को हाथ से आवृत मत कर । हे वरांगने ! हे सुन्दरि ! कदम्बवन भ्रमर (श्रीकृष्ण) को अपने अधररूप रंगण पुष्प को पान करने दो ॥२५१॥

अनुवाद—(संप्रयोग)—कुन्दलता ने वृन्दा से पूछा कि इस समय कुञ्ज में क्या हो रहा है ? तब वृन्दा ने कहा—सखि ! श्रीकृष्ण अपनी भुजाओं द्वारा हठात् श्रीराधा को पीड़न करने के लिये उत्साहित हुए तो श्रीराधा जो ने अत्यन्त उद्भट् धृष्टता प्रकाशित की । श्रीकृष्ण अत्यन्त आग्रह सहित

१२२—विदग्धानां मिथो लीलाविलासेन यथा सुखम् । न तथा संप्रयोगेण स्यादेवं रसिका विदुः ॥ २५३ ॥

यथा—
(१३२)—बलेन परिरम्भणे नखशिखाभिरुल्लेखनं हठादधरखण्डने भुजयुगेन बद्धक्रियाम् ।
दुकूलदलने हृतिं कुवलयेन कुर्वाणया रतादपि सुखं हरेरधिकमादधे राधया ॥ २५४ ॥

यथा वा—
(१३३)—नर्मोत्सेककलाद्दगञ्चलचमत्कारी भ्रुवोर्विभ्रमः संव्यानस्य विकर्षणे चटुलतां कर्णोत्पलेनाहतिः ।
क्रीडेयं व्रजनागरीरतिगुरोर्गान्धर्विकायास्तथा भूयिष्ठं सुरतोत्सवादपि नवास्वादं वितेने सुखम् ॥

अत एव श्रीगीतगोविन्दे—(१२।२)—(१३४)—
प्रत्यूहः पुलकान्तरेण निबिडाश्लेषे निमेषेण च क्रीडाकूतविलोकितेऽधरसुधापाने कथानर्मभिः ।
आनन्दाधिगमेन मन्मथकलायुद्धेऽपि यस्मिन्नभूदुद्भूतः स तयोर्बभूव सुरतारम्भः प्रियंभावुकः ॥ २५६ ॥

श्रीराधा का अधरामृत पान करने लगे तो सीत्कार से श्रीराधा जी का वदन परिपूर्ण हो उठा । काम-कला विलास में महा पण्डित श्रीकृष्ण जब कन्दर्पोत्सव विस्तार करने लगे तो श्रीराधा जी सुरतकृत कण्ठ ध्वनिविशेष से कुञ्ज के भीतरी भाग को व्याप्त करने लगीं । इस प्रकार श्रीराधा सहित निधुवन में श्रीकृष्ण का सुरत्-केलिविधान क्रमशः वर्द्धित हो रहा है ॥२५२॥

अनुवाद—(श्रीग्रन्थकार-स्वमत) रस-कोविद्-गण कहते हैं कि परस्पर लीलाविलास में विदग्ध-जनों को जितना सुख होता है, सम्प्रयोग में उस प्रकार का सुख नहीं होता है ॥२५३॥ यथा—गवाक्ष-रन्ध्र से श्रीश्री राधाकृष्ण की निभृत केलिमाधुरी का दर्शन कर वृन्दा उसका वर्णन करती हैं—श्रीकृष्ण वलपूर्वक श्रीराधा जी जब वलपूर्वक आलिंगन करने लगे तो श्रीराधा जी ने उनके वक्षस्थल पर बहुत नखाघात किया । श्रीकृष्ण जब हठपूर्वक श्रीराधा का अधर-दंशन करने लगे तो उसने अपनी दोनों भुजाओं से नागेन्द्र को वान्ध लिया । श्रीकृष्ण जब उसका वस्त्र आकर्षण करने लगे तो उसने अपने कर्णोत्पल द्वारा उनकी ताड़ना की । इस प्रकार लीलाविलास में श्रीराधा ने सम्प्रयोगनामक सुरत क्रीड़ा से श्रीहरि का अधिकतर सुख विधान किया ॥२५४॥ और यथा—दूर से श्रीश्री राधाकृष्ण की कुञ्ज-केलि को देखकर आनन्दपूर्वक वृन्दा ने पौर्णमासी से कहा—श्रीकृष्ण पहले परिहास पूर्वक क्रमशः अधिकतर चातुरी जब दिखाने लगे तो श्रीराधा ने अपने नेत्रांचल पर चमत्कारकारी भ्रू विलास प्रकटित किया । श्रीकृष्ण उसके उत्तरीय वस्त्र के आकर्षण में जब कर चंञ्चलता प्रकाश करने लगे तो उसने कर्णोत्पल द्वारा उनकी ताड़ना की । व्रजनागरीरतिगुरु श्रीकृष्ण के एवं श्रीराधा जी के इस विलास ने क्रीड़ा-सुरतोत्सव से भी अत्युत्कृष्ट आस्वादनीय प्रचुरतर सुख विस्तार किया ॥२५५॥

श्रीगीतगोविन्द (१२।२) में भी इसलिये कहा गया है—श्रीश्री राधाकृष्ण के उस सुरतारम्भ क्रीड़ा में ऐसा ही प्रियम्भावुक अर्थात् जिसमें अप्रिय भी प्रिय हो जाता है—अतिशय आनन्द उदित हुआ । सुरतारम्भ में निविड़ आलिंगन में पुलकावली ने विघ्न पैदा किया । क्रीड़ा के अभिप्राय-निरीक्षण में निमेष ने विघ्न डाला । अधर सुधापान में नर्म कथा ने और मन्मथकलायुद्ध में भी आनन्दाभिगम ने विघ्न पैदा किया । (सारांश यह है कि सुरतक्रीड़ा की अपेक्षा नानाविध विघ्नमय सुरतारम्भ रूप लीलाविलास में आनन्द की सर्वातिशायी प्रचुरता है । अतः श्रीग्रन्थकार ने सम्प्रयोग की अपेक्षा अन्य

यथा—

१२३—गोकुलानन्द गोविन्द गोष्ठेन्द्रकुलचन्द्रमः। प्राणेश सुन्दरोत्तंस नागराणां शिखामणे ॥ २५७ ॥

१२४—वृन्दावनविधो गोष्ठयुवराजमनोहर। इत्याद्या व्रजदेवीनां प्रेयसीप्रणयोक्तयः ॥ २५८ ॥

अतलत्वादपारत्वादाप्तोऽसौ दुर्विगाहताम्। स्पृष्टः परं तटस्थेन रसाब्धिर्मधुरो मया ॥ १ ॥

अयमुज्ज्वलनीलमणिर्गहनमहाघोषसागरप्रभवः। भजतु तव मकरकुण्डलपरिसरसेवोचितीं देव ॥ २ ॥

इति संभोगभेदाः।

इति श्रीउज्ज्वलनीलमणौ श्रृंगारभेद प्रकरणम्।

समाप्तोऽयं श्रीरूपगोस्वामिरचित उज्ज्वलनीलमणिर्नाम ग्रन्थः ॥

लीलाविलास में ही श्रीश्री राधागोविन्द का चमत्कारमय सुख का आधिक्य माना है ॥२५६॥

अनुवाद—इस सम्भोग श्रृंगार में श्रीव्रजसुन्दरिवृन्द श्रीकृष्ण को जिन प्रेमोक्तियों से आह्वान करती हैं, उनका दिग्दर्शन इस प्रकार है—गोकुलानन्द, गोविन्द, गोष्ठेन्द्रकुल चन्द्रमा, प्राणेश्वर, सुन्दरोत्तंस, नागर शिरोमणि, वृन्दावन चन्द्र, गोष्ठयुवराज, मनोहर—इत्यादि नामों से श्रीकृष्ण को वे सम्बोधित करती हैं ॥२५७-२५८॥

अनुवाद—उपसंहार—भक्तिरसप्रस्थापनाचार्य श्रीपाद रूपगोस्वामी महोदय रसवस्तु वर्णन में अपनी अयोग्यता को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं—इस मधुर रससागर के केवल तट पर स्थित होकर मैंने रस का किञ्चित् सामान्य स्पर्श मात्र किया है, किन्तु उसमें प्रवेश नहीं कर पाया हूँ। क्योंकि यह रससागर अतुलअपरिमित है एवं अपार सीमा रहित है। अतः दुर्विगाह्य है अर्थात् सम्यक् प्रकार यह बोधगम्य नहीं हो सकता ॥१॥ इस रसकाव्य को श्रीकृष्ण के कर्ण-भूषण रूप में समर्पण की इच्छा प्रकाश करते हुए श्रीग्रन्थकार श्लेषालंकारमें प्रार्थना करते हैं—हे नित्य अलौकिक-सर्वाकर्षणशील लीला-पर श्रीकृष्ण ! यह उज्ज्वलनीलमणि (निर्मल श्रृंगाररसरूप नीलरत्न) आपके मकरकुण्डल के निकट देश की सेवायोग्यता लाभ करे अर्थात् आप की श्रवण योग्यता उपलब्ध करे—यही विनीत प्रार्थना है।

॥ इति सम्भोग-भेद ॥

इस प्रकार श्रीपाद रूपगोस्वामि रचित श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ की श्रीश्यामदास संकलित 'रूपकृपातरंगिणी' नामक टीका अक्षयतीज, २०४७ शुक्रवार दि० २७।४।९० को आरम्भ होकर आज अष्टमी कृष्णा पौष मास संवत् २०४७, तदनुसार दि० ९-१२-१९९० रविवार को श्रीवृन्दावन में समाप्त हुई।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥